वाङ्मय-विमर्श

लेखक

पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्रकाशक

हिंदी - साहित्य - कुटीर

वाराणसी - १

स्वर्गीय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

को

समर्पित

"तेरा तुझको सौंपिया क्या लागै है मोर"

उपक्रम

हिंदी-वाङ्मय के समस्त स्कंधों की गतिविधि का, शाखाप्रशाखा के संकोच-विचार की निदर्शना के साथ, 'विमर्श' करके सुबोध रीति से प्रत्येक विषय को इस प्रकार सामने लाने का उद्देश्य है जिज्ञासुओं को साध्य, साधन और साधक सभी का थोड़ा-बहुत स्वरूप-बोध कराना। शास्त्र के आलोड़न, काव्य के अनुशीलन, इतिहास के अवलोकन, भाषा के विवेचन और लिपि के संवर्धन में लगनेवालों को हिंदी के परंपरागत स्वरूप का आभास मिल सके और भारतीय एवम् अभारतीय प्रवृत्तियों की रूपरेखा उनके समक्ष खिंच सके, यही मेरा प्रयत्न रहा है। ऐसा करते हुए यथास्थान कुछ कड़ी टीका करने का दुस्साहस शुद्ध कर्तव्यबुद्धि की प्रेरणा से ही किया गया है। जैसे 'पुराने' को सर्वथा 'साधु' वैसे ही 'नवीन' को भी सर्वथा 'अनवद्य' कहने-सुनने को कदाचित् कोई सच्चा सहृदय प्रस्तुत न होगा। इसी से सत्य का अपलाप कहीं भी जान-बूझकर नहीं होने दिया गया है, अनजाने की राम जाने। इसमें 'अकांडप्रथन' से यथाशक्य बचने का ही मेरा प्रयास रहा है। फिर भी जैसी योजना को लक्ष्य करके इसका आरंभ किया गया था, देशकाल के कारण वैसा संभार हो नहीं सका। उसके लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि फिर सुकाल आ सकता है।

पुस्तक प्रस्तुत करने में जिन जिन ग्रंथकारों और ग्रंथों से प्रत्यक्ष या परोक्ष एवम् अधिक या अल्प तथा जिन जिन सज्जनों से मानसिक या शारीरिक किसी भी प्रकार की सहायता मिली है उनके प्रति सच्चे मन से नम्रतापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूँ।

"इस कार्य में मुझसे जो भूल हुई हैं उनके सुधार की, जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनकी पूर्ति की और जो अपराध बन पड़े हैं उनकी क्षमा की पूरी आशा करके ही मैं अपने श्रम से कुछ संतोषलाभ कर सकता हूँ।"

ब्रह्मनाल, काशी
प्रबोधिनी, १९९९

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

उपस्करण

सं १९९७ में काशी विद्यापीठ की शास्त्री तथा अंतरिम कक्षाओं के लिए हिंदी-प्राध्यापक की आवश्यकता पड़ी। श्री श्रीप्रकाशजी और स्वर्गीय श्री बाबूराव विष्णुजी पराड़कर ने पत्र लिखा कि कोई प्राध्यापक बताइए। बहुत सोच-विचार के अनंतर श्री श्रीदेवाचार्यजी का नामोल्लेख किया गया और वे उक्त पद पर नियुक्त हो गए। शास्त्री-कक्षा में उन दिनों हिंदी का नूतन काव्य ही पाठ्य रूप में नियत था और आचारीजी थे प्राचीन काव्य के मर्मज्ञ। नूतनकाव्यविषयक जिज्ञासा के लिए उन्हें ग्रंथालोड़न करना पड़ा। परामर्श-विमर्श करते-कराते पाँच खंडों में जिज्ञासुओं के ज्ञानवर्धनार्थ विस्तृत योजना बनाई गई। योजनानुसार ग्रंथलेखन भी आरंभ हो गया। काव्य और शास्त्र नामक दो आदिम खंड लेखबद्ध कर दिए गए—व्यास और गणेश की भाँति। इस प्रकार लगभग आधा कार्य हो गया, समयसंकोच ने प्रवाह अवरुद्ध कर दिया। अगले वर्ष अवसर पाते ही अवरोध हटा और पूरा ग्रंथ लिख गया। गणेश का स्थान लिया श्री बटेकृष्ण ने। सं० १९९९ में पादटिप्पणियों की योजना करके ग्रंथ प्रकाशित करा दिया गया।

एक युग से अधिक हो गया, न कोई परिष्कार न उपस्कार। उधर ग्रंथ का आलोड़न जिज्ञासुओं से अनुसंधित्सुओं तक जा पहुँचा। कृति विक्रम की बीसवीं शताब्दी की और उपयोग-प्रयोग इक्कीसवीं शताब्दी के ज्ञानेप्सुओं द्वारा। साहित्य की दौड़ में पिछड़ गई कृति—एक शताब्दी। साहित्य के अद्यतन प्रवाह से समंजसता स्थापित करने के प्रयास में उसकी आत्मा ही बदल गई। शरीर वही प्राण दूसरे। नामांतर देहान्तर का विषय है, इस कारण नामपरिवृत्ति अनपेक्षित। इस कृति-नाट्य की गर्भसंधि है आलोचना। उस पर सबसे अधिक ध्यान देना पड़ा है। पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों धाराओं का सम्यक् पर संक्षिप्त

निरूपण किया गया है। आशा है उन्हें यह सर्वतोभावेन लाभप्रद सिद्ध होगा जिनके हेतु यह प्रयास करना पड़ा। अभी इसका और उपबृंहण अपेक्षित है, पर प्रथम उपस्करण में इसके अधिक रूपांतर का हेतु होता।

इस उपस्करण में मेरे चिरंजीवी श्री चंद्रशेखर मिश्र और शिष्य श्री रामादास ने सामग्री-संकलन और अनुक्रमणिका-निर्माण में यथोचित सहायता की है, जिसके लिए दोनों ही आशीर्वादार्ह हैं।

विजयदशमी, २०१४
ब्रह्मनाल, वाराणसी। } विश्वनाथप्रसाद मिश्र

अनुक्रम

वाङ्मय-विमर्श

वाङ्मय - विमर्श

प्रवेशक

अनादि काल के लोक वाणी का जो विसर्ग करता आ रहा है वह श्रुति और स्मृति की परंपरा से संचित भी होता आया है। वाणी ने वर्णमय होकर अपना निर्गुण-निराकार रूप परित्यक्त किया, वह रूप-रंग लेकर सगुण-साकार हुई। उसके इन्हीं दृश्यादृश्य रूपों का भांडार 'वाङ्मय' है। मुख द्वारा ध्वनित और लिपि द्वारा लिखित दोनों ही 'वाङ्मय' के रूप हैं। लोकव्यवहारक्षम इस वाङ्मय के द्विविध रूप होते हैं। एक वह जिसके द्वारा पूर्वार्जित ज्ञान की समृद्धि होती है और दूसरा वह जो अर्जित ज्ञान की वृद्धि करने के स्थान पर प्रधानतया मन को रमाया करता है। पहला तर्क या ज्ञान अथवा बुद्धि या मस्तिष्क से संबद्ध होता है और दूसरा राग या भाव अथवा हृदय या मन से संपृक्त। अतः पहले को ज्ञान का वाङ्मय और दूसरे को भाव का वाङ्मय कह सकते हैं।* इन्हें ही भारतीय पंडितों ने क्रमशः शास्त्र और काव्य नाम से अभिहित किया है।† शास्त्र के अंतर्गत ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित आदि का ज्ञानवर्धक वाङ्मय आता है। किंतु काव्य के साथ भी यह ज्ञानवर्धक वाङ्मय उसके विवेचन के रूप में संयुक्त हो जाता है। काव्य और उसका विवेचन अर्थात् शास्त्र इन्हीं दोनों का योग

---

* अँगरेजी के समीक्षक इन्हें ही क्रमशः 'लिटरेचर आव् नालेज' तथा 'लिटरेचर आव् पावर' कहते हैं—देखिए डी-क्वेंसी का 'लिटरेचर' शीर्षक निबंध।

† शास्त्रं काव्यञ्चेति वाङ्मयं द्विधा—काव्यमीमांसा।

'साहित्य' कहलाता है। विवेचन के अंतर्गत काव्य के सिद्धांत आते हैं। इनके अतिरिक्त उसका इतिहास, उसमें प्रयुक्त होनेवाली भाषा तथा उसमें व्यवहृत लिपि भी होती है। इन सबका बोध 'वाङ्मय' शब्द भली भाँति करता है। वह जितना व्यापक है उतना ही परिमित भी हो सकता है। अतः यहाँ 'वाङ्मय' शब्द का व्यवहार शुद्ध साहित्य अर्थात् उसके काव्य एवम् शास्त्र-पक्ष, इतिहास, भाषा और लिपि सबके लिए किया गया है। उसके विमर्श अर्थात् विचार के लिए इसी से ये पाँच अंग गृहीत हुए हैं—काव्य, शास्त्र, इतिहास, भाषा और लिपि।

भारतीय दृष्टि से 'काव्य' शब्द के अंतर्गत दृश्य एवम् श्रव्य अथवा गद्य, पद्य तथा नाटक की भावव्यंजक सभी रचना आ जाती है। इस 'विमर्श' में प्रत्येक के लक्षण या स्वरूप, सीमा, भेद, प्रयोजन आदि का विचार किया जायगा। सामान्य रूप से यह समस्त काव्य या साहित्य का स्वरूप-बोधक और विशेष रूप से तथा विस्तार से हिंदी-साहित्य के स्वरूप का निरूपक होगा।

काव्य

काव्य का स्वरूप

काव्य के तीन पक्ष होते हैं—कृति, कर्ता और ग्रहीता (पाठक, श्रोता या दर्शक)। इन्हीं तीनों पक्षों के विचार से काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु आदि का विचार किया जाता है। काव्य का नाम लेते ही उसके स्वरूप-विचार या लक्षण की बात आती है। लक्षण दो प्रकार के होते हैं—बहिरंग-निरूपक और अंतरंग-निरूपक। बहिरंग-निरूपक लक्षण उसे कहेंगे जिसमें विषय या वस्तु का बोध कराने के लिए उसके बाह्य चिह्नों का वर्णन या उल्लेख किया जाए और अंतरंग-निरूपक लक्षण उसे मानेंगे जिसमें वस्तु के आभ्यंतर गुणों की चरचा हो। अतः काव्य का लक्षण दो प्रकार का होता है—बाह्य या वर्णनात्मक और आभ्यंतर या सूत्रात्मक। पहले में काव्य के केवल बाहरी रूप का, उसके अवयवों के संघटन का, उल्लेख रहता है और दूसरे में कोई ऐसी विशेषता लक्षित कराने का यत्न किया जाता है जो केवल काव्य में ही पाई जाती है।

यदि कहा जाय कि जो शब्दार्थ (रचना) दोष-रहित, गुण-सहित और अलंकार से प्रायः युक्त हो वह 'काव्य' है* तो माना जायगा कि काव्य के अवयवों का वर्णन-मात्र किया गया है। काव्य में शब्द और अर्थ की योजना रहती है। ये दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं। शब्द बिना अर्थ के नहीं रह सकता और अर्थ की अभिव्यक्ति बिना शब्द के नहीं हो सकती।† इसलिए यदि यह कहा जाय कि काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ साथ साथ रहते हैं‡ तो यह लक्षण वैसा ही है जैसे यह कहना कि मनुष्य वह है जिसमें नाक, कान, मुँह, हाथ तथा प्राण साथ साथ रहते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसा लक्षण काव्य का स्थूल लक्षण है। किंतु काव्य के दो प्रमुख अवयव शब्द और अर्थ के वाहक 'वाक्य'

---

* तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि—काव्यप्रकाश।

† वागर्थाविव संपृक्तौ—रघुवंश।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न—रामचरितमानस।

‡ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

को लेकर यदि ऐसा कहा जाय कि 'रसमय वाक्य को काव्य कहते हैं' * तो इसमें 'रसमय' विशेषण काव्य के बाहरी रूप का नहीं, उसके भीतरी तत्त्व का बोधक होगा। क्योंकि 'रस' केवल काव्य की ही विशेषता है, किसी दूसरी रचना की नहीं। अतः यह लक्षण अभ्यंतर-निरूपक कहा जायगा। इसी प्रकार शब्द और अर्थ को समन्वित न कर उन्हें विशेषण-युक्त रखकर यदि यह भी कहा जाय कि 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले शब्द को काव्य कहते हैं'† तो काव्य का वह तत्त्व 'रमणीय' शब्द द्वारा व्यक्त कर दिया गया माना जायगा जो दूसरी कृतियों में नहीं पाया जाता। मन को रमाने की, उसे लीन कर लेने की, क्षमता काव्य में ही है।

काव्य का ठीक ठीक लक्षण करने के लिए उसके उद्देश्य का जानना आवश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि काव्य का संबंध लोक से है। कवि या काव्यकार अपनी कृति लोक के समक्ष इसलिए रखता है कि वह उस कृति से रंजित हो।‡ पर कवि लोकरंजन करता किस प्रकार का है? यदि लोक को दुःख की अनुभूति से काव्यानुशीलनकाल में उन्मुक्त कर देना मात्र उसका तात्पर्य हो तो उसे केवल हास्य और विनोद ही काव्यबद्ध करना चाहिए। किंतु कवि केवल सुखावह वृत्तियों की ही योजना नहीं करता, दुःखावह वृत्तियों की भी योजना करता है। लोकरुचि के अवलोकन से स्पष्ट है कि लोक का रंजन जैसे सुखमूलक वर्णनों से होता है वैसे ही, प्रत्युत उससे भी अधिक, दुःखमूलक वर्णनों से। इससे स्पष्ट है कि लोक का रंजन कवि केवल सुख से नहीं दुःख से भी करता है। 'रंजन' का अर्थ सुखी, प्रसन्न या प्रफुल्ल करना ही नहीं है, दुःख की अनुभूति कराके करुणा उत्पन्न करना, रुलाना या द्रवीभूत करना भी है। जब कवि या काव्यकार सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के भावों की योजना द्वारा लोक का रंजन करता है तो मानना पड़ेगा कि उसका तात्पर्य भावों में लीन करना है, सुख या दुःख तो उन भावों के रूप की विशेषता है। पर इन भावों में लीन करना या रंजन करना भी उद्देश्यगर्भ होता है। काव्य के भावों में लीन होने से या उसके द्वारा रंजित होने से हृदय की वृत्तियों का व्यायाम होता है, वे परिष्कृत होती हैं। अतः काव्य का चरम लक्ष्य मनोवृत्तियों का परिशोधन

---

* वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—साहित्यदर्पण।

† रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—रसगंगाधर।

‡ लिटरेचर इज़ कंपोज्ड आव् दोज़ बुक्स ह्विच आर आव् जेनरल ह्यूमन इंटरेस्ट—ऐन इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव् लिटरेचर।

है। पर काव्य एक हृदय (कर्ता) से निकलकर दूसरे हृदय (ग्रहीता—पाठक, श्रोता या दर्शक) तक पहुँचता है। इसलिए इन हृदयों का एकीकरण आवश्यक है। इसके लिए एक तो यह माना जाता है कि काव्य की प्रक्रिया में स्वयम् ऐसी विशेषता होती है और दूसरे इसके कर्ता और ग्रहीता में भी कुछ विशेषता होती है। यह विशेषता है 'सहृदय' होना।

'सहृदय' शब्द का अर्थ केवल हृदयवाला नहीं है, हृदय तो सबके होता है, पर सब 'सहृदय' नहीं होते। 'सहृदय' का अर्थ विशेष प्रकार के हृदय से युक्त होना है। यह विशेष प्रकार का हृदय वही है जिसमें भावों के ग्रहण करने की सामर्थ्य हो। यदि कर्ता सहृदय नहीं तो वह अनुकार्य (पात्र) के भावों का ग्रहण नहीं कर सकता, अतः सामाजिक या ग्रहीता (दर्शक, श्रोता या पाठक) को भावमग्न करने में सफल न हो सकेगा। यदि ग्रहीता 'सहृदय' न होगा तो वह व्यंजित भावों को ग्रहण ही न कर सकेगा और उसके लिए काव्य निष्फल चला जायगा। इसी से सहृदयता दोनों पक्षों में आवश्यक है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि काव्य का उद्देश्य है हृद्गत वृत्तियों का परिष्कार और यह परिष्कार होता है रसमग्न होने से, मन के रमने से। अतः काव्य का स्वरूप ठहरता है भावों की योजना करके रसमग्न करनेवाली रचना अथवा थोड़े में रमणीयता। उसका चरम उद्देश्य ठहरता है वृत्तियों का शोधन। इस प्रकार काव्य या साहित्य समाज की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ठहरता है, उसे कोरे मनोरंजन की वस्तु मानकर समाज के लिए गौण या अनुपयोगी बतलाना हृदयहीन होने का परिचय देना तो है ही, बुद्धिहीन होने का भी डंका पीटना है। जैसे पश्चिम में समाज-तत्त्व की आड़ में आज काव्य या साहित्य कोरी भावुकता का उद्दीपक मानकर समाज के लिए अनुपयोगी कहा जाने लगा है वैसे ही पूर्व में भी धर्म की आड़ में काव्य का वर्जन किया गया था।* पर इसके उद्देश्य पर ध्यान देते ही स्पष्ट हो जाता है कि जो धर्म का लक्ष्य है वही काव्य का भी लक्ष्य है। वृत्तियों का परिष्कार लोकदृष्टि से धर्म भी करता है और काव्य भी। अंतर यही है कि पहले में स्वर्गादि का लोभ तथा नरकादि का भय दिखलाकर लक्ष्य की सिद्धि की जाती है और दूसरे में लोभ या भय साधन नहीं साध्य हैं। फिर लोभ या भय भी तो काव्य के ही मूल तत्त्व हैं। अतः काव्य का पद धर्म, समाज-तत्त्व या राजनीति किसी से कम कैसे है।

---

* काव्यालापांश्च वर्जयेत्—विष्णुपुराण।

काव्य का प्रयोजन

काव्य की प्रसार-सीमा के एक छोर पर कर्ता रहता है और दूसरे पर ग्रहीता,* अतः उसके प्रयोजन का विचार इन्हीं दोनों की दृष्टि से किया जा सकता है। दोनों की दृष्टि से प्रयोजन भी भिन्न भिन्न होते हैं। कर्ता की दृष्टि से काव्य का मुख्य प्रयोजन है यश या तृप्ति का लाभ और गौण है अर्थ या कार्य का लाभ।† कर्ता को जो यश का लाभ होता है वह उसके जीवन तक ही नहीं रहता, युग-युगांतर तक चला करता है। कवि का स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है पर उसका जरामरण से रहित यशःशरीर अमर रहता है।‡ कम से कम जब तक उस साहित्य का, उस भाषा का, उस जाति का लोप नहीं होता तब तक अवश्य जीता है। तृप्ति की प्राप्ति से कर्ता पूर्णकाम हो जाता है। कवियों ने स्वतः इसका कथन किया है। जैसे तुलसीदासजी 'रामचरितमानस' की प्रस्तावना में ही लिखते हैं—

'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति'।+

अर्थलाभ की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। इन सबके दृष्टांत भिखारीदास ने अपने काव्यनिर्णय में अच्छे दिए हैं—

एकै लहैं तपपुंजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एकै लहैं बहु संपति केसव भूषन ज्यों बरबीर बड़ाईं॥
एकन कौं जस ही सो प्रयोजन हैं रसखानि रहीम की नाईं।
'दास' कवित्तन की चरचा बुधिवंतन कौं सुखदै सब ठाईं॥

ग्रहीता (पाठक, श्रोता या दर्शक) की दृष्टि से काव्य का प्रधान प्रयोजन है आनंदानुभूति या रसमग्नता तथा गौण है संकेत-प्राप्त

---

* काव्यादिस्वार्थमन्यार्थं च—साहित्यसार।

† स्वार्थश्चतुर्विधः कीर्तिसंपत्तितृप्तिमुक्तिवपुः क्रमात्—वही।

‡ जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥—भर्तृहरि।

+ केवल उपक्रम में ही नहीं 'मानस' के उपसंहार में भी कवि ने इसे दुहराया है—

मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥

व्यावहारिक ज्ञान* जिसे शास्त्रकार 'कांतासंमित उपदेश' कहते हैं।† इसे प्राचीन ग्रंथों में बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया गया है। संमित या रीति तीन प्रकार की मानी गई है—प्रभुसंमित, सुहृद्संमित और कांतासंमित। प्रभुसंमित का अर्थ हुआ स्वामी की रीति। जिस प्रकार स्वामी सेवकों को किसी कार्य के करने या न करने की आज्ञा देता है उसी प्रकार जो रचना विधि और निषेध का ही विधान करनेवाली हो उसे प्रभुसंमित उपदेश देनेवाली कहेंगे। ऐसी रीति से उपदेश देनेवाले हैं वेद और शास्त्र। सुहृद्संमित का अर्थ है मित्र की रीति। मित्र उपदेश देते समय अनेक उदाहरण और दृष्टांत प्रस्तुत करके समझा-बुझाकर काम निकालता है। इसी प्रकार जो रचना उदाहरणों और दृष्टांतों द्वारा विषय का स्पष्टीकरण करती है वह सुहृद्संमित उपदेश देनेवाली कही जाती है। इतिहास-ग्रंथ ऐसे ही होते हैं। इसका बढ़िया उदाहरण है 'महाभारत'। कांता उपदेश या कार्य-ज्ञापन विधि-निषेध या दृष्टांत-मुखेन सीधे नहीं करती, वक्रता से केवल इंगित करती है। आवश्यक वस्तु का केवल संकेत कर देती है। इसी प्रकार जो रचना संकेत द्वारा साध्य का ज्ञान कराती है उसे कांतासंमित उपदेश देने-वाली रचना कहते हैं। काव्य इसी प्रकार की रचना है। काव्य स्पष्ट रूप से कोई बात नहीं कहता। वह अपना अभिप्रेत संकेत द्वारा व्यक्त करता है। जैसे—'रामचरितमानस' का साध्य यह है कि राम की भाँति लोकोपकारादि करना चाहिए, रावण की भाँति आचरण न करना चाहिए। यह संकेत से ही बतलाया गया है। ऐसा कहने से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं—पहली तो यह कि काव्य का तथा वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि का लक्ष्य एक ही है, केवल प्रस्थान-भेद है। कोई किसी मार्ग से वहाँ हुँचता है और कोई किसी से। दूसरी यह कि वेद, शास्त्र आदि का प्रभाव भले ही किसी पर न पड़े, पर काव्य का अवश्य पड़ता है। इसका कारण यही है कि काव्य हृदय की भाव-पद्धति पर चलता है तथा अन्य रचनाएँ बुद्धि की तर्क-पद्धति पर। भाव-पद्धति का प्रभाव अत्यधिक होता है, तर्क-पद्धति का बहुत

* जिज्ञासोः सुन्दरीरीत्या काव्यं समुपदेशकृत्।
ऐहिकामुष्मिकादेर्यत्सोऽयमन्यार्थ उच्यते ॥—साहित्यसार।

† मम्मटाचार्य ने काव्यप्रयोजन की सूची यों दी है—
काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥—काव्यप्रकाश।

कम या कभी कभी बिलकुल नहीँ। तीसरी यह कि काव्य मेँ उपदेश सांकेतिक रूप मेँ ही रहता है। उपदेश का नाम सुनकर 'काव्य आचार-शास्त्र नहीँ है' कहकर नाक भौँ सिकोड़नेवालोँ को * यह भी समझ लेना चाहिए कि आचारशास्त्र में उपदेश प्रत्यक्ष या तर्क-पद्धति पर ही होता है। इसी से मनुस्मृति, चाणक्यनीति आदि को यहाँ कभी काव्य माना ही नहीँ गया। और तो और, महाभारत, पुराण आदि भी काव्य नहीँ माने गए, भले ही इनमें काव्यमय अनेक अंश होँ, इनका लक्ष्यवेध प्रत्यक्ष है, काव्य की भाँति परोक्ष नहीँ।

काव्य के भेद

काव्य के भेद तीन प्रकार से किए जा सकते हैँ—शैली की दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से और बंध की दृष्टि से। शैली के विचार से काव्य के तीन भेद होँगे—पद्य, गद्य और मिश्र। पद्य, रचना की वह शैली है जिसमेँ छंदोँ का विधान किया जाता है। इसमेँ व्याकरण द्वारा स्वीकृत सामान्य क्रम का उल्लंघन हो सकता है और रचनाकार को कुछ ऐसी छूटेँ दी जा सकती हैँ जिनके अनुसार वह सामान्यतया भाषा के कुछ स्वीकृत नियमोँ का उल्लंघन कर सकता है।† गद्य वह शैली है जिसमें व्याकरण के नियमानुसार वाक्योँ का विन्यास किया जाता है। संस्कृत मेँ तो दोनोँ प्रकार की शैलियोँ मेँ होनेवाली रचनाओँ मेँ शैली के अतिरिक्त और कोई विशेष भेद नहीँ है, किंतु हिंदी में दोनोँ

---

* पश्चिमी समीक्षक, जिनकी अंधी अनुकृति यहाँ बहुत अधिक होने लगी है, उपदेश के नाम से बहुत घबराते या चिढ़ते हैँ। वे काव्य को निरुद्देश्य या स्वपर्यवसायी उद्देश्यमय, 'आर्ट फॉर आर्टस् सेक' सिद्ध करने के लिए उपदेश या आचार-नीति की अत्यधिक आड़ लेते हैँ। स्कॉट जेम्स अपने 'दि मेकिंग आव् लिटरेचर' मेँ लिखते हैँ—"बट ही (रस्किन) डिक्लेयर्स दैट इट इज़ दि फंक्शन, दि कैरेक्टरिस्टिक आव् आर्टस् ऐज़ आर्ट टु कन्वे मॉरल ट्रूथ्स, ऐंड टु से दिस इज़ श्योर्ली टु इग्नोर इट्स रियल इसेंस, ऐंड टु आबलिटरेट दि डिफरेंस ह्विच डिस्टिंग्विशेज़ इट फ्राम साइंस एंड र्हेटारिक।"

"..........इट इज़ नो जस्टीफिकेशन, ऐज़ आइ होप विल ऐपियर लेटर, फॉर अनदर फार्म आव् कैंट, नोन ऐज़ 'आर्ट फॉर आर्टस् सेक।"

—आर्ट ऐंड मोरैलिटी, पृष्ठ २६२-६३।

† संस्कृतवालोँ ने तो ऐसी छूट का संकेत इस प्रकार कर दिया है—'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्।'

शैलियों में वर्ण्य विषय का भी भेद हो गया है। अब कविता पद्य में लिखी जाती है और उपन्यास, कहानी, निबंध आदि गद्य में। नाटकों में गद्य और पद्य दोनों शैलियाँ चलती हैं। हिंदी में जैसे गद्य का विकास हुआ वह शुद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य वाङ्मयों की आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य को लिए हुए है। प्राचीन काल में संस्कृत में तो गद्य की रचना पद्य की रचना से भी कठिन समझी जाती थी। रचनाकार की परख के लिए गद्य कसौटी था।* मिश्र गद्य और पद्य दोनों शैलियों का मिला रूप है। इसका संस्कृत में दूसरा नाम चंपू है।† संस्कृत में कई चंपू-काव्य लिखे गए, किंतु हिंदी में संस्कृत की अनुकृति के विचार से आधुनिक काल के मध्य में स्वर्गीय बाबू जयशंकरप्रसाद ने ही चंपू-काव्य लिखा।‡ पर अब इसका चलन उठ गया है। चंपू में अलंकार का चमत्कार, समास का गुंफन तथा कल्पना का विशेष प्रकार का उद्रेक रखा जाता था। अब यह बात नहीं रही। ऐसी रचनाएँ अब पुरानी मानी जाती हैं। फल यह हुआ है कि गद्यशैली का चमत्कार, विशेष रूप से अलंकार का चमत्कार, दिखाने के लिए अब 'प्रबंध' कम उपयुक्त समझे जाते हैं। नाटक में गद्य और पद्य दोनों शैलियों का व्यवहार होता है। इसलिए उसकी गणना मिश्र काव्य के अंतर्गत हो सकती है। पर चंपू और नाटक में भेद है। नाटक में दोनों प्रकार की शैलियों का उपयोग तो होता है, पर काव्यतत्त्व की वैसी योजना जैसी चंपू में होती है, नाटक में नहीं होती। नाटक में संवाद शैली का अलग महत्त्व है। इन सभी शैलियों को मिलाकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' नामक प्रबंध प्रस्तुत किया है जिसे काव्यतत्त्व की योजना के विचार से दोनों प्रकार की गद्य-पद्य की शैलियों के नियोजन की दृष्टि से 'चंपू' या मिश्र काव्य कह सकते हैं। नाटकों से तो पश्चिमी साहित्य की देखादेखी अब पद्य बहुत कुछ हट चुका है। केवल कुछ गीत ऊपर से चिपकाए हुए अवश्य मिलते हैं। जब तक गीत मूल कथा से संबद्ध न हो तब तक केवल उसके जोड़ देने से नाटक मिश्र शैली की रचना नहीं कहा जा सकता। हिंदी के पुराने कवियों ने यदि संस्कृत के नाटक केवल पद्य में ही लिख डाले थे, पद्य-युग

---

* गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।

† गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

‡ इनका 'उर्वशी' चंपू सं० १९६६ में प्रकाशित हुआ था।

की प्रवृत्ति उनमें पूरी पूरी झलकाई थी, तो आधुनिक काल के इस गद्य-युग में हिंदी के नाटक वस्तुतः केवल गद्यशैली में ही लिखे जाते हैं।

अर्थ की दृष्टि से भी काव्य के तीन प्रकार हो सकते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम या सामान्य। इसे समझने के लिए थोड़ा सा अर्थ के स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक है। प्रत्येक रचना का कोश-व्याकरणादि-संमत जो अर्थ निकला करता है उसे 'मुख्यार्थ' कहते हैं। कभी कभी मुख्यार्थ के अतिरिक्त उन्हीं शब्दों से दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है इसे 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। कहीं मुख्यार्थ में ही विशेषता दिखाई देती है, कहीं दोनों की विशेषता समान होती है और कहीं मुख्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक विशेषता होती है। व्यंग्यार्थ के इसी तारतम्य के अनुसार काव्य के उपर्युक्त भेद किए गए हैं। जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारी होता है उस रचना को उत्तम या ध्वनि-काव्य कहते हैं।* जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ के तुल्य या उससे दबता हुआ होता है उसे मध्यम या गुणीभूतव्यंग्य-काव्य कहते हैं। जहाँ केवल मुख्यार्थ में ही विशेषता होती है उसे अधम, अवर, सामान्य या अलंकार-काव्य कहते हैं।

बंध के विचार से दो प्रकार की रचनाएँ देखी जाती हैं—एक प्रबंध और दूसरी निबंध। जिस रचना में कोई कथा क्रमबद्ध कही जाती है वह 'प्रबंधकाव्य' कहलाती है। जिसमें कोई विशेष कथा नहीं होती और जो स्वच्छंद रूप से किसी पद्य या गद्यखंड के द्वारा कोई रस, भाव या तथ्य को व्यक्त करती है उस बंधहीन रचना को 'निबंध' या 'मुक्तक' कहते हैं। प्रबंधकाव्य के तीन प्रकार देखे जाते हैं। एक तो ऐसी रचना होती है जिसमें पूर्ण जीवनवृत्त विस्तार के साथ वर्णित होता है। ऐसी रचना को 'महाकाव्य' कहते हैं। जिस रचना में खंड-जीवन महाकाव्य की ही शैली में वर्णित होता है ऐसी रचना को खंड-काव्य कहते हैं। हिंदी में कुछ ऐसी रचनाएँ भी देखी जाती हैं जिनमें जीवनवृत्त तो पूर्ण लिया गया है किंतु महाकाव्य की भाँति वस्तु का विस्तार नहीं दिखाई देता। ऐसी रचनाओं में जीवन का कोई एक पक्ष विस्तार के साथ प्रदर्शित करने का प्रयत्न देखा जाता है। 'एकार्थ' की ही अभिव्यक्ति के कारण ऐसी रचनाएँ महाकाव्य और खंडकाव्य के बीच की रचनाएँ होती हैं। इन्हें 'एकार्थकाव्य' या केवल 'काव्य'

---

* इदमुत्तमम् तशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिरिति बुधैः कथितः।

—काव्यप्रकाश।

'रामचरितमानस' के अनंतर रामचरित के आधार पर कितने ही ग्रंथों का निर्माण हुआ, किंतु पूर्व-पूर्व रचना का उत्तर-उत्तर रचना से किसी प्रकार का महत्त्व कम नहीं हुआ। 'मानस' के अनंतर 'रामचंद्र-चंद्रिका' (केशव कृत) बनी, किंतु वह 'मानस' के प्रभाव को कम न कर सकी। रामस्वयंवर (रघुराजसिंह, रीवाँ-नरेश कृत), रामचरित-चिंतामणि (रामचरित उपाध्याय कृत), साकेत (मैथिलीशरण गुप्त कृत) आदि ग्रंथ रामचरित को ही लेकर लिखे गए, पर 'मानस' का न प्रचार कम हुआ और न उसका महत्त्व ही क्षीण। कथक्कड़ पं० राधेश्याम के 'संगीत-रामायण' से, जिसका जनसमाज में बहुत अधिक प्रचार हुआ, 'मानस' का प्रभाव कम न हो सका, यद्यपि 'मानस' के ही मसाले से उसका ढाँचा खड़ा किया गया है।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि ज्ञान-वाङ्मय से हमारे ज्ञान की चाहे जितनी वृद्धि हो हम उस मुक्तावस्था में नहीं पहुँच सकते जिसमें पहुँचकर व्यक्ति अपनी परिस्थिति भूलकर मन की उस स्वच्छंद अनुभूति में मग्न हो जाता है जिसे आचार्यों ने 'अलौकिक आनंद' कहा है। ठीक इसके विपरीत भाव-वाङ्मय चाहे हमारे ज्ञान की कुछ भी वृद्धि न करे किंतु वह शीघ्र ही हमें उस मुक्तावस्था में पहुँचा देता है जिसकी संवेदना को 'लोकोत्तर आनंद' की संज्ञा प्राप्त है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भाव-वाङ्मय से ज्ञान की वृद्धि होती ही नहीं। होती है, पर उसका लक्ष्य ज्ञान-वृद्धि नहीं। उसका लक्ष्य हमारे मनोवेगों को ही उत्तेजित करना है। यही काव्य का अन्य वाङ्मयों से व्यतिरेक है।

काव्य का संबंध

संसार में प्रत्येक व्यक्ति का दूसरों से दो प्रकार का संबंध देखा जाता है—एक को प्रज्ञात्मक संबंध कह सकते हैं और दूसरे को भावात्मक। जब दो व्यक्तियों के बीच तर्क-वितर्क या बुद्धि के पूर्ण योग द्वारा कार्यव्यापार चलता है तो उसे प्रज्ञात्मक संबंध कह सकते हैं। इसी प्रकार जहाँ बुद्धि की प्रेरणा न होकर हृदय की शुद्ध प्रेरणा रहती है वहाँ भावात्मक संबंध समझना चाहिए। उदाहरण के लिए पिता-पुत्र का दृष्टांत लीजिए। जिस समय कोई पिता अपने पुत्र को पढ़ाते हुए यह सोचता है कि 'इसे पढ़ा-लिखा दूँ तो वृद्धावस्था में मेरे अशक्त होने पर यह मुझे कमाकर खिलाएगा' उस समय उसका ऐसा सोचना अपने पुत्र के साथ प्रज्ञात्मक संबंध स्थापित करना है। किंतु यदि उसी पिता का वही पुत्र अपनी दुष्टता के कारण कारागार में बंद हो जाय तो वही

पिता उसके भावी जीवन या दोप का बिना कोई विचार किए सबसे पहले उसे छुड़ाने के यत्न में संलग्न दिखाई देता है। पुत्र के साथ पिता का यह संबंध भावात्मक है, क्योंकि यह बुद्धिप्रेरित न होकर हृदय-प्रेरित है। बुद्धि यही कहेगी कि 'उसने जैसा किया उसका वैसा ही फल भोगे'। इसी प्रकार मार्ग में जाते हुए किसी को बेतरह पिटते देखकर सबसे पहले प्रायः किसी के मुख से जो बात निकल पड़ती है वह यही कि 'बेचारे को इस तरह मत पीटो'। परंतु यह जानने पर कि पिटनेवाले व्यक्ति ने सोने के लोभ में किसी छोटे बच्चे के गले पर छुरा फेरकर उसके गहने उतार लिए हैं, वही व्यक्ति यह कहता हुआ सुना जाता है कि 'हत्यारे को और पीटो'। इन दोनों अवस्थाओं में पहली हृदयप्रेरित है और दूसरी बुद्धिप्रेरित। ध्यान देने की बात है कि बुद्धि भी अपना काम बहुधा भावों की सहायता से ही निकालती है जैसे ऊपर के उदाहरण में क्रोध या रोष ही प्रवर्तक है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संसार में किसी कार्य में प्रवृत्त या उससे निवृत्त करनेवाले वस्तुतः भाव ही होते हैं।

काव्य दूसरों के साथ हमारा भावात्मक संबंध स्थापित करता है। काव्य-ग्रंथ में जिन पात्रों का चरित्र हम पढ़ते हैं उनके साथ हमारा भावात्मक संबंध ही स्थापित होता है, किंतु लोकनीति, धर्मनीति, राजनीति आदि की रचनाएँ लोक के साथ हमारा जो संबंध स्थापित करती हैं वह प्रज्ञात्मक होता है, यद्यपि अपना काम निकालने के लिए इनको भी हृद्गत भावों को उत्तेजित करना पड़ता है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि काव्य लोक के साथ हमारा जो भावात्मक संबंध स्थापित करता है उसका उद्देश्य क्या है। काव्यगत पात्रों के साथ अपना भावात्मक संबंध स्थापित करके हमारे मनोवेग परिष्कृत होते हैं और उन परिष्कृत मनोवेगों से हम सुगमतापूर्वक अपना जीवन वहन करने में समर्थ हो सकते हैं और अलक्षित रूप से विश्व के संचालित होने में सहायक होते रहते हैं। समाज में साहित्य की सृष्टि विश्वात्मा की वह देन है जिसके कारण विराट् वपु का साम्यभाव बना रहता है। वह विकारग्रस्त नहीं होने पाता और यदि कहीं विकार-ग्रस्त हुआ तो उसके विकार का क्रमशः परिहार भी हो जाता है। अतः काव्य-सृष्टि विधाता की सृष्टि से अद्भुत कही गई है। इसी से कहा जाता है कि नियति के नियमों का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं।*

* नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥—काव्यप्रकाश।

काव्य के कर्ता

प्रबंध और मुक्तक के भेद से काव्य के कर्ता भी दो प्रकार के होते हैं—एक प्रबंधकार, दूसरे मुक्तककार। प्रबंधकार का महत्त्व मुक्तककार की अपेक्षा विशेष होता है। किंतु कुछ ऐसे मुक्तककार भी देखे जाते हैं जो अपनी एक ही रचना द्वारा रस की अच्छी अनुभूति उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने में वे समर्थ होते हैं जीवन का मार्मिक खंडदृश्य काव्यबद्ध करके। जिस कवि में मार्मिक खंडदृश्यों की कल्पना करने की पूर्ण शक्ति होती है वह प्रबंध की तरह रस की धारा चाहे न बहा सके किंतु सरोवर की गंभीरता का आनंद अवश्य दे सकता है। संस्कृत में ऐसी ही विशेषता के कारण किसी समीक्षक ने 'अमरुक' के संबंध में कहा है कि उसका एक-एक श्लोक सौ-सौ प्रबंधकाव्यों का सा रस उत्पन्न कर सकता है।* हिंदी में इस प्रकार के कवि हुए हैं बिहारी। बिहारी ने प्रसंगों की कल्पना अद्भुत की है। उनके दोहों के सामने औरों के दोहे जो नहीं जँचते उसका मुख्य कारण प्रसंग-कल्पना का वैचित्र्य ही है। हृदय पर उनकी रचना का जो गहरा प्रभाव पड़ता है वह इसी वैचित्र्यपूर्ण कल्पना के कारण। अतः उनकी 'सतसैया' के संबंध में यह दोहा उचित ही जान पड़ता है—

सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
देखत कौं छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तककारों में कुछ ऐसे हैं जिनकी दृष्टि रस पर रहती है। ऐसे कवियों को 'रसकार' कवि कहा जा सकता है।

इन कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी हैं जिनकी दृष्टि रस पर न रहकर चमत्कार पर रहती है। उक्तिवैचित्र्य को ही वे काव्य समझते हैं। कोई सुंदर उक्ति कहना ही उनका उद्देश्य होता है, वे सूक्तिकार हैं। तीसरे प्रकार के कवि ऐसे देखे जाते हैं जो उक्ति-वैचित्र्य भी न दिखलाकर लोकनीति को केवल पद्यबद्ध कर देते हैं। अतः उन्हें नीतिकार या सामान्य रूप में पद्यकार कहना चाहिए। इन तीनों प्रकार के मुक्तककारों का भेद समझने के लिए कुछ उदाहरण देने की आवश्यकता है। बिहारी का एक दोहा लीजिए—

उन हरकी हँसिकै इतै इन सौंपी मुसकाय।
नैन मिलैं मन मिलि गए दोऊ मिलवत गाय॥

---

* अमरुककवेरेकैकः श्लोकः प्रबन्धशतायते।

इस दोहे में नायक और नायिका के प्रेम का वर्णन है और शृंगार रस के जितने अवयवों की आवश्यकता है वे सब इसमें नियोजित हैं। अतः यह रसपूर्ण रचना हुई। किंतु स्वयम् बिहारी ने ही कुछ ऐसे दोहे भी लिखे हैं जिनमें उक्ति का वैचित्र्य मात्र है, जैसे—

कनक कनक तें सौगुनो मादकता अधिकाय।
वा खाएँ बौरात है या पाएँ बौराय॥

इस दोहे में स्वर्ण की मादकता युक्ति द्वारा प्रतिपादित की गई है। हिंदी में इस प्रकार के सबसे प्रसिद्ध सूक्तिकार वृंद हुए हैं। नीतिकारों या पद्यकारों की श्रेणी में बैताल, गिरिधर कविराय आदि आते हैं क्योंकि इनकी रचनाओं में युक्ति की या अलंकार की योजना भी बहुत कम दिखाई देती है, जैसे—

लाठी में गुन बहुत हैं सदा राखिये संग।
गहिरो नद नारी जहाँ तहाँ बचावै अंग॥
तहाँ बचावै अंग झपटि कुत्ता कहँ मारै।
दुसमन दावागीर तिनहुँ को मस्तक झारै॥
'कह गिरिधर कबिराय' सुनो हो बेद के पाठी।
सब हथियारन छाँड़ि हाथ महँ लीजै लाठी॥

शास्त्र और काव्य के भेद से शास्त्रकार और काव्यकार के रूप में दो प्रकार के रचनाकार प्रत्येक साहित्य में हो सकते हैं, किंतु हिंदी-साहित्य में विशेषतया शृंगारकाल या रीतिकाल में शास्त्रकार का पृथक् स्वरूप बहुत कम दिखाई देता है। अधिकतर आचार्य के नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति काव्यकार ही रहे हैं। उन्होंने संस्कृत के रीति-ग्रंथों का सहारा लेकर अपना काव्य-कौशल ही दिखलाया है, आचार्यत्व नहीं। इसलिए रीतिकाल के भीतर जितने भी रीति-ग्रंथकार हुए हैं उन्हें काव्य-कार ही माना गया है। औरों से उनका भेद करने के लिए इतना ही कहा जा सकता है कि कुछ काव्यकार शुद्ध शास्त्रानुयायी होते हैं और कुछ स्वच्छंद वृत्तिवाले। हिंदी के रीतिकाल में ऐसे कई स्वच्छंद वृत्ति-वाले कवि हो गए हैं जिन्हें औरों से एकदम पृथक् किया जा सकता है, जैसे—ठाकुर, घनआनंद, बोधा आदि।

काव्य के कर्ताओं के भेद-प्रभेद का प्रपंच संस्कृत में राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में बड़े विस्तारपूर्वक किया है। वहाँ से कुछ बातें उद्धृत की जाती हैं। कवियों के तीन भेद होते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक। सारस्वत उस कवि को कहते

हैं जिसे सरस्वती सिद्ध हो अर्थात् जन्मांतर-संस्कार से ही जिसमें कविता करने की प्रवृत्ति हो। ऐसा कवि जन्मजात बुद्धिमान् होता है। आभ्यासिक कवि वह है जो इस जन्म में अभ्यास करते करते कविता करने में निपुण हो जाय। यह जन्मसिद्ध बुद्धिमान नहीं होता। इसकी बुद्धि का अभ्यास से संस्कार हो सकता है अतः यह आहार्यबुद्धि होता है। औपदेशिक कवि वह है जो एक-एक बात का उपदेश पाने पर कविता करे। ऐसे कवि की बुद्धि परिष्कृत नहीं होती, अतः ऐसे कवि को दुर्बुद्धि कहा गया है। सारस्वत कवि स्वच्छंद और धाराप्रवाह रचना करता है। आभ्यासिक परिमित रचना करता है और औपदेशिक कभी-कभी कुछ रचनाएँ कर लिया करता है। पहले ढंग के कवि की वाणी परिष्कार की अपेक्षा नहीं रखती। दूसरे की वाणी अल्प परिष्कार से ठीक हो जाती है और तीसरे की रचना अंडबंड होती है, उसमें विशेष परिष्कार की आवश्यकता रहती है।

इन कवियों के काव्य की विस्तारसीमा का निर्देश भी बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। पहले की रचना लोक में जिसतिस की जिह्वा पर चढ़ी रहती है और जो जो सुनता है उसे मुखाग्र करने की चेष्टा करता है। दूसरे की रचना मित्रों के घर तक पहुँचती है और तीसरे की रचना उसके घर से आगे नहीं बढ़ती।

शब्द, अर्थ, अलंकार, रस, शास्त्र आदि के विचार से भी कवियों के कई भेद किए गए हैं—(१) रचना-कवि, (२) शब्द-कवि, (३) अर्थ-कवि, (४) अलंकार-कवि, (५) उक्ति-कवि, (६) रस-कवि, (७) मार्ग-कवि और (८) शास्त्रार्थ-कवि। इनका लक्षण इनके नाम ही से प्रकट है। इन आठ प्रकार के कवियों में से दो-तीन प्रकार के कवियों के गुण जिसमें हों वह सामान्य, पाँच-छह प्रकार के कवियों के गुण जिसमें हों वह मध्यम श्रेणी का और जिसमें सब प्रकार के कवियों के गुण हों वह 'महाकवि' कहलाता है। राजशेखर के मानदंड से तो हिंदी के महाकवि गिने गिनाए ही हो सकते हैं। पर हिंदी में किसी भी नाम के पहले महाकवि लिखने का ज्वर चढ़ता ही जाता है— 'वैद्यो नारायणो हरिः'।

इसी प्रसंग में कवियों की दस अवस्थाओं के अनुसार उनके अन्य दस भेद भी किए गए हैं—(१) काव्यविद्यास्नातक, (२) हृदय-कवि, (३) अन्यापदेशी, (४) सेविता, (५) घटमान, (६) महाकवि, (७) कविराज, (८) आवेशिक, (९) अविच्छेदी और (१०) संक्रामयिता। जो कविता करने के विचार से गुरुकुल में विद्या और उपविद्या का अध्य-

यन करता है वह 'काव्यविद्यास्नातक' कहलाता है। ऐसे कवि हिंदी में पहले बहुत थे, अब खोजने से भी न मिलेंगे। जो अपने हृदय में ही कविता करता है या अपनी कविता को छिपाए रहता है प्रकट नहीं करता वह हृदय-कवि है। यदि छिपाए रहने की शर्त न होती तो ऐसे कवि अनेकानेक मिल जाते। जो दोष के भय से अपनी कविता को दूसरे की कविता कहकर पढ़ता है वह अन्यापदेशी है। हिंदी में अन्यापदेशी के स्थान पर 'स्वापदेशी' बढ़ने लगे हैं। यह कैसी विपरीत बुद्धि है! जो पुराने कवियों की उत्कृष्ट रचना की छाया पर रचना करता है वह सेविता है। ऐसे बहुत से मिल सकते हैं। जो प्रबंध न लिखकर मुक्तक रचना करता है वह घटमान है। हिंदी में ऐसे कवि भरे पड़े हैं। जो मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार की रचना कर सकता है वह महाकवि है। हिंदी में प्रबंधकाव्य ही कम हैं, फिर महाकवियों की क्या कथा। जो सब प्रकार की भाषाओं में, सब प्रकार के प्रबंधों में और सब प्रकार के रसों में रचना करने में समर्थ हो वह कविराज है। ऐसे लोग संसार में इने-गिने होते हैं। जो मंत्रबल से सिद्धिलाभ करके आवेश की स्थिति रहने तक रचना करते रहते हैं वे आवेशिक हैं। जब इच्छा हो तभी जो धाराप्रवाह रचना करने में समर्थ हो वह अविच्छेदी है अर्थात् जिसे आजकल 'आशुकवि' कहते हैं। अंतर यही है कि आजकल के आशुकवि तुकबंदी मात्र करते हैं, पर अविच्छेदी तुक्कड़ को नहीं कहते। जो अपने मंत्र के बल से किसी कुमार या कुमारी के सिर पर सरस्वती का संक्रमण करा सके वह संक्रामयिता है।* आवेशिक और संक्रामयिता प्राचीन काल की ही शोभा बढ़ाते रहे।

---

* निरंतर अभ्यास करते रहने से कवियों के वाक्य विशेष प्रकार से परिपुष्ट हो जाया करते हैं। इस पुष्टि का नाम है पाक। पाक के विचार से भी कवियों की रचना के कई भेदों का उल्लेख काव्यमीमांसा में है— पिचुमर्द या नीम-पाक, बदर या बेर-पाक, मृद्वीका या मुनक्का-पाक, वार्ताक या बैंगन-पाक, तिंतिडीक या इमली-पाक, सहकार या आम-पाक, क्रमुक या सुपारी-पाक, त्रपुस या ककड़ी-पाक, नारिकेल या नारियल-पाक। यह सूझ किसी वैद्यशास्त्री की न हो!

पद्य

पद्य की विशेषता

'पद्य' शब्द 'पद्' से बना है जिसका अर्थ है 'चरण'। वह रचना जो नियमबद्ध और सुव्यवस्थित 'पदों' के आधार पर खड़ी हो 'पद्य' कहलाती है। पद्य का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है। चाहे पद्य का उद्भव गद्य के अनंतर ही क्यों न हुआ हो, किंतु यह निर्विवाद है कि साहित्य-क्षेत्र में पद्य का प्रचलन गद्य से पहले हुआ। संसार का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद पद्यबद्ध है और तब से आज तक पद्य की धारा कहीं रुकी नहीं। वर्तमान युग में, जो गद्य का युग समझा जाता है, पद्य की धारा अखंड गति से प्रवाहित हो रही है, यद्यपि इसने अपना मार्ग कुछ परिवर्तित कर लिया है। अब प्रायः ऐसी ही रचना लिखने का प्रयत्न किया जाता है जो पहले की भाँति बने बनाए साँचों में न ढल-कर लय के बिना आकारवाले साँचे में ढलती है। इस प्रकार की रचनाएँ इधर अँगरेजी-साहित्य में बहुत अधिक दिखाई पड़ीं। उनका प्रवाह बंगाल की खाड़ी तक पहुँचा और बंगाल की खाड़ी से यह निराली लहर हिंदी-क्षेत्र में भी हिलोरें लेने लगी। इस प्रकार की रचना के प्रेमियों का कहना है कि ये रचनाएँ संगीत की स्वच्छंद लय के आधार पर प्रस्तुत होती हैं।

हिंदी ही नहीं समस्त भारतीय साहित्य काव्य में संगीत-तत्त्व का विशिष्ट रूप लेकर चलनेवाला है, पश्चिम में संगीत का वह व्यापक स्वरूप कभी नहीं दिखलाई पड़ा, इसलिए संगीत के साथ खेल करने का जैसा स्वाँग वहाँ हुआ, यहाँ अब भी नहीं हो सका। यह अतिरेक यहाँ तक बढ़ा कि कविताओं से जंतुओं की ध्वनियाँ निकाली जाने लगीं।* किसी विशेष परिस्थिति, ऋतु, पक्षी, जंतु आदि की ध्वनि निकालने के फेर में कविता में कितनी कृत्रिमता समाने लगी है या वे किस प्रकार अपना प्रकृत रूप त्याग कर खेल की वस्तुएँ बनती जा रही हैं इसका विवरण वहाँ के सच्चे समालोचकों ने भी देना आरंभ कर दिया है।† नई रंगत के कवियों और इन ध्वनियों पर सिर मटकानेवालों का कहना है कि छंदोबद्ध रचना करना कलाकार

---

* देखिए कमिंग्ज की रचनाएँ।

† देखिए 'दि प्रिंसिपुल्स् आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म'।

के लिए बंधन है। जिस समय कवि भावावेश में रचना करने लगता है उस समय उसके अंतरतम में बैठा हुआ भावुक उन्मुक्त विचरता है। अतः स्वाधीनता के इस युग में छंदों की पराधीनता उसके लिए असह्य है। वह तो संगीत का प्रेमी है। उसका गानप्रवाह बँधी हुई प्रणाली में बहकर आविल क्यों हो। किंतु सोचने की बात है कि कविता और संगीत का जब घनिष्ठ संबंध है तब संगीत का उत्कर्ष कविता में उत्तरोत्तर साधक होगा या बाधक। संगीत की सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सकता। क्या लय या ध्वनि का अनुगमन पराधीनता नहीं है? पराधीनता तो पराधीनता ही है, चाहे थोड़ी हो या बहुत। वस्तुतः नवीनता और स्वच्छंदता की झोंक में जिस प्रकार तुकांतों से विराग हुआ उसी प्रकार आगे चलकर छंदों से भी। जब तक संगीत-तत्त्व कविता के लिए उपयोगी समझा जायगा तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उसके लिए छंद व्यर्थ हैं और तुकांत अनावश्यक। क्योंकि इनके द्वारा संगीत-तत्त्व का उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही देखा जाता है, अपकर्ष नहीं। आरंभ में छंद के जो साँचे बनाए गए थे उनमें संगीत की कमी का अनुभव करके अपभ्रंशकाल में तुकांत का नियोजन किया गया। तुकांत देशी भाषाओं की विशेषता है, उस विशेषता का त्याग और उससे भी आगे बढ़कर छंदों के बंध से किनारा कस लेना, भारती के स्वीकृत मानदंड से नीचे उतरने का प्रयास करना है। संगीतकला का यह त्याग लय के पोषक की ही बेतुकी रुचि का परिचय देता है, जन-समाज के हृदय की अभिरुचि का पता नहीं। केवल लय को ही लेकर चलनेवालों का नहीं, कविसंमेलनों में देखिए तो संगीत के मधुर स्वर में ही काव्यपाठ करनेवालों का रंग जमता है। कितने ही नए कवि कुलंजन फाँककर अपना गला सुरीला बनाते हैं और उस्तादों से राग-रागिनी का अभ्यास करते हैं।

हिंदी के कबित्त, सवैया आदि छंदों को पढ़ने की स्वाभाविक अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। देशभेद से इनके एक से एक सुरीले एवम् मधुर ढंग प्रचलित थे, जिनके लिए विशेष अभ्यास की आवश्यकता भी नहीं थी। स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्न बहुत सुरीले ढंग से कबित्त-सवैये पढ़ा करते थे। कानपुर, बैसवाड़े, बुंदेलखंड आदि में सवैयों के पढ़ने के पृथक् पृथक् ढंग अब भी प्रचलित हैं और लोग उनके प्रकृत संगीत से अब भी प्रभावित होते हैं। कदाचित् ही कोई इनके लिए संगीत के आरोह-अवरोह

का निरंतर अभ्यास करता हो। पुराने कविसमाजों या पढ़ंत-संमेलनों में गले की मधुरता के लिए किसी को सभा-समाजों में अपनी रचना सुनाने से विरत नहीं होना पड़ा। पर आज बहुत से बेसुरा अलापनेवाले यदि स्वयम् नहीं बैठते तो संमेलनों में बैठा दिए जाते हैं। आकाश-पाताल का अंतर यही है। एक ओर संगीत कलामय होकर लय मात्र रह गया, कविता की टाँग भले ही टूट गई हो, दूसरी ओर कानों के परदे इतने संगीतमय हो गए कि बिना संगीत के उन पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। सारांश यह कि जहाँ कविता में आवश्यक संगीत-तत्त्व का पर्याप्त परिमाण में नियोजन हुआ ही नहीं वहाँ की रचना का अनुधावन करके अपनी वह परंपरा निष्प्रयोजन तोड़ने का दुस्साहस करना जिसमें बहुत प्राचीन काल से संगीत का उचित और सच्चा विधान होता चला आ रहा हो, समझदारी की बात नहीं।

पद्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह अन्य पद्धतियों से विशेष मान्य समझा जाता रहा है। सबसे स्थूल कारण यह है कि उसे कंठस्थ कर लेना सरल है। वेद और शास्त्र सुनकर और स्मरण करके ही इतने दिनों तक सुरक्षित रखे जा सके। इसीलिए वे 'श्रुति' और 'स्मृति' कहलाते हैं। पद्य का यह गुण इतना व्यापक है कि वह केवल साहित्य क्षेत्र तक ही परिमित न रह सका, दूसरे क्षेत्रों में भी उसने हाथ-पैर फैलाए। संस्कृत में आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित आदि के ग्रंथ भी इसीलिए पद्यबद्ध किए गए कि वे सुगमतापूर्वक कंठाग्र हो सकें। पद्य की दूसरी विशेषता है माधुर्य, जिसका संगीततत्त्व के नाम से ऊपर उल्लेख हो चुका है।

पद्यशैली की रचनाएँ

अब देखना चाहिए कि शुद्ध साहित्य में पद्य का व्यवहार कितने प्रकार की रचनाओं में किया जाता है। पद्य में ध्यान से देखने पर तीन प्रकार की रचनाएँ दिखाई पड़ती हैं—प्रबंध, निबंध और निर्बंध। प्रबंध के भी कई भेद हो सकते हैं। महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खंडकाव्य का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आधुनिक युग में कथाबद्ध कुछ ऐसी रचनाएँ होने लगी हैं जिन्हें काव्य-निबंध कहना उपयुक्त होगा। ऐसी रचनाएँ कहीं तो कुछ कथा का सहारा लेकर चलती हैं और कहीं केवल वर्ण्य विषय की वर्णना करती हैं। 'प्रबंध' विस्तार का द्योतक है और 'निबंध' संकोच का। निर्बंध शैली के अंतर्गत तीन प्रकार की रचनाएँ देखी जाती हैं—पाठ्य, गीत

और प्रगीत। छंदोबद्ध पाठ्य मुक्तकों और गीतों का प्रचलन तो बहुत प्राचीन काल से रहा है किंतु प्रगीतों की रचना अँगरेजी-साहित्य के 'लिरिक्स' के ढंग पर बहुत थोड़े दिनों से हिंदी में होने लगी है। अतः पद्यशैली के अंतर्गत जिन रचनाओं का परिगणन हुआ उनका वृत्त इस प्रकार होगा—
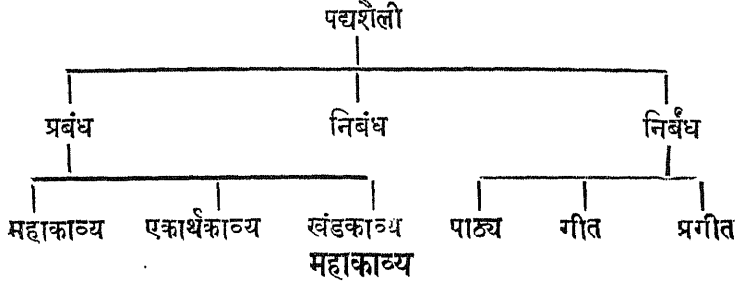
महाकाव्य

लक्षण-ग्रंथों में महाकाव्य की दो विशेषताओं का विस्तार से विचार किया गया है—एक है उसका संघटन और दूसरा है उसका वर्ण्य। महाकाव्य की रचना सर्गबद्ध होती है।* सर्ग का अर्थ अध्याय है। कथा को कुछ सर्गों में विभाजित करके उसका वर्णन किया जाता है। कथा का खंड कर लेने से उसका वर्णन करने में विशेष सुगमता होती है। फारसी की मसनवी शैली में सर्गों का नियोजन नहीं होता, उसमें कथा क्रमशः चलती रहती है। बीच बीच में प्रसंगों के अनुसार शीर्षक बाँध दिए जाते हैं। सर्गों के न होने से यदि कवि एक स्थान से दूसरे स्थान के वर्णन में प्रवृत्त होना चाहता है तो कोई मध्यस्थ का कार्य करनेवाला पात्र अवश्य होता है। कवि उसी का अनुधावन करता है, जैसे 'पद्मावत' में 'हीरामन सुग्गा'। सर्गबद्ध प्रणाली में यह कठिनाई नहीं। पुराने महाकाव्यों के आदर्श पर यह भी नियम बाँधा गया कि महाकाव्यों में आठ से अधिक सर्ग हों। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यदि किसी रचना में मोटे मोटे आठ से कम ही खंड रखे जायँ तो वह रचना अन्य सब सामग्रियों से पूर्ण होने पर भी सदोष हो जायगी। जैसे हिंदी में 'रामचरितमानस' में सात ही 'सोपान' (कांड) हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि सर्ग की दृष्टि से 'मानस' सदोष है। वाल्मीकीय रामायण में बड़े बड़े सात ही कांड हैं। पर वह सदोष नहीं क्योंकि प्रत्येक कांड में सैकड़ों सर्ग हैं। 'मानस' के प्रत्येक 'सोपान' में अनेक 'प्रकरण' हैं जिनका उल्लेख उत्तरकांड के अंत में काकभुशुंडि और गरुड़ के संवाद के बीच किया

* सर्गबन्धो महाकाव्यम्—साहित्यदर्पण।

गया है।* 'सर्ग' का लक्ष्य जान पड़ता है कथा का सुभीते के अनुसार विभाजन करके उसका नियोजन करना। संख्या उसके लिए मुख्य नहीं। सर्ग की छंद के विचार से दूसरी विशेषता यह बतलाई गई है कि उसमें एक ही छंद का व्यवहार किया जाय, पर अंत में छंद बदल दिया जाय। एक ही छंद का प्रयोग इसीलिए स्वीकृत किया गया कि कथा की धारा व्यवस्थित होकर चले। प्रवाहरक्षा ही के लिए ऐसा विधान है इसमें संदेह नहीं। अंत में छंदों का परिवर्तन मोड़ बतलाने के लिए होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक सर्ग में भिन्न भिन्न छंद रखे ही जायँ। वाल्मीकीय रामायण में विभिन्न छंद हैं अवश्य पर उसमें अनुष्टुप् छन्द का ही अधिक व्यवहार हुआ है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में मुख्य छंद दोहा-चौपाई हैं। प्रत्येक सोपान में छंद बदले नहीं गए हैं, बीच-बीच में प्रसंग के बदलने पर, रस के परिवर्तन पर, पात्र की विशेषता के कारण और परिस्थिति के अनुकूल छंदों की भी परिवृत्ति की गई है। यद्यपि तुलसीदासजी ने दोहा-चौपाई का क्रम उन सूफी कवियों की ही भाँति रखा है जिन्होंने फारसी की मसनवियों का विदेशी ढर्रा पकड़ा था, तथापि यह कह देना असंगत न होगा कि सूफियों ने मसनवी के अनुकूल जन-समाज में प्रचलित दोहे-चौपाईवाला क्रम देखा और उसे अपनाया, वह यहीं का, अवध का, लौकिक क्रम था, जिसे उन्होंने अपने उपयोग के लिए चुना। 'दूहा' और 'पद्धरि' का प्रयोग बहुत पहले से होता आ रहा है। अपभ्रंश-भाषा का नैसर्गिक वाङ्मय बहुत कुछ नष्ट हो गया, अन्यथा देशी परंपरा का बहुत ही स्पष्ट और निखरा रूप दिखाई पड़ता। इधर अपभ्रंश की जो अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं और जिनपर हिंदीवालों को लट्टू किया जा रहा है वे कृत्रिम हैं और हिंदी की सीधी परंपरा को उनसे जोड़ना भ्रम में पड़ना और भ्रम में डालना है। 'रासो' नाम के ग्रंथों में कुछ पारंपरिक संकेत मिलते हैं। छप्पय (कवित्त) आदि की वीररसवाली परंपरा उसमें स्पष्ट दिखती है। सूफियों के प्रेमकाव्यों में दोहे-चौपाई के अतिरिक्त और किसी छंद के न आने से उनका मसनवी का ढंग बना रहा। पर भारतीय सर्गबद्ध शैली से परिचित तुलसीदासजी ने बीच बीच में अन्य छंदों की योजना करके

* 'प्रथमहि अति अनुराग भवानी' से आरंभ होकर यह सूची 'कथा समस्त भुसुंडि बखानी' तक चली गई है। इसे 'तेरिज रामायण' कहते थे, क्योंकि यह रामकथा का सार-संकलन है।

उसका परिष्कार कर डाला। उसमें अपनापन भली भाँति झलकाया। जिन्हें इसकी ठीक ठीक पहचान नहीं थी उन्होंने छंदों को बात की बात में बदलकर प्रवाह नष्ट कर दिया है। केशव की 'रामचंद्रचंद्रिका' इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। महाकाव्य के किसी सर्ग में यदि विविध छंद रख दिए जायँ तो कोई बात नहीं* पर प्रत्येक सर्ग में ऐसा करने से प्रवाह खंडित हो जाता है।

कथा के विचार से सर्ग में चरित-नायक की कथा अवश्य आनी चाहिए और अंत में आगे की कथा का आभास भी मिलना चाहिए। इसका वास्तविक कारण यह है कि महाकाव्य में कथा की घटनाएँ वैचित्र्यपूर्ण रखने का वैसा प्रयत्न नहीं होता जैसा उसकी क्रमबद्धता बनाए रखने का। प्रबंध के विचार से काव्य-पाठक को कथा के क्रम से परिचित होना चाहिए। श्रव्य या पाठ्य काव्य, जिसके अंतर्गत महाकाव्य आता है, इसी बात में दृश्यकाव्य या नाटक से भिन्न है। नाटक में कुतूहल जगाए रखने की आवश्यकता होती है। उसमें छँटी-छँटाई घटनाएँ अपना वैचित्र्य दिखलाती हैं। पर महाकाव्य में रमणीयता का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसी रमणीयता के विचार से महाकाव्य में अनेक वर्णन भी रखे जाते हैं। इस प्रकार महाकाव्य घटनात्मक और वर्णनात्मक दोनों होता है। घटनाएँ कथा को आगे बढ़ाने के लिए होती हैं और वर्णन रमणीयता लाने के लिए। वर्णनों की रमणीयता पर ही दृष्टि रखने का दुष्परिणाम भी काव्य-परंपरा के बीच दिखाई पड़ा है। संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों में घटना और वर्णना का सम्यक् योग दिखाई देता है। घटना का भी विस्तार है और वर्णना का भी। किंतु पिछले काँटे यह बात नहीं रह गई। वर्णनों की अधिकाधिक योजना होने लगी। परिणाम यह हुआ की वर्णनों का लदाव लादकर बहुत छोटी कथा पर ही महाकाव्य लिखे जाने लगे। श्रीहर्ष का 'नैषधचरित' ऐसा ही महाकाव्य है, उसमें केवल नल-दमयंती का परिणय वर्णित है। हिंदी के काव्यों के लिए ऐसे ही ग्रंथ आदर्श हुए। फल यह हुआ कि यहाँ भी बहुत छोटी कथा वर्णनों से भरकर महाकाव्य के नाम पर प्रस्तुत की गई। 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-वनवास' ऐसे ही ग्रंथ हैं। जहाँ बड़ी कथा ली भी गई वहाँ कवियों की दृष्टि घटनाओं पर रही ही नहीं। किसी ने वर्णनों का अतिरेक किया तो किसी ने विविध प्रकार की भाव-व्यंजना या वस्तु-व्यंजना के

* नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते—साहित्यदर्पण।

संग्रह-संकलन पर ही सबसे अधिक दृष्टि जमाई। केशवदास की 'रामचंद्रचंद्रिका' में वर्णनों पर कवि की दृष्टि इतनी अधिक है कि वह प्रकीर्णक वर्णनों का संग्रह जान पड़ती है। कथा की क्रमबद्धता का उसमें बहुत कम ध्यान रखा गया है। प्रायः घटनाएँ छोड़ दी गई हैं या उन्हें थोड़े में निबटाया गया है। जो रामकथा से पहले से भली भाँति अवगत नहीं है उसे इससे कठिनाई का अनुभव होता है। 'साकेत' और 'कामायनी' में व्यंजना का प्राधान्य है। पहली में वस्तु-व्यंजना का और दूसरी में भाव-व्यंजना का। कथा का महाकाव्य के अनुरूप विस्तार करने की ओर कवियों ने उतना प्रयत्न ही नहीं किया। इसी से ऐसी रचनाओं को महाकाव्य तथा खंडकाव्य के बीच की एकार्थकाव्य के ढंग की रचना मानना विशेष उपयुक्त जान पड़ता है।

प्रत्येक सर्ग में चरित-नायक की कथा का ओतप्रोत होना आवश्यक कहा गया था। वह इसलिए कि मुख्य विषय से कथा का संबंध छूटने न पाए। पर धीरे धीरे कवियों ने इधर से भी मुँह मोड़ लिया। तुलसीदास के 'मानस' में कुछ लोगों को यह बात बहुत खटकती है कि वे बारंबार राम की ईश्वरता का स्मरण दिलाते चलते हैं। कवि ने ऐसा इसलिए किया है कि प्रतिपाद्य विषय सदा संमुख रहे।* उसे पाठक या श्रोता भूले न। केवल चरित-नायक की कथा का ही नहीं, उसके स्वरूप का भी निर्णय कर दिया गया है। कहा गया कि महाकाव्य की कथा प्रख्यात ही होनी चाहिए, कल्पित नहीं। प्रख्यात वृत्त की योजना का कारण यही है कि रस-संचार या साधारणीकरण होने में सहायता प्राप्त हो। जिस चरित-नायक की कथा ली जाय उसके साथ तादात्म्य स्थापित होने में कोई बाधा उपस्थित न हो। पहले कहा जा चुका है कि महाकाव्य में कथा का वैचित्र्य अपेक्षित नहीं होता। उसमें कथा रस की अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ करती है। कल्पित कथा द्वारा रसोद्रेक उस कोटि का नहीं हो पाता जिस कोटि का प्रख्यात वृत्त द्वारा। ऐतिहासिक या पौराणिक कथा के पात्र पहले से ही सुपरिचित होते हैं और उनके प्रति एक प्रकार की स्थूल भाववृत्ति पहले से ही विद्यमान रहती है। उनके उस स्वरूप को ठीक ठीक झलकाना भर कविकर्म रहता है। राम और रावण के प्रति जो श्रद्धा और घृणा की वासना पहले से ही स्थूल रूप में जमी हुई है उसका सच्चा उद्रेक कवि द्वारा सुगमतापूर्वक

---

* यहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥
—उत्तरकांड (सप्तम सोपान)

हो सकता है। जो अपना इतिहास ही भूल चले हों उनकी बात दूसरी है। इसी बात को यदि आजकल के ढंग से कहें तो यों कहना चाहिए कि महाकाव्य या कविता मात्र में आदर्शवाद की प्रतिष्ठा रहती है, यथातथ्यवाद की नहीं। पश्चिमी देशों में भी, जहाँ से इस प्रकार के वादों का प्रचलन हुआ है, कम से कम कविता में आदर्शवाद अब भी सुरक्षित है। यह दूसरी बात है कि नमूने के लिए कुछ मनचले लोगों ने यथातथ्यवाद का अनुगमन करते हुए एकाध प्रबंधकाव्य कल्पित कथा को लेकर भी प्रस्तुत किया हो। नायक के धीरोदात्त होने का कारण भी यही है। कल्पित कथा में भी आदर्शवाद के लिए स्थान है, पर कल्पित कथा का ग्रहण महाकाव्यों में पहले नहीं हुआ। कथाकाव्यों या उपन्यासों में यह बात अवश्य दिखाई पड़ी। 'कादंबरी' में कल्पित कथा ही ग्रहण की गई है, पर आदर्शवाद की ही पद्धति पर। आज जैसे उपन्यासों में यथातथ्यवाद की प्रधानता है वैसे ही कुछ लोग प्रबंध-काव्यों में भी करना चाहते हैं, यद्यपि उनका प्रयत्न पश्चिमी देशों में भी सफल नहीं हुआ। बात यह है कि कोई धुन कलाकारों के सिर सवार होती है और वे उसी आवेश में एक ही ढर्रा साहित्य की प्रत्येक शाखा में देखना चाहते हैं। यदि ऐसा ही हो तो कविता और कथा-कहानी में पद्य एवम् गद्य की शैलियों के अतिरिक्त स्वकीय भेद न रह जायगा।

काव्य के संघटन का विचार करते हुए यह भी कहा गया कि ग्रंथा-रंभ तीन प्रकार से होता है—आशीर्वचन से, नमस्क्रिया से या वस्तुनिर्देश से।* हिंदी में भक्तिभाव के प्रसार के कारण महाकाव्य या काव्य के लिए मंगलाचरण के रूप में यह आरंभिक स्वरूप परिणत हो गया। माना गया कि काव्य में मंगलाचरण होना चाहिए। इसके उसी के अनुरूप तीन भेद बतलाए गए—नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक। जहाँ नमस्कारबोधक शब्दों का प्रयोग मंगलाचरण में हो वहाँ नमस्कारात्मक मंगल होता है। नमस्कार को व्यक्त करनेवाले शब्द नमः, प्रणाम आदि हैं। व्रजी में 'प्रनवौं, बिनवौं, नवौं' आदि समझिए। जहाँ जय, जयति आदि शब्दों का व्यवहार हो वहाँ आशीर्वादात्मक मंगल है। कथावस्तु का संकेत देनेवाला मंगल वस्तुनिर्देशात्मक होता है। यह बात साहित्य की प्रत्येक शाखा के लिए है। 'सत्यहरिश्चंद्र नाटक' में वस्तुनिर्देशात्मक

---

* आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा। —साहित्यदर्पण।

मंगल है ।* अब मंगलाचरण की प्रथा हिंदीवाले छोड़ रहे हैं। 'प्रिय-प्रवास' में कोई मंगलाचरण नहीं। कुछ लोग अपने प्रतिभा-बल से उसमें वस्तुनिर्देशात्मक मंगल प्रतिपादित करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को पहले मंगलाचरण की परिभाषा जान लेनी चाहिए। वे बुद्धि का अनावश्यक व्यायाम करने से बच जाते। किसी देवता या ईश्वर की प्रार्थना आदि के रूप में जब तक पदावली नहीं रखी जाती तब तक केवल शब्दों को लेकर व्यर्थ ही विवाद करना शोभा की बात नहीं। 'प्रियप्रवास' के प्रथम छंद से ही कथा का आरंभ हो जाता है—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ।।

'दिवस का अवसान' रखकर कवि ने आगे की कथा का अर्थात् प्रवास का संकेत किया हो, यह तो ठीक है। पर यह 'मंगल' है, यह कैसे माना जाए।

यही दशा 'कामायनी' की भी है। उसमें भी कथा का आरंभ पहले ही छंद से हो जाता है—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भींगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह ।।

इसमें 'हिम' या 'प्रलय' द्वारा चाहे भावी दुःखद कथा का संकेत दिया गया हो, पर यह मंगलाचरण है, इसे कोई कैसे स्वीकार कर सकता है। भक्तवर बाबू मैथिलीशरणजी अपनी परंपरा का निर्वाह करते चल रहे हैं। ग्रंथारंभ क्या, उन्होंने तो तुलसीदास के अनुगमन पर नए ढर्रे से प्रत्येक सर्ग में कुछ न कुछ मंगल देने का प्रयत्न किया है।

महाकाव्य के लक्षण के ही अंतर्गत यह भी कहा गया है कि सज्जनों की

---

* वह मंगलाचरण यह है—

सत्यासक्त दयाल द्विज, प्रिय अघहर सुखकंद।
जनहित कमलातजन जय, सिव नृप कबि हरिचंद ।।

इसमें 'जय' शब्द द्वारा आशीर्वादात्मक मंगल है ही, 'सत्यासक्त' आदि पदों द्वारा नाटक की भावी कथा की भी सूचना है।

प्रशंसा और असज्जनों की निंदा करनी चाहिए।* जहाँ मंगलाचरण ही हट गया वहाँ सज्जन-असज्जन का मंगलामंगलाचरण कौन करने जाय। 'आत्म-निवेदन' के रूप में यह गद्य में प्रस्तावना का वेश धरकर अवश्य दिखाई पड़ता है। जिन्हें शास्त्रकथित इस नियोजन का पता नहीं वे सूक्ष्म दृष्टि से तुलसीदास के साधु-असाधु-चरित के आरंभिक उल्लेख से चौंकते हैं और अनुमित करते हैं कि उनकी कड़ी आलोचना होने लगी थी इसी से उन्होंने 'मानस' में खलों की प्रशंसा की है। काव्य की अभिव्यंजन-प्रणाली से अनभिज्ञ लोग तुलसीदास की 'खलवंदना' को भले ही 'प्रशंसा' नाम दें, साहित्यिक तो उसे 'व्याजनिंदा' ही कहते आए हैं।

शास्त्रों में ऐतिहासिक दृष्टि से पहले दृश्यकाव्य का ही विवेचन मिलता है। नाट्यशास्त्र बहुत प्राचीन ग्रंथ है। श्रव्य या पाठ्य काव्य के विवेचन में वे ही बातें पीछे से रख दी गई हैं। इसी से नाटक की पंचसंधियों का भी विधान महाकाव्य में माना गया है। रसों की योजना का भी क्रम यही है। शृंगार या वीर में से कोई एक रस अंगी अर्थात् प्रधान रखना कहा गया है। नाटकों में शांत रस के लिए स्थान नहीं था, पर काव्य में उसको भी प्रधान रखने का उल्लेख है। करुण रस पर अधिक ध्यान ही नहीं दिया गया। भवभूति ने उसकी प्रधानता नाटक में दिखाने का प्रयत्न किया है। फिर पाठ्य काव्य की बात ही पृथक् है, उसमें तो करुण की प्रधानता रखने में कोई बाधा ही नहीं। यहाँ की रचना में किसी रस की प्रधानता होते हुए भी पर्यवसान सुखात्मक ही होता था। भवभूति ने भी 'उत्तररामचरित' में ऐसा ही किया है। इसी से करुण रस से आद्यंत ओतप्रोत ग्रंथ नहीं मिलते। हिंदी में हरिऔधजी ने 'वैदेही-वनवास' लिखकर भवभूति की परंपरा की रक्षा का प्रयत्न किया है।

प्रबंध-काव्यों में नाटकों से एक तत्त्व और भी ग्रहण किया गया, पर उसका विवेचन शास्त्रों में कहीं नहीं हुआ। यह मानी हुई बात है कि संवाद रूपकों की ही योजना है। प्रबंधकाव्यों में इसका ग्रहण बराबर होता आया है। हिंदी में 'रामचंद्रचंद्रिका' की जो भी विशेषता दिखाई देती है वह संवादों में। केशव के ढंग के संवाद तुलसीदास भी नहीं रख सके हैं। तुलसीदास और केशव के संवादों में स्पष्ट अंतर है। तुलसीदास के संवाद कथापद्धति पर चले हैं,

---

* क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम्।—साहित्यदर्पण।

उनमें वक्ता पात्रों का उल्लेख कथा में ही है। केशव के संवाद नाटकीय ढंग पर हैं जिसमें वक्ता के नाम की योजना पृथक् से रहती है।

काव्यों के नाम तक का विचार किया गया है। चरित नायक या नायिका के नाम पर अथवा प्रमुख घटना के नाम पर उसका नामकरण हो। रामचरितमानस, पद्मावत, कामायनी आदि पहले प्रकार के नाम हैं और प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास, गंगावतरण आदि दूसरे प्रकार के। जनता द्वारा कभीकभी कवि के नाम पर भी काव्य का नामकरण होता है; जैसे संस्कृत में 'शिशुपालवध' 'माघ-काव्य' कहलाता है। 'माघ' कवि का नाम है। 'तुलसी, सूर, बिहारी का अध्ययन' कहने से इन कवियों के नाम से उनके ग्रंथसमुदाय का ही बोध होता है।

महाकाव्य में सबसे अधिक ध्यान जिस योजना का रखा जाता है वह है वस्तुवर्णन। इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—संध्या, सूर्य, चंद्र, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र, पुत्र, अभ्युदय आदि का सांगोपांग वर्णन हो। इन वर्णनों के उल्लेख का परिणाम यह हुआ कि कुछ लोग इन को ही महाकाव्य का लक्षण समझने लगे और इन्हीं की योजना में दत्तचित्त हुए। 'रामचंद्रचंद्रिका' में केशवदासजी ने इन वर्णनों को ही ध्यान में रखा। अपनी ओर से राज्यश्री-वर्णन की योजना करके वर्णनों का अधिक विस्तार भी किया। शास्त्रकथित प्रकृतिवर्णन से तो केशव का राज्यश्री-वर्णन ही अच्छा दिखाई देता है। वर्णनों पर ध्यान रखने का फल यह होता है कि कवि चमत्कार के लिए अनावश्यक वर्णन तो कर डालता है, पर आवश्यक वर्णन नहीं कर पाता। 'प्रियप्रवास' में व्रज के लता-वृक्षों का वर्णन जोड़ा गया है। लीची, फालसा आदि का वर्णन तो है, पर करील के कुंजों का वर्णन ही नहीं। इसी से कहा गया था कि कवि को महाकाव्य लिखते हुए शास्त्रस्थिति-संपादन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। प्रत्युत रस की अभिव्यक्ति पर ही ध्यान देना चाहिए।* इस विवेचन से स्पष्ट है कि महाकाव्य के मुख्य तत्त्व चार हैं—

(१) सानुबंध कथा,

(२) वस्तुवर्णन,

---

* सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥—ध्वन्यालोक।

(३) भावव्यंजना,

(४) संवाद।

सानुबंध कथा प्रबंधकाव्य का बहुत ही आवश्यक तत्त्व है। यही वह तत्त्व है जो प्रबंध को प्रकीर्णक रचना से अलग करता है। इसकी उचित योजना न होने से प्रबंधकाव्यत्व को बहुत बड़ी हानि पहुँचती है। हिंदी में केशव की 'रामचंद्रचंद्रिका' में कथाप्रवाह का ध्यान नहीं रखा गया, परिणाम यह हुआ कि कथा की धारा स्थान-स्थान पर विच्छिन्न हो गई है और उसका स्वारस्य नष्ट हो गया है। इसी से उसे बहुत से लोग महाकाव्य तक मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। वस्तुवर्णन का उल्लेख ऊपर विस्तार के साथ किया जा चुका है।

भावव्यंजना का यह तात्पर्य नहीं कि वैचित्र्यपूर्ण भावव्यंजनाओं में ही कवि प्रवृत्त रहे और उसके अन्य तत्त्वों पर ध्यान ही न दे या बहुत कम ध्यान दे। वैचित्र्यपूर्ण व्यंजनाओं के चक्कर में पड़ने से महाकाव्य प्रकीर्ण व्यंजनाओं का संग्रह मात्र रह जाता है। उसमें रस की अखंड रूप से निरंतर बहनेवाली धारा नहीं रह जाती। लक्षण-ग्रंथों में एक रस प्रधान और अन्य रस गौण रूप में रखने का जो संकेत किया गया है उसका कारण यही है। क्योंकि ऐसा न होने से रस-धारा बाधित रूप में चलती है। 'साकेत' ऐसे उत्कृष्ट ग्रंथ में व्यंजना के वैचित्र्य की ओर कवि की इतनी अधिक दृष्टि हो गई है कि उसमें व्यंजनाओं का पहाड़ लग गया है और इस मार्गाचल से प्रबंध की धारा टकराकर रुक गई है। संवाद पात्रों का स्वरूप और मनःस्थिति व्यक्त करने के लिए होते हैं। इस दृष्टि से केशव की 'रामचंद्रचंद्रिका' का महत्त्व बतलाया जा चुका है।

आज दिन प्रबंधकाव्यों में एक प्रवृत्ति और दिखाई देती है। वह है प्रगीतों का समावेश। महाकाव्य और प्रगीत एक दूसरे के विपरीत पड़ते हैं। क्योंकि महाकाव्य सर्वांगीण प्रभावान्विति से युक्त होता है और प्रगीत केवल विशिष्ट अंतःसाध्य कराकर विरत हो जाते हैं। इस-लिए इनकी योजना प्रबंधकाव्य के प्रतिकूल पड़ती है। किंतु पाश्चात्य देशों की भद्दी अनुकृति पर हमारे यहाँ के समर्थ कवि भी इस अनावश्यक योजना में संलग्न दिखाई देते हैं। 'साकेत' और 'कामायनी' दोनों में प्रगीतों के कारण चित्त जमने के स्थान पर उखड़ने लगता है।

एकार्थकाव्य

महाकाव्यों की ही पद्धति पर कुछ ऐसे प्रबंधकाव्य भी बनते रहे हैं

जिनमें पंचसंधियों का विधान नहीं होता। तात्पर्य यह है कि इनमें पूर्ण जीवन-वृत्त ग्रहण तो किया जा सकता है, पर उसका उतना अधिक विस्तार नहीं होता जितना महाकाव्य में देखा जाता है। इसमें कथा का कोई उद्दिष्ट पक्ष प्रबल होता है। महाकाव्य में कर्ता का प्रयत्न वस्तुतः दो प्रधान तत्त्वों की योजना में दिखाई पड़ता है—एक तो वस्तुवर्णनों की संपूर्णता और दूसरे कथावस्तु का विस्तार। महाकाव्य में कथाप्रवाह विविध भंगिमाओं के साथ मोड़ लेता आगे बढ़ता है, किंतु एकार्थकाव्य में कथाप्रवाह के मोड़ कम होते हैं। अधिकतर वर्णनों या व्यंजनाओं पर ही कवि की दृष्टि रहती है। हिंदी में इस प्रकार के कई काव्य प्रस्तुत हुए हैं। गंगावतरण, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि वस्तुतः एकार्थकाव्य ही हैं।

खंडकाव्य

महाकाव्य के ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है पर जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खंडजीवन ही ग्रहण किया जाता है उसे खंडकाव्य कहते हैं।* यह खंडजीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है जिससे वह प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतः पूर्ण प्रतीत हो। इसी लिए महाकाव्य के एक या एकाधिक सर्गों को खंडकाव्य नहीं कह सकते, चाहे उनमें जीवन के एक खंड की ही झलक क्यों न दिखाई गई हो। क्योंकि उन सर्गों के लिए पूर्वापर की अपेक्षा होती है। खंडकाव्य का विस्तार भी थोड़ा ही होता है। एकार्थकाव्य की भाँति पूर्ण जीवन का कोई उद्दिष्ट पक्ष उसमें नहीं होता। हिंदी में सुदामाचरित, जयद्रथवध, रंग में भंग आदि खंडकाव्य हैं।

काव्य-निबंध

हिंदी में कुछ कथात्मक लंबी कविताएँ भी लिखी जाने लगी हैं। इन्हें उपर्युक्त भेदों के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इनमें किसी कथा का कोई मार्मिक दृश्य मात्र अंकित कर दिया जाता है। प्रबंध-काव्य की भाँति इनमें वस्तुवर्णन एवम् कथाविस्तार नहीं होता अर्थात् इनमें बंध तो होता है, पर प्रबंध नहीं। इस प्रकार की रचनाएँ आधुनिक काल के 'द्विवेदी-युग' में बहुत लिखी गईं। अब ऐसी रचनाओं का प्रचलन कम हो गया है। ऐसी रचनाएँ गृहीत विषय के किसी मार्मिक दृश्यखंड तक ही परिमित रहती हैं इसलिए इनका पर्यवसान

---

* खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।—साहित्यदर्पण।

विषय-वर्णन में ही हो जाता है। स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी के 'वीर-पंचरत्न' में ऐसे ही काव्य-निबंधों का संग्रह है। 'द्वापर' भी ऐसे ही निबंधों का संग्रह है।

मुक्तक

मुक्तक वह स्वच्छंद रचना है जिसमें रस का उद्रेक करने के लिए अनुबंध की आवश्यकता नहीं।* संस्कृत में छंदों की संख्या के अनुसार निबंध रचना के अलग-अलग नाम रखे गए हैं। पूर्व और पर से निरपेक्ष जो एक ही पद्य रसचर्वणा में पूर्ण सहायक हो 'मुक्तक' है। यदि दो छंदों में वाक्य की पूर्ति हो तो उसे 'युग्मक' कहते हैं। जहाँ तीन छंदों में वाक्यशेष हो वहाँ 'संदानितक' अथवा 'विशेषक' होता है। यदि चार छंदों में ऐसा हो तो उसे 'कलापक' कहते हैं। यदि पाँच या उससे अधिक छंदों में ऐसा हो तो उसे 'कुलक' कहेंगे।† यहाँ 'मुक्तक' शब्द इन सब प्रकार की निबंध रचनाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहाँ किसी कथा के सहारे भी प्रकीर्ण रचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं वहाँ वे मुक्तक ही हैं। 'कवित्तावली' का प्रत्येक पद्य मुक्तक ही कहा जायगा।

गीत

राग-रागिनी के अनुकूल जिन पदों की रचना होती है वे विशेषतः गेय होने के कारण 'गीत' कहलाते हैं। गीतों का प्रचलन बहुत प्राचीन समय से है। इनके दो प्रवाह स्पष्ट दिखाई देते हैं— एक लौकिक और दूसरा साहित्यिक। लौकिक गीत वे हैं जिनमें साहित्य के अंगों का विशेष ध्यान नहीं रखा गया है और जो स्वच्छंद रूप से किसी भाव या स्थिति को व्यक्त करने में प्रवृत्त दिखाई देते हैं। ये लौकिक गीत वे ही हैं जिन्हें नागर लोग 'ग्राम्य गीत' कहते हैं। जनसमाज में इस प्रकार के गीत आदिकाल से प्रचलित हैं और उनमें देश की संस्कृति, भावना, कथाओं आदि का अमूल्य भांडार सुरक्षित है। आश्चर्य की बात है कि विभिन्न प्रांतों में पाए जानेवाले इन गीतों में एक ही प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन गीतों का परिश्रमपूर्वक संग्रह किया जाय तो इनमें बहुत सी ज्ञातव्य बातें मिल सकती हैं। ऐसे गीतों के कई संग्रह निकल चुके हैं। साहित्य की रूढ़ियों के अनुकूल जो कवियों द्वारा निर्मित हुए हैं वे साहित्यिक गीत हैं। लौकिक गीतों के

---

* मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्—अग्निपुराण।

† देखिए 'साहित्यदर्पण'।

कर्ता का पता नहीं, पर साहित्यिक गीत के रचयिता प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। भारत के साहित्यिक गीतों की परंपरा संस्कृत के पीयूषवर्षी कवि जयदेव से मानी जाती है। इन्होंने 'गीतगोविंद' की रचना करके यह परंपरा बाँधी। यह निश्चित है कि लौकिक गीतों के माधुर्य से ही आकृष्ट होकर जयदेव ने 'गीतगोविंद' का निर्माण किया है। संस्कृत के पंडित कवि तो वर्णवृत्तों में ही रचना करते आए हैं। लोकमाधुर्य की सच्ची पहचान जयदेव को थी। कहते हैं, हिंदी में उन्हीं के अनुगमन पर कोकिलकंठ विद्यापति ने गीतों का निर्माण किया। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि देशी रचना बड़ी ही मधुर होती है और सबको प्रिय लगती है।* कहते हैं, उन्हीं के अनुकरण पर सूरदास ने 'सूरसागर' गीतों में ही गाया। उनके अनंतर गीत की रचना करनेवाले अनगिनत कृष्णभक्त कवि हुए। सूर के अनुकरण पर तुलसीदास ने भी रामगीतावली और विनयपत्रिका की रचना की।

गीतों की यह परंपरा ठीक नहीं मानी जा सकती। लोकगीत प्रत्येक प्रदेश में प्रचलित रहे हैं। जयदेव के गीत उसी के माधुर्य के आकर्षण से उस रूप में बने। विद्यापति के गीत जयदेव के अनुगमन पर नहीं देशीवचन के लोकगीत के ही अनुगमन पर बने। सूरदास को विद्यापति से गीतपरंपरा नहीं मिली। व्रजप्रदेश में वह पुरानी है। तुलसीदास के सभी गीत सूरदास के अनुगमन के परिणाम नहीं। प्रेरणा देने के लिए उनसे पहले के भक्त भी हैं। गीतपरंपरा के ऐतिहासिक विकास का विचार स्वतंत्र विषय ही है। खड़ी बोली में इस समय गीत तो बहुत से लिखे जा रहे हैं, पर कुछ को छोड़ बहुतों की पद्धति विदेशी दिखाई देती है। उन्हें गीत न कहकर प्रगीत कहते हैं।

प्रगीत

पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से इधर कुछ दिनों से हिंदी में प्रगीत (लिरिक्स) भी लिखे जाने लगे हैं। प्रगीत और गीत में अंतर है। प्रगीत में कवि का व्यक्तित्व विशेष रूप से व्यक्त होता है। प्रगीत का स्वरूप समझने के लिए पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में काव्य का किया जानेवाला विभाग संक्षेप में समझ लेना चाहिए। वहाँ कविता के दो प्रकार माने गए हैं—एक बाह्यार्थनिरूपक (आबजेक्टिव) और दूसरा स्वानुभूतिव्यंजक (सबजेक्टिव)। पहले प्रकार की रचना में कवि निरपेक्ष भाव से इतर पदार्थों का निरूपण करता है। इस निरूपण में

---

* देसिल बयना सबजनमिट्ठा—कीर्तिलता।

उसका व्यक्तित्व व्यक्त नहीं होता, पर स्वानुभूतिव्यंजक रचना में वह अपना व्यक्तित्व प्रदर्शित करता है। व्यक्तित्व-प्रदर्शन का तात्पर्य यह है कि कवि ने स्वयम् संसार में जैसी अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं उनकी वह सचाई से व्यंजना करता है। ऐसी स्थिति में यह भी संभव है कि उसकी अनुभूति लोकानुभूति से पृथक् प्रतीत हो। प्रगीतों में इसी स्वानुभूति का वैशिष्ट्य पाया जाता है।

इन प्रगीतों का प्रचार इतना अधिक हुआ कि एक तो महाकाव्यों की रचना कम होने लगी और यदि हुई भी तो उनमें प्रगीतों को विशेष रूप से स्थान प्राप्त हुआ। बाह्यार्थनिरूपक प्रबंधकाव्यों में स्थान स्थान पर प्रगीतात्मक पदों का नियोजन होने लगा। फलस्वरूप प्रबंध की धारा अवरुद्ध हो गई। पाश्चात्य देशों में इन प्रगीतों के विरुद्ध प्रबल आंदोलन उठ खड़ा हुआ है और परिणामस्वरूप प्रगीतों की रचना बहुत कम हो गई है। किंतु हिंदी में रोकछेक न होने से गायकों का अब तक ताँता बँधा हुआ है। इस प्रकार की रचनाओं का भारतीय साहित्य में रुकना इसलिए भी आवश्यक है कि पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में किया जानेवाला उपर्युक्त वर्गीकरण तात्त्विक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि बाह्यार्थनिरूपक रचनाओं में भी कवि का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रूप से ओतप्रोत रहता है। यदि ऐसा न होता तो एक ही कथा को लेकर लिखे जानेवाले ग्रंथों में भिन्नता प्रतीत ही न होती और यदि होती भी तो किंचिन्मात्र। किंतु स्थिति ऐसी नहीं है। रामचरितमानस, रामचंद्रचंद्रिका और साकेत एक ही चरित को लेकर लिखे गए हैं। परंतु भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे जाने के कारण इनमें भिन्नता पाई जाती है। एक ही भाव को प्रत्येक ने अपने अपने ढंग से व्यक्त किया है। एक ही वस्तु का तीनों ने भिन्न भिन्न शैली से पृथक् पृथक् वर्णन किया है। यह पार्थक्य कवि के व्यक्तित्व की अंतःसत्ता के संनिवेश के कारण ही है। लोकगत विषय की जैसी अनुभूति एक को हुई ठीक वैसी ही दूसरे को नहीं हुई। इतना होने पर भी इन सबकी अनुभूतियाँ कुछ सर्वसामान्य तत्त्वों से समन्वित हैं। यही कारण है कि पाठक सबमें रसानुभव प्राप्त करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि बाह्यार्थनिरूपक रचनाओं में कवि की स्वानुभूति तो रहती है किंतु वह लोकानुभूति के मेल में चलती है। स्वानुभूति और लोकानुभूति का जैसा सामंजस्य उपर्युक्त रचनाओं में देखा जाता है वैसा ही स्वानुभूतिव्यंजक रचनाओं में भी। यदि किसी कवि

की अनुभूति ऐसी विलक्षण हो कि लोकानुभूति से एकदम पृथक् या विपरीत जान पड़े तो ऐसी रचना में जनता की अभिरुचि नहीं हो सकती। अतः इन रचनाओं में भी लोकानुभूति और स्वानुभूति दोनों का मेल रहता है। निष्कर्ष यह कि पूर्वोक्त वर्गीकरण तात्त्विक नहीं।

इसी स्थान पर इसका भी विचार कर लेना चाहिए कि ऐसी रचनाओं का विशेष महत्त्व क्यों माना जाने लगा। इसका मुख्य कारण है वही 'कला' शब्द जो और भी कितनी ही विलायती अनुकृतियों का मूल है। जब से 'कला' के अंतर्गत कविता गृहीत होने लगी तभी से साधारण कोटि की कारीगरियों पर घटित होनेवाली स्थितियों का लगाव उससे भी जोड़ा जाने लगा। कला की कृति प्रस्तुत करनेवाले कलाकार या कारीगर में उसी की अनुभूति का विशेष योग देख पड़ता है। कला की ऐसी कृतियाँ पाश्चात्य देशों में ही विशेष निर्मित हुईं। भारतीय कारीगर तक लोकमानस के अनुरूप ही अपनी कृति का प्रदर्शन करता आया है। अतः पाश्चात्य देशों में कला अधिकतर स्वानुभूतिव्यंजक ही मानी जाने लगी। क्योंकि जहाँ कलाकार लोकरुचि के अनुसार कृति का निर्माण करता था वहाँ वह सुंदरता नहीं दिखाई पड़ती थी जो सुंदरता आत्मरुचि की प्रेरणा से प्रस्तुत कृति में लक्षित होती थी। पर कला के साथ कविता या साहित्य का संबंध जोड़ना ही भ्रमात्मक है। कला की कृति केवल सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करती है और कविता रसानुभूति। इसी से राजशेखर ने साहित्य को विद्या तथा कला को उपविद्या कहा है। उपविद्या विद्या के लिए सहायक है, स्वयम् विद्या नहीं। तात्पर्य यह कि कारीगर की कृति को देखकर हम उसकी कारीगरी की प्रशंसा कर सकते हैं, किंतु उस कृति में जो भाव व्यक्त किया गया हो उसमें मग्न नहीं हो सकते। युद्ध का चित्र या मूर्ति देखकर उत्साह की भावना नहीं जग सकती। किंतु काव्य में इसी प्रकार के वर्णन पढ़कर उत्साह की भावना जगती है। अतः कला कविता से हलकी वस्तु है। भारतीय वाङ्मय में 'कला' शब्द का व्यवहार संगीत और शिल्प के लिए होता है।* चौसठ कलाओं के अंतर्गत

---

* कला शिल्पे संगीतभेदे च।—अमरकोश।

कुछ लोग भर्तृहरि के 'साहित्यसंगीतकलाविहीनः' में 'कला' शब्द को 'साहित्य' के साथ भी अन्वित करना चाहते हैं। ऐसे लोगों के लिए संस्कृत व्याकरण और साहित्य का अनुशीलन अपेक्षित है। कुछ लोगों ने 'फाइन

कविता की गणना नहीँ होती, केवल निकृष्ट श्रेणी की समस्यापूर्ति इनमेँ से एक कला मानी जाती है। अतः भारतीय दृष्टि से कविता को 'कला' कहना उसका अपमान करना है।

ऊपर निबंध रचना के जो तीन भेद बताए गए हैँ उनमेँ से 'मुक्तक' नाम पारिभाषिक अर्थ मेँ प्रयुक्त नहीँ है। प्रबंध के विपरीत प्रकीर्ण या मुक्तक नाम से सब प्रकार की फुटकल रचनाओँ का बोध होता है, पर गीत या प्रगीत से पृथक् करने के लिए शेष छंदोबद्ध रचनाओँ को पाठ्य या मुक्तक कहना अधिक सरल प्रतीत हुआ। पुराने कवि ऐसी कुछ फुटकल रचनाओँ को 'कवित्त' कहा करते थे। तुलसीदासजी की 'कवित्तावली' और 'गीतावली' से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'कवित्त' विशेष रूप से 'घनाक्षरी' को कहते हैँ, पर 'कवित्तावली' मेँ सवैया, छप्पय, झूलना आदि छंद भी रखे गए हैँ। इससे 'कवित्त' शब्द और व्यापक अर्थ मेँ प्रयुक्त जान पड़ता है। इसी प्रकार 'गीत' और 'प्रगीत' मेँ भी बाहरी ढाँचा एक सा दिखाई देता है, दोनोँ की व्यंजना-प्रणाली मेँ ही स्वरूपभेद लक्षित होता है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

आर्टस्' के अर्थ मेँ 'ललितकला' पद की खोज 'ललिते कलाविधौ' (रघुवंश, अजविलाप) मेँ की है—'किमाश्चर्यमतः परम्'।

गद्य

गद्य-शैली की रचनाएँ

वाणी सबसे पहले गद्यरूप में ही प्रस्फुटित हुई। किंतु साहित्य में उसका विधान पद्य के अनंतर हुआ। वेदों में बहुत से अंश गद्य में पाए जाते हैं, वेद के अनंतर गद्य का विशेष प्रसार हुआ। लक्षण-ग्रंथों में आवश्यकतानुसार गद्य का व्यवहार देखा जाता है। किंतु संस्कृत-वाङ्मय में गद्य कवितामय माना जाता रहा। इसीलिए कहा गया कि कवियों की उत्कृष्टता की कसौटी है गद्य। पद्यबद्ध शैली में कव को बँधकर चलना पड़ता है। इसलिए उसकी वाणी उसमें उन्मुक्त होकर अपना विलास नहीं दिखा सकती। गद्य में स्वच्छंदता के कारण वह अपना विलास-वैभव भली भाँति प्रदर्शित कर सकती है। संस्कृत में बाण कवि की 'कादंबरी' गद्य की सर्वोत्कृष्ट रचना समझी जाती है। बाण के संबंध में पंडितों की उक्ति है कि उनकी समृद्ध रचना के समक्ष अन्य कवियों की कृति उच्छिष्ट (जूठन) जान पड़ती है।* यद्यपि संस्कृत में दूसरे प्रकार का गद्य भी लिखा गया तथापि वह राजनीतिक दृष्टि से प्रस्तुत हुआ। उसमें कवित्व भले ही न हो, पर संस्कृत वाग्धारा का प्रवाह थोड़ा बहुत अवश्य दिखाई देता है। ऐसी रचनाएँ हैं—पंचतंत्र, हितोपदेश आदि। कुछ कहानियाँ भी लिखी गईं जिनका उद्देश्य मनोरंजन था। गद्य की छटा इनमें भी मिलती है, जैसे शुकसप्तति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, वैतालपंचविंशति आदि। फिर भी यह मानना पड़ता है कि संस्कृत में सामान्य व्यवहारोपयोगी चलते गद्य का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया। प्राकृत और अपभ्रंश में भी सरल गद्य का निर्माण नहीं हो सका। देशी भाषाओं में ही आकर सरल गद्य विशेष चलते रूप में दिखाई पड़ता है। इसका कारण साधारण कोटि के वाङ्मय का प्रचार और प्रसार जान पड़ता है। संप्रति शुद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषय के वाङ्मय भी गद्य में ही प्रस्तुत होते हैं। इसलिए गद्य का प्रसार एवम् व्यवहार बहुत बड़ी सीमा में हो रहा है। फलस्वरूप आधुनिक काल 'गद्ययुग' कहा जाता है। गद्य ने केवल साहित्येतर वाङ्मयों की आवश्यकता ही नहीं पूर्ण की, साहित्य-क्षेत्र में भी उसके

* बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।

कई स्वरूप दिखाई पड़े। उपन्यास, छोटी कहानियाँ, निबंध आदि गद्य की सरल शैली में विशेष परिष्कृत दिखाई देने लगे हैं। नाटक भी अधिकतर गद्यमय हो गया है। केवल रचना-शैली के विचार से यद्यपि उसकी गणना गद्य में की जा सकती है तथापि अभिनय की विशेषता के कारण उस पर पृथक् विचार किया जायगा। अतः गद्य में लिखी जानेवाली रचनाओं का वृक्ष इस प्रकार होगा—
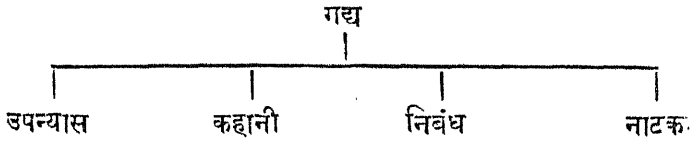
उपन्यास

कथाकृति और कविता

मनुष्य में दो प्रकार की वृत्तियाँ पाई जाती हैं—एक कुतूहलवृत्ति और दूसरी भाववृत्ति। यदि किसी को मार्ग में कहीं भीड़ लगी दिखाई दे तो उसके अंतःकरण में कुतूहल होगा और वह भीड़ एकत्र होने का कारण जानना चाहेगा। भीड़ में पहुँचकर यदि उसे पता चले कि कोई चो पीटा जा रहा है तो बहुत संभव है कि वह भी धौल-धप्पल करने लगे अथवा और कुछ न करे तो दो चार खरी-खोटी अवश्य सुना देगा। उसकी यह क्रिया भाववृत्ति के कारण है। उसका मन क्रोध भाव से भावित होने लगता है। इन्हीं दो वृत्तियों की तुष्टि के लिए साहित्य में भी दो प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। जिनमें कुतूहल की प्रधानता और भाव की गौणता रही वे अधिकतर घटना-चमत्कार लेकर चलीं। जिनमें भाव की प्रधानता और कुतूहल की गौणता रही वे अनुभूति के अभिव्यंजन में लगीं। ऐसी रचनाओं का भेद पाठकों की मनोदशा से लक्षित हो जाता है। उपन्यास के पाठक की यही जिज्ञासा रहती है कि 'आगे क्या हुआ' अर्थात् उसका मन अधिकतर घटनाचक्र में ही फँसा रहता है। किसी घटना को बारंबार पढ़कर वह उसमें रमना नहीं चाहता। प्रायः एक बार उपन्यास या कहानी पढ़ लेने पर कोई उसे दुबारा नहीं पढ़ता। कुतूहल या जिज्ञासा की परितुष्टि पर ही दृष्टि रखकर ऐयारी और जासूसी उपन्यासों का चलन हुआ। किंतु यह न समझना चाहिए कि साहित्यिक उपन्यासों में पाठक की जिज्ञासा दब जाती है और भाव या रस की वृत्ति प्रबल हो उठती है। उन्हें पढ़ते समय भी घटनावली पर ही वृत्ति जमती है। पर इसके विपरीत कविता पढ़ते

या सुनते समय पाठक उसमें रमता है। कवि-संमेलनों में अच्छी कविता सुनकर श्रोता जो 'फिर से सुनाइए' की घोषणा करते हैं उसका कारण रमणवृत्ति ही है। पाठक या श्रोता कविता में कुछ देर तक रमा रहना चाहता है। कहा जाता है कि 'भूषण' ने शिवाजी को अपना एक ही छंद बावन बार सुनाया था। यह रमणवृत्ति की पराकाष्ठा है। इस विवरण से कथाकृति और कविता का अंतर स्पष्ट हो जाता है। अतः ये साहित्य की पृथक् पृथक् धाराएँ हैं।

कथाकृति की परंपरा

भारत में अत्यंत प्राचीन काल से गद्य में कथाकृति लिखने का प्रचलन है। उपन्यासों के ढंग की लंबी लंबी और कहानियों के ढंग की छोटी छोटी दोनों प्रकार की कथाएँ लिखी गई। यद्यपि महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी आदि बड़ी बड़ी कथाओं का उल्लेख है पर वे सब अब प्राप्त नहीं। सुबंधु की वासवदत्ता कदाचित् महर्षि पतंजलि कथित वासवदत्ता की भाँति लिखी कृति है, वही कथा परंपरा से सुबंधु तक नहीं आई है। संस्कृत में सबसे पहले जो कथाकृति मिलती है वह दंडी का दशकुमारचरित है। इसके अनंतर सुबंधु-कृत वासवदत्ता का नाम आता है। तदनंतर बाण भट्ट के दो अद्भुत ग्रंथ मिलते हैं—हर्षचरित और कादंबरी। इनके देखने से पता चलता है कि कथाकृतियाँ दो प्रकार की होती थीं—ऐतिहासिक इतिवृत्तवाली और कल्पित कथावस्तुवाली। पहले प्रकार की रचना 'आख्यायिका' और दूसरे प्रकार की 'कथा' कहलाती थी। संस्कृत की इन रचनाओं में, जैसा पहले कहा जा चुका है, काव्यतत्त्व का विशेष नियोजन होता था पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनमें घटनावली का संविधान कम होता था अथवा इनमें कथांशों की भंगिमाएँ नहीं होती थीं। कादंबरी और वासवदत्ता की कथाएँ आधुनिक उपन्यासों की वैचित्र्यपूर्ण घटनाओं से बहुत मिलती हैं और रोमांचक (रोमांटिक) उपन्यासों की कोटि में आती हैं। अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत मे पहले उपन्यास थे ही नहीं, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों में निश्चय ही दृष्टिभेद है। संस्कृत की कथाकृतियों का लक्ष्य रस था और आधुनिक उपन्यासों का साध्य है शीलवैचित्र्य। प्राचीन कृतियों मे पात्रों की विशेषता पर वैसी दृष्टि नहीं रखी जाती थी। कृति में गृहीत सभी पात्रों के शील पर कर्ता की पृथक् पृथक् दृष्टि नहीं होती थी। उन्हें अंकित करने में पृथक पात्र की शीलगत विशेषता प्रस्फुटित करते

हुए प्रयत्न का लक्ष्य उनकी अलग अलग रूपरेखा खींचना नहीं होता था, भले ही स्वतः उस प्रकार का अयत्नसाध्य नियोजन हो जाय। दृष्टि थोड़ी बहुत काव्य के नायक और नायिका पर ही रहती थी। उनके भी ढले ढलाए साँचे ही काम में लाए जाते थे। धीरोदात्त, धीरललित आदि नायकों के नपे तुले गुणों का ही न्यूनाधिक परिमाण में उद्घाटन किया जाता था। इसी प्रकार शृंगार में अष्टनायिका का कुछ निश्चित रूप था, साँचेवाला। इसी से इन पात्रों की एकरूपता ही दिखाई देती है।

प्राकृत और अपभ्रंश में भी लंबी प्रेमकथाएँ लिखी गई होंगी, पर वे अब मिलती नहीं। जैन अपभ्रंश में लिखी 'भविसयत्तकहा' (भविष्यद्दत्तकथा) आदि कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इस प्रकार उपन्यासों का प्रसार देशी भाषाओं में ही आकर हुआ और यह भी शतक से अधिक प्राचीन नहीं है। हिंदी के आरंभिक युग में उपन्यासों के अनुरूप प्रेमकथाएँ पद्य में ही लिखी जाती थीं क्योंकि तब तक गद्य का न रूप ही निखरा था और न उसका साहित्य में प्रचलन ही हो पाया था। प्रेममार्गी सूफी कवियों द्वारा रचित प्रेमकथाएँ औपन्यासिक ही हैं। इन प्रेमकथाओं की परंपरा संस्कृत के वासवदत्ता आदि गद्य-कथाकृतियों से जुड़ी हुई प्रतीत होती है। सुबंधु की वासवदत्ता और सूफी कवियों के कल्पित प्रेमकाव्यों में अत्यधिक सादृश्य है। अंतर यही है कि प्राचीन कथाएँ शुद्ध साहित्यिक प्रेमकाव्य हैं और सूफियों के प्रेमकाव्य लौकिक एवम् अलौकिक दोनों पक्षों की योजना के कारण सांप्रदायिकता का पुट लिए हुए हैं। सूफी कवियों ने या तो समाज में प्रचलित उन्हीं प्राचीन कहानियों को फिर से अपने ढंग से काव्यबद्ध किया अथवा उन्हीं के आदर्श पर कुछ कहानियाँ गढ़ीं भी। हिंदी में नए ढंग के उपन्यासों का श्रीगणेश श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' से समझना चाहिए। अतः हिंदी में नए उपन्यासों का चलन बहुत कुछ अँगरेजी और बँगला के उपन्यासों की प्रेरणा से ही हुआ।

आरंभ में हिंदीवालों का ध्यान घटना-वैचित्र्य पर ही गया। अतः उस समय साहित्यिक और असाहित्यिक या शुद्ध मनोरंजनवाले उपन्यासों दोनों में घटनाओं का ही घटाटोप दिखाई देता था। जिनकी दृष्टि संस्कृत की ओर थी उन्होंने काव्यत्व का भी पूर्ण नियोजन अपनी कथा में किया। ध्यान देने की बात है कि आरंभ में जितने उपन्यास लिखे गए उनमें पूर्वपीठिका के रूप में प्रकृतिवर्णन, स्थलवर्णन, काल-निर्देश आदि का नियोजन साधारण से साधारण, यहाँ तक कि शुद्ध

मनोरंजनवाले उपन्यासों में भी, अवश्य होता था। उस समय के उपन्यासों में शील-वैचित्र्य का वैसा नियोजन नहीं हुआ था जैसा आगे चलकर हुआ। इसलिए लेखकों की दृष्टि यदि घटनाओं से हटती तो थोड़ी बहुत वर्णनों पर अवश्य जमती थी। अतः कह सकते हैं कि उन उपन्यासों का ढर्रा कुछ कुछ भारतीयता का प्राचीन रूप-रंग लिए हुए अवश्य था। उपन्यासों से जैसा काव्यतत्त्व इधर हटा वैसा कभी नहीं। यही दशा बँगला के उपन्यासों की भी थी। पर वहाँ से भी अब काव्यतत्त्व हट चला है।

ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों के प्रसार तथा बँगला उपन्यासों के अनुवाद से हिंदी में उपन्यासों के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करने में बहुत अधिक सहायता मिली। लेखक के लिए भी आकर्षण हुआ और पाठक की रुचि भी धीरे धीरे आपसे आप साहित्यिक उपन्यासों के अनुकूल होती गई। तत्सामयिक लेखकों का प्रयत्न शुद्ध होता था, सांप्रदायिकता का समावेश उसमें नहीं हो पाया था। असाहित्यिक उपन्यास भी शुद्ध मनोरंजन की ही दृष्टि से लिखे जाते थे, वे भी वाद-ग्रस्त नहीं थे। बीभत्स प्रेम-व्यापार यथातथ्यवाद के नाम पर उनमें कहीं भी नहीं दिखाया गया। राजनीतिक मसले सुलझाने या उनका प्रचार करने के लिए कृत्रिम रूपरेखा खींचने का प्रयास उनमें कहीं भी नहीं है, भले ही उनमें चमत्कार के नाम पर कृत्रिम नियोजन किया गया हो। उनमें कथा भी उच्च वर्ग की ही गृहीत होती थी। केवल जासूसी उपन्यास, जो कथा के विचार से सबसे पृथक् दिखाई देते हैं, थोड़ा बहुत जन-समाज की कथा का छींटा मारते चलते थे। साहित्यिक उपन्यासों में से कुछ में प्रेम-व्यापार का विकृत रूप अवश्य दिखाई पड़ा। फिर भी वैसा नहीं जैसा इधर के यथातथ्यवादियों की रचनाओं में।

हिंदी-उपन्यासों की प्रवृत्ति

हिंदी का समस्त उपन्यास-वाङ्मय देखने से ज्ञात होता है कि वह समृद्ध हो चला है। उसमें बहुरंगी रचनाएँ निर्मित हो चुकी हैं। अलग अलग प्रवृत्तिवाले उपन्यास-लेखक दिखाई देने लगे हैं। फिर भी उनमें कुछ ध्यान देने योग्य बातों पर विचार करने की आवश्यकता है। इधर जितने उपन्यास धड़ल्ले के साथ निकल रहे हैं उनकी कथावस्तु पर दृष्टि डालिए तो उनमें स्कूल, कालिज, सभा-समाज, सामाजिक-आंदोलन, मोटर, क्रिकेट, प्रदर्शनी तक ही कथा परिमित रहती है। प्रेमचंद ने

जैसी सर्वसामान्य और व्यापक कथाभूमि पर उपन्यासों का निर्माण किया वैसा बहुत कम दिखाई देता है। जिनमें उपन्यास पढ़ने की रुचि है उन्हीं का जीवन कथाबद्ध करने से बिक्री में कुछ सहायता मिलती तो है, किंतु इससे जीवन की संपूर्णता का आभास नहीं मिलता। हमारा जीवन इतना ही नहीं है, इसलिए हमारे जीवन का आभास इतने ही से नहीं दिया जा सकता। यह तो जीवन का एक कोना है और वह भी बहुत ही छोटा। जीवन का वास्तविक पक्ष दबाकर उसका छोटा और कृत्रिम पक्ष सामने रखना कम से कम समझदारी की बात तो नहीं।

दूसरी खटकनेवाली प्रवृत्ति है दिन पर दिन वर्णनों का संकोच होना। लेखक जिन घटनाओं और जिन पात्रों का ग्रंथ में संनिवेश करता है वे किसी विशेष स्थान और किसी विशेष आकार से संबद्ध होते हैं। धीरे धीरे उपन्यासों से स्थानों का वर्णन, जिसमें प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी संमिलित है, हट ही गया। अब पात्रों के चित्र भी हटाए जा रहे हैं। इसलिए उपन्यासों में एक प्रकार का सूनापन आ गया है। यह कहना कि पाठक अपनी ओर से चित्र की कल्पना कर लेगा, कोई समाधान नहीं। घटनाओं की पूर्णता इसी में है कि वे हमें किसी विशेष स्थल में घटित होती दिखाई दें। उनकी यदि सूक्ष्म नहीं तो कृति में स्थूल रूपरेखा तो होनी ही चाहिए। जैसे प्रबंधकाव्य वर्णन की अपेक्षा रखता है वैसे ही उपन्यास भी। काव्य के वर्णन मन रमाने के लिए होते हैं और उपन्यास के वर्णन पहचान के लिए। पाठक प्रत्येक पात्र को अलग अलग पहचानना चाहता है। उसकी पहचान तभी हो सकती है जब उसके रूप और स्वभाव की विशेषताओं का पृथक् पृथक् उद्घाटन किया जाय।

तीसरी बात है सांप्रदायिक प्रचार की। यदि संकेत द्वारा किसी मत के प्रचार का प्रयास किया जाय तो उतना नहीं खटकता, पर मतवाद के फेर में यदि वास्तविकता का अपलाप किया जाय तो साहित्य के लक्ष्य को हानि पहुँचती है। हिंदी में इधर कुछ उपन्यास सांप्रदायिक प्रेरणा से प्रस्तुत हुए हैं और सांप्रदायिकता का प्रभाव अच्छे अच्छे उपन्यासकारों की रचना पर भी न्यूनाधिक परिमाण में पड़ने लगा है। यहाँ तक कि प्रेमचंद की रचनाएँ भी इससे अछूती नहीं, यद्यपि उनके उपन्यासों में संप्रदायवाद अधिकतर प्रच्छन्न रूप में ही दिखाई देता है, जिसे साहित्य की दृष्टि से वैसा उद्वेगजनक नहीं कह सकते। सांप्रदायिकता के चक्कर में पड़ने से सबसे बड़ा दोष यह आ जाता है कि

लेखक के निरीक्षण में सचाई नहीं रह जाती। कभी कभी तो ऐसा जान पड़ने लगता है मानो उसने बिना निरीक्षण किए ही ऐसी बातें लिख मारी हैं। ठाकुर श्रीनाथसिंह का 'जागरण' उपन्यास इसका अच्छा उदाहरण है।

उपन्यासकार के लिए चौथी घातक बात कुछ कर दिखाने का हौसला है। कभी कभी लेखक इसी फेर में पथभ्रष्ट हो जाते हैं। वे उपन्यास द्वारा जो कुछ व्यक्त करना चाहते हैं वह इतना अपरूप हो जाता है कि पाठक उसके साथ साथ नहीं चल सकता। राजा राधिका-रमणप्रसाद सिंह का 'राम-रहीम' उपन्यास हिंदी के नए उपन्यासों में बहुत बड़ा और रंगीन भाषा के कारण बहुत रोचक भी है। किंतु राम-रहीम की एकता लक्षित कराने के चक्कर में भारतीय संस्कृति का महत्त्व सामाजिक दृष्टि से दब सा गया है। यद्यपि लेखक दिखलाना चाहता है कि हिंदू-जीवन नरत्व से देवत्व की ओर बढ़ता है, मुसलमानी जीवन असुरत्व से नरत्व की ओर, तथापि पाठक को 'बिजली' और 'बेला' के जीवन से इस बात की कल्पना करने में अड़चन उपस्थित होती है।

उपन्यास के भेद

संस्कृत में उपन्यासों के मुख्य दो ही भेद किए गए हैं—कथा और आख्यायिका। उनका लक्षण करते हुए केवल बाह्य चिह्नों का ही उल्लेख किया गया है इसी से कुछ लोग दोनों में नाम का ही भेद मानते हैं; विषय, कथा या साध्य का नहीं।* ध्यान देने से पता चलता है कि कल्पित वृत्त लेकर जिसकी रचना की जाय वह 'कथा' और जिसमें ऐतिहासिक वृत्त गृहीत हो वह 'आख्यायिका' है। यद्यपि कहीं कहीं गद्य-कथाकृति के पाँच भेद भी किए गए हैं† तथापि शेष तीन (खंडकथा, परिकथा और कथालिका) कहानी से संबंध रखनेवाले हैं। संप्रति उपन्यास की जितनी रचनाएँ मिलती हैं उन्हें दृष्टि में रख-कर उनके भेद कई प्रकार से किए जा सकते हैं—(१) कथावस्तु के विचार से, (२) पात्र-चारित्र्य के विचार से, (३) कथन-शैली के विचार से और (४) उद्दिष्ट विषय के विचार से।

---

* तत्कथाऽऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥—काव्यादर्श।

† आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथालिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यञ्च पञ्चधा॥—अग्निपुराण।

कथावस्तु के विचार से तीन भेद किए जा सकते हैं—(१) ख्यात-वृत्त, (२) कल्पितवृत्त और (३) मिश्र। ख्यातवृत्त में ऐतिहासिक वृत्त ग्रहण किया जाता है। इनके भी दो प्रकार दिखाई देते हैं—एक तो वह जिसमें पुरातत्त्व के अनुसंधान पर शुद्ध ऐतिहासिक कथा का संयोजन किया जाता है और दूसरे वह जिसमें स्थूल रूप से ऐतिहासिक कथा गृहीत होती है। पहले प्रकार के उपन्यास हिंदी में नहीं हैं। किंतु बँगला और मराठी से ऐसे शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हिंदी में अनूदित हुए हैं। 'शशांक' और 'करुणा' बँगला से तथा 'छत्रसाल' मराठी से। स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' 'इरावती' नाम का ऐसा ही शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लिख रहे थे, पर वह अधूरा रह गया। दूसरे प्रकार के अंतर्गत बाबू वृंदावनलाल वर्मा के 'गढ़कुंडार, विराटा की पद्मिनी' आदि उपन्यास आते हैं। इनमें ऐतिहासिक तथ्यों का वैसा विचार नहीं रखा गया है जैसा 'शशांक' आदि में। पहले प्रकार के उपन्यास वही प्रस्तुत कर सकता है जो अपने विशेष अध्ययन द्वारा प्राचीन काल की रीति-नीति तथा गति-विधि से विशेष परिचित हो और जिसमें अतीत का पटल चीरकर पुरातन वस्तुओं या व्यक्तियों की झाँकी कर सकनेवाली कल्पना तथा साथ ही दूसरों को उनके दर्शन करा सकनेवाली शक्ति भी हो। अतः पहले प्रकार के उपन्यास लिखना विशेष कठिन है।

कल्पित वृत्त अधिकतर गद्य-कथाओं में ही गृहीत होता है। इसलिए उपन्यासों के अन्य सभी भेद कथावस्तु के विचार से इसी के अंतर्गत आएँगे। फिर भी घटनाओं के विचार से कहीं तो कुछ में घटनाओं की प्रधानता रहती है और कुछ में गौणता। घटनाप्रधान कथाकाव्यों के भी दो भेद दिखाई देते हैं—एक वह जिसमें असंबद्ध पर चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हों, दूसरा वह जिसमें सुसंबद्ध रोचक घटनाएँ हों। पहले के अंतर्गत तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास आते हैं और दूसरे के अंतर्गत जासूसी। घटनाओं की गौणता का विशेष हेतु होता है। इसीलिए भाषा, व्यंजना या कवित्व का चमत्कार दिखलाना जिनका ध्येय होता है उनमें ही स्वभावतः ऐसी योजना देखी जाती है। इस प्रकार की कथा-कृतियों के अंतर्गत ठेठ हिंदी का ठाट, सौंदर्योपासक तथा श्यामास्वप्न परिगणित होंगे। पहले में भाषा का ठेठ रूप, दूसरे में भावव्यंजना का चमत्कार और तीसरे में कवित्व की रमणीयता दिखाई गई है। फलतः घटनाएँ गौण हैं। मिश्रवृत्त के अंतर्गत ऐसे उपन्यास आएँगे जिनमें नाममात्र के लिए ख्यात वृत्त ग्रहण किया गया हो। श्रीकिशोरी-

लाल गोस्वामी के वे उपन्यास जो मुगलों और नवाबों का इतिवृत्त लेकर लिखे गए हैं, इसी कोटि में आएँगे।

कुछ उपन्यासों में घटनाओं और पात्रों का तुल्यबल नियोजन होता है और कुछ में पात्रों का निरूपण घटनाओं से अपेक्षाकृत विशिष्ट होता है। साहित्य की दृष्टि से पहले प्रकार की ही कथाकृतियाँ शुद्ध साहित्यिक कही जा सकती हैं, यदि उनमें प्रत्यक्ष सांप्रदायिकता का प्रदर्शन न हो। प्रेमचंद और कौशिक के अधिकतर उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों में प्रच्छन्न सांप्रदायिकता भी लगी रहती है। विशेषतया उनके पिछले काँटे के उपन्यासों में। इसी से उनकी कथाकृतियों या उपन्यास में सर्वश्रेष्ठ 'गबन' ही ठहरता है, जो इससे प्रायः मुक्त है और जिसमें सांप्रदायिकता के अभाव में रमानाथ की अत्यंत मनोवैज्ञानिक रूपरेखा खींची गई है। श्रीजैनेंद्रकुमार के उपन्यासों में पात्रों के चारित्र्य की ही प्रधानता है। अतः वे दूसरे भेद के अंतर्गत माने जायँगे।

उपन्यास लिखने की कई पद्धतियाँ चल पड़ी हैं। संस्कृत के पुराने कथाकाव्यों में स्वयम् नायक या कोई दूसरा पात्र कथा कहता था।* दूसरे पात्र या स्वयम् लेखक के कहने में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। अस्तु, दो पद्धतियाँ तो प्राचीन काल से ही चली आ रही हैं। पर इधर और भी कुछ शैलियाँ निकली हैं। इसलिए संप्रति उपन्यास चार शैलियों में लिखे जा रहे हैं—ऐतिहासिक या अन्यपुरुषवाचक शैली, आत्मचरित या उत्तमपुरुषवाचक शैली, पत्रात्मक शैली और डायरी शैली। अधिकतर उपन्यास प्रथम दो शैलियों में ही लिखे जाते हैं। अन्य पद्धतियाँ केवल चमत्कार-प्रदर्शन की दृष्टि से प्रचलित हुई हैं, उनमें वह स्वाभाविकता नहीं जो उपन्यासों के लिए अपेक्षित होती है। कहानियों में तो इन चमत्कारक शैलियों का प्रयोग उसके छोटे ढाँचे के कारण नहीं खटकता, किंतु उपन्यासों में ये अत्यंत कृत्रिम जान पड़ती हैं। शैली का कोई और मार्ग न पाकर कुछ लोग भाषा-चमत्कार दिखाने में ही लगे रहे हैं। 'ठेठ हिंदी का ठाट' दिखाने तक तो गनीमत थी, अब 'टवर्ग'-हीन उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं। नवीनता का नशा चाहे जो कराए। इस प्रकार के उपन्यासों से विलक्षणता का बोध चाहे जितना हो किंतु उपन्यासों के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती।

---

* नायकेनैव वाच्याऽन्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥—काव्यादर्श।

समाज में अनेक प्रकार की उलझनें होती हैं। कुछ केवल सामाजिक होती हैं, कुछ धार्मिक और कुछ राजनीतिक। हिंदी में इन उलझनों अर्थात् समस्याओं को लेकर भी कुछ उपन्यास लिखे गए। उनके सुलझाव का मार्ग भी किसी किसी में दिखलाया गया है। पर अब भी कहा जा सकता है कि हिंदी में अच्छे सामाजिक उपन्यासों का अभाव है। धार्मिक समस्याओं को लेकर एक आध ही उपन्यास लिखे गए और राजनीतिक समस्याओं को लेकर जो लिखे भी गए वे प्रायः सांप्रदायिक हो गए। इसलिए समस्यामूलक उपन्यासों का हिंदी में एक प्रकार से अभाव ही है।

उपन्यास के तत्त्व

भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार उपन्यास में भी तीन तत्त्व माने जा सकते हैं—वस्तु, नेता और रस। किंतु उपन्यासों का विकास अधिकतर पाश्चात्य साहित्य की अनुकृति पर हो रहा है इसलिए उनमें 'रस' के लिए उतना अवकाश नहीं रह गया जितना पात्रों के चारित्र्य-विकास का है। संस्कृत-साहित्य में मुख्य पात्र होता था 'नेता' और कथाकृतियों में उसके चारित्र्य का विशेष अवधानतापूर्वक निदर्शन होता था। किंतु आधुनिक उपन्यासों में नियोजित प्रमुख और गौण दोनों प्रकार के पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताएँ सूक्ष्म से सूक्ष्म विभेद के साथ प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसलिए भारतीय शास्त्रों का केवल एक ही तत्त्व ऐसा दिखलाई देता है जो उभयनिष्ठ है। कथावस्तु का जितना विस्तार भारतीय शास्त्र में किया गया उतना अन्यत्र नहीं।

पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के अनुसार कथाकृतियों के छह तत्त्व माने जाते हैं—वस्तु, चारित्र्य, संवाद देशकाल, शैली और उद्देश्य। संघटन और विस्तार के विचार से कथावस्तु के दो वर्ग होते हैं और प्रत्येक वर्ग के पृथक् पृथक् दो और भेद भी किए जाते हैं। संघटन की दृष्टि से कथावस्तु दो प्रकार की देखी जाती है—शिथिल या निरवयव (लूज़) और सावयव (आरगैनिक)। पहले प्रकार की वस्तु वह है जिसमें बहुत सी असंबद्ध या विच्छिन्न घटनाएँ इस प्रकार जुड़ी हों कि उनमें कोई तर्कसिद्ध या अपेक्षित संबंध प्रतीत न हो। इस प्रकार की कथाओं मे कथाप्रवाह कार्यप्रवाह से संबद्ध नहीं होता, प्रत्युत उपन्यास के नायक या नायिका के कार्य-व्यापार पर आश्रित रहता है। नायक ही मध्यस्थित होता है और उसी के चारों ओर घटनाओं का आवरण घिरा होता है। ऐयारी और तिलस्मी कथाएँ बहुत कुछ इसी प्रकार की होती हैं। दूसरे

प्रकार की वस्तु वह है जिसमें प्रत्येक घटना एक दूसरी से अंगों के रूप में संबद्ध होती है और उनके घटित होने का तर्कपूर्ण और अपेक्षित हेतु होता है। ऐसी वस्तु केवल नायकाश्रित नहीं होती, अधिकतर कार्यप्रवाह से संबद्ध रहती है।

विस्तार के विचार से कथाओं के दो प्रकार के भेद और किए जाते हैं—शुद्ध या एकार्थ (सिंपुल) और संकुल (कंपाउंड)। शुद्ध वस्तु में केवल एक ही कथा होती है। हिंदी में बाबू सियारामशरण गुप्त के उपन्यास 'नारी' में एकार्थ वस्तु की ही योजना है। दूसरे प्रकार की वस्तु वह है जिसमें दो या दो से अधिक कथाएँ जुड़ी चली गई हों और उनका पर्यवसान भी एक ही लक्ष्य में हो। 'राम-रहीम' में 'बेला' और 'बिजली' की कथाएँ इसी प्रकार संबद्ध हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पंचसंधियों और अर्थप्रकृतियों का जैसा गुंफन अपने यहाँ होता था और उसका जितना विस्तृत विवेचन यहाँ था, पश्चिमी देशों में नहीं। इनके भेद-प्रभेदों का अनुशीलन करके स्वच्छ दृष्टि द्वारा यदि कथाकृतियों की छानबीन की जाय तो उनके उदाहरण भी मिल सकते हैं और सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कुछ नए स्वरूपों का भी आभास मिल सकता है।

पात्र (कैरेक्टर) दो प्रकार के माने जाते हैं—गूढ़ (कंप्लेक्स) चारित्र्य के और अगूढ़ (सिंपुल या फ्लैट) चारित्र्य के। गूढ़ चारित्र्यवाले पात्र वे होते हैं जिनके वास्तविक रूप का निर्णय कठिन हो अर्थात् जिनके कार्य-कलाप द्वारा भिन्न भिन्न लोग उन्हें भिन्न भिन्न वृत्ति का, कोई सत् या कोई असत्, माने। अगूढ़ या सरलचारित्र्य के पात्र वे हैं जिनकी वृत्ति में कोई उलझन न हो, जिनका रूप स्पष्ट हो अर्थात् जिन्हें सब लोग एक ही प्रकार का समझें। शील या चारित्र्य का यह निरूपण प्रकृति के विचार से किया गया है। नायकों के जो उद्धत, उदात्त, ललित और प्रशांत भेद किए गए थे वे भी प्रकृतिगत ही भेद थे। पर कथाबंध में पात्रों की स्वरूप-स्थिति शील की उच्चता और जातिगत तारतम्य के आधार पर भी हो सकती है। इनमें से पहले प्रकार के चारित्र्यवालों का विचार तो वहाँ हुआ है, पर जातिगत तारतम्य का वैसा नहीं। शील की उच्चता या नीचता के विचार से एक कोटि आदर्श चरित्र की होती है और जातिगत तारतम्य के विचार से मनुष्यतागत, वर्गगत और व्यक्तिगत विशेषताएँ दिखाई जाती हैं।*

* देखिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका।

सामान्य पात्रों में मनुष्य-मात्र में पाई जानेवाली विशेषताएँ भी लक्षित कराई जाती हैं। वर्गगत चारित्र्य के विचार से किसी वर्ग—ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि—का या किसी संप्रदाय—हिंदुत्व, जैनत्व आदि—का निदर्शन किया जाता है। व्यक्तिगत चारित्र्य में किसी की स्वगत विशेषता—क्रोधी, गानप्रेमी आदि—दिखाई जाती है। आदर्श चारित्र्य साधुता का भी होता है और असाधुता का भी। राम साधुता के आदर्श थे तो रावण असाधुता का। किसी वर्ग की या विशेष प्रकार की वृत्ति का निरूपण जिसमें हो उसे पश्चिमी समीक्षक प्रतिरूपक (टिपिकल) चारित्र्यवाला कहते हैं।

उपन्यासों में पात्रों के चारित्र्य का उत्थान-पतन भी दिखलाया जाता है और बलाबल भी। कुछ पात्र आरंभ में सद्गुणसंपन्न होते हैं और अंत में परिस्थितिवश पतित हो जाते हैं। कुछ पात्रों का पतन से धीरे धीरे उत्थान होता है। कुछ पात्र दृढ़चारित्र्यवाले (स्ट्रांग) होते हैं और कुछ निर्बलचारित्र्यवाले (वीक)। कुछ न तो दृढ़ होते हैं न निर्बल। ऐसों को 'मध्य श्रेणी' का पात्र मानना चाहिए। तारतम्य के विचार से इन्हें उत्तम, मध्यम और अधम कहेंगे। जो अनेक आपत्तियों के पड़ने पर भी स्थिरचित्त रहे वह उत्तम और जो कुछ समय तक स्थिर रहे और फिर उद्विग्न हो जाय वह मध्यम और जो साधारण आपत्तियों से ही घबरा उठे वह अधम है।*

संवाद नाटक का तत्त्व है, पर इसकी योजना काव्य के अन्य भेदों में भी थोड़ी बहुत अवश्य होती है। प्रबंधकाव्यों और कथाकृतियों दोनों में इसका नियोजन होता है। कथाकृतियों में इसकी योजना पात्रों का स्वरूप हृदयंगम कराने और उनमें सजीवता लाने के लिए होती है। संवाद ऐसे होने चाहिए जो हमें पात्रों के समाज के बीच पहुँचा देने में समर्थ हों और साथ ही जो उनका चारित्र्य भी लक्षित करा सकें। उपन्यास में चारित्र्य का अंकन करने के लिए दो प्रकार की पद्धतियाँ ग्रहण की जाती हैं—एक विश्लेषणात्मक (एनलिटिक) और दूसरी रूपकात्मक (ड्रामेटिक)। विश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा उपन्यासकार ही पात्रों का शील कहता है और रूपकात्मक पद्धति स्वयं पात्र की उक्तियों या संवाद का सहारा लेती है। संप्रति उपन्यासों में भी रूप-

---

* प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति॥

त्मक पद्धति ही शीलनिदर्शन की श्रेष्ठ पद्धति मानी जाती है। अतः उपन्यासों में संवादों का विशेष महत्त्व दिखाई देने लगा है। संवाद सामान्य रूप में छोटा होना चाहिए। वाक्य में शब्दों के क्रम की योजना व्याकरणानुमोदित न होकर बोलचाल के अनुरूप होनी चाहिए, जिससे पात्र का व्यक्तित्व और मनःस्थिति लक्षित करने में सहायता मिल सके। संवाद के संबंध में दूसरी बात है उसका स्वतंत्र अस्तित्व।* इस विचार से संलाप और संवाद को पृथक् पृथक् किया जा सकता है। संलाप किसी विषय, वस्तु या व्यक्ति को आधार बनाकर की जानेवाली वह बातचीत है जिसका प्रसंग से अतिरिक्त अपना कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं दिखाई देता, पर संवाद किसी विषय, वस्तु आदि के आधार पर तर्क-वितर्क के साथ किया जानेवाला वह वाग्विनियम है जो प्रसंग के बाहर भी अपना स्वतंत्र महत्त्व दिखला सके। इस प्रकार के संवादों की योजना अच्छे अच्छे उपन्यासकारों में ही पाई जाती है। यदि कहीं नाटककार उपन्यास लिखने बैठा तो उसमें इस प्रकार के स्वच्छंद संवाद बहुत पाए जाते हैं, जैसे 'प्रसाद' के उपन्यासों में।

देशकाल का तात्पर्य है उपन्यास में वर्णित स्थान और समय का औचित्यपूर्ण नियोजन। घटनाएँ जिस प्रकार विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा संघटित होती हैं उसी प्रकार विशिष्ट स्थान और समय में घटित भी। देशकाल का यह नियोजन दो प्रकार का होता है—समाजगत और वस्तुगत। किसी विशेष समाज से उपन्यासगत पात्रों का संबंध होता है। उस समाज की रीति-नीति, चाल-ढाल का सम्यक् वर्णन देश, काल और पात्र के अनुसार करना आवश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यासों को सामने रखने से इस तत्त्व के समाजगत वैशिष्ट्य का भली भाँति पता चल जाता है। क्योंकि यदि उन उपन्यासों में तत्सामयिक समाज के आचार-व्यवहार का ठीक ठीक निरूपण न किया जाय तो उनका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। वस्तुगत वर्णनों के अंतर्गत व्यक्तियों और वस्तुओं का भी वर्णन आता है और प्रकृति का भी। हिंदी के आधुनिक उपन्यासों में वस्तुओं और व्यक्तियों का वर्णन तो थोड़ा बहुत पाया जाता है किंतु प्रकृति-वर्णन का अभाव होता जा रहा है। 'हृदयेश' के 'मंगल-प्रभात' उपन्यास में प्रकृति-वर्णन की आकर्षक योजना हुई है। किंतु हिंदीवाले उधर आकृष्ट नहीं हुए।

शैली का विचार 'उपन्यास के भेद' शीर्षक के अंतर्गत ऐतिहासिक,

* देखिए वर्सफोल्ड का 'दि प्रिंसिपुल्स आव् क्रिटिसिज्म'।

आत्मचरितात्मक, पत्रात्मक तथा डायरी रूप नाम से पहले ही किया जा चुका है।

उपन्यास-रचना कोई उद्देश्य लेकर ही होती है। अपने यहाँ भी कहा गया है कि निष्प्रयोजन कोई कार्य नहीं होता, साधारण जन तक प्रयोजन से ही प्रेरित होकर कार्य करते हैं।* यह उद्देश्य अब 'जीवन की व्याख्या' माना जाता है। किंतु विचार करने से प्रतीत होता है कि साहित्यकार अथवा उपन्यासकार का उद्देश्य मानव-हृदय के भावों एवम् अनुभूतियों की व्यंजना करना है। जीवन तो साधन मात्र है। उस व्यंजना द्वारा वह पाठक के हृदय में आनंद की वह स्थिति ला देता है जिसे भारतीय आचार्यों ने अलौकिक कहा है। भावों एवम् अनुभूतियों की सीमा 'जीवन की व्याप्ति' से बड़ी है। जीवन की व्याख्या को उद्देश्य मान लेने से साहित्यकार की दृष्टि क्रमशः संकुचित होती गई, यथार्थ का भद्दा आग्रह बढ़ा। अतः बहुत से लेखक ऐसे भी दिखाई देने लगे जो जीवन के एक कोने या अंग को ही पूर्ण जीवन मान बैठे। फल-स्वरूप साहित्य-क्षेत्र में ऐसे उपन्यासों की भी बाढ़ आई जो यथार्थवाद की ओट में नरक के दृश्य प्रस्तुत करने लगे। भावों और अनुभूतियों को उद्दिष्ट मानकर चलने से इस प्रकार के पतन की संभावना कम थी। साहित्य की यह वह अंतःसत्ता है जिसके कारण विभिन्न देशों के ग्रंथों का पारायण करके तदितर देशों के जन भी रसमग्न होते हैं। लोक-जीवन की आत्मा अनुभूति की मार्मिक व्यंजना ही है।

कहानी

मनुष्य-समाज में कहानियों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है। मानव-जाति का प्राप्त सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है। उसमें कई कहानियाँ मिलती हैं—शुनःशेप, उर्वशी, यम-यमी आदि की। ब्राह्मण-ग्रंथों, उपनिषदों आदि में भी यथास्थान कहानियाँ पाई जाती हैं। पुराण, महाभारत आदि तो कहानियों के भांडार हैं। 'पुराण' शब्द का अर्थ ही है 'प्राचीन कथा'। वैदिक काल की लुप्त और विस्मृत होती हुई कथाएँ पुराणों में पद्यबद्ध कर दी गई हैं। हिंदूवाङ्मय ही नहीं बौद्धों का वाङ्मय भी कथाओं से भरा है। जातक-कथाओं में महात्मा बुद्ध के पूर्वजीवन की कथाएँ हैं। उनमें ऐसी कथाएँ भी मिलती हैं जो आधुनिक कहानियों के साँचे में बहुत थोड़े परिवर्तन से ढाली जा सकती हैं। पैशाची भाषा

* प्रयोजनमनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।

में गुणाढ्य की 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) अनेक कहानियों का अद्भुत संग्रह थी, जो लुप्त हो गई। इसी के आधार पर लिखी हुई दो संस्कृत पुस्तकें मिलती हैं—बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर। इन्हीं से उस अद्भुत रचना का कुछ आभास मिल जाता है।* जैनों के अपभ्रंश-ग्रंथों में भी बहुत सी कथाएँ पाई जाती हैं। अपभ्रंशों के बाद देशी भाषाओं में अधिकतर पद्य-रचना होती रही। इसलिए उनमें जो थोड़ी बहुत कहानियाँ आरंभ में दिखाई पड़ती हैं वे पद्यबद्ध ही हैं। अँगरेजों के आगमन के अनंतर गद्य का प्रवाह प्रबल वेग से बहने लगा। फलस्वरूप भारत की देशी भाषाओं में गद्य का विशेष उत्थान हुआ। आधुनिक ढंग की कहानियों को साहित्य-क्षेत्र में आने का अवकाश मिला। यों तो कहने के लिए हिंदी में 'रानी केतकी की कहानी' से ही कहानी का आरंभ हो जाता है, किंतु 'कहानी' कही जाने योग्य रचनाओं का प्रचलन वस्तुतः 'सरस्वती' और 'इंदु' नाम की पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ आरंभ होता है।

यह तो स्पष्ट है कि छोटी छोटी कहानियों की बाढ़ जीवन की संकुलता बढ़ने से ही हुई। विज्ञान की भीषण उन्नति के साथ साथ, नागरिक ही नहीं ग्रामीण भी, विशेषतया पश्चिमी देशों में और सामान्यतया पूर्व में भी, इतने प्रकार के कर्मों में बँधता जा रहा है कि उसके लिए साँस लेने का अवकाश तक कम होता जा रहा है। इसी से मानसिक बुभुक्षा की शांति के लिए साहित्य की बड़ी मात्रा ग्रहण करने में वह असमर्थ है। क्योंकि वह है समय-सापेक्ष और यहाँ है समय की कमी। इसीलिए छोटी छोटी कहानियाँ, जो बहुत थोड़े समय में पढ़ी जा सकती हैं, बहुत प्रचलित हुईं। छोटी कहानियाँ अब इतनी छोटी होने लगी हैं कि दस पंद्रह पंक्तियों के अनुच्छेद तक में समाप्त हो जाती हैं। 'बौना' रूप तो अलग रहे, ये नामरूप-हीन निर्गुण भी बन रही हैं। कहानियों द्वारा जीवनगत कोई मार्मिक अनुभूति या तथ्य व्यंजित होता है। ऐसे रूप के प्रचारक इसे ही सत्य और साध्य कहकर और नाम-रूप को औपाधिक बतलाकर उन्हें फालतू कहते हैं। एक ओर तो कहानियों के लक्ष्य नानारूपात्मक जगत् के सभी श्रेणियों, वर्गों, स्थितियों के जन होते जा रहे हैं और दूसरी ओर नानात्व अर्थात्

* संस्कृत में पंचतंत्र और हितोपदेश दूसरे ही प्रकार की कहानियाँ सुनाते हैं—'ईसप' की जिन कहानियों की पाश्चात्य देशों में बड़ी धूम है वे इन्हीं के अनुकरण पर निर्मित हुई हैं।

विशेषता का आवरण हटाया जा रहा है। ध्यान देने की बात है कि जगत् जिस प्रकार नानारूपात्मक है उसी प्रकार नानाभावात्मक भी। भावों की अनुभूति की आश्रय है हृदय और उसके लिए आलंबन हैं जीवन-जगत् के नाना रूप। बिना विशिष्ट रूपों का सहारा लिए भाव उद्दीप्त नहीं हो सकते, यह केवल कहानीगत पात्रों के ही लिए सत्य नहीं है, प्रत्युत सहृदय पाठक के लिए भी सत्य है। वह भावानुभूति 'विशेष' के ही सहारे करता है, 'सामान्य' उसके लिए किसी काम का नहीं। 'न्याय' के लिए सामान्य या जाति भले ही महत्त्वपूर्ण हो, काव्य तो विशेष या व्यक्ति में ही कार्यकारिता मानेगा, उसका विभावन नामरूप-वाले जन से ही होगा। विशेष का ही साधारणीकरण होगा, साधारण या सामान्य का नहीं। प्रसन्नता की बात है कि हिंदी में अभी ऐसी कहानियाँ बहुत थोड़ी दिखाई पड़ी हैं।

हिंदी में कहानियों के अब इतने रूप दिखाई देने लगे हैं और उनमें ऐसी विविधता लक्षित होने लगी है कि उनका वर्गीकरण पाश्चात्य ढंग से न करके स्वच्छंद रूप से ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रेमचंदजी की 'बड़े भाई साहब' और चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'शांतिनिकेतन' कहानियाँ उपस्थित की जा सकती हैं। कहानियों में शील-वैचित्र्य दिखाने का बहुत थोड़ा अवकाश रहता है। किंतु 'बड़े भाई साहब' में लेखक ने केवल शील-वैचित्र्य ही दिखलाया है। शील-निदर्शन की यह पद्धति भी रूपकात्मक (ड्रामेटिक) है, जो सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। 'हृदयेश' की कहानी काव्य-कहानी है। अब पश्चिम की देखादेखी कहानी, उपन्यास, नाटक सभी से काव्य का तत्त्व धीरे धीरे हटता जा रहा है, पर हिंदी में कुछ लेखक ऐसे हैं जो साहित्यगत काव्य-तत्त्व की रक्षा करते आए हैं। 'हृदयेश' 'प्रसाद' आदि ऐसे ही लेखक हैं।

हिंदी में नए ढंग की कहानियों का चलन जिस समय से हुआ उस समय सामाजिक सुधार के आंदोलन चल रहे थे। अतः आरंभ में अधिकतर कहानियाँ सामाजिक सुधारों पर लिखी गईं। शुद्ध साहित्यिक कहानी-लेखक थोड़े दिखाई पड़े। श्रीकिशोरीलाल गोस्वामी, श्रीरामचंद्र शुक्ल आदि प्रारंभिक और शुद्ध साहित्यिक कहानी-लेखक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। कुछ समय के अनंतर स्वर्गीय श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'उसने कहा था' कहानी लिखकर शुद्ध साहित्यिक कहानी का बहुत ही अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया। पहले कहा जा चुका है कि छोटी

कहानियों का अधिक चलन जीवन की संकुलता के उत्तरोत्तर बढ़ते जाने से हुआ है। इसी से समय समय पर जो कहानियाँ लिखी जाती हैं वे अपने समय की स्थिति का संकेत अथवा प्रदर्शन करती रहती हैं। तात्पर्य यह कि साहित्य की कोई और धारा चाहे लोकजीवन से विशेष संबद्ध होकर न भी चले, किंतु कहानी का प्रवाह उससे अधिकाधिक संपृक्त दिखाई देता है। इनका महत्त्व इतना अधिक बढ़ता जा रहा है कि मासिक पत्रों में ही नहीं, समाचारपत्रों तक में कहानियाँ प्रकाशित होने लगी हैं। किसी पत्र की ग्राहक-संख्या बढ़ाने में इन कहानियों का बहुत बड़ा भाग रहता है। नैत्यिक जीवन से विशेष संलग्न रहने ही के कारण कहानियाँ साहित्य और जीवन के बीच पड़नेवाले व्यवधान को बराबर दूर करती रहती हैं। कविता नई नई भावभंगी दिखाने के फेर में जीवन से जितनी ही दूर होती जा रही है, कवि जितना ही दूसरे लोक का विहार करने लगे हैं, उतना ही कहानी जीवन के निकट आती जा रही है और लेखक उतना ही जीवन से संब होते जा रहे हैं। हाँ, इधर काव्य-क्षेत्र की भाँति कुछ व्यंजना क ऐसी कहानियाँ भी दिखाई देने लगी हैं जिनमें पदावली की बहार तो अत्यधिक रहती है पर कहने को कुछ नहीं होता। यह खटके की बात है। संतोष इतना ही है कि दूसरे लोक के ये जीव बहुत कम हैं, अधिकतर कहानियाँ लोक-बद्ध जीवन ही लेकर चल रही हैं। उनमें जो उद्विग्न करनेवाली प्रवृत्ति दिखाई दे रही है वह दूसरी है। बहुत सी कहानियाँ प्रेम-व्यापार को ही सब कुछ समझकर निर्मित हो रही हैं। माना कि प्रेम की व्याप्ति जीवन में अत्यधिक है, पर वही जीवन नहीं है इसे भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यों तो नई कहानियों का प्रचलन हिंदी में ईसवी सन् के बीसवें शतक के आरंभ से ही हो गया था अर्थात् 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के पश्चात् से ही, फिर भी इन कहानियों की विशेष धूम उस समय से हुई जब प्रेमचंदजी इस क्षेत्र में आए। आरंभ में प्रेमचंद जी ने दो प्रकार की कहानियाँ लिखीं—एक ऐतिहासिक, दूसरी शिक्षा-प्रद। तब तक प्रेमचंद की कहानियों में सांप्रदायिकता का प्रवेश नहीं हुआ था। पर धीरे धीरे उनमें इसके बीज पड़ने लगे और आगे चलकर अंकुर भी निकल आए। पिछले काँटे उनकी कहानियों में स्पष्ट लक्षित होता है कि लेखक जिस जीवन का वर्णन कर रहा है उसका या तो उसने ठीक ठीक निरीक्षण नहीं किया है या जानबूझकर नकली रंग

चढ़ाया है। ऐसी रंगत साहित्य के लिए बाधक ही नहीं घातक भी हुआ करती है। केवल प्रेमचंद ही नहीं, कुछ दूसरे वादग्रस्त लेखक भी उसी ढाँचे की कहानियाँ प्रस्तुत करने में लगे। यद्यपि प्रेमचंद की कहानियों के संबंध में कहा जाता है कि वे उनके उपन्यासों की अपेक्षा विशेष रोचक होती हैं और यह धारणा परिमित रूप में ठीक भी मानी जा सकती है तथापि सचाई यह कहने को विवश करती है कि सांप्रदायिक अतिरंजना उनकी कहानियों में आ गयी थी और उसके आगमन से वे विरूप भी अवश्य हुईं। जैसा निःसंग निरूपण 'सप्त सरोज', 'नवनिधि' आदि आरंभिक कहानी-संग्रहों में दिखाई पड़ता वैसा पिछले संग्रहों में सर्वत्र नहीं।

हिंदी में यों तो अनेक कहानी-लेखक हैं और उनकी अलग अलग विशेषताएँ हैं किंतु उन सबका उल्लेख करना संभव नहीं, फिर भी दो बातें 'प्रसाद' जी की कहानियों के संबंध में कह देने की आवश्यकता है। उनकी कहानियाँ अपने ढंग की विशिष्ट कहानियाँ हैं और हिंदी में कहानी के स्वच्छंद विकास का आभास देनेवाली हैं। उनकी प्रत्येक कहानी प्रकृति की अपेक्षित पीठिका पर खड़ी हुई है और प्रेम के किसी न किसी नूतन रूप की परिपूर्ण व्यंजना करनेवाली है। प्रेम के रूपों की विविधता और अन्य अंतर्वृत्तियों के साथ उसके संवलित रूप के दर्शन जिस निपुणता के साथ लेखक करा सका है वह प्रशंसनीय तो है ही, गर्व करने योग्य भी है।

संस्कृत में सब प्रकार की कथाओं के पाँच भेद किए गए हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है—आख्यायिका, कथा, खंडकथा, परिकथा और कथालिका। इनमें से आख्यायिका और कथा उपन्यासों के भेद हैं अर्थात् बड़ी कथा को निरूपित करते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास 'आख्यायिका' के अंतर्गत आते हैं, इनमें क्रमबद्ध घटनाएँ विस्तार से आती हैं और 'कथा' में कल्पित कथा होती है, उसमें घटनाएँ थोड़ी ही कथाबद्ध की जाती हैं।* चाहें तो ऐतिहासिक और पौराणिक कहानियों के लिए आख्यायिका शब्द हिंदी में गृहीत हो सकता है। 'खंडकथा' छोटी कहानी के लिए आता था। पशु-पक्षियों की विलक्षण कहानियाँ (फेबुल) 'परिकथा' कहलाती हैं जहाँ एक में एक करके कई कथाएँ जुड़ती चली जाती हैं वहाँ 'कथालिका' समझिए, जैसे कथासरित्सागर।

---

* प्रबन्धकल्पनां स्तोकसत्यां प्राज्ञाः कथां विदुः।
परंपराश्रया या स्यात् सा मताख्यायिका बुधैः॥

बैतालपचीसी और सिंहासनबत्तीसी परिकथा और कथालिका का मिश्रण हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये भेद घटना-वैचित्र्य, कथा-रूप आदि के विचार से किए गए हैं। अतः इनका साहित्यिक कहानियों में विशेष उपयोग नहीं हो सकता।

यों तो वस्तु, पात्र आदि के विचार से उपन्यासों के जितने भेद किए गए हैं कहानियों के भी उतने ही किए जाते हैं, किंतु स्मरण रखना चाहिए कि कहानियों में 'चारित्र्य' के विकास या निरूपण का वैसा अवकाश नहीं प्राप्त हो सकता जैसा उपन्यासों में। क्योंकि उपन्यासों में पूर्ण जीवन लाया जाता है और कहानियों में जीवन की केवल एक झलक रहती है, और इसी एक झलक में घटना, कार्य-व्यापार, संवाद, परिस्थिति आदि कई तत्त्वों पर लेखक को दृष्टि जमानी पड़ती है। इसलिए 'चारित्र्य' के विकास का इसमें अवकाश ही कहाँ मिलता है। फिर भी हिंदी में एकाध कहानियाँ ऐसी दिखाई देती हैं जिनमें 'चारित्र्य' के निदर्शन का, विकास का नहीं, अवकाश निकल आया है, जैसे प्रेमचंद की 'बड़े भाई साहब' कहानी। कहानी में वस्तुतः कोई एक ही पात्र मुख्य होता है। कभी कभी दो पात्र भी प्रमुख दिखाई देते हैं, पर अधिकतर कहानियों में एक ही पात्र मध्यस्थ रहता है। एक ही मुख्य पात्र पर विशेष ध्यान देने से कभी कभी शील का स्थूल आभास मात्र अच्छी साहित्यिक कहानियाँ अवश्य दिखाती हैं; जैसे स्वर्गीय गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी में लहनासिंह का चारित्र्य। कहानी में जीवन की एक झलक होती है, इसी से उसमें किसी का जो चारित्र्य व्यक्त होता है वह जीवन का अंश मात्र होता है।

जिस समय कहानियों का उदय हुआ उस समय उनका उपयोग अधिकतर बच्चों को शिक्षा देना था। इसलिए आरंभ में ऐसी कहानियाँ लिखी गईं जो केवल उपदेशात्मक थीं। 'हितोपदेश' नाम ही बतलाता है कि इनका लक्ष्य 'उपदेश' था। इनमें वाणी के अमोघ वरदान से विभूषित केवल मनुष्य ही नहीं बोलता, पशु-पक्षी भी बोलते हैं। यद्यपि अब इस प्रकार की कहानियों का निर्माण बहुत कुछ बंद हो गया है तथापि शिक्षा के लिए इन पुरानी कहानियों का उपयोग न बंद हुआ और न बंद होगा। दूसरी कहानियाँ पहेली-बुझौवल के ढंग की बनीं, जैसे बैतालपचीसी और सिंहासनबत्तीसी। ये कहानियाँ आश्चर्य-चकित करने के लिए लिखी गई हैं और इनमें मस्तिष्क का विलक्षण अभ्यास दिखाया गया है। इन्हें क्रमशः ऐयारी और जासूसी उपन्यासों

के ढंग का माना जा सकता है। आधुनिक कहानियों में उपन्यासों से विलक्षणता यह दिखाई देती है कि वे अपने छोटे रूप में प्रतीकों से भी काम लेने लगी हैं। कुछ लोग इसी से प्रतीकात्मक छोटे छोटे 'गद्य-खंडों' को कहानियाँ ही कहते हैं। पर कहानियों और गद्य-काव्यखंडों में अंतर है। कहानियों में घटनाचक्र मुख्य होता है और कुतूहल की मात्रा अत्यधिक होती है। किंतु गद्यबद्ध काव्यखंडों के प्रतीक-विधान का लक्ष्य घटना वैचित्र्य या कुतूहल नहीं होता।

अंत में उन छोटे कथाखंडों पर भी विचार कर लेना चाहिए जो नामरूपविहीन होते हैं। इस नामरूपात्मक जगत् में यह सृष्टि विलक्षण है, क्योंकि बिंबरूप संकेतग्रह में बाधा उपस्थित होती है। संकेत-ग्रह का कार्यकारित्व भाव विशेष या व्यक्ति में ही होता है, सामान्य या जाति में नहीं। फिर भी इस प्रकार की कहानियों के प्रचलित होने का कारण है—कुतूहल-शांति का अल्पकाल और अल्पायास साध्य प्रयत्न। इसमें कहानी का मसाला, उसका निचोड़ रखा रहता है। इनमें मन रमता तो नहीं, बहल अवश्य जाता है।

यों तो सभी प्रदेशों के साहित्य की अंतरात्मा एक ही हुआ करती है पर संस्कृति-भेद से व्यंजना में थोड़ा बहुत अंतर अवश्य पड़ता है। आधुनिक ढंग की हिंदी-कहानियाँ पहले बँगला का प्रभाव लेकर चलीं, उनमें सरलता की मात्रा अधिक होती थी। आगे चलकर वे सीधे अँगरेजी से प्रभावित होने लगीं। फलतः घटना-वैचित्र्य ही अधिकतर उनका लक्ष्य बना। अब रूसी कहानियों का विशेष प्रभाव हिंदी के कुछ कहानी-लेखकों पर लक्षित हो रहा है, जिससे सांप्रदायिकता बढ़ती जा रही है। अपने ढंग से कहानी का विकास होने में इससे बाधा अवश्य उपस्थित होती है, पर विविधता बढ़ रही है इसे मानना ही पड़ेगा।

कहानी की सीमा छोटी होती है इसलिए उसमें तत्त्वों का नियोजन भी उसी छोटी सीमा के अनुकूल ही किया जा सकता है। उपन्यासों में जितने तत्त्व होते हैं वे कहानी में ज्यों के त्यों नहीं पाए जाते। उपन्यास के विस्तीर्ण क्षेत्र में उन तत्त्वों के समावेश का सुभीता रहता है, पर कहानियों में वैसा नहीं। यह कहना ठीक नहीं है कि उपन्यास लिखने की अपेक्षा कहानी लिखना विशेष कठिन है। उपन्यास मे मनोरंजन की जैसी धारा होती है वह कहानी में संभव नहीं। कहानी में गृहीत खंडजीवन के चुनाव में ही विशेष सावधानी की आवश्यकता

होती है। यदि मार्मिक खंडजीवन न चुना जायगा तो कहानी आकर्षक नहीँ हो सकती। उपन्यास और कहानी मेँ वही अंतर समझना चाहिए जो महाकाव्य और खंडकाव्य में होता है। कहानी की सामग्री यदि सावधानी के साथ एकत्र की जाय तो थोड़े परिश्रम से विशेष रंजन हो सकता है।

कहानी मेँ तत्त्वोँ के समावेश मेँ सावधान रहने की आवश्यकता है। जैसे कथावस्तु को लीजिए। उपन्यास मेँ कथावस्तु कई शाखाओँ मेँ प्रस्फुटित की जा सकती है, किंतु कहानियोँ मे शाखा-प्रशाखा की परंपरा नहीँ रखी जा सकती। उसमेँ जो कथा ली जाती है वह एक ही रहती है, उसमें विशेष प्रकार के मोड़ोँ से धारा नहीँ उत्पन्न की जा सकती। यही दशा पात्रोँ की भी है। कहानी मेँ एक या दो ही पात्र मुख्य होते हैँ। क्योँकि पाठक थोड़े समय मेँ इससे अधिक पात्रोँ पर अपना ध्यान नहीँ जमा सकता। जो कहानी-लेखक कहानी मेँ पात्र पर पात्र एकत्र करता चला जाय समझ लेना चाहिए कि वह कहानी न लिखकर पात्रसूची बना रहा है। संवादोँ को लेते हैँ तो इनका आकार प्रकार भी कहानी में छोटा और सधा हुआ ही अच्छा जान पड़ता है। उपन्यासोँ मेँ तो कुछ लंबे संवादोँ की लंबी पदावली भी खप सकती है किंतु कहानियोँ मेँ संवादोँ का थोड़ा सा भी लंबापन खटकने लगता है। संवादोँ की योजना कहानी मेँ केवल इसलिए की जाती है जिससे पढ़नेवाला यह न समझे कि हम पुराण पढ़ रहे हैँ। उसे इतना ही ज्ञात हो जाय कि कहानी के पात्र सजीव हैँ और उन्होँने मौनवृत्ति की दीक्षा नहीँ ली है। संवाद रखने में ऐसी सावधानी भी चाहिए जिससे पता चले कि दो व्यक्ति बातचीत कर रहे हैँ, केवल दो मुख नहीँ बोल रहे हैँ। तात्पर्य यह कि संवादोँ द्वारा बोलनेवाले जनोँ की भिन्नता का आभास देना चाहिए। चरित्रचित्रण के संबंध मेँ ऊपर बहुत कुछ कहा जा चुका है।

देशकाल का वैसा संकेत जैसा उपन्यासोँ मेँ दिया जाता है इसमें नहीँ दिया जा सकता। पर इसका यह तात्पर्य नहीँ कि कहानी लिखनेवाला विशेष देश या काल के आचार-व्यवहार से तटस्थ रहे। जिन कहानियोँ का उद्देश्य स्मृत्याभास पद्धति से अतीत जीवन की अनुभूति कराना होता है उनमें देश-काल का विचार पूर्णतया अपेक्षित होता है। ऐसी कुछ कहानियाँ 'प्रसाद' जी

की हैं, जिनमें से 'सालवती' सर्वोत्कृष्ट है। उसमें गणतंत्र राज्यों की रीति-नीति का रमणीय दृश्य अंकित किया गया है।

प्रश्न होता है कि कहानियों का उद्देश्य क्या हो। साहित्य का उद्देश्य मनुष्य की अनुभूतियों की व्यंजना है। आज दिन कहानियों का उपयोग बहुत विस्तृत क्षेत्र में हो रहा है, इसलिए यह निश्चित है कि मनुष्य की सर्वसामान्य अनुभूतियों की व्यंजना ही उसके लिए आवश्यक है। कहानियों को केवल मनोरंजन का साधन नहीं समझना चाहिए। भारत में साहित्य कभी केवल मनोरंजन का साधन नहीं माना गया। उसका उद्देश्य है मनुष्य को मनुष्य बनाने में सहायता पहुँचाना। असंस्कृत वासनाओं से वह पशुत्व को प्राप्त हो जाता है, उससे निकालकर उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर स्थापित करना। साहित्य के इसी उद्देश्य को लक्षित करके कहा गया था कि साहित्य से पराङ्मुख रहनेवाला जन बिना सींग-पूँछ का साक्षात् पशु है।*

लेख

लेख वह गद्य-रचना है जिसमें किसी विषय का प्रतिपादन अथवा वर्णन किया जाय। यह विस्तार और व्यक्तित्व की योजना के विचार से दो प्रकार का होता है—प्रबंध और निबंध। प्रबंध विस्तार से लिखा जाने वाला वह लेख है जिसमें प्रतिपाद्य विषय प्रधान होता है, व्यक्तित्व की योजना नाममात्र को होती है। निबंध अपेक्षाकृत छोटी रचना है। इसमें लेखक का व्यक्तित्व भी अपनी झलक देता चलता है। प्रबंध में वैसी कसावट नहीं होती, पर निबंध में बंध निगूढ़ होता है, भाषा ऐसी कसी रहती है कि शब्दों का परिवर्तन संभाव्य नहीं जान पड़ता। निबंध पाँच प्रकार का दिखाई देता है—(१) विचारात्मक, (२) वर्णनात्मक, (३) भावात्मक, (४) कथात्मक और (५) आत्मव्यंजक। विषय-प्रधान होने के कारण प्रबंध केवल विचारात्मक ही हुआ करता है। विचारात्मक प्रबंधों या निबंधों में किसी प्रतिपाद्य विषय का विवेचन होता है। अनेक तर्कों के द्वारा लेखक किसी सिध्दांत की सत्यता प्रतिपादित करता है। प्रबंधों में तर्क का संग्रह केवल बुधि व्यापार द्वारा प्रेरित होता है किंतु निबंधों में बुद्धि के साथ साथ हृदय का भी योग देखा जाता है। जिन निबंधों में बुद्धि और हृदय का समुचित योग हो वे ही शुद्ध विचारात्मक

* साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।।
तृणं न खादन्नपि जीवमानः तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ।।—भर्तृहरि।

निबंध कहे जा सकते हैं। ऐसे ही निबंध शुद्ध साहित्यिक निबंध हैं। तर्क द्वारा सिद्ध किए जानेवाले विषय दो प्रकार की शैलियों से प्रतिपादित हो सकते हैं—निगमन शैली और आगमन शैली। निगमन शैली वह है जिसमें सिद्धांत की बात उपस्थित करके उसके लिए अनेक तर्क और उन तर्कों की सिद्धि के लिए दृष्टांत प्रस्तुत किए जायँ। आगमन शैली वह है जिसमें अनेक दृष्टांत प्रस्तुत करके उनमें से कोई सिद्धांत निकाला जाय। इस प्रकार के निबंधों में मुख्य बात होती है व्याप्ति। जो लेखक प्रतिपाद्य सिद्धांत की ऐसी व्याप्ति प्रस्तुत कर सकता है जिससे फालतू बातें छँटकर विषय की सीमा निर्धारित होने लगे वही सफलतापूर्वक ऐसे निबंध लिख सकता है। हिंदी में इस प्रकार के निबंध आचार्य रामचंद्र शुक्ल के देखे जाते हैं जिनमें व्याप्ति का बहुत ही सुंदर निर्धारण हुआ है। इनके निबंध निगमन शैली के निबंध हैं। आगमन शैली के निबंध पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने बहुत से लिखे हैं।

वर्णनात्मक निबंध भी दो प्रकार के होते हैं। एक संश्लिष्ट वर्णनवाले और दूसरे असंश्लिष्ट। संश्लिष्ट वर्णन वह है जिसमें किसी स्थान, वस्तु या व्यक्ति का वर्णन इस ढंग से किया जाता है जिससे उसका दृश्य उपस्थित हो जाता है अर्थात् वर्णन परिस्थिति से समन्वित होता है। जहाँ फुटकल नाम गिनाए जाते हैं वहाँ असंश्लिष्ट वर्णन समझना चाहिए। यद्यपि साहित्य में जितने निबंध मिलते हैं उनमें अन्य प्रकार के निबंधों की भी कुछ न कुछ विशेषताएँ प्रत्येक में पाई जाती हैं, तथापि वर्णनात्मक निबंध उनमें से पृथक् किए जा सकते हैं। वर्णनात्मक निबंध में लेखक एक एक वस्तु का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करता दिखाई देता है। वह अपने पाठक को प्रत्येक वस्तु के निकट उपस्थित करना चाहता है और चाहता है कि पाठक उन उन वस्तुओं को भली भाँति देख ले। जहाँ इस प्रकार का प्रयत्न दिखाई दे तुरंत समझ लेना चाहिए कि वह वर्णनात्मक निबंध है। वर्ण्य विषय के विचार से निबंधों में कृति और प्रकृति दोनों का वर्णन आता है। मानवी कृति का वर्णन अधिकतर शुद्ध रूप में दिखाई देता है, किंतु प्रकृति का वर्णन कई प्रकार का देखा जाता है—शुद्ध, भावाक्षिप्त और अलंकृत। शुद्ध वर्णन वह है जिसमें प्रकृति जैसी दिखाई देती है वैसी ही प्रस्तुत कर दी जाय। भावाक्षिप्त वर्णन वह है जिसमें वर्णन करनेवाले के हृद्गत भावों का आरोप भी हो। इस प्रकार प्रकृति कहीं प्रफुल्ल

दिखाई देगी और कहीं विषण्ण। अलंकृत वर्णन वह है जिसमें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का विशेष लदाव हो।

भावात्मक निबंध वे हैं जिनमें किसी भाव की व्यंजना प्रधान हो। ये निबंध भी दो प्रकार की शैली में लिखे जाते हैं—धाराशैली और तरंगशैली। जहाँ भाव की व्यंजना आदि से अंत तक निरंतर होती रहती है वहाँ धाराशैली का प्रयोग समझना चाहिए और जहाँ बीच बीच में भाव की व्यंजना हो जाया करती है वहाँ तरंगशैली होती है। बाबू व्रजनंदनसहाय (आरा-निवासी) के निबंध अधिकतर धाराशैली में लिखे गए हैं और डाक्टर रघुवीर सिंह (सीतामऊवाले) के निबंध अधिकतर तरंगशैली में।

कथात्मक निबंध कोई कथा लेकर लिखे जाते हैं। कहानियों और कथात्मक निबंधों में अंतर है। कहानियों में घटनाचक्र किसी विशेष परिणाम की ओर उन्मुख होता है, किंतु कथात्मक निबंधों में कोई उद्दिष्ट परिणाम नहीं होता। कहानियों में घटित होनेवाली घटनाओं में कुतूहलोत्पादन होता है, रमणीयता नहीं। किंतु कथात्मक निबंधों में मन घटनाओं में रमता है। ऐतिहासिक वृत्त से भी कथात्मक निबंधों का भेद समझ लेना चाहिए। ऐतिहासिक वृत्त में जो घटनाएँ घटित होती हैं उनकी सत्यता पर इतिहासकार की दृष्टि रहती है। वे सुरूप हों या विरूप वह उनका वर्णन करेगा ही। किंतु कथात्मक निबंधों में सुरूप का संग्रह और विरूप का त्याग देखा जाता है। इसके अतिरिक्त इतिहास जीवन का बाह्य पक्ष लेता है और निबंध जीवन का आभ्यंतर पक्ष। कथात्मक निबंधों के अंतर्गत यात्रा-विवरण और जीवनियाँ आती हैं। ऐसे निबंध श्रीपद्मसिंह शर्मा ने कई लिखे थे, जिनका संग्रह 'पद्मपराग' में हुआ है।

आत्मव्यंजक निबंध वे हैं जिनमें प्रधान रूप से लेखक का व्यक्तित्व व्यंजित होता है। ऐसे निबंधों में वर्णन के लिए विषय कोई भी लिया जा सकता है। लेखक अपने व्यक्तित्व द्वारा उन विषयों में रोचकता उत्पन्न कर देता है। ये निबंध भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनमें वर्ण्य विषय का किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं होता और दूसरे वे जिनमें विषय का भी कुछ महत्त्व होता है। पहले प्रकार के निबंध श्रीप्रतापनारायण मिश्र ने बहुत से लिखे हैं। सरदार पूर्णसिंह के निबंध दूसरे भेद के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। ध्यान देने से

दिखाई देता है कि आत्मव्यंजक निबंध भी विचारात्मक ही होते हैं जिनमें लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है।

गद्यकाव्य

हिंदी में छोटे छोटे ऐसे गद्यखंड लिखे जाने लगे हैं, जिनको छोटी कहानियों अथवा निबंधों में अंतर्भूत होते न देखकर, 'गद्यकाव्य' नाम दिया गया है। जिस प्रकार हिंदी में साहित्य की और कई प्रवृत्तियाँ बँगला की देखादेखी जगीं उसी प्रकार गद्यकाव्य लिखने की भी। किंतु हिंदी के कुछ लेखक अब इस प्रकार की ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके हैं जो स्वच्छंद विकास द्योतन करती हैं। गद्यकाव्य लिखनेवाले अधिकतर प्रतीकात्मक शैली का व्यवहार करते हैं। कुछ में इन प्रतीकों द्वारा पृथक् पृथक् भावों या तथ्यों की व्यंजना की गई है और कुछ में पृथक् पृथक् प्रतीकों द्वारा एक ही भाव या तथ्य की। कुछ लेखकों की रचनाओं में प्रतीकों और भावों का समन्वय बराबर देखा जाता है और कुछ में प्रतीक महत्त्वपूर्ण नहीं होता, केवल भाव की व्यंजना महत्त्वपूर्ण होती है। पहले प्रकार की रचना राय कृष्णदास की है और दूसरे प्रकार की श्रीवियोगी हरि की। राय कृष्णदास और वियोगी हरि की रचनाओं में प्रतीक और व्यंजना दोनों का महत्त्व तुल्यकोटिक होता है और श्रीचतुरसेन शास्त्री की रचनाओं में प्रतीक नहीं व्यंजना का महत्त्व देखा जाता है। विषय को स्पष्ट करने के लिए कुछ विस्तार अपेक्षित है। राय कृष्णदास की 'साधना' में जो प्रतीक रखे गए हैं उनमें कहीं तो भक्त और भगवान् के स्वरूप की व्यंजना है, कहीं कलाकार का संसार है, कहीं प्रिय और प्रेमी का लोक है और कहीं कला की किसी कृति की प्रशंसा है। इस प्रकार इनके प्रतीकों से अलग अलग अभिव्यक्ति होती है। व्यंजना की पुनरुक्ति कदाचित् ही कहीं हुई हो। वियोगी हरि की रचनाओं में अवश्य एकरूपता दिखाई देती है, किंतु 'साधना' की भाँति इनकी रचना कवींद्र रवींद्र का आधार लेकर नहीं चली है। इनका भावुक भक्त अपनी ही 'भावना' में मग्न देखा जाता है। वियोगी हरि की एकरूपता अपना अलग ही महत्त्व रखती है। क्योंकि यदि यहाँ एकरूपता है तो उस एकरूपता में मार्गों की अनेकता भी है। सभी मार्ग वहीं पहुँचते हैं, पर उनके आकार, विस्तार, मोड़ आदि में भेद दिखाई देता है। 'भावना' में भक्त और भगवान् का संबंध लेकर व्यंजना की गई है। भक्त के हृदय की विभिन्न स्थितियों और भगवान् की शक्ति, विभूति और सौंदर्य की ओर

नाटक

परिभाषा

इंद्रियों की मध्यस्थता के विचार से काव्य के दो भेद होते हैं—श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य वह है जिसका आनंद कानों द्वारा लिया जाता है और दृश्यकाव्य वह है जिसका आनंद मुख्यतया आँखों द्वारा प्राप्त होता है। दृश्यकाव्य को श्रव्यकाव्य की भाँति उपयोग में ला सकते हैं किंतु श्रव्यकाव्य को दृश्यकाव्य की भाँति नहीं। प्रदर्शन की प्रधानता दृश्यकाव्य में दूसरे काव्यभेदों से सर्वथा भिन्न और अद्भुत है। भारतीय वाङ्मय में दृश्यकाव्य का विशेष महत्त्व माना जाता है। अत्यंत प्राचीन काल में ही इसका शास्त्रीय विवेचन जितने विस्तार के साथ भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में हुआ उतना श्रव्यकाव्य का नहीं, यद्यपि आदिकाव्य के नाम से महर्षि वाल्मीकि का 'रामायण' ही प्रसिद्ध है और वह श्रव्यकाव्य है। दृश्यकाव्य के लिए हिंदी में विशेष प्रचलित शब्द 'नाटक' है। 'नाट्यशास्त्र' शब्द भी बतलाता है कि दृश्यकाव्य 'नाटक' कहा जा सकता है। यद्यपि पारिभाषिक रूप में 'नाटक' शब्द का प्रयोग दृश्यकाव्य के एक भेद के लिए होता है तथापि हिंदी में 'नाटक' शब्द इतना व्यापक हो गया कि वह दृश्यकाव्य का पर्यायवाची बन गया है। दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' शब्द का भी व्यवहार देखा जाता है। 'रूपक' शब्द का अर्थ है 'रूप का आरोप'। नाटक के अभिनय में अभिनेता या नट पर अभिनेय व्यक्तियों के रूप का आरोप होता है। इस प्रकार छोटे-बड़े के भेद से दृश्यकाव्य के दो प्रकार माने जाते हैं—रूपक और उपरूपक। उनके बहुत से भेद शास्त्रों में गिनाए गए हैं, रूपक के १० और उपरूपक के १८।

नाटक के तत्त्व

कथावस्तु

इनकी भिन्नता निम्नलिखित तीन तत्त्वों पर अवलंबित है—वस्तु, नेता और रस।* इन्हीं तत्त्वों पर विस्तार से विचार करने के अनंतर

---

* वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः—दशरूप।

भारतीय नाट्यवाङ्मय में नाटकों के निर्दिष्ट रूप का ठीक ठीक पता चलता है। इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और संवाद के विचार से वस्तु के कई भेद होते हैं। इतिवृत्त के विचार से वस्तु के वे ही भेद किए गए हैं जिनका उल्लेख 'उपन्यास' के प्रकरण में पहले किया जा चुका है अर्थात् प्रख्यात, कल्पित और मिश्र। अधिकारी या नायक के संबंध से वस्तु के दो भेद होते हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक का फल 'अधिकार' कहलाता है और उस फल का भोक्ता अर्थात् नायक 'अधिकारी'। अधिकारी से संबंध रखनेवाली कथा नाटक की मूलकथा होती है। किंतु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी अन्य कथाएँ भी आती हैं जो गौण रहा करती हैं और विशेष स्थितियों में प्रसंग के अनुकूल आधिकारिक कथा की सहायता करती हैं। इसीलिए उन्हें प्रासंगिक कथा कहते हैं। ये प्रासंगिक कथाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं—बड़ी प्रासंगिक कथाएँ जो दूर तक चलती रहती हैं और छोटी छोटी कथाएँ जो किसी अवसर पर आकर और मुख्य कथा की सहायता करके समाप्त हो जाती हैं। पहली को 'पताका' और दूसरी को 'प्रकरी' कहते हैं।* नाटक में मुख्य होता है उसका 'फल'। उस 'फल' को कथा का 'कार्य' मानते हैं। नाटक की समस्त रचना में यह 'कार्य' कई अवस्थाओं में दिखाई देता है। ये अवस्थाएँ पाँच होती हैं, जिनके नाम आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम हैं। फल की सिद्धि के लिए जो उत्सुकता होती है उसे 'आरंभ' कहते हैं। उसकी प्राप्ति के लिए जो अत्यंत त्वरायुक्त व्यापार होते हैं उन्हें 'यत्न' कहते हैं। जहाँ फल की प्राप्ति की संभावना तो होती है किंतु वह उपाय और अपाय दोनों की आशंका से घिरी रहती है वह 'प्राप्त्याशा' होती है। विघ्नबाधाओं के हट जाने पर प्राप्ति के निश्चय की स्थिति को 'नियताप्ति' कहते हैं। जहाँ संपूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है वहाँ 'फलागम' होता है। फल की सिद्धि के साधनों के विचार से वस्तु का प्रयोजन भी पाँच भागों में विभक्त है। जिनके नाम हैं—बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। 'बीज' फल के प्रथम हेतु को कहते हैं।

* सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्।—दशरूप।

नाटकों में 'पताकास्थानक' की भी योजना होती है। जहाँ किसी प्रसंग द्वारा आगे की कथा सूचित की जाती है वहाँ 'पताकास्थानक' होता है, यह 'पताका' की भाँति भावी कथा बतलाता है। कहीं तो यह अन्योक्ति-पद्धति पर होता है, कहीं समासोक्ति-पद्धति पर (देखिए 'दशरूप')।

प्रारंभ में इसका कथन बहुत छोटे रूप में होता है, किंतु आगे चलकर विस्तार होने पर वही नाटक में अनेक रूपों में फैलता है। जैसे बीज से बहुत बड़ा वृक्ष उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार इस हेतु से भी बहुत अधिक विस्तार होता है इसीलिए इसे भी 'बीज' कहते हैं। अवांतरकथा के विच्छिन्न हो जाने पर प्रधान कथा के साथ उसे जोड़ देनेवाले हेतु को 'बिंदु' कहते हैं। यह बिंदु उसी प्रकार फैला हुआ दिखाई देता है जैसे जल पर तेल की बूँद। इसीलिए इसे 'बिंदु' कहते हैं। पताका और प्रकरी के लक्षण बताए जा चुके हैं। प्रधान साध्य, जिसके लिए सब सामग्रियाँ एकत्र की जाती हैं, 'कार्य' कहलाता है। इन पाँचों का नाम अर्थप्रकृति है।

कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों को जोड़ने के लिए नाटकों में पंचसंधियों की नियोजना होती है। वे क्रमशः हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण या उपसंहृति। बीज और प्रारंभ को मिलानेवाली संधि को, जिसमें बहुत से रसों की कल्पना होती है, 'मुख' कहते हैं। मुख संधि में उत्पन्न बीज जहाँ कभी लक्षित और कभी अलक्षित रहता है वहाँ 'प्रतिमुख' संधि होती है। इस प्रकार उसका विकास होता रहता है। इसमें यत्न और बिंदु इन दो की संधि होती है। जिस संधि में उपाय कहीं दब जाय और खोज करने को बीज का और भी विकास हो उसे 'गर्भ' संधि कहते हैं। इसका नाम गर्भ इसलिए है कि इसमें फल छिपा पड़ा रहता है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का योग होना चाहिए। किंतु प्राप्त्याशा के साथ पताका का मेल वैकल्पिक है। जहाँ पर फल का उपाय तो कुछ और विकसित हो जाता है पर विघ्नों के आ जाने से उसमें आघात पहुँचता है वहाँ 'विमर्श' संधि होती है। इसे 'विमर्श' इसलिए कहते हैं कि इसमें विशेष रूप से विचार करने की स्थिति रहती है। इसमें नियताप्ति और प्रकरी की संधि होती है। किंतु प्रकरी की योजना यहाँ वैकल्पिक है। जहाँ एक ही प्रधान प्रयोजन में कार्य और फलागम के साथ साथ सब प्रकार के अर्थों का पर्यवसान हो जाता है उसे 'निर्वहण' संधि कहते हैं। यहाँ पर प्रधान अर्थ की समाप्ति हो जाती है, इसीलिए इसका नाम निर्वहण संधि है। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इन तीनों के समन्वय का वृत्त इस प्रकार होगा—
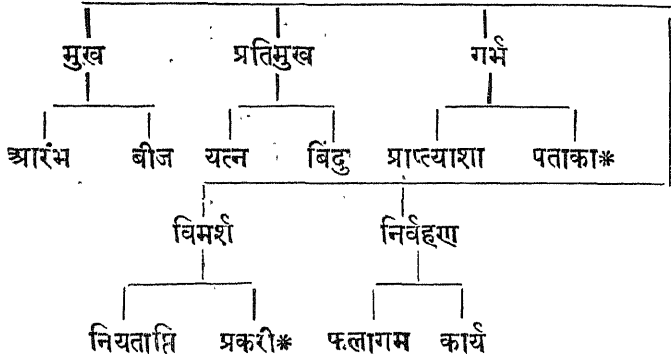
अभिनय के विचार से कथाएँ दो प्रकार की होती हैं—वाच्य और सूच्य। अब तक 'वाच्य' का ही विचार किया गया है, अब 'सूच्य' कथा लें। नाटक में कार्य की सिद्धि के लिए घटनाओं का परिष्कार भी करना पड़ता है। इस परिष्कार के कारण बहुत सी ऐसी घटनाएँ छूट जाती हैं जिनका नाटक के उद्देश्य से कोई सीधा संबंध नहीं रहता; किंतु कथा की अखंडता के विचार से इनकी सूचना अवश्य दी जाती है। ये ही 'सूच्य' कथाएँ हैं, जिन्हें 'अर्थोपक्षेपक' भी कहते हैं। अर्थोपक्षेपकों के भी पाँच भेद होते हैं—विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख। भूत और भविष्य की घटनाएँ 'विष्कंभक' के द्वारा सूचित की जाती हैं और इसमें सूचक मध्यम श्रेणी का पात्र होता है। 'प्रवेशक' में भी विष्कंभक की ही भाँति घटनाएँ सूचित होती हैं, किंतु सूचक होते हैं नीच पात्र। परदे के पीछे से जब किसी घटना की सूचना दी जाती है तो उसे 'चूलिका' कहते हैं। किसी अंक के अंत में आगामी घटना की जो सूचना दी जाती है और उसी के अनुसार जब अगले अंक में घटनाएँ घटित होती हैं तो उसे 'अंकावतार' कहते हैं। पिछले अंक में सूचना देनेवाला पात्र जब अगले अंक में काम करता हुआ देखा जाता है तो उसे 'अंकमुख' कहते हैं।

रंगशाला में काम करनेवाले पात्रों के अर्थश्रवण अर्थात् संवाद के विचार से भी कथा के विभाग किए गए हैं। ये तीन हैं—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। किसी पात्र की उक्ति को रंगशाला में उपस्थित

---

* ये वैकल्पिक हैं; यहाँ हो भी सकती हैं और नहीं भी।

यदि सब पात्र सुनें तो वह 'सर्वश्राव्य' है और यदि उनमें से कुछ ही सुनें तो उसे 'नियतश्राव्य' कहते हैं। जब केवल कहनेवाला ही पात्र अपनी उक्ति सुनता है तो उसे 'अश्राव्य' कहते हैं। अश्राव्य को ही 'स्वगत कथन' या 'आप ही आप' कहते हैं। नियतश्राव्य के भी भेद हैं—जनांतिक और अपवारित। आधुनिक विचार के अनुसार नाटकों में स्वगत कथन कृत्रिम माना जाता है। क्योंकि इसके कारण पात्र रंगशाला में उपस्थित होते हुए भी सुनी अनसुनी करते हुए मान लिए जाते हैं; यद्यपि उनसे दूर बैठे हुए दर्शक उस कथन को सुन लेते हैं। यही बात नियतश्राव्य और उसके भेदों के संबंध में भी है। अतः आजकल सर्वश्राव्य उक्तियों का ही प्रयोग नाटकों में उचित समझा जाता है। यदि स्वगत कथन की आवश्यकता प्रतीत होती है तो कोई पात्र वैसी ही स्थिति में अपने मन की बात व्यक्त करता हुआ दिखाया जाता है जब रंगमंच पर उसके अतिरिक्त और कोई पात्र नहीं रहता। इसे 'एकांत-कथन' (सालीलाकी) कहते हैं। पुराने नाटकों में कहीं कहीं अनावश्यक पात्रों या अभिनेताओं की न्यूनता के लिए 'आकाशभाषित' की भी योजना की जाती थी, जिसमें पात्र स्वयम् ही प्रश्न भी करता है और स्वयम् ही उत्तर भी देता है। किंतु यह प्रश्न पात्र से भिन्न व्यक्ति के प्रश्न के रूप में रहा करता है। यह योजना भी कृत्रिम समझी जाती है, इसलिए आधुनिक नाटककारों ने इसका त्याग कर दिया है। ऊपर कथावस्तु के जितने भेदोपभेद दिखाए गए हैं वे सभी नाटको में थोड़े बहुत अवश्य होते हैं। नाटकों का निर्माण वस्तु के आधार पर होता है। इसलिए वस्तु और उसके प्रयोजनों की सिद्धि के लिए नाटककार को नाट्यप्रक्रिया पूर्ण करनी ही पड़ती है। जान बूझकर शास्त्रीय प्रक्रिया का नियोजन जिन नाटकों में किया जाता है उनमें शास्त्रस्थिति-संपादन पर दृष्टि रहने के कारण कृत्रिमता लक्षित होने लगती है। किंतु कार्यावस्थाएँ सभी नाटकों में होती हैं। अर्थप्रकृतियों में से भी पताका और प्रकरी को छोड़कर अन्य तीन प्रकृतियाँ प्रायः दिखाई देती हैं। संधियाँ भी नाटकों में अवश्य आती हैं। जो शास्त्रीय ढंग से उनका नियोजन नहीं करते उनकी रचनाओं में ये सब अस्थानस्थ हो जाती हैं। पर भारतीय पद्धति पर जिनकी थोड़ी भी दृष्टि रही है उनकी रचनाओं में से कुछ में इनका बहुत ही उपयुक्त नियोजन हुआ है; जैसे प्रसादजी के 'स्कंदगुप्त' नाटक में। पाँच अंक के उस नाटक में बड़ी चतुराई के साथ क्रमशः एक एक संधि नियोजित हुई है।

कथाओँ के जो अन्य भेद किए गए हैँ उनमेँ से सूच्य कथाएँ भी सभी नाटकोँ मेँ थोड़ी बहुत होती ही हैँ। किंतु प्रवेशक, विष्कंभक आदि की भाँति उनका संनिवेश अंक के आरंभ मेँ नहीँ देखा जाता। कारण यह है कि रंगमंच मेँ अंतःपटी की योजना हो जाने से पुराने नाटकोँ की तरह एक अंक की कथा अखंड रूप मेँ रखने की आवश्यकता नहीँ रह गई। अंकोँ का विभाजन 'दृश्य' नाम से कर लिया गया है। देश-काल के विचार से प्रत्येक अंक मेँ ध्यान रखने की जितनी बातेँ थीँ उनकी अब वैसी आवश्यकता नहीँ रह गई। संस्कृत के नाटकोँ में दृश्य-परिवर्तन नहीँ होता। एक अंक मेँ घटित घटना एक ही स्थान पर घटित होती है और एक ही समय मेँ घटित होती है अर्थात् समय भी पृथक् पृथक् नहीँ रहता। कुछ पात्र रंगमंच पर आते हैँ, तो कुछ चले जाते हैँ। उनके कार्य-साधन के देश एवम् काल मेँ नाममात्र का अंतर रहता है। अंक की समाप्ति पर सभी पात्र रंगमंच पर से चले जाते हैँ और नाटककार, 'निष्क्रान्ताः सर्वे' (सब गए) लिखकर उनका जाना बतला देता है। दूसरे अंक मेँ नए सिरे से कार्य आरंभ होता है और स्थान तथा देश का परिवर्तन, यदि आवश्यक होता है तो, कर दिया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि अंतःपटी का प्रयोग प्राचीन काल में नहीँ होता था। नाटक को अधिकाधिक स्वाभाविक बनाने के प्रयोजन से अब भारतीय नाटककार बहुत सी प्राचीन विधियोँ का त्याग कर रहे हैँ।

अभिनय की रोचकता के विचार से पात्र-प्रवेश के ढंगोँ का उल्लेख भी शास्त्रोँ में मिलता है। यद्यपि इसका विवेचन नाटक की प्रस्तावना के अंतर्गत किया गया है तथापि ये नाटक के बीच मेँ भी हो सकते हैँ। पुराने नाटकोँ मेँ सूत्रधार, नटी, स्थापक आदि अभिनेता नाटक के आरंभ में आते थे, नांदी के अनंतर उनका परस्पर वार्तालाप होता था और कौन सा नाटक खेला जाय इसका विचार वे करते थे। यह कथा नाटक की मूल कथा से जोड़ी जाती थी। * जोड़ने के प्रकारोँ की ही दृष्टि से प्रस्तावना के पाँच भेद माने जाते हैँ—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। जहाँ अप्रतीतार्थ को व्यक्त करने के लिए और शब्द जोड़ दिए जाते हैँ वहाँ 'उद्घातक' प्रकार होता है।

---

* नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥—साहित्यदर्पण।

जहाँ वाक्य या वाक्यार्थ का ग्रहण कर कोई पात्र प्रवेश करे वहाँ 'कथो-द्घात' समझना चाहिए। यदि किसी प्रयोग के भीतर दूसरा प्रयोग आरंभ हो जाय और पात्र का प्रवेश हो तो उसे 'प्रयोगातिशत' कहते हैं। जहाँ समय के वर्णन के आधार पर पात्र का प्रवेश हो वहाँ 'प्रवर्तक' होता है। जहाँ सादृश्यादि के द्वारा किसी पात्र का प्रवेश सूचित हो वहाँ अवलगित समझना चाहिए। इन प्रकारों में से कई का प्रयोग नाटकों की मूल कथा के बीच होता है, पर किसी किसी की ही दृष्टि इस पर जाती है।*

वर्जित दृश्य

कुछ कार्य ऐसे हैं जिनका नाटक में निषेध है। जैसे दूर से बोलना, वध, युद्ध, राजविप्लव, देशविप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, मरण, दाँत काटना, नखक्षत (और इसी प्रकार के अन्य लज्जा-स्पद व्यवहार), शयन, अधर-चुंबन, नगर को घेर लेना, स्नान, चंदनादि का लेप और किसी बात का अतिविस्तार। इन निषिद्धार्थों में से कुछ का प्रदर्शन अब होने लगा है। इनमें से कुछ तो ऐसे व्यापार हैं जो जुगुप्साकारी हैं। उनका प्रयोग न तो प्राचीन नाटकों में होता था और न आधुनिक नाटकों में होता है। किंतु कुछ ऐसे हैं जिनका संबंध रंगशाला से है; जैसे—लंबी यात्रा, दूर से पुकारना आदि। रंगशाला में स्थान परिमित होता है इसलिए ये दृश्य नहीं दिखाए जा सकते। दूसरा कारण यह है कि नाटक में कार्य-व्यापार की मुख्यता होती है, इसलिए ऐसे दृश्यों का दिखलाना कार्य-व्यापार में बाधा पहुँचाता है। इसीलिए उन्हें सूच्य कथाओं के अंतर्गत रखा गया है। भोजन, स्नान, अनुलेपन, युद्ध, विप्लव ऐसे ही व्यापार हैं। किंतु जब से 'चलचित्र' (सिनेमा) की पद्धति निकली तब से इनका नियोजन भी किया जाने लगा है। चलचित्रों में सरलतापूर्वक इनका प्रदर्शन भी हो सकता है। कार्य-व्यापार को जो क्षति पहुँचती थी वह दृश्योपस्थिति की शीघ्रता के कारण नहीं पहुँचती। ये व्यापार अपना विपरीत प्रभाव कम कर देते हैं। पर थोड़े में ही चलचित्रों में उनका प्रदर्शन किया जाय तभी। वध इसलिए वर्जित है कि उससे क्षोभ होता है। वध विशेष निषिद्ध है नायक का। आवश्यक वध भी त्याज्य नहीं है। इसलिए आधुनिक नाटकों में इन दृश्यों के

* देखिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (नवीन संस्करण), पृष्ठ ६६२।

नियोजन में जो विपर्यास प्रतीत होता है वह पूर्णतया शास्त्र का आलोड़न न करने के कारण। तत्त्वतः नाटक की मूल कथा में जैसे दृश्यों के कारण कथा रुकती जान पड़े या जिनसे सामाजिकों के हृदय में उद्वेग हो वैसे दृश्यों का ही वर्जन है।

नेता

आधुनिक नाटकों में पश्चिमी नाटकों के अनुगमन पर शीलनिदर्शन मुख्य समझा जाता है और शीलनिदर्शन व्यक्तिगत वैचित्र्य को लेकर चलता है। प्राचीन नाटकों में केवल नायक और नायिका के ही शील-निदर्शन का विचार प्रमुख था और उसके बने बनाए साँचे थे। धीरोदात्त धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत बने बनाए साँचे ही हैं। सर्वत्र 'धीर' शब्द का प्रयोग विचारणीय है। गांभीर्य को लिए हुए उदात्त, उद्धत, ललित और प्रशांत का ग्रहण था। नायक का विचार व्यापक था, पर नायिका का विमर्श परमित। केवल शृंगाररस के अंतर्गत ही नायिकाओं का विचार किया गया है। अन्य पात्रों के संबंध में उनके चारित्र्य की दृष्टि से उतना भी विचार नहीं है। नाटककार अन्य पात्रों का भी कुछ ध्यान रखते अवश्य थे, पर विशेष नहीं। इसी से शास्त्र में उनके चारित्र्य का विवेचन नहीं किया गया। जिन नायकों या नायिकाओं के रूप पर ध्यान रखा भी गया उनका वह रूप ऐसा स्थिर है कि एक ही प्रकार के नायक यदि कई नाटकों में हों तो उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। यद्यपि नायक और नायिका-भेद पर अधिक रचनाएँ आगे चलकर श्रव्यकाव्य में दिखाई पड़ीं तथापि ये भेदोपभेद नाटकों में नियोजित करने के लिए थे। वह भी इसलिए कि नाटक-रचना करनेवाले के लिए सरलता हो। ये भेद वर्ण्य विषय बताने के लिए नहीं थे, केवल अनुकार्यों का रूप समझाने के लिए थे।

नाट्य वृत्तियाँ

नाटक के नायक-नायिका के विशेष व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं।* ये वृत्तियाँ चार मानी गई हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। शृंगाररस में कैशिकी का, वीर, रौद्र एवम् बीभत्स में सात्त्वती और

---

* विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः—काव्यमीमांसा।

आरभटी का तथा भारती वृत्ति का सर्वत्र व्यवहार होता है। इस कथन के अनुसार कोमल भावनाओं में कैशिकी और उग्र भावनाओं में सात्त्वती तथा आरभटी उपयुक्त हैं। भारती वृत्ति कोमल और उग्र दोनों स्थितियों में रह सकती है। जिसमें मनोरंजक वेशरचना, नृत्यगीत आदि का प्रयोग और सुखभोग की उत्पादक सामग्री का संकलन हो उस विलासयुक्त वृत्ति को 'कैशिकी' कहते हैं। इस वृत्ति में शृंगाररस तो रहता ही है उसका सहायक हास्य भी दिखाई देता है। बल, शूरता, दान, दया, ऋजुता और हर्ष से युक्त सामग्री का संग्रह जहाँ हो वहाँ 'सात्त्वती' वृत्ति होती है। इसमें अद्भुत रस का भी व्यवहार किया जाता है। माया, संग्राम, क्रोध, वध, बंधन आदि से युक्त उद्धत वृत्ति को 'आरभटी' कहते हैं। इसमें वीर, रौद्र ऐसे उग्र रसों का व्यवहार होता है। इन वृत्तियों का प्रयोजन नायक-नायिका अथवा नाटकों के विशिष्ट पात्रों की प्राकृतिक अभिव्यक्ति है।

रस

नाटक में प्रधान रस दो माने गए हैं—शृंगार अथवा वीर। अन्य रसों की व्यंजना गौण है। तात्पर्य यह कि रस के विचार से कोई नाटक या तो कोमल भावों का व्यंजक हो या उग्र भावों का। घृणोत्पादक या भयकारी भावों के प्रदर्शन का निषेध था। संप्रति इन दो के अतिरिक्त अन्य भावों का प्रदर्शन भी मुख्य रूप में देखा जाता है। किंतु करुण को छोड़कर अन्य कोई ऐसा रस नहीं है जिसकी व्याप्ति बहुत दूर तक हो। इसलिए मुख्य नाटकों में अन्य रसों का प्रधान रूप में व्यवहार नहीं किया जाता। किंतु छोटे छोटे नाटकों में अन्य रस भी अंगी होकर आते हैं; जैसे प्रहसन, भाण आदि में। लक्षण-ग्रंथों में रस ही नहीं रस-विरोध का भी उल्लेख है अर्थात् एक दूसरे के विरुद्ध पड़नेवाले रसों का एक ही स्थान में संनिवेश उचित नहीं है। विरोधी रसों की व्यंजना तो की जा सकती है किंतु आलंबनभेद से। शांतरस दृश्यकाव्य में त्याज्य माना गया है। इसका कारण है उसका निवृत्तिमूलक होना। नाटकीय प्रदर्शन प्रवृत्तिमूलक है। निवृत्तिमूलक शांतरस के कारण सामाजिक नाटकीय प्रदर्शन में प्रवृत्त ही न होगा, इससे नाट्यप्रदर्शन व्यर्थ हो जाएगा।

वस्तु, नेता और रस इन्हीं तीनों के हेरफेर से दृश्यकाव्य के २८ भेद किए गए हैं। दस भेद रूपक के हैं और अठारह उपरूपक के। इन सबकी सारिणी यों है—

रूपकों की सारिणी

सं०	नाम	वस्तु	संधि	नायक	प्रतिद्वंद्वी या सहायक	रस	अंक	वृत्ति	विशेष
१	नाटक	प्रख्यात	पंच	धीरोदात्त	सहा०—४,५	शृंगार या वीर	५ से १०तक	सब	गोपुच्छानुबंध
२	प्रकरण	कल्पित	,,	धीरप्रशांत, नायिका कुलवती या वेश्या	,,	शृंगार	,,	,,	अमात्य, विप्र, वणिक् में से कोई एक नायक
३	भाण	,,	मुख और निर्वहण	धूर्त (निपुण, पंडित, विट)		वीर और शृंगार	१	भारती या कैशिकी, कैशिकी-रहित—भरत	आकाशभाषित का प्रयोग
४	प्रहसन	,,	,,	पाखंडी		हास्य	१	आरभटी-रहित, कैशिकी-रहित—भरत	विष्कंभक और प्रवेशक से रहित
५	व्यायोग	प्रख्यात	मुख, प्रति-मुख निर्वहण	धीरोद्धत	सहा०—बहुत मनुष्य	हास्य, शृंगार शांत रहित	१	कैशिकी वर्जित	स्त्री के कारण युद्ध नहीं, एक दिन का चरित्र।

सं०	नाम	वस्तु	संधि	नायक	प्रतिद्वंद्वी या सहायक	रस	अंक	वृत्ति	विशेष
६	समवकार	प्रख्यात	मुख, प्रतिमुख, निर्वहण और गर्भ	धीरोदात्त १२ (देव, दानव आदि)		वीर	३	कैशिकी वर्जित	३६ घड़ी की कथा
७	डिम	,,	,,	धीरोद्धत १६ (देव, यक्ष, गंधर्व आदि)		रौद्र, (हास्य, शृंगार वर्जित)	४	,,	माया, इंद्रजाल आदि की चेष्टाएँ, विष्कंभक और प्रवेशक नहीं होता।
८	ईहामृग	मिश्र	मुख, प्रतिमुख और निर्वहण	धीरोद्धत	प्रति०—धीरोद्धत	शृंगार	१ या ४	,,	मृग की भाँति अलभ्य कामिनी की इच्छा
९	अंक	प्रख्यात	मुख और निर्वहण	साधारण पुरुष		करुण	१	भारती	वाग्युद्ध और निर्वेद-वचन
१०	वीथी	कल्पित	,,	उत्तम, मध्यम या अधम एक		शृंगार	१	कैशिकी वर्जित	सब अर्थप्रकृतियाँ रहती हैं

उपरूपकों की सारिणी

सं०	नाम	वस्तु	संधि	नायक	प्रतिद्वंद्वी या सहायक	रस.	अंक	वृत्ति	विशेष
१	नाटिका	कल्पित	विमर्शरहित या अल्प विमर्शयुक्त	धीरललित, नायिका प्रगल्भा		शृंगार	४	कैशिकी	अधिकतर स्त्रियाँ होती हैं
२	त्रोटक			देवता और मनुष्य		,,	५,७,८ या ९		प्रत्येक अंक में विदूषक
३	गोष्ठ		मुख, या प्रति-मुख और निर्वहण	प्रकृत पुरुष ९ या १०		,,	१	कैशिकी	५, ६ स्त्रियाँ होती हैं
४	सट्टक	कल्पित	मुख, प्रतिमुख, गर्भ और निर्वहण	धीरललित		अद्भुत	४	,,	प्राकृत भाषा में होता है और प्रवेशक एवम् विष्कंभक से रहित
५	नाट्य-रासक		मुख या निर्वहण या प्रतिमुख हीन चार	उदात्त, नायिका वासकसज्जा	प्रति०—पीठमर्द	शृंगार सहित, हास्य अंगी	१		

सं०	नाम	वस्तु	संधि	नायक	प्रतिद्वंद्वी या सहायक	रस	अंक	वृत्ति	विशेष
६	प्रस्थापक			दास, नायिका दासी	प्रतिनायक से हीन	शृंगार	२	कैशिकी और भारती	
७	उल्लाप्य	दिव्य (प्रख्यात)		उदात्त, नायिका चार		हास्य, शृंगार और करुण	१		संग्राम बहुत होता है
८	काव्य		मुख, प्रतिमुख और निर्वहण	उदात्त, नायिका भी उदात्त		हास्य	१	आरभटी रहित	शृंगार-भाषित
९	प्रेंखण	प्रख्यात	,,	हीन			१	सब	विष्कंभक, प्रवेशक से रहित
१०	रासक		मुख और निर्वहण	मूर्ख	सहा०–५ पात्र		१	भारती और कैशिकी	सूत्रधार-रहित
११	संलापक			पाखंडी		शृंगार और करुण से अभिन्न	३,४	सात्त्वती और आरभटी	संग्राम, छल, उपद्रव

सं०	नाम	वस्तु	संधि	नायक	प्रतिद्वंद्वी या सहायक	रस	अंक	वृत्ति	विशेष
१२	श्रीगदित	प्रख्यात	मुख, प्रतिमुख और निर्वहण	उदात्त			१	भारती	'श्री' शब्द का अधिक व्यवहार और गान भी अधिक
१३	शिल्पक			ब्राह्मण		शांत और हास्य से रहित	४		श्मशान का अधिक वर्णन
१४	विलासिका	थोड़ी कथा प्रख्यात	,,	हीन		शृंगार अधिक	१		विदूषक, विट, पीठमर्द से युक्त
	दुर्मल्लिका		गर्भ-रहित	नीच जाति	सहा०—चतुर नर		४	कैशिकी और भारती	
१६	प्रकरणिका	कल्पित		सेठ, नायिका सेठानी					शेष नाटिकावत्
७	हल्लीश		मुख और निर्वहण	उदात्त	सहा०—७,८,१० स्त्रियाँ		१	कैशिकी	गान अधिक
१८	भाणिका		,,	मंद, नायिका उदात्त			१	कैशिकी और भारती	

नाटकों के भेद

नाटकों के तीन दृष्टियों से भेद किए जा सकते हैं—विषय के विचार से, शैली के विचार से और रंगशाला के विचार से। विषय के विचार से नाटकों के दो भेद हो सकते हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। भारतवर्ष में पुराण भी इतिहास के ही अंतर्गत माने जाते हैं और 'ऐतिह्य' कहलाते हैं। स्वयम् 'पुराण' शब्द का अर्थ पुरानी कथा है। किंतु पौराणिक नाटकों से भिन्न ऐसे नाटक भी लिखे गए जिनमें अनुसंधानपुष्ट इतिहास की प्रख्यात कथा गृहीत हुई। अनुसंधान-पुष्ट इतिहास से तात्पर्य उस इतिहास से है जो आधुनिक अन्वेषण द्वारा प्रामाणिक मान लिया गया हो। पुराण का अर्थ पाश्चात्य इतिहासज्ञ कल्पित इतिवृत्त मात्र लेते हैं। उसमें का केवल वही अंश इतिहास में सहायक मानते हैं जो ज्ञात काल से संबद्ध हो।

हिंदी में पौराणिक नाटक अधिकतर भारतेंदु-युग में देखे जाते हैं। रचयिताओं ने संस्कृत-पद्धति का अनुकरण किया है। अँगरेजी के प्रभाव से प्रभावित बँगला के अनुकरण पर कुछ नवीनता का समावेश भी आरंभ हो गया था; जैसे अंकों का गर्भांकों (दृश्यों) में विभाजन। द्विवेदी-युग में आकर नाटकों में नवीनता का समावेश भी विशेष होने लगा और धीरे धीरे अँगरेजी ढर्रे पर भी, प्राचीनता के प्रभाव से मुक्त, एकदम नवीन शैली में भी नाटक लिखे जाने लगे।

ऐतिहासिक नाटकों की रचना का सूत्रपात भारतेंदु-युग में ही हो गया था। स्वयम् भारतेंदु ने 'नीलदेवी' और उनके फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास ने 'महाराणा प्रताप' लिखकर इसका प्रचलन कर दिया था। किंतु इधर स्वर्गीय बाबू जयशंकरप्रसाद ने ऐतिहासिकन ाटकों की लड़ी बाँध दी। इन नाटकों में भारतेंदु-युग के नाटकों से अभिव्यंजन-शैली और शील-वैशिष्ट्य की ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती हैं जो इन्हें उन नाटकों से एकदम पृथक् कर देती हैं। इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक भी दो प्रकार के दिखाई देते हैं—संस्कृतशैली पर लिखे गए रस-प्रधान और आधुनिक शैली के मेल में लिखे गए चारित्र्य-प्रधान। प्रथम प्रकार के नाटकों में लेखक रस को दृष्टि में रखकर चले हैं और दूसरे प्रकार के नाटकों में व्यक्तियों के पृथक् पृथक् चारित्र्य को।

सामाजिक नाटकों के अंतर्गत शेष सभी प्रकार के नाटक आ जाते हैं अर्थात् राजनीतिक, समाजसुधारसंबंधी और जनसमस्यासंबंधी। प्राचीन पद्धति पर लिखे नाटकों में रसों का नियोजन भी है। इनमें भी

शैली के विचार से ऐतिहासिक नाटकों की ही भाँति प्राचीनपद्धति-प्रधान और नवीनपद्धति-प्रधान भेद किए जा सकते हैं। ऐतिहासिक नाटकों का भेद करते समय प्राचीन और नवीन में जो अंतर माना गया है वही यहाँ भी समझना चाहिए। विषय के विचार से स्थूल रूप में इनके तीन भेद हो सकते हैं—समाजसुधारसंबंधी, जनसमस्यासंबंधी और राजनीतिक। समाजसुधारसंबंधी नाटकों के विषय प्रायः विधवा-विवाह, बालविवाह, वृद्धविवाह और वेश्यागमनविरोध, मद्यपान-निषेध आदि होते हैं। जनसमस्यासंबंधी नाटकों के अंतर्गत रोमांचक प्रेम, अछूतोद्धार, हड़ताल, वर्गभेद आदि से संबंध रखनेवाले नाटक समझने चाहिए। राजनीतिक के अंतर्गत देशप्रेम, जातिगत ऐक्य आदि से संबंध रखनेवाले नाटक आते हैं। ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के नाटकों की सीमा में न आ सकनेवाले कुछ नाटक और दिखाई देते हैं। इन्हें 'अध्यवसित रूपक' (अलेगारिक ड्रामा) कह सकते हैं। 'अध्यवसान' का तात्पर्य है भावनाओं या प्राकृतिक दृश्यों की नराकृति कल्पना करके अप्रस्तुत को व्यक्त करना, जैसे—'प्रसाद' की 'कामना' और 'एक घूँट' तथा सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्स्ना' में।

रंगशाला के विचार से उसके दो भेद हो सकते हैं। एक तो रंगशालानुरूप या अभिनयदृष्टिप्रधान और दूसरे निरपेक्षाभिनयदृष्टि या पाठ्य। तात्पर्य यह कि कुछ नाटक ऐसे होते हैं जो रंगशाला में अभिनीत होने के लिए लिखे जाते हैं और कुछ ऐसे जो अभिनीत होने के लिए नहीं, केवल साहित्य के इतर भेदों की भाँति पढ़ने के लिए लिखे जाते हैं। ऐसे नाटकों में लेखक की दृष्टि रंगशाला के विधि-विधानों पर विशेष नहीं रहती। यह तात्पर्य नहीं कि वे खेले ही नहीं जा सकते। लेखकों की लेखन-शक्ति के तारतम्य से न्यूनाधिक परिमाण में रंगानुरूप संशुद्ध होकर वे खेले भी जा सकते हैं। संस्कृत के अधिकतर नाटक पाठ्य नाटकों की श्रेणी में ही आते हैं। हिंदी के साहित्यिक नाटक भी इसी श्रेणी में रखे जायँगे। क्योंकि हिंदीजगत् में अपनी रंगशाला न होने से रंगानुरूप नाटक-निर्माण कर सकने की सुविधा लेखकों को प्राप्त नहीं है। जिन लोगों ने पूर्ण रंगदृष्टि-संपन्न नाटक लिखे उनमें साहित्यिकता की बहुधा कमी है। कुछ ही ऐसे नाटककार इस वर्ग में दिखाई देते हैं जो थोड़ा-बहुत इसका भी ध्यान रखते हैं।

नाटकों की उत्पत्ति

नाटकों की उत्पत्ति का विचार दो दृष्टियों से किया जाता है—

एक दृष्टि तो शुद्ध भारतीय है और दूसरी पाश्चात्य नाटकों की उत्पत्ति से संबद्ध। सुभीते के विचार से पहले पाश्चात्य नाटकों की उत्पत्ति से संबद्ध मतों का उल्लेख किया जाता है। यवनानी नाटकों के संबंध में माना जाता है कि मई मास में 'मेपोल' उत्सव के साथ होनेवाले नृत्य से धीरे धीरे उनकी उत्पत्ति हुई। उसी से मिलता जुलता उत्सव भारतवर्ष में भी खोज निकाला गया और बतलाया गया कि यहाँ भी 'मेपोल' की भाँति 'इन्द्रध्वज' महोत्सव मनाया जाता था और उसके साथ जो नृत्यादि हुआ करते थे, हो न हो, उन्हीं से क्रमशः यहाँ भी नाटकों का विकास हुआ हो। इंद्रध्वज महोत्सव नेपाल में अब तक होता है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में भी इंद्रध्वज महोत्सव का उल्लेख है।* पर नाटक में केवल नृत्य नहीं होता, भावाभिनय भी होता है; इसलिए 'मेपोल' के आधार पर इंद्रध्वज महोत्सव को नाटकों की उत्पत्ति का मूल मानना संगत नहीं जान पड़ता। विशेषकर ऐसी स्थिति में जब कि इंद्रध्वज महोत्सव की प्रथा अन्य उत्सवों की ही भाँति दिखलाई देती है।

यवनानी नाटकों के संबंध में डाक्टर रिजवे कहते हैं कि यवनान देश में त्रासद (ट्रेजेडी) नाटकों की उत्पत्ति वीरपूजा से हुई। मृत वीरों के शव सुरक्षित रखे जाते थे और वार्षिक श्राद्ध के दिन उनके जीवन की घटनाओं का प्रदर्शन किया जाता था। रिजवे ने वीरपूजा का वही सिद्धांत भारतीय नाटकों की उत्पत्ति के संबंध में लगाया और यहाँ पर होनेवाली रामलीला, कृष्णलीला आदि के चित्र देकर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि भारतवर्ष में ये लीलाएँ वीरपूजा का परंपरागत अपभ्रष्ट रूप मात्र हैं। इसलिए भारतीय नाटकों के संबंध में यह मान लेने में कोई बाधा नहीं कि इनकी उत्पत्ति भी वीरपूजा से हुई होगी।

इन दो मतों के अतिरिक्त अन्य मत शुद्ध भारतीय उत्पत्ति से संबंध रखते हैं। डाक्टर कीथ ने सबसे पहले इस मत का प्रतिपादन किया कि नाटकों की उत्पत्ति ऋतु-परिवर्तन के समय होनेवाले उत्सवों से संबद्ध है। होलिकोत्सव में जो नृत्यगीतादि का प्रचार है उसका संबंध प्राचीन ऋतुसंबंधी नाचगान से है। अपने पक्ष के समर्थन में डाक्टर कीथ ने पतंजलि के महाभाष्य में उल्लिखित 'कंसवध' नामक नाटक

---

* अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ॥—नाट्यशास्त्र; १।५५

का प्रमाण उपस्थित किया और बतलाया कि उसमें कंस और उनके अनुयायी नीलवर्ण के वस्त्र पहने हुए बतलाए गए हैं और कृष्ण तथा उनके अनुयायी रक्तवर्ण के वस्त्र। इसका तात्पर्य शिशिर ऋतु पर ग्रीष्म ऋतु की विजय लक्षित कराना है। किंतु आगे चलकर स्वयम् लेखक ने ही इस मत को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् पिशेल ने भारतीय नाटकों की उत्पत्ति कठपुतली के नाच से मानी और बतलाया कि आरंभ में नाटकों की उत्पत्ति भारतवर्ष में ही हुई और यहीं से नाटकों का प्रसार अन्य देशों में हुआ। उसके लिए उन्होंने संस्कृत-नाटकों की प्रस्तावना में प्रयुक्त होने-वाले दो शब्द पकड़े, सूत्रधार और स्थापक। उनका कहना है कि कठपुतलियों के नाच में वे डोरे के सहारे नचाई जाती हैं और यथास्थान स्थापित की जाती हैं। आरंभ में इस नाच में सूत्र (डोरा) धारण करने वाले को 'सूत्रधार' और कठपुतलियों को यथास्थान स्थापित करनेवाले को 'स्थापक' कहते रहे होंगे। जब धीरे धीरे उस नाच से नाटकों का विकास हो गया तो उनमें नाचवाले ये दोनों शब्द ज्यों के त्यों पड़े रह गए। इसलिए भारतीय नाटकों की उत्पत्ति 'पुत्तलिकानृत्य' से हुई। उसके प्रमाण में प्राचीन ग्रंथों में जहाँ जहाँ इस नृत्य का उल्लेख है वहाँ से उन्होंने अनेक उद्धरण भी संकलित किए हैं। पर यह मत बहुत दिनों तक मान्य नहीं रह सका। डाक्टर पिशेल ने नाटकों की उत्पत्ति के संबंध में एक दूसरा मत भी माना है जिसे डाक्टर ल्यूडर्स ने विशेष रूप से प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार 'छाया नाटकों' से नाटकों की उत्पत्ति मानी जाती है। इसके लिए उन्होंने छाया नाटकों के कई उदाहरण संस्कृत-नाटकों से उपस्थित किए, जिनमें से एक प्रसिद्ध छाया नाटक 'दूतांगद' भी है।

उत्पत्ति के साथ साथ नाट्यविद्या का ग्रहण भी यवनानी नाट्यकला से माना जाता है। प्रमाण में नाटकों में प्रयुक्त होनेवाली 'यवनिका' उपस्थित की जाती है। 'यवनिका' शब्द 'यवन' से बना है। संस्कृत नाटकों में 'यवनिका' शब्द कम प्रयुक्त है, अधिक प्रयुक्त है 'जवनिका' शब्द, जिसका अर्थ है ढकनेवाला परदा। 'ज' के लिए 'य' लिखने की भी शैली थी। 'य' के नीचे बिंदी लगाने पर (य़) वह 'य' होता था, बिना बिंदी का 'य' 'ज'। अतः 'यवनिका' 'जवनिका' के लिए भी हो सकता है। इसलिए इस शब्द का संबंध 'यवन' से नहीं जान पड़ता। पिछले काँटे के नाटकों में ही 'जवनिका' के बदले 'यवनिका' शब्द का व्यव-

हार है। उसके आधार पर यदि 'यवन' शब्द से उसका संबंध जोड़ा भी जाय तो अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वे परदे यवनानी ढंग पर बनते थे या यवनानी कपड़े पर बनाए जाते थे, इस-लिए उनका नाम 'यवनिका' पड़ गया। परदे के रंगढंग या कपड़े से संबद्ध होने से भारतीय नाट्यकला को यवनानी नाट्यविद्या से प्रभावित नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में जब पाणिनि ने विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व 'अष्टाध्यायी' में कृशाश्व और शिलाली नामक नटसूत्र-कारों का नाम लिया है यह कल्पना कैसे सत्य मानी जा सकती है। यवनानी नाटकों में त्रासद (ट्रेजेडी) और हासद या कामद (कामेडी) का भेद किया जाता है, और मुख्यता त्रासदों की ही है। भारतीय नाट्यशास्त्र में त्रासद या दुःखांत नाटक विहित नहीं है। यवनानी नाट्य-विद्या पहले नाटकों को फिर नाट्यशास्त्र को प्रभावित करती। पर वैसा है नहीं। इसी से अब उक्त मत अमान्य समझा जाता है। बेवर, विंदिश, लेवी और कुछ कुछ डाक्टर कीथ उक्त मत को समीचीन समझने-वालों में हैं।

नाटकों की उत्पत्ति अब वेद के संवाद-सूक्तों से मानी जाती है। वेद से नाटकों का विकास होने के संबंध में कई विद्वानों के पृथक् पृथक् मत हैं। श्रोदर का मत है कि वैदिक काल के पूर्व नृत्य, गीत और वाद्य का जो संयोग था उसी के प्रभाव से वैदिक ऋषि प्रभावित हुए और उनके मंत्रों में संवाद-रूप से गायन और नर्तन का समावेश हुआ। ये संवाद-सूक्त नाचगान के साथ अभिनीत भी होते थे। इनका लौकिक पक्ष बंगाल की यात्राओं में अब भी दिखाई देता है, धार्मिक पक्ष लुप्त हो गया। हरतेल् का मत है कि संवाद-सूक्त गेय मंत्र थे। यदि ये गेय नहीं थे तो संवादों में एक से अधिक जिन व्यक्तियों का संनिवेश है उनका पृथक् पृथक् स्वरूप लक्षित करना संभव नहीं था। ऋग्वेद के सुपर्णाध्याय में इसका मूल पाया जाता है और यात्राओं में इसका स्वरूप परिवर्तित रूप में देखा जा सकता है। कीथ का कहना है कि संवाद-सूक्त गेय नहीं कहे जा सकते। क्योंकि गाने के लिए साम-वेद नाम का पृथक् वेद ही था और उसके मंत्रों का गायक 'उद्गाता' कहा जाता था। ऋग्वेद के सूक्तों का शंसन मात्र होता था। हाँ, ऋग्वेद के पौराणिक प्रेतयात्रा-संबंधी और द्यूत-संबंधी सूक्तों से यह अवश्य व्यक्त होता है कि इनमें नाटकों का मूल रहा होगा। धार्मिक संवादों की परंपरा लुप्त हो गई यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आरण्यकों

में महाव्रत और अश्वमेध नामक याग में उनकी अभिनय-क्रिया अवशिष्ट दिखाई देती है। जर्मन विद्वानों ने संवाद-सूक्तों को मूल रूप में गद्य-पद्ययुक्त माना है। गद्यांश छंदोबद्ध न होने के कारण श्रुति में सुरक्षित न रह सका, किंतु पद्यांश रह गया। अतः इन संवादों में उन नाटकों का मूल निश्चित है। वेद के उत्तरकालीन वाङ्मय में शुनःशेप और उर्वशी की कथाएँ बतलाती हैं कि उनका मूल रूपकात्मक था।

वेद में सोमविक्रय का प्रसंग अभिनय के रूप में आता है और यह अभिनय दर्शकों को प्रसन्न करने ही के लिए हो सकता है। अतः यज्ञ के समय नृत्य, गीत और वाद्य के संमिश्रण से अभिनय का प्रचलन रहा होगा। धीरे धीरे उसी से नाटकों का विकास हुआ। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक की उत्पत्ति के संबंध में जो कथा दी हुई है उसमें उसे 'पंचम वेद' माना गया है और कहा गया है कि जो वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं उनके सहित सारे समाज को वेदों का सा आनंद देने के लिए इसकी रचना की गई है।* चारों वेदों से पृथक् पृथक् उपादान लेकर इसका निर्माण किया गया है। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर चार तत्त्वों से इसका निर्माण किया गया।† भरत मुनि के इस कथन से स्पष्ट है कि नाटकों की उत्पत्ति वेदमूलक है। जितने प्रकार के वाङ्मय का भारतवर्ष में विकास हुआ, यदि सच पूछा जाय तो, सबका मूल वेद ही है।‡

रंगशाला

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह या रंगशालाएँ तीन प्रकार की बताई हैं; वे हैं विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट रंगशाला उत्कृष्ट बतलाई गई है। उसकी लंबाई १०८ हाथ होती थी। चतुरस्र रंगशाला मध्यम कोटि की होती थी, उसकी लंबाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ होती थी। ये दोनों रंगशालाएँ चौकोर होती थीं। त्र्यस्र रंगशाला साधारण कोटि की मानी गई है। यह त्रिभुजाकार

---

* न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥—नाट्यशास्त्र, १।१२

† जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥—नाट्यशास्त्र, १।१७

‡ वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।

होती थी। चतुरस्र में सब प्रकार के जन संनिविष्ट हो सकते थे। किंतु त्र्यस्र में केवल थोड़े और घनिष्ठ जनों का ही संनिवेश हो सकता था। तत्त्वतः त्र्यस्र का व्यवहार गोष्ठी के लिए हुआ करता था और चतुरस्र का जनता के लिए। रंगशाला का आधा स्थान प्रेक्षकों के लिए और आधा रंगमंच के लिए होता था। रंगमंच का सबसे पीछे का भाग 'रंगशीर्ष' कहलाता था। यह छह खंभों पर निर्मित होता था और इसी में नाट्य के अधिष्ठातृ देवता का पूजन किया जाता था। नेपथ्य-गृह में जाने के लिए इसमें दो द्वार भी होते थे। रंगमंच के दो खंड होते थे। ऊपर के खंड में स्वर्गादि के दृश्य प्रदर्शित किए जाते थे और नीचे के खंड में मृत्युलोक के। रंगशीर्ष के अनंतर रंगपीठ हुआ करता था और रंगपीठ से आधे हाथ की ऊँचाई पर मत्तवारणी (बरामदा) हुआ करती थी। संभवतः इस मत्तवारणी का प्रयोजन अभिनेताओं के विश्राम के लिए होता था। मत्तवारणी के ही धरातल पर रंगमंडल बनाया जाता था। रंगपीठ को ही संभवतः नेपथ्य-गृह (ग्रीन रूम) कहते थे। रंगशाला का निर्माण छोटे छोटे झरोखों से युक्त होता था। यह भी बताया गया है कि रंगशाला में कोणयुक्त या द्वार के सामने द्वार बनाना निषिद्ध है। नाट्यमंडल गुहाकार होना चाहिए, जिससे उसमें वायु का यातायात अधिक न हो सके और अभिनेताओं की ध्वनि गूँजे। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के अनुकूल बनी हुई एक रंगशाला सरगूजा (मध्यप्रदेश) में मिली है जो किसी देवदासी की बनवाई हुई है। इससे यह प्रमाणित है कि मध्यकाल में भी नाटकों का अभिनय हुआ करता था और उसके लिए रंगशालाएँ निर्मित हुआ करती थीं। यद्यपि संस्कृत के सब नाटक रंगशालाओं के अनुरूप नहीं प्रस्तुत हुए तथापि इनमें से बहुतों का अभिनय हुआ करता था। ऐसा कुछ नाटकों की प्रस्तावना से भी प्रमाणित होता है; जैसे, 'प्रबोधचंद्रोदय' की प्रस्तावना से। हिंदी की अपनी कोई रंगशाला नहीं है। बँगला और मराठी वालों ने अपनी रंगशालाएँ संघटित कर ली हैं। बँगला की नाट्यशाला प्राचीनता के साथ नवीनता कुछ अधिक लिए हुए है। मराठी की रंगशाला प्राचीनता अधिक लिए हुए है। इन्हें प्राचीन रंगशालाओं का युग के अनुकूल परिष्कृत रूप ही समझना चाहिए। हिंदी के पुराने नाटक जिन रंगशालाओं में खेले गए उनका संघटन नए प्रकार का था और वे पारसी कंपनियों के तत्त्वावधान में थीं। भरत मुनि के दिखाए मार्ग पर आधुनिक आवश्यकताओं का ग्रहण करते हुए यदि हिंदीवाले

अपनी रंगशाला निर्मित करें तो उससे बहुत कुछ सुविधा प्राप्त हो सकती है।

अभिनय

अवस्था के अनुकरण को 'अभिनय' या नाट्य कहते हैं।* यह अभिनय तीन प्रकार का हुआ करता है; आंगिक, वाचिक और सात्त्विक। आंगिक अभिनय में भ्रू, सिर, दृष्टि, हस्त, कटि, पद आदि की क्या क्या मुद्राएँ होनी चाहिए इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख है। वाचिक अभिनय में वाणी अर्थात् उक्तियों का अनुकरण किया जाता है। उक्तियों के संबंध में छंद, स्वर, शैली, भाषा आदि का सविस्तर वर्णन है। सात्त्विक से तात्पर्य वेश-भूषा और अनुकार्य की प्रकृतिगत चेष्टाओं के अभिनय से है। अभिनय के भेदों के अंतर्गत ही नायक-नायिका-भेद भी आ जाता है जिसका आगे चलकर अत्यधिक विस्तार, विशेषतः हिंदी में, श्रव्यकाव्य के अंतर्गत दिखाई पड़ा। अभिनेता या नट के पथप्रदर्शन के लिए शास्त्रकारों ने जिन विधियों, रीतियों एवम् शैलियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में पहुँचकर उन्होंने विशेष विशृंखला उत्पन्न की। अभिनय का जितना सविस्तर विश्लेषण नाट्यशास्त्र में है उससे यह सिद्ध है कि शास्त्र के रूप में इसका यथावत् अध्ययन किया जाता था। संप्रति अभिनयकला अधिकतर प्रातिभ (इंटयूटिव) समझी जाती है। अभ्यास की आवश्यकता इसमें भी मानी गई है, किंतु अभ्यास की पद्धतियों का निरूपण न होने से शास्त्र के रूप में इसे कोई सीख नहीं सकता।

हिंदी में नाट्य-वाङ्मय

हिंदी में श्रव्यकाव्य की रचना तो आरंभ से ही होती आ रही है किंतु दृश्यकाव्य की रचना बहुत समय बाद प्रचलित हुई। पहले तो संस्कृत-नाटकों के अनुवाद दिखाई पड़े और वे भी पद्यबद्ध। आगे चलकर शकुंतला नाटक का उल्था राजा लक्ष्मणसिंह ने गद्य-पद्यमय रूप में किया। हिंदी-नाटकों का उद्भव भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से होता है। स्वयम् भारतेंदु ने अधिकतर नाटकों का अनुवाद किया। उनके मौलिक नाटकों में कुछ तो छोटे छोटे रूपक हैं और कुछ उपरूपक। नीलदेवी और भारतदुर्दशा देशप्रेम-संबंधी नाटक इन्होंने अवश्य लिखे पर उनका वैसा प्रसार नहीं हुआ जैसा उनके अनुवादों का या छोटे

* अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—दशरूप।

छोटे रूपकों का। भारतेंदु के समय में इनकी मित्र-मंडली ने भी वही काम किया जो वे स्वयम् कर रहे थे। सबने कुछ नाटकों के अनुवाद किए और कुछ स्वच्छंद नाटक लिखे। उस युग के नाटककारों में भारतेंदु के बाद विशेष प्रतिभासंपन्न बाबू राधाकृष्णदास ही दिखाई देते हैं जिनका 'राजस्थान-केसरी' अत्यंत लोकप्रिय हुआ। द्विवेदी-युग में भी अनुवादों की ही धूम रही। बँगला, संस्कृत, अँगरेजी सभी भाषाओं से अनुवाद करके नाटक प्रकाशित कराए गए। इसी युग में हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार जयशंकरप्रसाद के भी कुछ नाटक प्रकाशित हुए। नाटक की विभिन्न शाखाओं की ओर भी नाटककार प्रवृत्त हुए। द्विवेदी-युग का अंत और तदनंतर नवीन युग का आरंभ होते ही हिंदी में कई प्रकार के नाटक प्रस्तुत हुए। नाटकों की कमी पर साहित्यिकों की दृष्टि ऐसी गई कि औपन्यासिक प्रेमचंद भी अपने कई नाटक लेकर मैदान में उतरे। कवि सुमित्रानंदन पंत ने भी नाटक-रचना की। अनुवादों का क्रम भी चलता रहा और चल रहा है। बँगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों का अनुवाद भी इसी समय हुआ।

भारतेंदुजी के समय में जो नाटक लिखे गए वे अधिकतर सामाजिक थे, उनमें समाज-सुधार के तत्त्वों का संनिवेश करने का विशेष प्रयास था। पुराने नाटकों की शैली का प्रधान रूप से ग्रहण था और रस एवम् घटनाचक्र पर अधिक दृष्टि थी। आगे चलकर नाटकों का जो विकास हुआ उसमें चारित्र्य का महत्त्व अधिक दिखाई देता है, रसव्यंजना की दृष्टि नहीं दिखाई देती। वर्गगत समस्याओं तथा प्रेम की उलझनों को लेकर भी नाटक लिखे जाने लगे और ऐसे नाटकों का भी निर्माण हुआ जो 'अध्यवसित रूपक' कहे जाते हैं। अध्यवसित रूपक की रचना नाटक-निर्माण-कौशल के विचार से चरम सीमा की समझी जाती है। संस्कृत में 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक उसके अंतिम काल की रचना है, जब नाटकों का रचना-कौशल पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। हिंदी में प्रसादजी की 'कामना' तथा 'एक घूँट' और सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्स्ना' का नाम लिया जा चुका है। इनको देखते हुए इस बात का आभास अवश्य मिलता है कि हिंदी में रूपक-रचना-कौशल चरम सीमा को पहुँच चुका है। किंतु रचना-कौशल ही सब कुछ नहीं है। नाटकों का विचार नाटकत्व की दृष्टि से होना चाहिए। भावों और प्राकृतिक दृश्यों की नराकृति-कल्पना से नाटकत्व को क्षति पहुँचती है।

इसको इस रूप में भी कह सकते हैं कि नाटक में नाटकत्व और काव्यत्व दो तत्त्व हुआ करते हैं। ऐसे नाटकों में काव्यत्व प्रधान हो जाता है और नाटकत्व दब जाता है। इसलिए अन्य साहित्यिक नाटकों को पाठ्य कहना तो केवल अभिनेय नाटकों की भेदकता की दृष्टि से ही समझना चाहिए, किंतु ये नाटक सचमुच पाठ्य ही होते हैं अर्थात् इनकी गणना दृश्यकाव्य में न होकर श्रव्यकाव्य में होनी चाहिए। ये संवाद में लिखे गए श्रव्यकाव्य मात्र हैं। जैसे गद्य और पद्य दोनों शैलियों में श्रव्यकाव्य की रचना होती है वैसे ही नाटक की संवादशैली में भी। कभी कभी तो नाटक की आकाशभाषित शैली में या एकांत-भाषण शैली में भी ऐसी ही रचना हो सकती है।

एकांकी नाटक

इधर हिंदी में 'एकांकी नाटकों' की विशेष धूम है। इनके प्रचलन का कारण एक तो विदेशी अनुकृति है और दूसरे छोटे छोटे नाटकों द्वारा मनोरंजन का वह सरस और अल्पसमयसाध्य मार्ग निकालना जिसके कारण उपन्यास के स्थान पर छोटी छोटी कहानियों का अधिक चलन हुआ। नाटकों के जितने भेद पहले बतलाए गए हैं उनमें से कई रूपक और अधिकतर उपरूपक एकांकी नाटकों का ही प्रयोजन सिद्ध करनेवाले थे। इन एकांकी नाटकों को देखने से पता चलता है कि अधिकतर में छोटी कहानी का मसाला संवादों में रख दिया गया है। बीच बीच में 'रंगनिर्देश' (स्टेज-डाइरेक्शन) के नाम पर वह सामग्री भी जुड़ी रहती है जो संवाद में खप नहीं सकती। बढ़िया एकांकी लिखनेवाले बहुत थोड़े हैं। हिंदी में छोटे छोटे नाटक लिखने का क्रम भारतेंदुजी के समय से ही चल रहा है। उन्होंने कई छोटे छोटे नाटक लिखे थे। प्रसादजी ने भी कई छोटे नाटक लिखे। पर वे सब अपनी प्राचीन शैली पर ही लिखे गए हैं।

रेडियो से ऐसे ही एकांकी प्रसारित किए जाते हैं। उनमें स्थितिभेद अवश्य है, पर नाटकीयता अदृश्य ही है।

हास्यात्मक प्रसंग

दर्शकों के मनोरंजन के लिए अभिनेय नाटकों में हास्यात्मक प्रसंगों की योजना भी की जाती है। यह योजना दो प्रकार की दिखाई देती है। कहीं कहीं तो नाटक के मुख्य पात्रों में से किसी की विकृत वाणी या वेश-रचना द्वारा हास उत्पन्न किया जाता है और कहीं कहीं मूल कथा के ही असंबद्ध रूप में छोटी सी हास्यात्मक कथा के नियोजन द्वारा इसकी

पूर्ति की जाती है। मूल कथा के साथ हास्यरस के लघुवृत्त का असंबद्ध रूप उन नाटकों के असाहित्यिक रूप का प्रमाण समझना चाहिए। प्रासंगिक कथा के रूप में यदि वह योजना की जाय तो उतनी भद्दी नहीं प्रतीत हो सकती। प्रसन्नता की बात है कि हिंदी के साहित्यिक नाटकों में ऐसी गंगाजमुनी धारा किसी में नहीं दिखाई देती। संस्कृत के पुराने नाटकों में हास्यरस के नाटक पृथक् ही मिलते हैं। भारतेंदु बाबू ने भी 'अंधेर-नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि छोटे छोटे रूपक इसी प्रकार के लिखे थे। पहले हास्य की योजना शृंगाररस के नाटकों में ही दिखाई देती थी और वह योजित की जाती थी विदूषक के कार्य-कलापों द्वारा। नाटकों का विदूषक अपनी कार्यावली से नाटक की घटनाओं के मोड़ने में सहायक का काम करता था। हिंदी में प्रसादजी ने नाटक में विदूषकों की योजना की है। संस्कृत के नाटकों की तरह इनके विदूषक भी जात्या ब्राह्मण और प्रकृत्या पेटू होते हैं। अपनी उलटी सीधी बातों से अभिनेय नाटकों की रीति पर ये मनोरंजन करते हैं और घटनाओं के प्रसार में सहायक भी होते हैं। इसके साथ ही साथ प्रसादजी के विदूषक कहीं कहीं अँगरेजी नाटक की भाँति जीवन की विचित्रता की समीक्षा करते हुए भी लक्षित होते हैं। तात्पर्य यह कि प्रसादजी ने हास्यरस के सामान्य एवम् विशेष दोनों प्रकार के प्रयोगों पर अपनी दृष्टि रखी है। जो शुद्ध मनोरंजन ही करना चाहते हैं वे जीवन की व्याख्या में संलग्न नहीं होते; उदाहरण के लिए देखिए 'कृष्णार्जुन-युद्ध' का हास्यात्मक प्रसंग।

चलचित्र

इधर जब से चलचित्रों का प्रसार हुआ तब से जनता के मनोरंजन के साधन अधिकतर ये ही होने लगे। नाटकों की अपेक्षा चलचित्र-पटों में अर्थ का व्यय भी दर्शकों की गाँठ से कम होता है। इसलिए साधारण से साधारण व्यक्ति भी इनके द्वारा अपना मनोरंजन कर सकता है। जब तक मूक चलचित्रों का ही प्रचार रहा तब तक नाटकों को विशेष क्षति नहीं पहुँची किंतु जब से सवाक् चलचित्रों का प्रचार हुआ तब से नाटकों का प्रदर्शन क्षतिग्रस्त हो रहा है। अभिनेय नाटक कुछ व्यापारिक या अव्यापारिक नाट्यसंस्थाओं द्वारा खेले जाते थे। अव्यापारिक संस्थाएँ कभी कभी साहित्यिक नाटकों का प्रदर्शन भी किया करती थीं। किंतु इधर सवाक् चलचित्रों के प्रसार से कई व्यापारिक नाट्यसंस्थाएँ टूट चुकी हैं और अव्यापारिक नाट्यसंस्थाएँ भी नाट्य-प्रदर्शन बहुत कम कर रही हैं। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या

सवाक् चलचित्रों के प्रसार से साक्षात् नाट्यप्रदर्शन एकदम रुक जायगा। जीवन की संकुलता बढ़ जाने से मनोरंजन के सुलभ साधन की आवश्यकता संसार के समस्त देशों में उठ खड़ी हुई है। दर्शकों की दृष्टि से साक्षात् नाटकाभिनय सवाक् चलचित्रों की अपेक्षा अधिक द्रव्यसाध्य है। यही कारण है कि धीरे धीरे सभी देशों में प्रायः उसका ह्रास होने लगा है। इसीलिए साहित्य की गतिविधि परखनेवाले सशंक दिखाई देते हैं। विज्ञान की चरमोन्नति से सवाक् चलचित्रों में जो प्रेताकार मूर्तियाँ दिखाई देती हैं उनसे साधारण विद्याबुद्धि के लोगों का मनोरंजन चाहे हो जाय किंतु साहित्य की अभिरुचि रखनेवाले लोगों का पूर्ण संतोष नहीं हो सकता। यों चित्रपटों को देखने की विशेष अभिरुचि सुसभ्य व्यक्ति में नहीं होती, पर नाटकों का अभिनय देखने वे जाते हैं। भारतीय नाट्यशास्त्रों में नाटकों का लक्ष्य रससंचार माना गया है। सवाक् चलचित्रों से शुद्ध मनोरंजन अधिक और रससंचार अपेक्षाकृत कम होता है। इसलिए नाटकाभिनय के अवलोकन की लिप्सा काव्याभिरुचि-संपन्न लोगों में अवश्य बनी रहेगी। इसलिए यह विश्वास किया जा सकता है कि सवाक् चलचित्रों का चाहे जितना प्रसार या विकास हो, प्रत्यक्षाभिनय का एकांत लोप असंभव सा प्रतीत होता है। रह गई साहित्यिक नाटकों के निर्माण की बात। यह पहले ही कहा जा चुका है कि साहित्यिक नाटक अधिकतर अभिनयनिरपेक्ष दृष्टि से निर्मित होते हैं। अतः अभिनय के उद्देश्य से न सही, संवाद-शैली की विशेषता की दृष्टि से ही उनकी रचना निरंतर होती रहेगी। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षाभिनय चाहे कम हो जाय किंतु साहित्यिक रूपकों की रचना सापेक्ष होने से बंद नहीं हो सकती।

शास्त्र

शब्द और अर्थ

काव्य या साहित्य के स्वरूप और नियंत्रण का जिसमें विचार हो उसे 'शास्त्र', काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र कहते हैं। रचना में शब्द और उसका अर्थ ये ही दो मुख्य हैं। जिन शब्दों का व्यवहार किया जाता है उनके अर्थ का निश्चय कोश, व्याकरण या प्रत्यक्ष संकेत से होता है। शब्दों का जो सीधा संकेत होता है उसे 'साक्षात् संकेत' कहते हैं। इस साक्षात् संकेत से शब्द का जो अर्थ ज्ञात होता है उसे उसका 'मुख्यार्थ' या 'वाच्यार्थ' कहते हैं। जिस प्रक्रिया या शब्द की शक्ति से ऐसा अर्थ प्रतीत होता है उसे 'अभिधा' कहते हैं। किंतु कभी कभी प्रयुक्त शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहण करने से काम नहीं चलता। ऐसी स्थिति में उन शब्दों का दूसरा संभाव्य अर्थ लेना पड़ता है। जैसे, यदि कहा जाय कि 'उन दोनों घरों में झगड़ा चल रहा है' तो यहाँ पर पत्थर, ईंट, मिट्टी, लकड़ी आदि से बने निर्जीव घर लड़ने में असमर्थ दिखाई देते हैं। इसलिए वाच्यार्थ के ग्रहण करने से काम नहीं चलता। ऐसी स्थिति में 'घर' शब्द का अर्थ 'घर में रहनेवाले जन' लेना होगा। प्रश्न हो सकता है कि घर में रहनेवाले जनों के स्थान पर केवल 'घर' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। उत्तर होगा कि एक घर के रहनेवाले सभी जनों से दूसरे घर के रहनेवाले सभी जनों से झगड़ा होने के प्रयोजन से घर के निवासियों के स्थान पर केवल 'घर' शब्द का व्यवहार किया गया। ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ के अतिरिक्त दो प्रकार के अर्थ दिखाई दे रहे हैं। एक तो 'घर' के स्थान पर घर के निवासियों का संभाव्य या आरोपित अर्थ और दूसरे घर के सभी निवासियों का प्रयोजनीय अर्थ। पहले अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं, क्योंकि शब्द के द्वारा वह अर्थ लक्षित कराया जाता है और दूसरे अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं क्योंकि यह अर्थ उससे व्यक्त या प्रकट होता है। पहले अर्थ का संबंध वाच्यार्थ से जुड़ा रहता है, किंतु दूसरे अर्थ का संबंध वाच्यार्थ से हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के तारतम्य से काव्य के तीन भेद किए जाते हैं—पहला वह जिसमें वाच्यार्थ ही हो, दूसरा

वह जिसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ तुल्यकोटिक हो या व्यंग्यार्थ गौण हो और तीसरा वह जिसमें व्यंग्यार्थ प्रधान हो। पहले को 'अलंकार'- दूसरे को 'गुणीभूत व्यंग्य' और तीसरे को 'ध्वनि' कहते हैं।

अलंकार

शब्दार्थ, वर्ण्य और आधार के विचार से अलंकारों के तीन प्रकार से भेद किए जा सकते हैं। शब्दार्थ के विचार से अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकार वे हैं जिनका चमत्कार शब्दों पर आश्रित रहता है अर्थात् प्रयुक्त शब्दों को पर्यायवाची शब्दों से बदल देने पर वह चमत्कार नष्ट हो जाता है। अर्थालंकार वे अलंकार कहलाते हैं जिनमें अर्थ का प्राधान्य रहता है अर्थात् चमत्काराधायक शब्दों का परिवर्तन करके उनके पर्यायवाची शब्द रख देने से भी वही चमत्कार बना रहता है। शब्दालंकारों को शब्दों का परिवर्तन सह्य नहीं है, उनमें परिवृत्तिसहत्व नहीं रहता, पर अर्थालंकारों में परिवृत्तिसहत्व होता है। इन दोनों के अलग अलग बहुत से भेद किए गए हैं। मुख्यतः शब्दालंकारों के आठ और अर्थालंकारों के लगभग १०० भेद होते हैं। एक भेद उभयालंकार भी माना गया है। यहाँ 'उभय' का अर्थ केवल 'दो' है, अर्थात् दो शब्दालंकार, दो अर्थालंकार या एक शब्द और एक अर्थ का अलंकार अथवा दो से अधिक अलंकार भी जहाँ मिले हुए हों वहाँ उभयालंकार होता है। अलंकारों की यह मिलावट भी दो प्रकार की मानी जाती है। जहाँ दो या दो से अधिक अलंकार नीरक्षीरवत् मिले हुए हों वहाँ अलंकारों की मिलावट 'संकर' कहलाती है। ये अलंकार ऐसे मिले होते हैं कि इनको एक दूसरे से पृथक् करना कठिन होता है। जहाँ दो अलंकार तिलतंदुलवत् मिले होते हैं वहाँ अलंकारों का मिश्रण 'संसृष्टि' कहा जाता है। जैसे काले तिल और उजले चावल को अलग कर लेना सहज होता है वैसे ही जहाँ अलंकार अलग अलग स्पष्ट दिखाई दें वहाँ संसृष्टि होती है।

अलंकारों का दूसरे प्रकार से भेद वर्ण्य विषय के विचार से किया जा सकता है। काव्य के वर्ण्य होते हैं भाव और वस्तु। कभी कभी अलंकार किसी भाव की प्रतीति तीव्र करता हुआ दिखाई देगा और कभी कभी किसी वस्तु का सम्यक् बोध कराने में वह सहायक होगा। अलंकार वस्तुतः काव्य की शोभा बढ़ानेवाला धर्म माना जाता है; *

* काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते—काव्यादर्श।

और इस प्रकार उसका उचित उपयोग भाव की प्रतीति या वस्तु के बोध में होना ही ठीक प्रतीत होता है। वस्तु का बोध कई प्रकार का हो सकता है—उसके रूप का बोध, उसके गुण का बोध और उसकी क्रिया का बोध। रूप के बोध का तात्पर्य केवल वस्तु के आकार का बोध नहीं है। वस्तु के केवल आकार का बोध कराने से अलंकार का शोभाधायक गुण नष्ट हो जाता है। क्योंकि वस्तु के रूप का बोध करते हुए उसके साथ हमारी प्रवृत्ति या निवृत्ति की भावना भी कुछ न कुछ अवश्य लगी रहती है। इसलिए वस्तु के रूप के बोध के अंतर्गत वस्तुतः उसके प्रभाव का बोध भी आवश्यक होता है। रूप का बोध कराने के लिए समता प्रदर्शित करनेवाले अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। इन अलंकारों में दो पक्ष होते हैं—एक तो वर्ण्य वस्तु या उपमेय का पक्ष और दूसरे उसके बोध के लिए लाई गई वस्तु अर्थात् अवर्ण्य या उपमान का पक्ष। रूपबोध के संबंध में जो बात ऊपर कही गई है उसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दे देना अच्छा होगा। यदि किसी नायिका के गोल मुख का उपमान 'चकला' रखा जाय तो गुलाई का बोध तो कुछ कुछ हो जायगा किंतु नायिका के मुख उपमेय के प्रति जो रमणीयता का भाव है उसका कुछ भी आभास न मिलेगा। इसलिए उसके मुख को चंद्रमा या कमल कहना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। अतः काव्य में जहाँ जहाँ इस विचार के अनुरूप उपमान लाए जायँगे वहीं उन्हें शोभाधायक श्रेणी में रखेंगे। यही बात गुण और क्रिया के संबंध में भी समझनी चाहिए।

अलंकारों के कुछ विशेष आधार होते हैं। इन आधारों के सात वर्ग हैं—सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, शृंखलाबंध, तर्कन्यायमूल, वाक्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल और गूढ़ार्थप्रतीतिमूल। सादृश्यगर्भ वर्ग के अंतर्गत जितने अलंकार आते हैं उनकी कड़ियाँ भी एक दूसरे से मिली हुई हैं। इनके बीचोबीच उपमा अलंकार होता है। उपमा अलंकार में उपमेय और उपमान दोनों में भेद भी रहता है और कुछ कुछ अभेद भी। एक ओर भेद बढ़ने लगता है और दूसरी ओर अभेद। भेद बढ़ते बढ़ते उस सीमा पर पहुँच जाता है जहाँ उपमेय और उपमान एकदम पृथक् हो जाते हैं (व्यतिरेक)। दूसरी ओर अभेद बढ़ते बढ़ते उस सीमा पर पहुँच जाता है जहाँ दोनों में एकता हो जाती है (रूपक)। उसके अनंतर भेद से आगे बढ़कर उपमेय का प्रधानत्व और उपमान का गौणत्व बढ़ने लगता है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक प्रकार से

उपमान का उत्तरोत्तर तिरस्कार और साथ ही बहिष्कार होता जाता है (प्रतीप)। फलस्वरूप उपमान का लोप हो जाता है और उसके स्थान पर भी उपमेय ही रह जाता है (अनन्वय)। यहाँ उपमेय का उपमान उपमेय ही होता है; जैसे—'राम से राम सिया सी सिया सिरमौर बिरंचि बिचारि सँवारे'। ठीक इसी प्रकार 'रूपक' से आगे बढ़कर धीरे धीरे उपमेय गौण होता जाता है और उपमान प्रधान; और अंत: में उपमान की प्रधानता उस सीमा को पहुँच जाती है जहाँ उपमेय का एकदम लोप हो जाता है, केवल उपमान ही रह जाता है। उपमान यहाँ उपमेय तथा उपमान दोनों का काम देता है (रूपकातिशयोक्ति); जैसे—

राम सीयसिर सेंदुर देहीं। उपमा कहि न सकत कवि केहीं।
अरुनपराग जलज भरि नीके। ससिहि भूस अहि लोभ अमी के।

यहाँ 'अरुन पराग' का तात्पर्य 'सिंदूर', 'जलज' (कमल) का तात्पर्य राम का 'हाथ' और 'चंद्रमा' (ससि) का तात्पर्य सीता का 'मुख' और 'अहि' (सर्प) का तात्पर्य राम की 'भुजा' है।

विरोधगर्भ अलंकारों में तीन प्रकार की स्थितियाँ दिखाई देती हैं—कहीं तो द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया का पारस्परिक विरोध दिखाकर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है, वहाँ विरोध का आभास मात्र रहता है अर्थात् विरोध वास्तविक नहीं होता, चमत्कार के लिए होता है; जैसे—'विषमय यह गोदावरी अमृतन के फल देति।' यहाँ 'विष' द्रव्य का 'अमृत' द्रव्य से विरोध है। किंतु 'विष' का अर्थ 'जल' और 'अमृत' का अर्थ 'देवता' भी होता है। अतः इस पद का अर्थ होगा—'जलमय गोदावरी देवता बना देती है'। इस प्रकार कोई विरोध नहीं रह जाता। कहीं कारण और कार्य को लेकर विरोध दिखाया जाता है। कहीं तो उनकी पूर्वापर स्थिति का विपर्यय होता है (कारणातिशयोक्ति) और कहीं कारण के अभाव में भी कार्य हो जाता है (विभावना) या कारण के सद्भाव में भी कार्य नहीं होता (विशेषोक्ति)। कहीं कारण और कार्य में देशकाल का व्यवधान पड़ जाता है (असंगति)। कहीं कारण और कार्य के गुण और क्रिया में अंतर दिखाया जाता है (विषम)। विरोध की तीसरी स्थिति आधार और आधेय का चमत्कार लेकर दिखाई जाती है। कहीं तो छोटे आधार में बड़े आधेय का समावेश दिखाया जाता है (अल्प) और

कहीं बहुत बड़े आधार से भी बहुत बड़ा आधेय दिखलाया जाता है (अधिक)।

शृंखलामूलक अलंकारों में एक पदार्थ से दूसरा पदार्थ उसी प्रकार जुटता चला जाता है जिस प्रकार किसी शृंखला की कड़ियाँ। इस प्रकार के विभिन्न अलंकारों में शृंखला की कड़ियों का लगाव विभिन्न प्रकार का होता है। कहीं तो पूर्वपूर्व वस्तु के साथ उत्तरोत्तर वस्तु का विशेष्यविशेषण-भाव रहता है (एकावली), कहीं कार्यकारण-भाव (कारणमाला), कहीं उपकार्यउपकारक-भाव (मालादीपक) और कहीं उत्तरोत्तर उत्कर्षापकर्ष की स्थिति (सार)।

तर्कन्यायमूलक अलंकार वे हैं जिनमें न्यायशास्त्र के अनुमान का सहारा लिया जाता है। न्यायशास्त्र में कारण दो प्रकार के माने गए है—एक उत्पादक, दूसरा ज्ञापक। पिता पुत्र का उत्पादक कारण है और पुत्र पिता का ज्ञापक कारण। कहीं तो उत्पादक कारण और कार्यरूप में कथित वस्तुएँ आती हैं (हेतु) और कहीं ज्ञापक कारण और कार्यरूप में कथित वस्तुएँ (काव्यलिंग)। वाक्यन्यायमूल अलंकार वे हैं जिनमें वाक्यों के संघटन और विधि-विधान के विचार से वस्तुओं के क्रम अथवा उलट-पलट का वर्णन किया जाय। कहीं तो केवल क्रमपूर्वक कथित वस्तुओं का अन्वय उसी क्रम से कथित वस्तुओं के साथ होता है (यथासंख्य) और कहीं किसी विशेष अर्थ के प्रतिपादन के लिए किसी विशेष शब्दावली का आक्षेप करना पड़ता है (दृष्टांत)। कहीं 'परिवृत्ति' दिखलाई जाती है और कहीं एक कार्य के लिए अनेक कारणों का 'समुच्चय'।

लोकन्यायमूल अलंकार वे हैं जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श के आधार पर अंगांगी भाव से कथित वस्तुओं के रूपादि के परिवर्तन या लीन होने का उल्लेख होता है (तद्गुण, मीलित आदि)।

गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार वे हैं जिनमें कोई गूढ़ बात लक्षित कराई जाती है। कहीं तो गूढ़ बात केवल दूसरे के संकेत के लिए होती है (गूढ़ोक्ति), कहीं गूढ़ बात के दूसरे द्वारा ग्रहण करने पर विशेष चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अर्थांतर का ग्रहण होता है (वक्रोक्ति) और कहीं विशेष स्थिति में दिखाई पड़नेवाले शब्दों द्वारा कोई विशेष वस्तु लक्षित कराई जाती है (अन्योक्ति आदि)।

अलंकार विशेष प्रकार की लिखने या बोलने की शैली है। उसके द्वारा विशेष प्रकार के अर्थ लक्षित कराए जाते हैं। अलंकारों का

संप्रदाय प्राचीन है। प्राचीन काल में काव्य में अलंकारों की प्रधानता मानी जाती थी।* कहनेवाले तो यहाँ तक कहते हैं कि काव्य को अलंकाररहित मानना वैसा ही है जैसे अग्नि को उष्णतारहित मानना।† वामन ने काव्य को चमत्कारपूर्ण या ग्राह्य इसलिए माना है कि उसमें अलंकारों का विधान होता है; और यह भी कह दिया है कि अलंकार वस्तुतः काव्य-सौंदर्य है।‡ काव्य अनलंकार कभी नहीं हो सकता। काव्यों में अलंकारों की प्रधानता रससंप्रदाय के विशेष प्रचार या प्रसार के साथ कम होने लगी और वे हारादिवत् माने जाने लगे। संस्कृत में अलंकार शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हो चुका है। काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र अलंकारशास्त्र कहलाता था। गुण, रीति भी अलंकार कहलाते थे।

व्यंजना

व्यक्त विषय, वाच्य-ग्रहण, प्रतीयमान अर्थ और व्यंग्योपलब्धि के विचार से व्यंजना कई प्रकार की होती है। व्यक्त विषय के विचार से व्यंजना दो प्रकार की होती है—वस्तुव्यंजना और भावव्यंजना। यद्यपि शास्त्रीय ग्रंथों में अलंकारव्यंजना भी मानी गई है तथापि अलंकारव्यंजना वस्तुतः वस्तुव्यंजना ही है। जब व्यंजना किसी तथ्य की होती है तो कभी कभी उसका व्यंजित रूप किसी अलंकार के रूप से मिलता भी होता है। इसी से इसे अलंकारव्यंजना कहते हैं। इसलिए अलंकारव्यंजना और वस्तुव्यंजना में अंतर इतना ही है कि जहाँ वस्तुव्यंजना अलंकार के ढाँचे में निकले वहाँ वह वस्तुव्यंजना न कहलाकर अलंकारव्यंजना कहलाए; जैसे—

तू रहि सखि हौं ही लखौं चढ़ि न अटा बलि बाल।
सबही बिनु ससि ही उदै दैहैं अरघ अकाल॥

यहाँ नायिका के मुख का सौंदर्य वस्तु (तथ्य) व्यंग्य है। पर तथ्य इस रूप में सामने आ रहा है कि तेरे मुख में औरों को चंद्रमा की भ्रांति हो जाएगी। वे तेरे मुख को ही चंद्रमा समझकर वास्तविक चंद्रमा निकलने के पूर्व ही अर्घ्य दे देंगी। इस प्रकार यह वस्तु भ्रांतिमान अलंकार के रूप में आई। इसीलिए इसे वस्तुव्यंजना न कहकर अलंकारव्यंजना कहेंगे। अतः स्पष्ट है कि अलंकारव्यंजना भी वस्तुव्यंजना ही है।

---

* अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

† असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।—चंद्रालोक।

‡ काव्यं ग्राह्यं अलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।

शब्द और अर्थ के भेद से व्यंजना शाब्दी और आर्थी होती है। शाब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला। ये भेद वाच्य के निर्बाध या बाधित होने के आधार पर हैं। इसी से इन्हें क्रमशः विवक्षितवाच्य और अविवक्षितवाच्य कहते हैं। जहाँ वाच्यार्थ का ग्रहण करते हुए दूसरा व्यंग्यार्थ निकलता है वहाँ विवक्षितवाच्य व्यंजना होती है। जहाँ वाच्यार्थ अविवक्षित अर्थात् बाधित होता है वहाँ अविवक्षितवाच्य व्यंजना होती है; जैसे—

'कलुषनाशिनि दुष्टनिकंदिनी, जगत की जननी जगदंबिके।
जननि के जिय की सिगरी व्यथा, जननी ही जिय है कुछ जानता।।

इसमें चतुर्थ चरण में प्रयुक्त 'जननी' शब्द का वाच्यार्थ है 'माता'। किंतु उसका व्यंग्यार्थ है 'पुत्र वियोग की पीड़ा जाननेवाली'। यह व्यंग्यार्थ माता वाच्यार्थ के बाधित होने पर प्राप्त हुआ।

प्रतीयमान अर्थ के रूप के विचार से व्यंजना के दो भेद होते हैं—अर्थांतरसंक्रमित और अत्यंततिरस्कृत। जहाँ एक अर्थ से दूसरे अर्थ में संक्रमण मात्र होता है वहाँ अर्थांतरसंक्रमितवाच्य व्यंजना होती है—

सीताहरन पिता सन तात कहेहु जनि जाइ।
जौं मैं राम तौ कुलसहित कहिहि दसानन आइ।।

यहाँ 'राम' शब्द का अर्थ 'दशरथ का पुत्र' नहीं है, प्रत्युत इसका अर्थ है 'कुलसहित रावण को स्वर्ग भेजनेवाला'। अतः यहाँ 'राम' शब्द अर्थांतर में संक्रमित हो रहा है। जहाँ अर्थांतर वाच्यार्थ के ठीक विपरीत होता है वहाँ जो व्यंजना होती है उसे अत्यंततिरस्कृतवाच्य व्यंजना कहते हैं; जैसे—

कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परतियचोरी।

यहाँ पर 'धर्मशीलता' का अर्थ यदि 'धर्म का आचरण' लिया जाय तो उसके साथ 'परतियचोरी' का समन्वय नहीं हो सकता। अतः 'धर्मशीलता' का अर्थ लिया जायगा 'अधर्मशीलता'। यह अर्थांतर वाच्यार्थ के ठीक विपरीत है। इसलिए इसे अत्यंततिरस्कृत कहते हैं।

वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने के क्रम के लक्ष्यालक्ष्य के विचार से भी व्यंजना के दो भेद किए जाते हैं—संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम। जहाँ यह क्रम लक्षित होता है उसे संलक्ष्यक्रम व्यंजना कहते हैं और जहाँ यह क्रम स्पष्ट लक्षित नहीं होता वहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यंजना होती है। वस्तुव्यंजना संलक्ष्यक्रम और भावव्यंजना असंलक्ष्यक्रम होती है। संलक्ष्यक्रम के शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थोभय शक्ति से उद्भूत व्यंजना

के आधार पर तीन प्रकार होते हैं। अर्थशक्तिउद्भवा स्वतःसंभवी, कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्ताप्रौढ़ोक्तिसिद्ध तीन प्रकार की होती है।

आर्थी व्यंजना वक्ता, बोधव्य, वाक्य, अन्यसंनिधि, वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल, काकु, चेष्टा आदि की विशेषता से होती है।
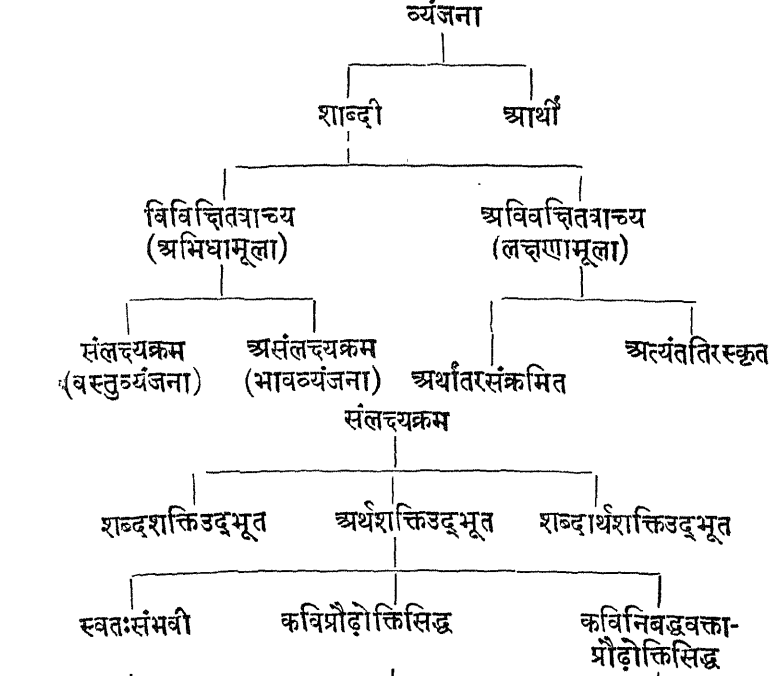
वस्तु से वस्तु वस्तु से अलंकार अलंकार से वस्तु अलंकार से अलंकार

इनके भेद और भी होते हैं—प्रबंधगत, वाक्यगत, पदगत, पदांशगत, वर्णगत आदि। यह प्रपंच यहाँ विवृत नहीं किया जाता।

यहाँ पर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने के क्रम पर कुछ थोड़ा सा और विचार कर लेना उचित जान पड़ता है। संलक्ष्यक्रम या वस्तु-व्यंजना में यह क्रम लक्षित रहता है। इसलिए अनुमान प्रमाण के ढंग पर इसकी कोटियाँ बनाई जा सकती हैं। जैसे तर्क की कोटियाँ इस प्रकार होती हैं—

मनुष्य मरणशील है।
अमरनाथ मनुष्य है।
अतः अमरनाथ मरणशील है।

जैसे ही वस्तुव्यंजना में भी यह कोटिक्रम हो सकता है। एक उदाहरण लीजिए—

तु ही साँच द्विजराज है तेरी कला प्रमान।
तोपै सिव किरपा करी जानत सकल जहान॥

इसका वाक्यार्थ है—'हे चंद्र, तू ही सच्चा द्विजराज है। तेरी ही कला सार्थक है। सारा संसार जानता है कि शिवजी ने तेरे ऊपर कृपा की है'। इसका व्यंग्यार्थ है 'शिवाजी ने भूषण (द्विजराज = ब्राह्मण) की कविता (कला) पर प्रसन्न होकर उन्हें दान दिया (कृपा की)।' यह व्यंग्यार्थ द्विजराज, कला और शिव शब्दों के श्लेष से निकलता है। अनुमान की तरह कोटियाँ होंगी—

कलासंपन्न द्विजराज पर शिव कृपा करते हैं।
भूषण कलासंपन्न द्विजराज है।
अतः भूषण पर भी शिव (शिवाजी) कृपा करते हैं।

वस्तुव्यंजना के इसी कोटिक्रम के आधार पर व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि काव्य की व्यंजना अनुमान के अतिरिक्त कोई नवीन प्रक्रिया नहीं है। बहुत ठीक, वस्तु-व्यंजना के प्रसंग में तो यह बात मानी जा सकती है। क्योंकि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने में अनुमान का क्रम गृहीत कर लेने में कोई बाधा नहीं। किंतु भावव्यंजना में यह क्रम लक्षित नहीं होता। वाच्यार्थ के आते ही पाठक व्यंग्यार्थ पर पहुँच जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

माथे लखन कुटिल भईं भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं।

यहाँ भी यदि अनुमान की कोटियाँ बनाई जायँ तो वे इस प्रकार बनेंगी—

जहाँ भौंहें टेढ़ी होती हैं, ओंठ फड़कते हैं, नेत्र लाल होते हैं, वहाँ क्रोध हुआ करता है।

लक्ष्मण की भौंहें टेढ़ी हैं, ओंठ फड़क रहे हैं, नेत्र लाल हैं।
अतः लक्ष्मण (के हृदय) में क्रोध है।

किंतु पाठक को इस क्रम से लक्ष्मण के क्रोध का अनुमान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसने लक्ष्मण की चेष्टाएँ पढ़ीं और तुरंत क्रोध की प्रतीति कर ली। यहाँ भी लक्ष्मण की वर्णित चेष्टा वाच्यार्थ से क्रोध व्यंग्यार्थ तक पहुँचने में क्रम होता तो अवश्य है, किंतु वह लक्षित नहीं होता, इसलिए नैयायिकों के अनुमान की प्रक्रिया भावव्यंजना में नहीं लग सकती। अतः व्यंजना अनुमान से भिन्न प्रक्रिया है। उक्त क्रम होते हुए भी किस प्रकार अलक्षित रहता है इसका शास्त्रकार अच्छा

दृष्टांत देते हैं। यदि कमल के बहुत से दल ऊपर नीचे रखकर एक साथ सूई से छेदे जायँ तो सूई पहले दल के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे इसी प्रकार क्रमशः अंतिम दल को छेदकर बाहर निकलेगी अर्थात् पत्तों के छिदने में क्रम अवश्य होता है किंतु उन कोमल पत्तों को सूई के द्वारा छेदने में क्षण भर भी नहीं लगता। अतः यदि कोई सूई के छेदने के क्रम को लक्षित करना चाहे तो वह लक्षित नहीं हो सकता। भावव्यंजना तक पाठक इसी प्रकार शीघ्रता से बिना क्रम को लक्षित किए पहुँच जाया करता है।

रस

प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति

रस का संबंध है अनुभूति से। यह अनुभूति दो प्रकार की होती है। एक को साक्षात् या प्रत्यक्षानुभूति कह सकते हैं और दूसरी को काव्यानुभूति या रसानुभूति। हम अपने जीवन में अपने व्यक्तिगत संबंध से क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भावों की जो अनुभूति करते हैं वह प्रत्यक्षानुभूति होती है। इसको चाहें तो 'भावानुभूति' भी कह सकते हैं। इस अनुभूति के अतिरिक्त काव्य के पढ़ने या नाटक के देखने से भी हमारे हृदय में क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भावों की अनुभूति जगती है। इस अनुभूति को काव्यानुभूति या रसानुभूति कहेंगे। यह अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा कुछ संस्कृत या परिष्कृत हुआ करती है। प्रत्यक्षानुभूति में हम जिन भावों की अनुभूति करते हैं वे भाव दो प्रकार के दिखाई देते हैं—सुखात्मक और दुःखात्मक। सुखात्मक भावों में हमारा मन लगता है और दुःखात्मक भावों से हमारा मन हटता है। प्रेम, हर्ष, हास, आश्चर्य आदि भाव सुखात्मक या रागमूलक हैं और क्रोध, घृणा, भय, शोक आदि भाव दुःखात्मक या द्वेषमूलक या अरागमूलक। प्रत्यक्षानुभूति में इस प्रकार मन की दो स्थितियाँ देखी जाती हैं। कभी विषय में वह लगा रहता है और कभी विषय से वह हटना चाहता है। किंतु काव्य के पढ़ने या नाटक के देखने से सुखात्मक या दुःखात्मक किसी प्रकार के भाव की अनुभूति जब होती है तब मन की केवल एक ही स्थिति होती है। वह इन दोनों प्रकार के भावों में रमता है। मन के रमने के कारण यह अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा संस्कृत या परिष्कृत कही जा सकती है। मन के इसी रमण के कारण इस अनुभूति को 'रस' कहते हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि रस की अनुभूति पाठक या दर्शक को हुआ करती है। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा मूलतः कोई भिन्न प्रकार की अनुभूति है। वस्तुतः ये दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ मूल में एक ही हैं। प्रत्यक्षानुभूति में सुखात्मक या दुःखात्मक भावों के समय जो जो चेष्टाएँ या मुद्राएँ उत्पन्न हुआ

रस की नेता आदि में उत्पत्ति, दूसरे नट में अनुकार्यों का आरोप। इसी से इनके मत को उत्पत्तिवाद भी कहते हैं और आरोपवाद भी। इन्होंने 'संयोग' शब्द का अर्थ किया है 'संबंध' और विभाव, अनुभाव तथा संचारी से क्रमशः तीन प्रकार का पृथक् पृथक् संबंध रस से माना है—विभाव से उत्पाद्योत्पादक, अनुभाव से गम्यगमक और संचारी से पोष्यपोषक। रस उत्पाद्य है विभाव उत्पादक, रस गम्य (प्रकट होने वाला) है, अनुभाव गमक (प्रकट करनेवाला) और रस पोष्य है संचारी पोषक। निष्पत्ति शब्द के इन्हीं तीनों के विचार से तीन अर्थ किए हैं—विभाव से रस की उत्पत्ति, अनुभाव से अभिव्यक्ति और संचारी से पुष्टि होती है। भट्ट लोल्लट मीमांसा दर्शन के अनुयायी हैं। उनके मत से नटसंबंधी ज्ञान लौकिक है, शेष अलौकिक।

यह मत अन्यों को ठीक नहीं प्रतीत हुआ। इसमें दो प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं। एक तो यह कि नेता, अभिनेता और ग्रहीता तीनों भिन्न हैं। अभिनेता नेता की अनुभूति या ग्रहीता नेता अथवा अभिनेता की अनुभूति का अनुभव नहीं कर सकता। दूसरे यह कि अनुकार्य या नेता का ज्ञान रसास्वाद का हेतु नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो उनके कार्यकलाप के प्रदर्शन की अपेक्षा ही नहीं है, उनके नाम से ही रसास्वाद हो जाएगा। इसलिए शंकुक नामक आचार्य ने 'संयोग' का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक संबंध माना और 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति या अनुमान कहा। उनके अनुसार रस अनुमाप्य (अनुमान से जाना जाने योग्य) और विभाव, अनुभाव तथा संचारी तीनों अनुमापक (अनुमान द्वारा ज्ञान करानेवाले) हैं। इन्होंने अनुमिति ज्ञान को चार प्रकार के प्रसिद्ध ज्ञानों (सम्यक्, मिथ्या, संशय एवम् सादृश्य) से विलक्षण ज्ञान माना है। इसे इन्होंने चित्रतुरगन्याय से सिद्ध किया है। चित्र में बना घोड़ा यथार्थ घोड़ा नहीं होता पर उसे देखकर कहा जाता है कि देखो वह घोड़ा है। अभिनेता यथार्थ में राम आदि नहीं होता, पर उसे अभिनय करते देखकर यही कहते हैं कि 'राम बोल रहे हैं, चल रहे हैं' आदि। ग्रहीता या सामाजिक करते तो अनुमान ही हैं, पर उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि हम अनुमान कर रहे हैं, राम आदि के रति आदि भाव का अभिनेता के माध्यम से अनुमान कर रहे हैं। अभिनयादि के कौशल और प्रदर्शन के सौंदर्य से वे रस का आस्वाद करने लगते हैं।

वे ही क्यों, स्वयम् अभिनेता भी अपने अभिनय की समुचित

शिक्षा और सम्यक् अभ्यास के कारण अभिनय में ऐसा लीन हो जाता है कि अनुकरण करते हुए भी उसे ध्यान नहीं रह जाता कि मैं अनुकरण कर रहा हूँ। वह भी रति आदि का वैसा ही अनुभव करने लगता है। इसलिए रस का आस्वाद उसे भी आने लगता है।

इस प्रकार शंकुक रसास्वाद अभिनेता और नेता दोनों में मानते हैं। वे नैयायिक हैं, न्याय दर्शन के अनुयायी हैं। अभिनेता के बनावटी अभिनय से वास्तविक रति आदि का अनुमान होने से सामाजिक को चमत्कार होता है, रस का आस्वाद मिलता है। अनुमान या अनुमिति का आधार होने के कारण इसे अनुमितिवाद कहते हैं।

यह मत भी अन्यों को स्वीकार्य नहीं हुआ। इस पर आपत्ति यह की गई कि एक तो अनुमान और रस के आनंद में भेद है। आनंद अनुमान नहीं प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। अनुमान कैसा भी, या कैसी भी विलक्षण वस्तु का हो वह प्रत्यक्ष आनंद के समान नहीं हो सकता। अनुमान से बहुत होगा तो आश्चर्य होगा। दूसरी आपत्ति यह कि किसी अन्य व्यक्ति में जो आस्वाद है उसे दूसरा व्यक्ति अनुमान द्वारा कर नहीं सकता। इसी से भट्टनायक ने इसका खंडन करके अपने विशेष मत का प्रतिपादन किया। इन्होंने सिद्ध किया कि 'संयोग' का अर्थ भोज्यभोजक संबंध है। रस भोज्य है और विभाव, अनुभाव तथा संचारी भोजक। 'निष्पत्ति' का अर्थ इन्होंने 'भोग' या 'भुक्ति' किया।

इन्होंने कहा कि काव्य शब्दमय होता है। इस शब्दमय काव्य की तीन वृत्तियाँ या व्यापार हैं। इन्हीं से रसबोध होता है। इनका नाम है—अभिधा, भावना और भोग। अभिधा तो प्रसिद्ध शब्दशक्ति है। इससे काव्य का अर्थ लगता है। भावना कहते हैं अर्थ के अनुसंधान को, बारंबार उसके चिंतन को। इस बारंबार के चिंतन से काव्य के नेता आदि की विशेषता हट जाती है, वे सामान्य या साधारण होकर रसास्वाद कराने योग्य हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि व्यक्तिविशिष्ट संबंध का परित्याग कर रति आदि भाव सर्वजन-सुलभ सामान्य या साधारण रूप धारण कर लेते हैं। उनका साधारणीकरण हो जाता है। रस में चार अवयव होते हैं—विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी भाव। इन सबका साधारणीकरण हो जाता है। विभाव का साधारणीकरण हो जाता है जिसे विभावन समझिए। अनुभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है उसे अनुभावन मानिए।

संचारी का भी साधारणीकरण हो जाता है इसे संचरण कहिए। स्थायी भाव का भी साधारणीकरण हो जाता है इसे स्थायीभावन जानिए। विभावन, अनुभावन, संचरण और स्थायीभावन रूप में विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायी सभी साधारणीकरण से सर्वसामान्य रूप प्राप्त करते हैं। साधारणीकरण भावनत्व व्यापार भी कहा जाता है। भावनावृत्ति को भावकवृत्ति भी कहते हैं। इसी प्रकार भावना को भोजकत्व व्यापार भी कहते हैं।

अब भोग का विचार लीजिए। भोग का अर्थ है सत्त्वोद्रेक से उद्भूत चिन्मय आनंद का ज्ञान। इस भोगवृत्ति या भोगव्यापार के द्वारा सामाजिक या ग्रहीता में भी वही स्थिति उत्पन्न होती है जो भावनत्व के द्वारा विभावादि में होती है। भावनत्व से जैसे विभावादि साधारणीकृत हो जाते हैं वैसे ही भोजकत्व या भोगवृत्ति से सामाजिक या ग्रहीता भी साधारणीकृत हो जाता है। उसका विशेषत्व भी हट जाता है वह भी भग्नावरण हो जाता है। उसके विशेषत्व के आवरण का भंग होता है सत्त्वोद्रेक से। इस त्रिगुणात्मक जगत् में सामाजिक भी त्रिगुणात्मक होता है। उसके रज और तम दब जाते हैं, सत्त्व का उद्रेक हो जाता है। इससे सामाजिक मनुष्य मात्र, भोक्ता मात्र रह जाता है। अपने पराये का ज्ञान ही नहीं रह जाता। यदि ग्रहीता का विशेषत्व बना रहे तो वह सर्वसामान्य अनुभूति करने योग्य नहीं रह सकता। इस प्रकार साधारणीकरण उभय पक्ष में, नेता और ग्रहीता दोनों पक्ष में, होता है।

भट्टनायक सांख्यशास्त्र के अनुयायी थे। इन्होंने यह प्रतिपादित किया कि पहले तो ग्रहीता को नाट्य और काव्य के देखने और सुनने से अर्थ का बोध होता है। फिर वह भूल जाता है कि देखा और सुना यह अपना है या पराये का। नेता की भी रति आदि साधारणीकृत होकर किसी विशेष से संबद्ध नहीं रह जातीं। इस प्रकार वह साधारणीकृत रति आदि का भोग करता है, आनंद लेता है। वह अनुभूति मात्र रह जाता है। भोग के सामने आरोप या अनुमान का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

इस मत पर भी आपत्तियाँ की गई। एक तो यह कि भावना और भोग नाम से दो पृथक् वृत्तियों का ग्रहण अशास्त्रीय है। इसका कोई आधार नहीं। फिर ये शब्द की वृत्तियाँ कैसे हो सकती हैं। अभिधा अवश्य शास्त्रीय है। पर उसका इस प्रसंग में उल्लेख अनपेक्षित है।

अभिधा वृत्ति तो जहाँ भी शब्द होंगे वहाँ उनके अर्थ संकेतित करेगी ही। उसका उल्लेख करना निरर्थक विस्तार करना है। साधारणीकृत होने पर भी दूसरे की अनुभूति का दूसरा कैसे अनुभव कर सकता है। इसका खंडन अभिनवगुप्ताचार्य ने किया। उन्होंने 'संयोग' का अर्थ किया व्यंग्यव्यंजक संबंध। रस व्यंग्य है और विभाव, अनुभाव, संचारी व्यंजक हैं। व्यंजक का अर्थ है प्रकाशक। इस प्रकार रस प्रकाश्य है। 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'व्यक्ति', प्रकट होना, प्रकाशित होना। अभिनवगुप्त भी भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को स्वीकार करते हैं। पर भावना के स्थान पर ये व्यंजना के विभावन व्यापार से साधारणीकरण मानते हैं। इनका प्रतिपादन यह है कि विभावादि में रस को व्यक्त करने की शक्ति व्यंजना है। यह उनका व्यक्तिविशिष्ट या विशेष रूप हटाकर सर्वसामान्य साधारण रूप कर देती है। यही स्थिति सामाजिक या ग्रहीता की भी होती है। इससे दोनों में अभिन्नता हो जाती है। रही आस्वाद की स्थिति। सो आस्वाद किसी दूसरे की अनुभूति का नहीं होता। सामाजिक या ग्रहीता में वासना या संस्कार के रूप में रति आदि अनुभूतियाँ अव्यक्त पड़ी रहती हैं। काव्य के श्रवण या नाट्य के दर्शन से वे ही अव्यक्त स्थिति से व्यक्त स्थिति में आ जाती हैं। उनकी व्यक्ति हो जाती है। इस प्रकार ग्रहीता या सामाजिक अपनी ही अनुभूति का आस्वाद लेता है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य प्रात्यभिज्ञ थे, प्रत्यभिज्ञादर्शन के आचार्य थे। इन्होंने तंत्रालोक नामक भारी ग्रंथ इस दर्शन का प्रस्तुत किया है। इनका मत यह है कि सामाजिक में वासना रहती है पर अव्यक्त पड़ी रहती है। काव्यश्रवण या नाट्यदर्शन से वह व्यक्त होती है, ठीक वैसे ही जैसे मिट्टी के पके पात्र में गंध अव्यक्त पड़ी रहती है, पर ज्यों ही जल का संयोग हुआ वह प्रकट हो जाती है। इन्होंने स्वरूपभेद से रस को अनेकत्र स्थित माना है। इनका कहना है कि रस कवि या कर्ता में होता है, पर वह बीजरूप होता है। कवि भी सामाजिक के सदृश होता है। काव्य को वृत्त या थाल्हा समझना चाहिए जिसमें रसवृक्ष उगता है। अभिनेता में वह पुष्परूप होता है, सामाजिक में फलरूप।*

* यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। ततो वृत्तस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः।

रसगंगाधर के कर्ता पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली ने इस संबंध में नया ही मत प्रतिपादित किया है। उन्होंने संयोग का अर्थ 'भावना-रूप दोष' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' माना है। काव्य में कवि और नाटक में नट द्वारा विभावादि के प्रकाशित कर देने पर व्यंजना-वृत्ति से सामाजिक को रति आदि का ज्ञान होता है। इसके अनंतर सहृदयता से एक प्रकार की भावना जगती है जो दोषरूप होती है। इस दोष के प्रभाव से सामाजिक अपने को आश्रयरूप समझने लगता है, उसका हृदय दुष्यंतत्व से छा जाता है। इसके अनंतर अज्ञान से जैसे सीप में चाँदी का भ्रम होता है वैसे ही शकुंतला आदि के विषय में सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय (न सत्, न असत्, न सदसत्) रति आदि की उत्पत्ति हो जाती है अर्थात् उनके प्रति झूठा प्रेम उत्पन्न हो जाता है। फिर आत्मचैतन्य से प्रकाशित होने पर, आवरण भंग होने पर, आनंद का अनुभव होता है।

पंडितराज जगन्नाथ शांकर अद्वैतवेदांत के अनुयायी हैं। उनके अनुसार काव्यनाट्यादि के श्रवणदर्शन से एक प्रकार का भावनादोष या माया का आच्छादन होता है। आत्मचैतन्य से जब यह प्रकाशित होता है तो भग्नावरण चित् की स्थिति होने से आनंद का अनुभव होता है।

रस के अवयव

रस के चार अवयव माने गए हैं—विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और संचारी भाव। इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि काव्य में किसी के प्रति किसी के हृदय में कोई भाव होता है। जिसके प्रति भाव होता है वह भाव का विषय या आलंबन होता है। जिसके हृदय में भाव होता है वह भाव का विषयी या आश्रय होता है। इन्हें (आलंबन और आश्रय को) विभाव कहते हैं। अर्थात् काव्य में भाव और उन भावों को व्यक्त करने के आधार ये दो स्थितियाँ होती हैं। इस प्रकार इन चारों अवयवों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं; एक को भावपक्ष और दूसरे को विभावपक्ष कहेंगे। जिन वस्तुओं या व्यक्तियों के आधार से भाव व्यक्त होते हैं उन्हें 'विभाव' कहते हैं। किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति किसी की जो मानसिक स्थिति होती है उसे 'भाव' कहते हैं। विभाव पक्ष के अंतर्गत उन व्यक्तियों या वस्तुओं का भी ग्रहण होता है जिनके प्रति किसी की कोई मानसिक स्थिति होती है और

तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्—अभिनवभारती, प्रथम खंड।

उन चेष्टाओं तथा परिस्थितियों का भी ग्रहण होता है जो उस मानसिक स्थिति को उद्दीप्त करने या व्यक्त करनेवाली होती हैं। आलंबन में जो चेष्टाएँ दिखाई देती हैं उन्हें 'उद्दीपन' कहते हैं और आश्रय में जो चेष्टाएँ दिखाई देती हैं उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। उद्दीपन भी दो प्रकार के हुआ करते हैं। एक तो आलंबनगत चेष्टाएँ और दूसरे तदितर बाह्य परिस्थिति। ध्यान रखना चाहिए कि आलंबनगत चेष्टाएँ तो सभी रसों में हुआ करती हैं, पर बाह्य परिस्थितियों का उद्दीपन के रूप में शृंगार में विशेष रूप से नियोजन होता है। अन्य रसों में भी ये परिस्थितियाँ थोड़ी बहुत लाई जा सकती हैं, पर शास्त्रों में इनका उल्लेख बहुत कम होता है।

अनुभाव भी मुख्यतः दो प्रकार के दिखाई देते हैं। एक तो आश्रय की चेष्टाओं के रूप में और दूसरे उसकी उक्तियों के रूप में। रसग्रंथों में अनुभाव के अधिक से अधिक चार भेद किए गए हैं—सात्त्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य। इनमें से सात्त्विक अनुभाव वे हैं जिन पर धारणकर्ता का कोई अधिकार नहीं होता। भावों के उदित होने से ये स्वतः उद्भूत हो जाते हैं। किंतु ये भी एक प्रकार की चेष्टाएँ ही हैं। कायिक अनुभाव वे ही हैं जिन्हें ऊपर चेष्टा नाम से अभिहित किया गया है। मानसिक अनुभाव प्रमोद आदि माने गए हैं। किंतु विचार करने पर ये भाव की ही कोटि में जाते हैं। प्रमोदादि मनोवृत्तियाँ हैं। इसलिए ये शरीर की अन्य बाह्य चेष्टाओं से लक्षित होते हैं। अतः मानसिक अनुभाव मानने पर भी इनकी आंगिक चेष्टाएँ अस्वीकृत नहीं की जा सकतीं। इनका कायिक रूप हटता नहीं। आहार्य का अर्थ है किसी भाव की प्रेरणा से विशेष प्रकार का वेशविन्यास करना। वेशविन्यास करने में भी कायिक या आंगिक चेष्टा करनी पड़ती है। भावप्रेरित उक्तियाँ भी कायिक चेष्टाएँ ही हैं, किंतु काव्य में उनके विधान की दृष्टि से उन्हें अलग रखना आवश्यक प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि भाव की प्रेरणा से शरीर में जो चेष्टाएँ व्यक्त होती हैं वे परिमित होती हैं। किंतु भाव की प्रेरणा से निकलनेवाली उक्तियाँ अपरिमित हो सकती हैं, इसीलिए किसी कवि की भावव्यंजना-संबंधी शक्ति का अनुमान करने के लिए भावप्रेरित चेष्टाओं के अतिरिक्त उक्तियों का विचार करना आवश्यक हुआ करता है। किसी भाव के अनुकूल अधिकाधिक उक्तियों की योजना करने में जो कवि विशेष समर्थ दिखाई दे उसकी भावव्यंजना की शक्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। सूरदासजी की रचना में उक्तियों की अत्यधिक और विलक्षण योजना

है। सच पूछिए तो उनकी रचना के लोकप्रिय होने का प्रधान कारण यही है। ऊपर जो विवेचन हुआ उसका वृत्त यों होगा—
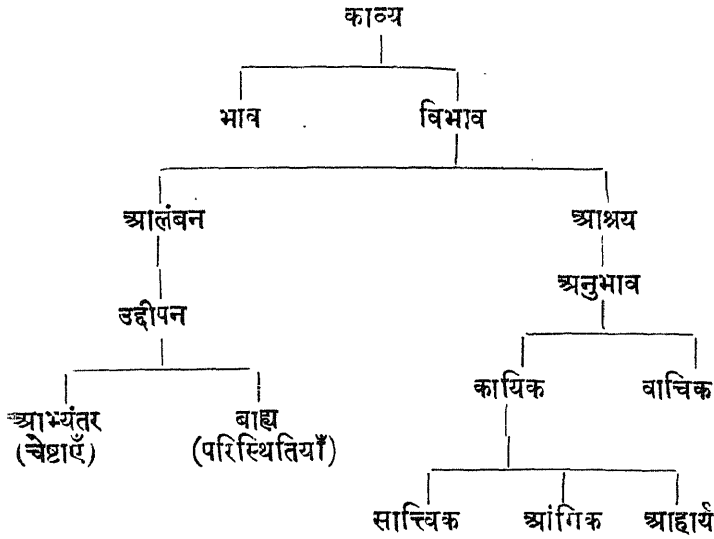
भाव

भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और अस्थायी। स्थायी भाव उस भाव को कहते हैं जो विरोधी और अविरोधी दोनों प्रकार की स्थितियों में निरंतर बना रहता है। किंतु अस्थायी भाव वे हैं जो निरंतर बने नहीं रहते, प्रत्युत समय समय पर जिनका उदय हुआ करता है और जो थोड़े समय तक टिकते हैं। ये किसी स्थायी भाव के साथ भी आते हैं और उसके सहायक होते हैं; तथा स्वतंत्र रूप में भी आते हैं। स्थायी भाव उन्हीं भावों को कहते हैं जो रसावस्था तक पहुँचते हैं अर्थात् जिन भावों का 'भावन' होता है। काव्यगत पात्रों के जिन भावों को काव्य के दर्शक या पाठक ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेते हैं वे ही 'स्थायी भाव' कहलाते हैं। जो भाव ज्यों के त्यों गृहीत नहीं होते वे 'संचारी भाव' कहलाते हैं।

स्थायी भाव सदा स्थायी भाव ही होकर काव्य में नहीं आते। कभी कभी दूसरे स्थायी भावों के सहायक अर्थात् संचारी भाव बनकर भी आया करते हैं। 'संचारी भाव' सदा स्थायी भावों के सहायक

होकर ही नहीं आते, स्वतंत्र रूप से भी उनकी अभिव्यक्ति होती है, तब वे 'भाव' कहे जाते हैं। संचारी भाव स्थायी भावों की भाँति परिमित नहीं होते। ये बहुत से हो सकते हैं, किंतु काव्य में शास्त्रचरचा की सुविधा के लिए प्रमुख ३३ ही संचारी कहे गए हैं। ३३ की संख्या निश्चित हो जाने से कभी कभी लोगों को भ्रम भी हो जाया करता है। जैसे, हिंदी में यह भ्रम हुआ कि कवि 'देव' ने 'भावविलास' में 'छल' नामक चौंतीसवाँ संचारी लिखकर रस के क्षेत्र में बहुत बड़ा अन्वेषण किया। पर स्थिति ऐसी नहीं है। एक तो छल ही क्या दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि न जाने कितने भाव हैं जिनकी गणना ३३ संचारियों में नहीं है पर उनका नियोजन समर्थ कवियों की रचना में देखा जाता है। दूसरे 'छल' भी देव की उद्भावना नहीं है। भानुभट्ट की 'रसतरंगिणी' में छल के साथ ही साथ और भी कई संचारियों का उल्लेख है और ३३ संचारियों में गिनाए हुए भावों में उनका अंतर्भाव किया गया है। 'छल' को उन्होंने 'अवहित्था' में अंतर्भुक्त किया है।

परिगणित संचारियों के संबंध में दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि वे सब के सब मनोविकार नहीं हैं। उनमें कुछ तो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं और कुछ शरीर के धर्म। मरण, आलस्य, निद्रा, अपस्मार, व्याधि आदि शरीर के धर्म हैं। मति, वितर्क आदि बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ता है कि 'संचारी' शब्द से शास्त्र-कारों का तात्पर्य स्थायी भाव में सहायक होनेवाली वृत्तियों या स्थितियों से है। ये वृत्तियाँ चाहे हृदय की हों चाहे बुद्धि की अथवा ये स्थितियाँ चाहे मन की हों चाहे शरीर की। अतः निश्चित है कि सब संचारियों को भाव कहना उपलक्षण मात्र है।

स्थायी भाव और संचारी भाव दोनों में दो प्रकार की वृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कुछ सुखात्मक होती हैं और कुछ दुःखात्मक। स्थायी भावों में रति, हास, विस्मय तथा उत्साह सुखात्मक मनोवृत्तियाँ हैं और क्रोध, घृणा, भय तथा शोक दुःखात्मक मनोवृत्तियाँ। शम या निर्वेद को उदासीन या सुखदुःख-रहित मनोवृत्ति कह सकते हैं। संचारी भावों में भी ग्लानि, शंका, श्रम, आलस्य, विषाद आदि दुःखात्मक हैं और हर्ष, चपलता आदि सुखात्मक। अतः उपर्युक्त विवेचन के अनुसार भावपक्ष का वृक्ष यों होगा—
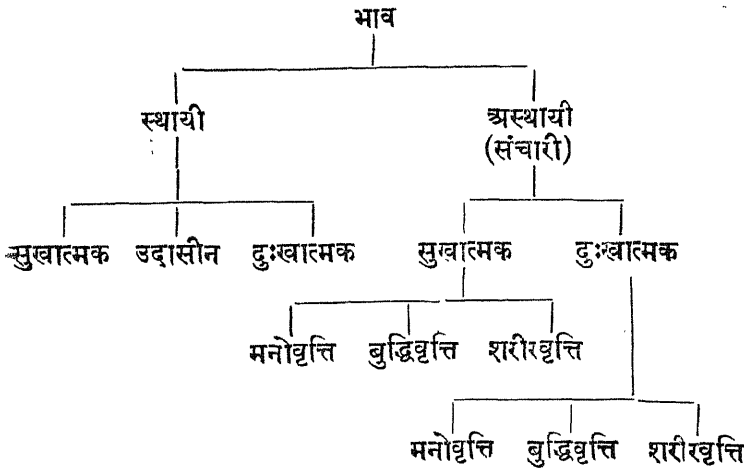
रसों के भेद

स्थायी भाव नाटकों में आठ ही माने गए हैं—रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय और शोक। किंतु श्रव्यकाव्य में निर्वेद भी स्थायी भाव माना गया है। इन स्थायी भावों के परिपाक से क्रमशः शृंगार, हास्य, अद्भुत, वीर, रौद्र, बीभत्स, भयानक, करुण और शांत रस होते हैं। रसों के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि जिन स्थायी भावों से भावन होता है, जिन्हें सामाजिक का हृदय ग्रहण करता है या जो सामाजिक के हृदय में व्यक्त हो सकते हैं वे ही रसरूप में माने गए हैं। नव ही रस मानने का कारण यही है।

भक्ति में उपासना के चार भाव माने गए—दास्य, सख्य, वात्सल्य और कांत। भक्तिक्षेत्र में ये सभी रसरूप माने जाते हैं। अन्यों ने एक ही भक्तिरस माना। आगे चलकर साहित्य में वात्सल्य के परिपाक से 'वत्सल' नाम का रस भी माना गया। भारतेंदु बाबू ने १३ रस माने हैं। प्रसिद्ध नौ रसों में भक्ति, वात्सल्य, सख्य और आनंद चार नए नाम जोड़े हैं। साहित्याचार्य मम्मट ने देव, गुरु, पुत्र, मित्र आदि के प्रति होनेवाली रति (प्रेम) को केवल भाव माना है। इनमें से देवविषयक रति भक्ति है, जिसके चार भावों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। गुरुविषयक रति में प्रधानता दास्य की होती है। इस दास्य की अभिव्यक्ति तुलसीदास के काव्य में परिपूर्ण हुई है। उन्होंने तो अपनी उपासना के दास्यभाव के संबंध में स्पष्ट कहा है—

सेवकसेव्यभाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

पर इस दास्यभाव के परिपाक दास्यरस से हिंदीवाले विशेष अपरिचित हैं। एक बार स्वर्गीय रामदास गौड़ ने किसी ऊँची परीक्षा के तुलसीदास-विषयक विशेष प्रश्नपत्र में प्रश्न किया कि तुलसीदास के दास्यरस पर संक्षिप्त निबंध लिखिए। उन्हें आश्चर्य हुआ कि दास्यरस को हास्यरस का अपमुद्रित रूप मानकर उनके हास्यरस का परीक्षार्थियों ने विचार किया है।

यह दास्यरस केवल तुलसीदास के भक्तिकाव्य ही में नहीं है। हिंदी की देशभक्तिविषयक रचना में यदि रसदृष्टि से विचार किया जाय तो यही स्वीकार करना होगा कि उसमें दास्यरस है। कवि या पात्र दास्यभाव प्रकट करता है और पाठक या सामाजिक दास्यरस का अनुभव करता है। पुत्रविषयक रति (वात्सल्य) रसावस्था तक आगे चलकर मान ही ली गई है। सूरदास तथा वल्लभकुल के अन्य कवियों ने वत्सल रस की व्यंजना अत्यधिक की है। मित्रविषयक रति की व्यंजना काव्यों में, विशेष रूप से 'सुदामाचरित' लेकर लिखे गए कुछ खंडकाव्यों में, दिखाई देती है। उनमें कृष्ण और सुदामा की मैत्री क्या रसरूप नहीं मानी जा सकती। जैसे नरोत्तमदास के 'सुदामाचरित' में रस क्या माना जाय। सख्यरस ही तो मानना पड़ेगा।

कुछ नवीन रसों की कल्पना भी किसी किसी ने की है। भोजराज ने प्रेयान्, उदात्त और उद्धत तीन रसों का हास्यादि के अतिरिक्त उल्लेख किया है। देव, गुरु, मित्र, पुत्र आदि के प्रति जो प्रीति होती है उसी की रसात्मक स्थिति का नाम प्रेयान् है। काव्यालंकार में रुद्रट ने भी इसका उल्लेख किया है। नायकों के जो चार भेद माने गए धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत वे चारो पृथक् पृथक् रसों से संबद्ध नायक हैं। इसी से 'उदात्त' और 'उद्धत' दो अन्य रस माने गए। 'ललित' का संबंध शृंगार से और 'प्रशांत' का शांतरस से है ही। 'रसतरंगिणी' में नया 'माया रस' माना गया है। जिस प्रकार संसार से निवृत्ति का अर्थात् निर्वेद का परिपाक शांत है उसी प्रकार संसार में प्रवृत्ति का परिपाक माया रस है।* आज दिन नाना प्रकार के आंदोलनों और समाजसेवा या राष्ट्रसेवा में विशेष रूप से तत्पर रहनेवाले व्यक्तियों में प्रवृत्ति का प्राधान्य है। इस प्रकार के

* चित्तवृत्तिर्द्वेधा प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र नेति वक्तुमशक्यत्वात्।

—रसतरंगिणी।

कार्यकलापों के वर्णन से सामाजिक को मायारस का आस्वाद मिलेगा। कांत भाव से 'मधुर रस' होता है। लोक में तो श्रृंगार है पर भक्तिक्षेत्र में देवविषयक कांतरति से मधुर रस होता है। इस रस की विस्तारसीमा बहुत बड़ी है। इसमें अन्य आठ रसों के स्थायी भाव भी संचारी भाव होकर आते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल तो प्रकृति के प्रति होनेवाले प्रेमभाव से सामाजिक के लिए प्रकृति रस मानते हैं।

'रसतरंगिणी' में रस के दो भेद लौकिक अलौकिक और भी माने गए हैं। लौकिक रस इंद्रियसंनिकर्ष से छह प्रकार का कहा गया है और अलौकिक तीन प्रकार का—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायक।* देव कवि के 'भावविलास' में ये भेद 'रसतरंगिणी' से ही उठाकर रखे गए हैं।

रसराज या मूलरस

रसविशेष की श्रेष्ठता उसकी विस्तारसीमा से आँकी जा सकती है। रति भाव से जो रस होता है उसकी विस्तारसीमा सबसे बड़ी है। उसके दो पक्ष होते हैं—संयोग और वियोग। उसमें समस्त संचारी भावों का समावेश हो जाता है। आलस्य, उग्रता, घृणा आदि संयोग में नहीं आते।† किंतु वियोग में ये भी गृहीत हो जाते हैं। एक तो नौ रसों में से अन्य किसी के भी दो पक्ष नहीं हैं। सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की वृत्तियों का समावेश इसी से उनमें असंभव है। दूसरे श्रृंगार का आभोग अन्यों की अपेक्षा विस्तृत है। अन्य रसों की अनुभूति में असमर्थ भी श्रृंगार की अनुभूति कर लेते हैं। अतः इसका ग्राहकक्षेत्र विस्तृत है। अन्य प्राणियों में भी इसका स्थायी भाव रति होता है; हास, घृणा ऐसे कुछ भाव तो अन्यत्र दिखाई पड़ते ही नहीं। भय, शोक आदि दिखाई भी देते हैं तो रति से गौण रूप में। श्रृंगार इसी से रसराज कहलाता है।

किसी रस को एकमात्र रस या मूलरस मानने की भी परंपरा है। भोजराज ने अहंकार या अभिमान को सभी का मूल माना है। उसी

---

* रसो द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्चेति। लौकिकसंनिकर्षजन्मा लौकिकोऽलौकिकसंनिकर्षजन्मा त्वलौकिकः। लौकिकः संनिकर्षः षोढा विषयगतः। अलौकिकः संनिकर्षो ज्ञानम्। अलौकिको रसस्त्रिधा। स्वाप्निको मानोरथिक औपनायकश्चेति। औपनायकश्च काव्यपदपदार्थचमत्कारे।—वही

† आलस्यौग्र्यजुगुप्साः संयोगे वर्ज्याः।—वही।

को शृंगार कहा है। उसी से सभी की उत्पत्ति मानी है। उसी को एक रस माना है।* अग्निपुराण में भी अभिमान से रति और रति से शृंगार माना गया है। शृंगार से ही अन्य रसों का प्रकट होना कहा गया है। भोजराज के संबंध में यह स्मरण रखने योग्य है कि वे रसप्रक्रिया में औरों से उलटी पद्धति मानते हैं। यों स्थायी भाव की परिपुष्टि रस मानी जाती है, पर वे रस से स्थायी भाव की पुष्टि मानते हैं।

कविराज विश्वनाथ के प्रपितामह श्रीनारायण ने अद्भुत रस को सर्व-प्रधान रस माना। उनका कहना था कि सब रसों में सारतत्त्व चमत्कार या विस्मय है, इसलिए सब रसों का मूल अद्भुत ही है।†

ऐसे ही करुणरस को मूल भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' में कहा है।‡

जिस प्रकार अद्भुत या करुण को सर्वव्यापी या मूल कहा गया उसी प्रकार वीर रस को भी कहा जा सकता है। प्रत्येक रस की अनुभूति में उत्साह का कुछ न कुछ अंश अवश्य दिखाई देता है। + पर किसी भाव का वेग ही उत्साह नहीं है। आनंदात्मक अनुभूति होने के कारण विषादमय स्थिति का साहस वीरत्व के नाम से अभिहित नहीं हो सकता। अतएव जो लोग विरहिणी गोपिकाओं को दुःख सहने के साहस या उत्साह के कारण वीर माने बैठे हैं उनकी दृष्टि निश्चय ही अशास्त्रीय है। जिस पद्धति पर यह रसराजता सिद्ध की जाती है उसकी विलक्षणता का थोड़ा सा आभास केशवदासजी ने भी दिया है। × शृंगार की रसराजता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अन्य रसों को उसके अंतर्भूत दिखाया है। इस प्रकार अंगांगी भाव से

---

* शृंगारवीर करुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥
—शृंगारप्रकाश।

† रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

‡ एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम्॥

\+ स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति। हासः शृंगारे रतिः शान्तकरुण-हास्येषु भयशोकौ करुणशृंगारयोः क्रोधो वीरे जुगुप्सा भयानके उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु—रसतरंगिणी।

× देखिए 'रसिकप्रिया'।

रसों की स्थिति दिखलाकर किसी भी रस को कोई भी रसराज सिद्ध कर सकता है। क्योंकि जिस प्रकार श्रृंगार के अंग अन्य रस प्रदर्शित किए गए हैं उसी प्रकार अन्य किसी भी रस के अंग शेष रस दिखाए जा सकते हैं।

आलंबन

रसप्रक्रिया में मुख्य होता है आलंबन। आलंबन के औचित्य से सहृदयों को रसचर्वणा होती है, उसके अनौचित्य से उसमें बाधा होती है। जहाँ आलंबन ठीक नहीं होता वहाँ रस का आभास होता है। जैसे, क्रोध उसके प्रति होता है जिससे अपना कोई अपराध हुआ हो। पर पूज्य के प्रति क्रोध में सामाजिक अनौचित्य है। इसलिए पूज्य के प्रति व्यक्त क्रोध के परिपाक में बाधा होगी, रसचर्वणा ठीक न होगी, रस का आभास मात्र होगा। प्रश्न होता है कि काव्यों में जितने पात्रों द्वारा एक ही भावव्यंजना कराई जाती है उसमें अंतर भी होता है या नहीं? रामायण में राम भी रावण पर क्रोध करते हैं और रावण भी राम पर। क्या दोनों स्थितियों में पाठक या दर्शक को एक ही प्रकार को रसानुभूति होगी? ध्यान देने से पता चलता है कि पात्रों द्वारा जो व्यंजना कराई जाती है उसमें पात्र के प्रति रहनेवाली पाठक या दर्शक की भावना भी साधक या बाधक होती है। राम के प्रति पाठक में श्रद्धा होती है और रावण के प्रति अश्रद्धा। इसलिए राम द्वारा जो क्रोध व्यक्त होता है, पाठक का मन अनुकूल होने के कारण, उसमें विशेष तन्मय होता है। ठीक इसके विपरीत रावण के प्रति रहनेवाली अश्रद्धा उसके द्वारा की जानेवाली क्रोध की व्यंजना में बाधा उपस्थित करती है। रावण द्वारा राम के प्रति क्रोध में सामाजिक अनौचित्य है। रावण परंपरा से असद्वृत्त स्वीकृत है।

एक प्रश्न यह भी है कि क्या रस के चारों अवयवों का नियोजन होने से ही रस की पूर्ण निष्पत्ति होती है अथवा उनके न्यून रहने पर भी। चारों अवयवों के नियोजन से रस की जैसी निष्पत्ति हो सकती है वैसी उनके न्यून होने से नहीं। किंतु यह भी निश्चित है कि न्यून अवयवों का आक्षेप कर लिया जाता है। पर विभावपक्ष का कोई न कोई अंश हुए बिना रसनिष्पत्ति नहीं हो सकती। विभाव का यदि कोई अंश काव्य में उपस्थित रहेगा तो अन्य न्यूनता का झटिति आक्षेप हो जाएगा। उदाहरण के लिए श्रृंगाररस को लीजिए—रति के आलंबन नायक अथवा नायिका के एक एक अंग तक का वर्णन रसात्मक

हुआ करता है। काव्य में नखशिख का वर्णन रसात्मक होता है। आलंबन के अंग ही नहीं केवल उद्दीपन अथवा उसके भी एक अंग का वर्णन रसात्मक होता है; जैसे, षट्ऋतु-वर्णन। इससे यह स्पष्ट है कि काव्य में आते ही भाव अथवा अनुभूति पाठक के लिए रसात्मिका हो जाती है। पूर्ण रस ही रसात्मक नहीं होता रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशांति, भावसंधि, भावशबलता सबकी अनुभूति रसात्मक होती है।

रस के चारों अवयव सर्वत्र कथित नहीं रहते। बहुधा आलंबन मात्र कथित रहता है। हास्य, बीभत्स, अद्भुत ऐसे रस हैं जिनमें केवल आलंबन का वर्णन कर देने से पूर्ण रसात्मकता आ जाती है। हास्य में यह आवश्यक नहीं कि आश्रय-पक्ष और उसकी चेष्टाओं का भी वर्णन हो ही। यही स्थिति बीभत्स और अद्भुत में भी है। इससे स्पष्ट हुआ कि रस में आलंबन ही सबसे आवश्यक होता है।

अब आलंबन के वर्णन का भी विचार करें। वह परिस्थिति से युक्त भी होता है और उससे मुक्त भी। परिस्थिति के बीच उसका जो चित्र अंकित किया जाता है वह पूर्ण होता है। पाठक या दर्शक ऐसे आलंबन से तादात्म्य का पूर्ण अनुभव करने में समर्थ होता है। परिस्थिति आलंबन की वह पीठिका है जिससे वह ठीक ठीक पहचाना जाता है। मृग का एक चित्र बिना किसी भूमिका के हो और दूसरा किसी वनस्थली की भूमिका पर, तो दूसरा चित्र विशेष आकर्षक और रमणीय होगा; क्योंकि परिस्थिति ने उसका ठीक ठीक अभिज्ञान करा दिया। परिस्थिति के इस वैशिष्ट्य का महत्त्व यद्यपि सभी रसों के आलंबन में है तथापि शास्त्रों में शृंगाररस अथवा प्रेम के आलंबन में इसका विशेष महत्त्व माना गया है।

यह परिस्थिति दो प्रकार की होती है—प्राकृतिक और अप्राकृतिक या कृत्रिम। अन्य रसों में अधिकतर अप्राकृतिक परिस्थिति का योग दिखाई देता है। किंतु शृंगार में प्राकृतिक परिस्थिति या प्रकृति भी योगदान देती है। उद्दीपन के प्रसंग में इसका उल्लेख किया जा चुका है। चाँदनी रात, रमणीय वनस्थली, झरने आदि का जो महत्त्व प्रेम के प्रसंग में है वह अन्य भावों के प्रसंग में नहीं। यह भी शृंगार की विशालता का परिचायक है। प्रेमभाव में मग्न व्यक्ति प्रिय के संसर्ग से उसके शरीर पर की वस्तुओं से और उसके चारों ओर फैली हुई परिस्थिति तक से प्रेम करने लगता है। प्रिय के अन्वेषण में तत्पर प्रेमी

वृक्ष, लता आदि से प्रिय का पता पूछता चलता है और जिन वृक्षों, लताओं आदि के संबंध में उसे निश्चय हो जाता है कि प्रिय ने इनका स्पर्श किया होगा, इनके पास बैठा होगा, इनसे फूल-पत्ते तोड़े होंगे उन्हें वह प्रेमपूर्वक भेंटने लगता है।* है किसी अन्य भाव में ऐसी विशालता। क्या भयभीत व्यक्ति वृक्षों और लताओं से अपने भयदायक का पता पूछकर उससे बचने का प्रयत्न करता हुआ देखा गया है अथवा कोई क्रोधी अपने अपराधी का मार्ग वृक्षगुल्मादि से पूछता हुआ सुना गया है।

इस विश्वचक्र में जितने जड़, चेतन गोचर पदार्थ हैं वे सभी आलंबन के रूप में गृहीत हो सकते हैं। रंध्रजाल से छनकर आनेवाली सूर्यरश्मि में दिखनेवाले अणु-परमाणु से लेकर गगनचुंबी हिमालय तक और 'कीरी' से लेकर 'कुंजर' तक भावों के आलंबन हो सकते हैं। इन गोचर पदार्थों के अतिरिक्त अगोचर सत्ता को भी भावों का आलंबन मानकर कवि चलते हैं। ज्ञान जिस अतींद्रिय लोक तक जा सकता है वह भी भाव का आलंबन हो सकता है।

आलंबन के संबंध में उच्च और नीच का भी प्रश्न खड़ा किया गया है। काव्य में साधारण और असाधारण की बात नहीं उठती। देश, काल और स्थिति के अनुकूल क्या साधारण और क्या असाधारण सभी भाव के आलंबन हो सकते हैं। मानवसमाज के अतिरिक्त शेष सृष्टि तक में साधारण और असाधारण का भेद प्राचीन सहृदय कवि नहीं किया करते थे। संप्रति मानवसमाज के भीतर भी इस प्रकार का भेद आधुनिक समीक्षक और कवि करने लग गए हैं। इसका कारण इस युग में उठनेवाले विदेशी समाजवादी आंदोलन हैं। इस संबंध में कहना इतना ही है कि वाद के चक्कर में डालकर काव्य को राजनीतिक दाँव-पेंच का साधन बनाना ठीक नहीं। हृद्गत प्रेरणा से उठनेवाली 'वसुधैवकुटुंबकम्' की भावना ही काव्य के क्षेत्र में प्राकृतिक है।

जिस प्रकार प्रकृति के नाना रूप या सभी रूप आलंबन हो सकते हैं उसी प्रकार भाव के आश्रय सभी नहीं हो सकते। जड़ों की कथा ही क्या चेतन मात्र भी आश्रय नहीं हो सकते। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि भावों के आश्रय के रूप में उस प्रकार नहीं दिखाई देते जिस प्रकार इस सार्वभौम आलंबन के लिए होना चाहिए। आहार, निद्रा, भय आदि की कुछ वृत्तियाँ ही उनमें पाई जाती हैं। भाव का अपरिमित

* रामबासथल बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहिं रोके॥—'मानस'

रूप में ग्रहण उनमें कहाँ। बचा मानव। यही विश्व मे भावों का आश्रय है। काव्य का अनुशीलन करनेवालों में सभी मनुष्य भावों के ग्रहण में समर्थ नहीं हो सकते। इसीलिए शास्त्रकार 'सहृदय' व्यक्ति को ही काव्यमर्मज्ञ मानते हैं। साहित्यज्ञों ने वैदिक, मीमांसक, नैयायिक आदि को सहृदयों के वर्ग से छाँटकर अलग कर दिया था। कोरे वैयाकरण भी उसी श्रेणी में रखे गए थे। वस्तुतः काव्य की प्रक्रिया जिस विधि से भावों का उद्रेक करती है उसके तात्त्विक रहस्य को समझने के लिए विशेष प्रकार की क्षमता अपेक्षित होती है। काव्य का कोई अंश जिस समय अपठित व्यक्ति पढ़ता या सुनता है उस समय उसके हृदय में जिस प्रकार का आनंद होता है ठीक उसी प्रकार का आनंद किसी पठित या सुपठित व्यक्ति को उस अंश के पढ़ने से नहीं हुआ करता। सुपठित व्यक्ति को विशेष आनंद होता है। इसलिए निश्चित है कि काव्य के समुचित ग्रहण के लिए विशेष प्रकार की योग्यता अपेक्षित होती है। इस योग्यता में ज्यों ज्यों कमी होती जायगी त्यों त्यों काव्यप्रक्रिया अपना समुचित प्रभाव दिखाने में असमर्थ होती जायगी। योग्यता के तारतम्य से ही काव्यानुभूतिजन्य आनंद का तारतम्य भी होगा। काव्याभ्यासियों ने वैदिकों, मीमांसकों आदि को जोस हृदयों की कोटि से पृथक् कर दिया उसका हेतु यही है। उनमें काव्यार्थों के ग्रहण की पर्याप्त क्षमता नहीं होती।

उद्दीपन

उद्दीपन का थोड़ा विचार पहले किया जा चुका है। यह बतलाया जा चुका है कि सामान्य रूप में आलंबन की चेष्टाएँ उद्दीपन हुआ करती हैं। बाह्य स्थितियों पर विचार करते हुए यह भी कहा जा चुका है कि शृंगार में ही बाह्य स्थितियाँ अथवा प्राकृतिक दृश्य उद्दीपन का काम करते हैं। अब उद्दीपन के तदतिरिक्त रूप का विचार करना है। आलंबन की कुछ चेष्टाएँ शृंगार में अलंकार कहलाती हैं। इनमें से कुछ को हिंदीवाले 'हाव' कहते हैं। उन्हीं का रीतिकाल या शृंगारकाल में निरूपण किया गया, अन्यों को प्रायः छोड़ दिया गया। शास्त्रकारों के मत से ये अलंकार अधिकतर स्त्रियों में ही रमणीय दिखाई पड़ने के कारण उन्हीं की चेष्टाओं के रूप में काव्य में वर्णित होते हैं;* यद्यपि इनमें से कुछ नायक में भी हो सकते हैं।† संभोग की अल्प इच्छा के कारण भ्रू,

* सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति।—साहित्यदर्पण।

† स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि।—वही।

नेत्र आदि में जो विकार उत्पन्न होते हैं इन्हें 'हाव' कहते हैं। इन हावों को अनुभाव के अंतर्गत माना गया है। पर अनुभाव के अंतर्गत केवल वे ही चेष्टाएँ आ सकती हैं जो हृद्गत भाव का पता देती हों। पर अलंकारों के भीतर जिन चेष्टाओं का वर्णन होता है वे केवल शोभाधायक होती हैं। इसलिए इन्हें सामान्यतया उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण करना ठीक होगा। यदि हृद्गत भाव को व्यक्त करती हुई ये चेष्टाएँ दिखाई जायँ तो इन्हें 'अनुभाव' भी कह सकते हैं। साधन रूप में अर्थात् आश्रय में ये अनुभाव होंगी और भाव के विषय या आलंबन में उद्दीपन।* ये चेष्टाएँ कई प्रकार की मानी जाती हैं। अंगज, अयत्नज और कृतिसाध्य नाम के इनके तीन भेद हैं। भाव, हाव और हेला अंगज चेष्टाएँ मानी जाती हैं। निर्विकार चित्त में सबसे पहले जो विकार होता है उसका नाम 'भाव' है।† जब यही भाव मनोविकार को अल्प रूप में प्रकट करने लगता है तो इसे 'हाव' कहते हैं।‡ जैसे किसी के यौवन का आगमन देखकर लोग कहते हैं कि 'आजकल उनकी कुछ और ही बात है'। जब स्फुट रूप में मनोविकार व्यक्त होता है तो उसे 'हेला' कहते हैं।+ एक से दूसरा क्रमशः उत्पन्न भी होता है।× अयत्नज चेष्टाएँ वे हैं जो कृति द्वारा साध्य नहीं होतीं। उनके नाम हैं—शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। कृतिसाध्य चेष्टाएँ १८ हैं—लीला, विलास, बिच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इन्हीं में से आरंभ की १० चेष्टाएँ हिंदी में हाव कही जाती हैं। यह परंपरा भानुभट्ट की रसतरंगिणी से चल पड़ी है। वहाँ केवल अलंकारों के रूप में इन्हीं का उल्लेख है। इसका कारण यह है कि नायक और नायिका दोनों में ये चेष्टाएँ व्यक्त होती

---

* कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावत्वं विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्।
—रसतरंगिणी।

† निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।—साहित्यदर्पण।

‡ भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते।—वही।

+ हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात्स एव तु।—वही।

× भावो हावश्च हेला च परस्परसमुत्थिताः।
सत्त्वभेदा भवन्त्येते शरीरप्रकृतिस्थिताः॥
देहात्मकं भवेत् सत्त्वं सत्त्वात् भावः समुत्थितः।
भावात् समुत्थितो हावो हावाद्धेला समुत्थिता॥—नाट्यशास्त्र।

हैं, नायिका में ये स्वाभाविक होती हैं और नायक में औपाधिक या आरोपित।*

रसों के नाम

रसलक्षण के प्रसंग में कहा जा चुका है कि स्थायी भाव ही सामाजिक के हृदय में रसरूप में परिणत हो जाया करता है। यह भी बतलाया गया है कि काव्य के पात्र और पाठक का तादात्म्य होने के कारण प्रत्यक्षानुभूति या भावानुभूति और रसानुभूति में विशेष अंतर नहीं हुआ करता। भावानुभूति ही परिष्कृत रूप में रसानुभूति हो जाती है। यह परिष्कार क्यों हुआ करता है इस पर भी विचार करना चाहिए। प्रत्यक्षानुभूति या भावानुभूति अपने हृद्गत भावों से ही संबंध रखनेवाली होती है। किंतु रसानुभूति दूसरे के भावों की प्रेरणा से जगती है। इसी 'स्व' और 'पर' के भेद से दोनों प्रकार की अनुभूतियों में अंतर हो जाया करता है। शास्त्रों में स्थायी भावों के नाम और उनकी परिपक्वावस्था से उत्पन्न होनेवाले रसों के नाम पर विचार करने से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। जब 'शोक' और 'करुण' नामों पर विचार किया जाता है तो स्पष्ट लक्षित होता है कि शोकभाव तमोगुणमय है और करुण सत्त्वगुणसंपन्न। इस पर इस ढंग से भी विचार किया जा सकता है कि शोकभाव अपने ऊपर पड़नेवाली विपत्ति से हुआ करता है, किंतु रसरूप में परिणत होने पर वह 'करुणा' का रूप धारण कर लेता है। करुणा वृत्ति दूसरे के शोक से किसी के हृदय में उत्पन्न होनेवाली वह सात्त्विक वृत्ति है जो शोकग्रस्त को दुःख से बचाने की प्रेरणा करती है। ठीक इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों और रसों के नामों पर विचार किया जा सकता है। रति स्थायी भाव स्व-संबंध से ही हुआ करती है। किंतु दूसरे के रतिभाव से हृदय की जो अवस्था होती है वह शृंगार मात्र होती है। उत्साह भाव किसी विकट कर्म की साधना में प्रवृत्त करता है और उससे उत्पन्न होनेवाला वीररस चित्त में वह अवस्था ला देता है जिसके कारण चित्त कार्यों के संपन्न करने में विशेष रूप से संलग्न हो जाता है। क्रोध भाव किसी के नाश या हानि

---

* अथ हावा निरूप्यन्ते। नारीणां शृंगारचेष्टा हावाः स च स्वभावतो नारीणां······पुरुषाणामपि संभवन्तीति चेत्सत्यम्। तेषां त्वौपाधिकाः स्वभावजाः स्त्रीणामेव।—रसतरंगिणी।

में प्रवृत्त करता है। किंतु रौद्ररस पाठक को भीषण बनाकर ही छोड़ देता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पाठक या दर्शक के हृदय में भाव तो वही उत्पन्न होता है क्योंकि पात्र और पाठक के अनुभावों में कोई अंतर नहीं हुआ करता, किंतु पाठक का कोई स्वकीय लक्ष्य नहीं हुआ करता। काव्य में वर्णित आलंबन पाठक के भाव के भी आलंबन हो जाते हैं। पर प्रत्यक्ष आलंबन वे आश्रय के ही रहते हैं। शास्त्रकार इसीसे 'स्व' या 'पर' का कोई भेद स्वीकार ही नहीं करते। उसकी स्थिति काव्यगत उस पात्र से, जिससे उसका तादात्म्य होता है, कुछ भिन्न दिखाई देती है। इसी भिन्नता को लक्षित कराने के निमित्त शास्त्रों में भावकोटि और रसकोटि में अंतर प्रकट करने के लिए दोनों में नामांतर कर दिया गया है।

साधारण या गौण रस

रसग्रंथों में कुछ रसों के उदाहरण ऐसे दिखाई देते हैं जिनसे लक्षित होता है कि वे बहुत साधारण कोटि में रखे गए हैं। जैसे, बीभत्स रस को ले लीजिए। रक्त, पीब, हड्डी, मांस आदि की दुर्गंध से वृत्ति का संकोच ही 'जुगुप्सा' है और उससे उत्पन्न होने वाला बीभत्स रस भी इस प्रकार की हलकी घृणा उद्दीप्त करके शांत हो जाता है। समाज में घृणोत्पादक कर्म करनेवाले व्यक्तियों के प्रति भी जुगुप्सा होती है। ऐसी स्थिति में पूर्वकथित दृष्टांतों का ही संग्रह क्यों किया गया। इसका कारण यह है कि उस जुगुप्सा की व्याप्ति बहुत अधिक है। समाज में नीच काम करनेवालों के प्रति जो जुगुप्सा होती है उससे भी बीभत्स रस की ही उत्पत्ति होगी, किंतु परिमित सीमा तक। हाँ, मानवसंबंध के कारण यह घृणा साधारण जुगुप्सित दृश्यों की अपेक्षा विशेष काल तक ठहरनेवाली भी होगी।

इसी प्रसंग में यह भी समझ लेना चाहिए कि कुछ रस गौण और कुछ प्रधान हुआ करते हैं। गौण रस प्रधान रसों के सहायक होते हैं, यद्यपि स्वच्छंद रूप में गौण रस भी अपनी छटा दिखाया करते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समर्थ कवियों ने गौण रसों का गांभीर्य दिखाने का प्रयास ही नहीं किया। बीभत्स ही की तरह हास्य भी हलका रस समझा जाता है। किंतु तुलसीदास और सूरदास ने इसका प्रयोग विशेष गांभीर्य के साथ किया है। नारदमोह के प्रसंग

में नारद और भ्रमरगीत के प्रसंग में उद्धव हास्यरस के आलंबन हैं। किंतु इनके प्रति जो हँसी उत्पन्न होती है वह गांभीर्य लिए हुए होती है। क्योंकि इन दोनों की हँसी कराकर इनका अहंकार दूर करने का प्रयास किया गया है अर्थात् अहंकार या गर्व करनेवाला समाज में हास्यास्पद होता है यह लक्षित कराया गया है। इससे स्पष्ट है कि गौण रसों का गंभीरता के साथ भी प्रयोग किया जा सकता है।

पिंगल

पद्य या छंद

काव्य के भेद बतलाते हुए शैली के अनुसार उसके दो भेद किए गए हैं-- गद्य और पद्य। जिस शास्त्र के अनुसार गद्य की रचना का शासन होता है उसे 'व्याकरण' कहते हैं और जिस शास्त्र के द्वारा पद्य का शासन होता है वह 'पिंगल' कहलाता है। दूसरे शब्दों में पिंगल पद्य का व्याकरण है। इसका नाम पिंगल इसलिए रखा गया कि आरंभ में इस शास्त्र का प्रवर्तन करनेवाले पिंगल नाम के कोई ऋषि हुए थे। जैसे संस्कृत का व्याकरण ऐंद्र, पाणिनीय आदि नामों से विख्यात है वैसे ही पद्य का व्याकरण उसके प्रवर्तक पिंगल ऋषि के नाम से प्रख्यात है। ये शेषनाग के अवतार माने जाते हैं। पद्य नाम इसलिए पड़ा कि इस रचना का संबंध पद (चरण) से है। पदों (चरणों) के अनुसार बहुत से साँचे बनाए गए, इसीलिए ये बने बनाए साँचे पद्य कहलाते हैं। छंद नाम भी इसी ढंग से रखा गया है। यद्यपि गद्य में भी कुछ न कुछ बंधन होता है पर उसकी लंबाई बँधे हुए साँचों में नहीं हुआ करती। किंतु पद्य की रचना लंबाई की विशेष नाप के अनुसार चलती है। इसी बंधन का नाम 'छंद' है। छंद का प्रचार बहुत प्राचीन काल से दिखाई देता है। यह उतना ही प्राचीन है जितने प्राचीन वेद हैं। वेद के छह अंगों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष और छंद) में से एक यह भी है।

गुरु और लघु

व्याकरण में वर्ण दो प्रकार के माने जाते हैं—ह्रस्व और दीर्घ। ह्रस्व वर्ण के उच्चारण में जितना समय लगता है उसका नाम एक मात्रा है। दीर्घ वर्ण के उच्चारण में उससे दूना समय लगता है, अतः उसकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं। व्याकरण में तीन मात्राओं के वर्ण भी होते हैं जिन्हें प्लुत कहते हैं। बोलचाल में किसी को बुलाते समय कुछ अव्ययों का प्रयोग प्लुत रूप में होता है। जैसे, हेऽऽ राम। किंतु छंदों में प्लुत की आवश्यकता नहीं पड़ती। व्यंजन की मात्रा आधी मानी जाती है। किंतु छंदों में उसका कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता

इसलिए हिंदी में ह्रस्व और दीर्घ इन्हीं का विचार करना ठीक है। छंदःशास्त्र में ह्रस्व को लघु और दीर्घ को गुरु कहते हैं। इसका भी कारण है। व्याकरण में जिन वर्णों को ह्रस्व या दीर्घ कहते हैं वे प्रकृति से ह्रस्व या दीर्घ होते हैं, किंतु लघु और गुरु स्थिति के अनुसार इस नाम से अभिहित होते हैं। जैसे—'सत्य' शब्द में 'स' प्रकृत्या ह्रस्व है; किंतु स्थिति के विचार से पिंगल में यह गुरु है। क्योंकि संयुक्त वर्ण के पूर्व का वर्ण गुरु हो जाता है। इसी प्रकार 'लोटिया' में 'लो' प्रकृत्या दीर्घ है, किंतु स्थित्या लघु है। छंदःशास्त्र में किस प्रकार वर्ण लघु या दीर्घ हो जाया करते हैं इसके मुख्य नियम ये हैं—

१—संयुक्त वर्ण के पूर्व का वर्ण गुरु होता है। जैसे—नव्य में न गुरु है। हिंदी में कुछ संयुक्त वर्ण ऐसे हैं जिनकी ध्वनि एक अक्षर के रूप में होती है। ऐसे संयुक्त वर्णों के पूर्व के वर्णों पर बल नहीं पड़ता। इसलिए वे गुरु नहीं होते; जैसे—कुम्हार, कुल्हाड़ी, इन्हें, तुम्हारा आदि। इस प्रकार की कुछ ध्वनियाँ हिंदी की पुरानी कविता में अन्य व्यंजनों के साथ ह और य के योग से बनी हुई कई दिखाई देती हैं, जैसे—म्ह, न्ह, ल्ह, न्य, ह्य, रय, त्य आदि।

२—अनुस्वारयुक्त वर्ण गुरु होता है। जैसे—'संहार' में 'सं'। किंतु चंद्रबिंदु का जहाँ प्रयोग होता है वहाँ वर्ण गुरु नहीं होता। जैसे, लँगोटी में लँ। हिंदी में इधर कुछ दिनों से चंद्रबिंदु (ँ) के स्थान पर अनुस्वार (ं) का प्रयोग भी सुभीते के कारण करने लगे हैं; जैसे—में, मैं, हैं, हों, हूं आदि। इनको मेँ, मैँ, हैँ, होँ, हूँ होना चाहिए।

३—विसर्ग (ः) से युक्त वर्ण भी गुरु होता है; जैसे—'स्वतः' में 'तः' गुरु है।

४—हलंत (्) के पूर्व का वर्ण भी गुरु होता है और स्वतः हलंत की कोई मात्रा नहीं मानी जाती। जैसे—'श्रीमन्' में 'म' गुरु है 'न्' निर्मात्रिक।

५—आवश्यकतानुसार छंद के चरण के अंत में ह्रस्व गुरु मान लिया जाता है तथा दो शब्दों की संधि में यदि दूसरे शब्द के आरंभ में संयुक्त वर्ण आता है तो उसके पूर्व का ह्रस्व वर्ण विकल्प से गुरु माना जाता है। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

(१) दुखित हैं धनहीन धनी सुखी,
यह विचार परिष्कृत है यदि।

(२) तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुर-श्मशान,
नीचे प्रलय-सिंधु-लहरों का होता था सकरुण अवसान।
—कामायनी।

हिंदी की पुरानी रचना अर्थात् व्रजी और अवधी की रचना में दीर्घ वर्ण को लघु बनाने का नियम बहुत व्यापक है। ए और ओ स्वर प्रायः लघु हो जाया करते हैं। जैसे—

व्रजी

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिनु मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहे मुसकानि-मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै, नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥

अवधी

गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
—पद्मावत।

खड़ी बोली में भी ए और ओ लघु होकर आते हैं। मेरठ आदि प्रांतों में तो ए का उच्चारण इ और ओ का उच्चारण उ हो जाया करता है। जैसे, वे लोग 'एक्का' को 'इक्का' और 'ओढ़ना' को 'उढ़ाना' बोलते हैं। किंतु जब से खड़ी बोली में सवैया छंद का विशेष प्रचार हुआ तब से दीर्घ को लघु पढ़ने की व्यवस्था व्यापक हो गई। साथ ही उर्दू की बहरों में भी दीर्घ वर्ण को लघु पढ़ना पड़ता है। क्योंकि उर्दू की बहरें वस्तुतः पिंगलशास्त्र के अनुसार वर्णवृत्त मात्र हैं। अतः उनका प्रवाह रक्षित रखने के लिए ऐसी व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। उदाहरण लीजिए—

सवैया

बन बीच बसे थे फँसे थे ममत्व में एक कपोत कपोती कहीं।
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले-मिले दोनों वहीं।
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह नई नई कामना होती रहीं।
कहने का प्रयोजन है इतना उनके सुख की रही सीमा नहीं॥

उर्दू बहर

निज देश की उन्नति का है सब भार इन्हीं पर।
निज धर्म की रक्षा का है सब दार इन्हीं पर।

इन्कार इन्हीं पर है तो इकरार इन्हीं पर।
इन ही पै रिआया भी है सरकार इन्हीं पर॥

ध्यान रखना चाहिए कि खड़ी बोली में विशेष कर सवैये में ही यह नियम देखा जाता है।

छंदों के भेद

छंदों में मात्रा और वर्ण दो का विचार होता है। जो छंद मात्रा की गणना के अनुसार बनते या बने हुए हैं उन्हें 'मात्रावृत्त' या 'जाति' कहते हैं; और जो वर्णों की गणना के अनुसार चलते हैं उन्हें 'वर्ण-वृत्त' या केवल 'वृत्त' कहते हैं। प्रत्येक छंद में चार 'चरण' या 'पाद' होते हैं। कुछ छंद ऐसे दिखाई देते हैं जिनमें चरण तो चार होते हैं किंतु वे लिखे दो ही पंक्तियों में जाते हैं। ऐसे छंद की प्रत्येक पंक्ति को 'दल' कहते हैं। हिंदी में कुछ छंद छह छह पंक्तियों में लिखे जाते हैं। ऐसे छंद दो छंदों के योग से बनते हैं। एक छंद के दो दल और दूसरे छंद के चार चरण रखने से ये छंद बनते हैं; जैसे—कुंडलिया, छप्पय, अमृतध्वनि।

मात्रावृत्त और वर्णवृत्त के चरणों के विचार से तीन प्रकार के भेद किए जाते हैं—सम, अर्द्धसम और विषम। 'सम' उन छंदों को कहते हैं जिनके चारों चरण एक ही ढाँचे के बने होते हैं; चाहे मात्रा की गणना हो चाहे वर्णों की। 'अर्द्धसम' छंद वे हैं जिनके विषम चरणों अर्थात् पहले और तीसरे चरणों में और इसी प्रकार सम चरणों अर्थात् दूसरे और चौथे चरणों में मात्राओं या वर्णों का क्रम एक सा होता है। विषम छंद वे हैं जिनमें प्रत्येक चरण की मात्राएँ या वर्ण भिन्न भिन्न होते हैं। हिंदी में मात्रिक विषम छंद नहीं दिखाई देते। दो छंदों के योग से बने हुए छप्पय आदि छंद मात्रिक विषम छंद मान लिए गए हैं। पर यह ठीक नहीं जान पड़ता। ये छंद दो छंदों के योग से बने हुए हैं, इसलिए इन्हें मिश्रित छंद समझना चाहिए। सम छंदों के भी दो भेद होते हैं—साधारण और दंडक। 'साधारण' मात्रिक छंद वे हैं जिनके प्रत्येक चरण में ३२ या उससे कम मात्राएँ हों। ३२ से अधिक मात्रावाले छंद 'दंडक' कहलाते हैं। 'साधारण वर्णवृत्त' वे हैं जिनके प्रत्येक चरण में २६ या उससे कम वर्ण हों। २६ से अधिक वर्णवाले छंद 'दंडक' कहलाते हैं (२२ वर्ण से २६ वर्ण तक के वृत्त 'सवैया' कहे जाते हैं)। छंदों का वृक्ष इस प्रकार होगा—
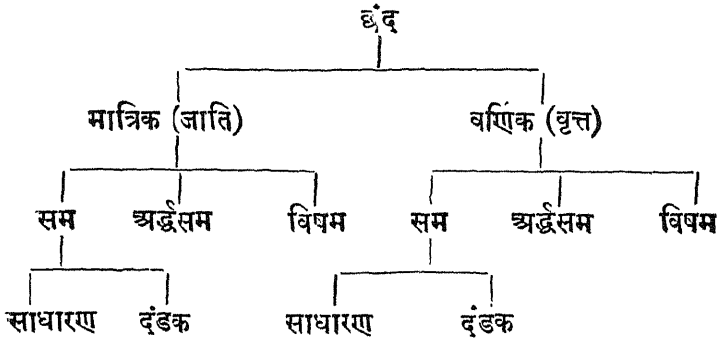
हिंदी में मात्रिक सम और अर्द्धसम छंदों का ही व्यवहार होता है। वर्णिक छंदों में से केवल सम का ही व्यवहार होता है।

गण

वर्णिक और मात्रिक छंदों का लक्षण सुविधानुसार बतलाने के लिए पिंगल में गणों की व्यवस्था की गई है। मात्रिक गण पाँच प्रकार के होते हैं—टगण, ठगण, डगण, ढगण, णगण। क्रमशः छह, पाँच, चार, तीन और दो मात्राओं के समूह को टगण आदि नामों से अभिहित करते हैं। इन मात्रिक गणों का स्वरूप सदा एक नहीं हो सकता। इसलिए टगण आदि के कई स्वरूप होते हैं। इनके क्रमशः १३, ८, ५ ३ और २ प्रकार के स्वरूप हो सकते हैं। उदाहरण के लिए दो मात्रा-वाले णगण को लीजिए। इसके दो स्वरूप हो सकते हैं। एक जिसमें एक ही गुरु अक्षर हो, जैसे—'सौ' और दूसरा जिसमें दो लघु अक्षर हों जैसे—'शत'। इसी प्रकार अन्य गणों का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए। इन गणों का उपयोग हिंदी के पिंगलग्रंथों में कहीं कहीं देखा जाता है। अधिकतर मात्रिक छंदों का ज्ञान उनकी लय से ही किया जाता है।

वर्णिक गण में तीन अक्षरों के समूह की 'गण' संज्ञा है। प्रत्येक अक्षर लघु (।) और गुरु (ऽ) दो प्रकार का होता है। इसलिए तीन अक्षरवाले इस गण के ८ रूप हो जाते हैं। इनके स्वरूप और नाम नीचे लिखी सारिणी में दिए जाते हैं—

नाम	चिह्न	संकेत	स्वरूप
मगण	ऽऽऽ	म	कौसल्या
यगण	।ऽऽ	य	सुमित्रा
रगण	ऽ।ऽ	र	कैकयी

सगण	IIS	स	सरयू
तगण	SSI	त	साकेत
जगण	ISI	ज	वसिष्ठ
भगण	SII	भ	राघव
नगण	III	न	भरत

पिंगल मे लघु के लिए 'ल' और गुरु के लिए 'ग' का प्रयोग होता है। गणों का स्वरूप हृदयंगम करने के कई ढंग निकाले गए, पर उन सबमें से निम्नलिखित सूत्र सबसे सरल है—

'यमाताराजभानसलगा'

इस सूत्र में आदि के आठ अक्षर गणों के प्रतीक हैं, 'ल' का अर्थ लघु है और 'ग' का गुरु। किसी गण का स्वरूप जानने के लिए उस गण के संकेताक्षर के आगे के दो और अक्षरों को मिलाकर तीन अक्षर ले लेने चाहिए। बस गण का स्वरूप सामने आ जायगा। जैसे, किसी को 'तगण' का स्वरूप जानना है तो वह इस सूत्र से 'ताराज' (SSI) ले लेगा और उसे ज्ञान हो जायगा कि तगण में दो गुरु और एक लघु अक्षर क्रम से होते हैं।

शुभाशुभ-विचार

छंदों का संबंध संगीत से है। विशेष प्रकार के अक्षरक्रम से विशेष प्रकार की समस्वरता आ जाया करती है। इसीलिए पिंगल में इन गणों का शुभाशुभ-विचार भी किया जाता है। यह शुभाशुभ-विचार छंद के आदि में होता है और मुख्यतः मात्रिक छंदों में देखा जाता है। इन गणों की मैत्री, शत्रुता आदि तथा इनके देवता और फल का भी विचार किया गया है जिनकी सारिणी इस प्रकार है—

शुभाशुभ	नाम	गण	देवता	फल
शुभ	मित्र	मगण	भूमि	लक्ष्मी
		नगण	स्वर्ग	आयु
	दास	भगण	चंद्रमा	यश
		यगण	जल	वृद्धि
अशुभ	उदासीन	जगण	सूर्य	रोग
		तगण	आकाश	धनहानि
	शत्रु	रगण	अग्नि	विनाश
		सगण	वायु	देशाटन

केवल गणों में ही नहीं शुभाशुभ का विचार आद्य अक्षर में भी किया जाता है। संयुक्ताक्षर आदि में रखना अशुभ माना गया है।

सभी स्वर शुभ माने जाते हैं। व्यंजनों में से ङ, झ, य, ट, ठ, ढ, ण, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, स और ह अशुभ हैं; शेष शुभ हैं। इन अशुभों में से पाँच अक्षर अत्यंत अशुभ अर्थात 'दग्धाक्षर' माने जाते हैं—झ, भ, र, ष और ह। देववाची या मंगलवाची शब्दों के आदि में इन अक्षरों का होना अशुभ नहीं माना जाता। कहीं कहीं इन अक्षरों को दीर्घ कर देने से इनकी अशुभता नष्ट हो जाती है।

गति

छंदों में मुख्य विचार गति (प्रवाह) का हुआ करता है। जिस छंद में प्रवाह न होगा वह छंद किसी काम का नहीं रह जाता। अच्छे अच्छे कवियों की रचना में गति बड़ी सुंदर पाई जाती है। 'पद्माकर' की कविता में गति बड़ी अच्छी मिलती है।

संख्या

कविता में संख्याओं को कवि उनके नामों से नहीं, प्रतीकों द्वारा व्यक्त करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि संख्याओं के नाम कई नहीं हुआ करते इसलिए पद्य में उन नामों को बद्ध करते समय कवियों को विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है। किंतु प्रतीकों द्वारा व्यक्त करने में यह सरलता होती है कि उन प्रतीकों के पर्यायवाची शब्दों से भी काम निकाला जा सकता है। हाँ, इन संख्याओं को व्यक्त करने में ये प्रतीक उलटे क्रम से रखे जाते हैं (अंकानां वामतो गतिः)। उदाहरण के लिए बीस तक संख्याओं के कुछ प्रतीक दिए जाते हैं—

०—आकाश।
१—पृथ्वी, चंद्र, आत्मा।
२—आँख, पक्ष, भुज, कर्ण, पद आदि।
३—गुण, काल, ताप आदि।
४—वेद, वर्ण, आश्रम, युग, पदार्थ आदि।
५—इंद्रिय, पांडव, प्राण, महाभूत आदि।
६—ऋतु, राग, वेदांग, ईति आदि।
७—स्वर, लोक, वार, पुरी आदि।
८—सिद्धि, प्रहर, दिग्गज, वसु आदि।
९—अंक, निधि, ग्रह, भक्ति आदि।
१०—दिशा, अवतार, दोष आदि।

११—शिव।
१२—सूर्य, राशि, मास आदि।
१३—नदी, किरण आदि।
१४—भुवन, रत्न, विद्या आदि।
१५—तिथि।
१६—संस्कार, शृंगार, कला आदि।
१७—एक और सात के कोई दो संकेत मिलाकर।
१८—पुराण।
१९—एक और नव के कोई दो संकेत मिलाकर।
२०—नख।

इन्हें समझने के लिए उदाहरण लीजिए—

संवत् ग्रह[९] ससि[१] जलधि[७] छिति[१] छठि तिथि बासर चंद।
चैत मास सित पच्छ मैं, पूरन आनँदकंद॥

यहाँ पर 'ग्रह ससि जलधि छिति' का ९१७१ हुआ, पर 'अंकानां वामतो गतिः' (अंक बाएँ से चलते हैं) के अनुसार संवत् १७१९ हुआ।

तुक

पद्य के चरणांत की अक्षरमैत्री को 'तुक' कहते हैं। यद्यपि कहीं कहीं संस्कृत में भी तुक मिलता है तथापि उसकी कविता अतुकांत ही है। तुकांत का चलन अपभ्रंश की रचनाओं से देखा जाता है। इसी कारण अपभ्रंश के बाद देशी भाषाओं में सर्वत्र तुकांत की प्रवृत्ति देखी जाती है। तुकांत हिंदी की बहुत बड़ी विशेषता है। किंतु कुछ लोग अँगरेजी भाषा की नकल पर भारतीय भाषाओं में भी अतुकांत रचना का प्रचार फिर से करना चाहते हैं। इस संबंध में कुछ थोड़ा सा विचार करने की आवश्यकता है। यद्यपि संस्कृत भाषा में अतुकांत रचना होती थी तथापि जिन छंदों में वह रचना होती थी उनका बंधान ऐसा संगीतमय था जिससे तुकांत के अभाव में भी उसकी संगीतात्मकता कम नहीं हो पाती थी। किंतु देशी भाषाएँ जिन छंदों को लेकर चलीं उन छंदों में संगीत की वह विशेषता अपेक्षाकृत कम थी। इसलिए उस अभाव की पूर्ति के लिए तुक का प्रयोग आवश्यक हुआ। तात्पर्य यह कि संस्कृत की रचना वर्णवृत्तों में होती थी और वर्णवृत्तों में प्रत्येक चरण में एक ही प्रकार के गणों का नियोजन

होने से ध्वनि बँधी रहती है। किंतु देशी भाषाओं में और विशेषतः उन भाषाओं की जेठी बहन हिंदी में अधिकतर मात्रिक छंदों का व्यवहार होता रहा और इन मात्रिक छंदों में प्रत्येक चरण समस्वरूप नहीं होता। इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि चार अक्षरवाले वर्णवृत्त के १६ रूप होते हैं। इन १६ रूपों में से कोई एक रूप वर्णवृत्त में ग्रहण किया जायगा और पद्य के चारों चरणों में उसी एक रूप का व्यवहार होगा। किंतु मात्रिक छंद में चार मात्रावाले छंदों के पाँच रूप होते हैं और यदि चार मात्रा का छंद गृहीत हो तो उसके चारों चरणों में कोई एक रूप न आकर दो, तीन, चार तक रूप आ सकते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वर्णवृत्तों में चारों चरणों की लय एक सी होती है किंतु मात्रावृत्तों में लय अर्थात् ध्वनियों का उतार-चढ़ाव बदलता रहता है। इस परिवर्तन का संतुलन स्थापित करने के लिए तुकांत का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। अतः मात्रावृत्तों से तुकांत हटा दिया जाय तो छंद की संगीतध्वनि को बहुत बड़ा आघात पहुँचता है। हिंदी में नवीनता लाने के विचार से वर्णवृत्तों और मात्रावृत्तों दोनों में अतुकांत कविता की गई। 'प्रियप्रवास' अतुकांत वर्णवृत्त में लिखा गया और प्रसाद जी का 'महाराणा का महत्त्व' अतुकांत मात्रावृत्त में। दोनों ग्रंथों की रचनाएँ पढ़कर देखी जा सकती हैं। उनके देखने से स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रियप्रवास' की संगीतध्वनि जमी हुई है और 'महाराणा का महत्त्व' की उखड़ी हुई।

तुकांत पर दो ढंग से विचार हो सकता है। एक तो चरण के अंत में पड़नेवाले स्वरों और अक्षरों के आधार पर और दूसरे प्रत्येक चरण के अन्य चरणों के समन्वय के विचार से होनेवाले स्वरूप के आधार पर। पहले को तुक का अंतर्वर्ती और दूसरे को तुक का बहिर्वर्ती प्रकार कह सकते हैं। अंतर्वर्ती तुक तीन प्रकार के माने गए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। हिंदी में भिखारीदास ने 'तुक' का बड़े अच्छे ढंग से अपने 'काव्यनिर्णय' में विचार किया है। इन तीनों के भिन्न भिन्न प्रकार के तीन तीन भेद और माने गए हैं। जिनके नाम ये हैं—उत्तम समसरि, विषमसरि, कष्टसरि; मध्यम—असंयोग-मीलित, स्वरमीलित, दुर्मिल; अधम—अमिलसुमिल, आदिमत्तअमिल, अंतमत्तअमिल।

जहाँ तुकांत में जितने वर्ण मात्रासहित दिखाई दें उनका स्वरूप सब स्थानों में एक सा रहे और तुकांत में पड़नेवाले शब्द स्वतः पूर्ण

हों वहाँ 'समसरि' उत्तम तुकांत होता है; जैसे—चलना, पलना, मलना, फलना आदि।

आनन-कलानिधि मेँ दूनी कला देख देख,
चाहक चकोरोँ के उदास उर ऊलैँगे।
दाड़िम के दानी फल दाने उगलैँगे नहीँ,
कुंद-कलियोँ के झुंड झाड़ मेँ न भूलैँगे।

जहाँ सभी तुकांतोँ के शब्द एक से न होँ, कोई तुक बड़े शब्द का खंड हो तो कोई पूर्ण, वहाँ 'विषमसरि' उत्तम तुकांत होता है; जैसे—

त्योँ अभिमान को कूप इतै, उतै कामना रूप सिलान की ढेरी।
तू चल मूढ़ सँभारि अरे मन राह न जानी है रैन अँधेरी॥

यहाँ 'ढेरी' का तुकांत 'अँधेरी' रखा गया है।

जहाँ कुछ तुकांत खंडित होँ और कुछ पूर्ण वहाँ 'कष्टसरि' उत्तम तुकांत होता है; जैसे—

'बिलोकिए, तिलोकिए' के साथ 'को किए' और 'रोकिए'।
(कवित्तावली, सुंदरकांड)

जहाँ संयुक्त वर्ण के तुकांत मेँ कोई असंयुक्त वर्ण हो वहाँ 'असंयोग-मीलित' मध्यम तुकांत होता है; जैसे—

बरसती है खचित मणियोँ की प्रभा,
तेज मेँ डूबी हुई है सब सभा।

यहाँ प्रभा मेँ 'प्र' संयुक्त वर्ण है और सभा मेँ 'स' असंयुक्त वर्ण। यदि 'सभा' के स्थान पर 'स्रभा' होता तो यह उत्तम तुकांत कहा जाता।

जहाँ तुकांत मेँ केवल स्वर मिलता हो वहाँ 'स्वरमीलित' मध्यम तुकांत होता है;—जियैँ, सुनैँ, मैँ, कैँ, आदि। यहाँ केवल 'ऐँ' स्वर का साम्य है।

जहाँ अंत का वर्ण या स्वर मिला तो हो पर उसके पूर्व के स्वर-व्यंजन एकदम भिन्न होँ और विजातीय होँ वहीँ 'दुर्मिल' मध्यम तुकांत समझना चाहिए; जैसे—

सरलपन ही था उसका मन, निरालापन था आभूषन'।

इसमेँ 'का मन' और 'भूषन' दुर्मिल हैँ।

जहाँ सरलतापूर्वक मिलनेवाले तुक के साथ एक-आध शब्द बेमेल भी पड़े होँ वहाँ 'अमिलसुमिल' अधम तुकांत माना जाता है; जैसे—

पलकैँ, अलकैँ, झलकैँ का तुकांत 'न छकैँ' रखना।

जहाँ ऐसे तुकांत हों कि छंद के अंत की मात्राएं और वर्ण तो मिलते हों पर तुकांत के आदि में स्वर विभिन्न हों वहाँ 'आदिमत्तअमिल' अधम तुकांत माना जाता है; जैसे—

मृदु बोलन तीय सुधा श्रवती। तुलसीवन-बेलिन में भँवती।
नहिं जानिय कौन अहै युवती। वहि तें अब औध है रूपवती॥

यहाँ 'वती' का तुकांत तो मिल गया है किंतु इसके पहले के स्वर एक से नहीं हैं।

जहाँ तुक की अंतिम मात्रा अमिल हो, केवल व्यंजन मिलता हो, वहाँ 'अंतमत्तअमिल' तुकांत होता है; जैसे—

गंगे, बढ़कर विप हुआ, सुधा-सदृश तव अंबु।
जीवन पाकर खो रहे, जीवन जीव-कदंब॥

उर्दू में काफिया और रदीफ का जिस प्रकार व्यवहार होता है उस प्रकार हिंदी में भी कहीं कहीं। 'दास' ने इस पर भी विचार किया है और इस प्रकार के तुकांतों को वीप्सा, यामकी और लाटिया नामक भेदों में विभाजित किया है। 'वीप्सा' का तात्पर्य यह है कि कोई शब्द दो बार आए। जैसे—दई दई, बई बई, मई मई, नई नई आदि। 'यामकी' का तात्पर्य यह है कि तुकांत के भिन्नार्थ हों पर स्वरूप एक रहे; जैसे—

अंबर से बरसा रहे रस हैं वे घन श्याम।
रससागर उमड़ा रहे, ये मेरे घनश्याम॥

'लाटिया' तुकांत वह है जिसमें मूल तुक के साथ एक ही अर्थ व्यक्त करनेवाले शब्द चारों चरणों में पड़ें। जैसे—लहि जायगी, गहि जायगी, रहि जायगी, बहि जायगी आदि में 'जायगी' का प्रयाग।

चरणों के समन्वय के आधार पर तुकांत छह ढंग के होते हैं—सर्वांत्य, समांत्यविषमांत्य, समांत्य, विषमांत्य, समविषमांत्य और भिन्नांत्य अथवा अतुकांत। 'सर्वांत्य' उसे कहते हैं जहाँ छंद के चारों चरणों में तुक मिले। कवित्त, सवैया आदि ऐसे ही छंद हैं। 'समांत्य-विषमांत्य' वहाँ होता है जहाँ छंद के विषम (पहले और तीसरे) चरणों का तथा सम (दूसरे और चौथे) चरणों का तुकांत एक सा हो। हिंदी में ऐसी कविता कम मिलती है, किंतु अँगरेजी-साहित्य में इसका विशेष प्रचार है। जहाँ छंद के केवल दूसरे-चौथे चरणों का तुकांत मिले वहाँ 'समांत्य' होता है। हिंदी में इस तरह के छंद दोहा, बरवै

आदि पहले से हैं और अब इस तरह के कुछ नए छंद और भी लिखे जाने लगे हैं। अँगरेजी में और उर्दू में ऐसे छंदों का विशेष प्रचलन देखा जाता है। जिसमें पहले और तीसरे चरण का तुकांत मिलता हो उसे 'विषमांत्य' कहते हैं; जैसे सोरठा। जहाँ छंद में पहले-दूसरे और तीसरे-चौथे चरणों का तुकांत एक सा हो उसे 'समविषमांत्य' कहते हैं। हिंदी में चौपाइयाँ, रोला आदि इसी ढंग से अधिकतर लिखे जाते हैं। जहाँ छंद के प्रत्येक चरण में भिन्न भिन्न तुकांत हों उसे 'भिन्नांत्य या अतुकांत' कहते हैं। हिंदी में 'प्रियप्रवास' अतुकांत रचना है।

प्रत्यय

पिंगल की प्रक्रिया में छंदों का विस्तार जिन विधियों से व्यक्त होता है उन्हें 'प्रत्यय' कहते हैं। छंदों के विस्तार से तात्पर्य विभिन्न मात्रा एवम् वर्ण के प्रस्तार और उनकी संख्या आदि से है। कुल नौ प्रत्यय माने गए हैं—प्रस्तार, सूची, उद्दिष्ट, नष्ट, पाताल, मेरु, खंडमेरु, पताका और मर्कटी। पिंगल में इन प्रत्ययों का बहुत अधिक विस्तार है। वस्तुतः यह पिंगल का गणित-विभाग है। इसके द्वारा पता चलता है कि अमुक मात्रा या वर्ण के छंदों का स्वरूप और उनकी निश्चित संख्या क्या है। इनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

(१) **प्रस्तार**—प्रस्तार में छंदों के स्वरूप का विस्तार दिखलाया जाता है। प्रस्तार को समझाने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि मात्रिक छंदों में एक मात्रा के छंदों की संख्या एक, दो मात्रा के छंदों की संख्या दो और तीन मात्रा के छंदों की संख्या तीन होती है। चार मात्रा के छंदों की संख्या पाँच होती है। यह संख्या तीन मात्रा और दो मात्रा की छंदसंख्या का योग है। इसी प्रकार पाँच मात्रा के छंदों की छंदसंख्या पिछले दो अर्थात् चार मात्रा के छंदों और तीन मात्रा के छंदों की संख्या के योग के बराबर होगी। अतः नियम यह हुआ कि किसी मात्रा की संख्या उसके पूर्व की दो मात्राओं की छंद-संख्या के योग के बराबर होती है। छंदों की संख्या को 'सूची अंक' कहते हैं। वर्णप्रसार में छंदसंख्या अपने से पूर्व की संख्या की दूनी होती है। जैसे—एक वर्ण की छंदसंख्या दो होती है, दो वर्ण की छंदसंख्या चार, तीन की आठ, चार की सोलह, पाँच की बत्तीस आदि।

अब प्रस्तार का विवरण समझिए। पहले मात्रिक छंद लीजिए :

मात्रिक छंदों में दो प्रकार की स्थितियाँ होंगी। कुछ विषमकल अर्थात् तीन, पाँच, सात, नव आदि मात्रावाले होंगे और कुछ समकल अर्थात् दो, चार, छह, आठ, दस आदि मात्रावाले। किसी मात्रा के छंद का पहला भेद वह होगा जिसमें सब गुरु वर्ण होंगे। विषमकल में जो एक मात्रा बढ़ेगी वह बाँएँ हाथ की ओर रखी जायगी। जैसे, छह मात्राओं का पहला भेद होगा तीन गुरु (ऽऽऽ) और पाँच मात्राओं का पहला रूप होगा एक लघु दो गुरु (।ऽऽ)। दूसरे, तीसरे आदि रूप बनाने के लिए नियम यह है कि पहले रूप में सबसे प्रथम गुरु के नीचे लघु (।) रखें और दाहिने हाथ की ओर ज्यों का त्यों उतार दें। बाँएँ हाथ की ओर गुरु वर्ण बनाते चले जायँ। अंत में जाकर यदि गुरु रखने से मात्रा बढ़ती हो तो अंत में लघु रखें। ध्यान रखना चाहिए कि यह लघु बाँएँ हाथ की ओर अंत में ही रखा जाता है। उदाहरण लीजिए—

पाँच मात्राओं का प्रस्तार

। ऽ ऽ
ऽ । ऽ
। । । ऽ
ऽ ऽ ।
। । ऽ ।
। ऽ । ।
ऽ । । ।
। । । । ।

मात्राओं के प्रस्तार में सबसे अंतिम भेद वह होगा जिसमें सब मात्राएँ लघु हों।

वर्णिक प्रस्तार भी इसी प्रकार किया जाता है। अंतर इतना ही है कि इसमें अक्षरों की गिनती करनी पड़ती है मात्राओं की गिनती नहीं। जैसे यदि पाँच वर्णों का वृत्त हो तो ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक भेद में पाँच ही वर्ण रहें। इसमें भी सबसे पहला भेद वही होता है जिसमें सब गुरु वर्ण हों और अंतिम भेद वह होता है जिसमें सब लघु वर्ण हों। उदाहरण के लिए तीन वर्णों का प्रस्तार दिया जाता है। इसके आठ भेद होते हैं।

तीन वर्णों का प्रस्तार

ऽ ऽ ऽ
। ऽ ऽ
ऽ । ऽ
। । ऽ
ऽ ऽ ।
। ऽ ।
ऽ । ।
। । ।

(२) **सूची**— या संख्या से छंदों की संख्या की शुद्धता और उनके भेदों में आदि-अंत गुरु अथवा आदि-अंत लघु की संख्या सूचित की जाती है।

(३) **उद्दिष्ट**—यदि कोई कितनी ही मात्रा या वर्ण के प्रस्तार का कोई भेद लिखकर पूछे कि यह कौन सा भेद है तो उद्दिष्ट द्वारा बतलाया जा सकता है।

(४) **नष्ट**—इसके द्वारा कितनी ही मात्रा या वर्ण का कोई भेद जाना जा सकता है।

(५) **पाताल**—इसके द्वारा प्रत्येक छंद के भेद अर्थात् उनकी संख्या का ज्ञान, लघु-गुरु संपूर्ण मात्राएँ तथा वर्ण आदि जाने जाते हैं।

(६, ७) **मेरु, खंडमेरु**—कितनी ही मात्रा या वर्ण के संपूर्ण प्रस्तार के भेदों अर्थात् छंद के रूपों में जितने जितने गुरु और जितने जितने लघु के रूप होते हैं उनकी संख्या दिखलाने को मेरु और खंडमेरु कहते हैं।

(८) **पताका**—मेरु के द्वारा गुरु और लघु के जितने भेद प्रकट होते हैं पताका के द्वारा उनके ठीक स्थान बतलाए जाते हैं।

(९) **मर्कटी**—इससे प्रस्तार में लघु-गुरु, सर्वकला और समस्त वर्णों की संख्या जानी जाती है।

यद्यपि प्रत्यय नौ हैं तथापि केवल प्रस्तार, सूची, उद्दिष्ट और नष्ट विशेष प्रयोजनीय होते हैं। शेष कौतुक मात्र हैं। उन चारों में से प्रस्तार और सूची (तथा सूची-अंक) इन्हीं का विशेष महत्त्व है।

आलोचना

आलोचना या समीक्षा

आलोचना के लिए तीन शब्द चलते हैं—आलोचना, समालोचना और समीक्षा। समालोचना और आलोचना में केवल 'सम्' उपसर्ग का अंतर है। प्रयोग में कोई अंतर नहीं। जैसे उत्सुक को समुत्सुक लिखना कुछ लेखकों को अधिक रुचिकर है, यत्न को प्रयत्न लिखने का जैसे चलन है वैसे ही आलोचना को समालोचना लिखने का। 'आलोचना' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है चारों ओर से देखना अर्थात् भली भाँति विचार करना। साहित्य के क्षेत्र में जो भी उपज हुई हो उसे भली भाँति देखना या उस पर विचार करना यही आलोचना है। साहित्य में एक तो निर्माण या कृति होती है, दूसरे उसका विचार होता है। प्राचीनों का कहना है कि साहित्य में अमृत आलोचना ही है। इसी अमृत के कारण साहित्य साहित्य है, उसकी महत्ता है।* या यों कहिए कि साहित्य इसी अमृत के कारण जीता है, मधुर भी लगता है। किसी रचना को उसकी आलोचना जिलाती है। कृति जन्म तो लेती रहती है, जन्म लेकर कुछ दिनों साँस भी लेती है, पर उसे अधिक दिनों आलोचना जिलाए रखती है। आलोचना किसी रचना का गुण, उसकी विशेषता स्पष्ट करती है, उसका स्वास्थ्य बतलाती है। इससे सिद्ध है कि साहित्य के लिए आलोचना की कितनी आवश्यकता है।

आलोचना के लिए एक शब्द समीक्षा भी है। 'समीक्षा' सम्यक् प्रकार से ईक्षा या देखना है। किसी काव्यकृति का सांगोपांग विचार करना समीक्षा है। राजशेखर ने 'अंतर्भाष्य' को समीक्षा कहा है। भाष्य का अर्थ है व्याख्या। व्याख्या ऐसी होनी चाहिए कि उसमें अवांतरार्थ का विच्छेद भी हो। † भीतरी व्याख्या हो, गहरी छानबीन हो, उससे हटबढ़कर इधर उधर भटका न जाए तभी कोई विचार समीक्षा है। यों दोनों शब्दों का अर्थ मिलता जुलता ही

---

* संगीतमय साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्। एकमापातमधुरमन्यदा-लोचनामृतम्॥

† अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्चसा।—काव्यमीमांसा।

है। पर इसकी उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि आंतर विश्लेषण पर विशेष दृष्टि ही समीक्षा है। आलोचना में भली भाँति देखने में आंतर दृष्टि भी है। समीक्षा में आंतर दृष्टि प्रधान है। संप्रति आलोचना में बाहरी-भीतरी दोनों दृष्टि रहती है। इसलिए समीक्षा की अपेक्षा आलोचना शब्द व्यापक अर्थ में अधिक उपयुक्त है।

आलोचना दो प्रकार की दिखाई पड़ती है। एक तो काव्य या साहित्य के सिद्धांतों का विचार और दूसरे उन सिद्धांतों के अनुसार किसी कृति का विश्लेषण। सिद्धांतों का विचार 'शास्त्र' कहलाता है। भारत में काव्य का शास्त्रसंबंधी सैद्धांतिक विचार काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र कहलाता था। इस काव्यशास्त्र की दृष्टि से किसी कृति का विचार टीका या भाष्य के प्रसंग में भी किया जाता था। इसलिए आलोचना के प्रायोगिक पक्ष के अंतर्गत टीका आदि की गणना की जा सकती है। सैद्धांतिक विचार से पृथक् करने के लिए टीका या भाष्यादि समेत काव्यकृति का जो विचार होता रहा है उसके लिए 'समीक्षा' शब्द का प्रयोग किया जाए तो कोई बाधा नहीं। संस्कृत से देशी भाषाओं तक समीक्षा का क्या विकास हुआ और अब पश्चिमी आलोचना के संपर्क के कारण उसने क्या रूप धारण किया इसका यहाँ संक्षिप्त ऐतिहासिक विचार किया जाता है।

समीक्षा का विकास

संस्कृत-साहित्य में साहित्य या काव्य के ग्रंथों की टीका में आलोचना का बहुत सा अंश मिलता है। टीका में शब्दार्थ मात्र नहीं रहता। जानकारी की आनुषंगिक अनेक बातों का विचार भी रहता है। कहीं कोश, कहीं व्याकरण, कहीं तुलना, कहीं प्रयोगवैशिष्ट्य आदि कई अपेक्षित तत्त्व इनमें रहते हैं। मल्लिनाथ की प्रख्यात टीकाएँ इनमें प्रमाण हैं। टीकाओं में जो आलोचना-संबंधी उपरिकथित सामग्री है उसके अतिरिक्त कवियों के संबंध में निर्णयात्मक पद्धति पर कुछ उक्तियाँ भी मिलती हैं, जैसे कालिदास,* बाण, भवभूति आदि के लिए। हिंदी में भी संस्कृत की ही भाँति आरंभ में कवियों की प्रशंसात्मक आलोचना ही दिखाई देती है।† रीतिकाल में कुछ ग्रंथ

---

* उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

† यथा—सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।
अब के कबि खद्योत-सम जहँ तहँ करहिं प्रकास ॥

ऐसे अवश्य दिखाई देते हैं जिनमें काव्यांगों के उदाहरण स्वतः न प्रस्तुत करके लक्ष्य-ग्रंथों से उदाहृत किए गए हैं। यह भी एक प्रकार की आलोचना ही है। यद्यपि इसमें किसी एक ही कवि या किसी एक ही ग्रंथ की विस्तृत आलोचना, भले ही वह पुराने ढंग की हो, नहीं दिखाई देती तथापि आलोचना का बीज इसमें अवश्य पाया जाता है। नए ढंग की आलोचना का आरंभ हिंदी में आधुनिक काल के आरंभ में ही दिखाई पड़ा और इसका आरंभ बालकृष्ण भट्ट द्वारा हुआ। जिन्होंने 'संयोगिता-स्वयंवर' की बड़ी कड़ी आलोचना 'हिंदी प्रदीप' (सं० १८४३) में की। हिंदी में आलोचना आरंभ में परिचयात्मक ही दिखाई देती है। इसके अनंतर मंडनात्मक एवम् खंडनात्मक आलोचना का प्रवाह चला। तुलनात्मक आलोचना भी दिखाई पड़ी जिसके व्यवस्थित रूप से प्रवर्तक स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा हैं। किंतु तब तक आलोचना-शाखा का परिष्कार भली भाँति नहीं हो सका था। अधिकतर आलोचक व्यक्तिगत रुचिवैचित्र्य के आधार पर किसी कवि को दूसरे से उत्कृष्ट सिद्ध करने में ही प्रवृत्त रहे। वस्तुतः स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ही व्यवस्थित एवम् शास्त्रसंमत विश्लेषणात्मक आलोचना के प्रवर्तक हुए। इनकी आलोचना में काव्यप्रणेता की विशेषताओं के उद्‌घाटन पर सम्यक् दृष्टि रखी गई। निष्पक्षता, निरपेक्षता और सद्भावना के साथ गुण एवम् दोष दोनों का विवेचन किया गया। सचमुच आलोचना का प्रयोजन और महत्त्व यही है कि आलोच्य व्यक्ति या रचना की विशेषता से साहित्य के अध्येता पूर्णतया परिचित हों और उसके गुण-दोषों के विवेचन से भावी प्रणेता सँभलें। एक ओर तो हिंदी में शुक्लजी आलोचना का विस्तृत भारतीय मार्ग खोलते हुए दिखाई पड़े और दूसरी ओर विलायती स्वाँग भरनेवाले भी चटक-मटक दिखाते हुए कुछ टेढ़ा-सीधा लिखते रहे। हिंदी के कुछ कवियों के संबंध में अँगरेजी के कवियों पर कही गई शब्दावली का चलता अनुवाद देखकर बहुतों को क्षोभ होता रहा है। कुछ ऐसे भी आलोचक दिखाई देते हैं जो व्यक्ति वैचित्र्यवाद की आड़ में कवियों या लेखकों की प्रभाववादी आलोचना करने में ही लीन हैं। आलोचना शास्त्र है, अध्ययनसापेक्ष है। शास्त्र का सुविचारित और सुव्यवस्थित होना उसका लक्षण है। पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तकों की चलती आलोचना का चलन बढ़ जाने से साधारण बातों से ही काम चलाने का प्रयास भी होने लगा; गंभीरता की ओर आलोचकों की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। शुक्लजी की शैली पर

साहित्य पहले बनता है, शास्त्र उसके अनंतर। पर शास्त्र बन जाने पर साहित्यकार के लिए उसका अवलोकन वांछनीय होता है, अनिवार्य हो जाता है। बिना शास्त्र की प्रज्ञा के उसकी उपज्ञा शासित नहीँ होती, व्यवस्थित नहीँ रहती। काव्यमार्ग कठिन मार्ग है, काव्या-स्वाद विषास्वाद है, यदि शास्त्ररहस्य का मनन-चिंतन नहीँ किया गया।*

कवि या निर्माता के लिए केवल शक्ति अपेक्षित नहीँ है। निपुणता और अभ्यास की भी अपेक्षा है। निपुणता लोक, काव्य, शास्त्र आदि के अवेक्षण से आती है। जो साहित्यशास्त्र या साहित्यविद्या में बिना श्रम किए किसी काव्यनिर्माता की निर्मिति को देखने समझने में प्रवृत्त होते हैँ उनके सामने कवि के गुण कुंठित हो जाते हैँ।† साहित्यविद्या मेँ श्रम करनेवाला कवि के गुणोँ में शान चढ़ा देता है।

साहित्यशास्त्र का इतना महत्त्व होते हुए भी किसी निर्माता का शास्त्रस्थिति के संपादन मेँ प्रवृत्त होना वांछनीय नहीँ। ऐसे ही शास्त्र के चिंतन-मनन का अभ्यास करने पर भी ग्रहीता को काव्य में शास्त्र-स्थितिसंपादन का अनुसंधान नहीँ करना चाहिए। शास्त्र मार्ग निर्देशन के लिए है। उसके विशेष आग्रह से काव्य बिगड़ता है और उसके विशेष हठ से कवि की स्वच्छंदता का अपहनन होता है।

हिंदी को साहित्यशास्त्र रिक्थ मेँ मिला। हिंदी के मध्यकालिक कर्ताओँ ने शास्त्रस्थितिसंपादन की इच्छा इतनी प्रबल कर दी कि उनकी रचना मेँ रमणीयता की स्थान-स्थान पर कमी होने लगी। बाप-दादोँ की जो संपत्ति मिली उसे ऐसे व्यापार मेँ लगाया जिसमेँ मूल की भी हानि होने लगी। फल यह हुआ कि न कर्ता के हाथ विशेष लगा, न ग्राहक के हाथ ही। यदि संस्कृत मेँ साहित्यशास्त्र सुरक्षित न होता तो हिंदी के मध्यकालिक आचार्य नामधारी महानुभावोँ के सहारे इसका वास्तविक अनुशीलन-मनन-चिंतन असंभव नहीँ तो कठिन अवश्य हो गया था। सहस्रोँ वर्ष की इस कमाई को हम खो नहीँ बैठे थे तो बहुत कुछ बेकार अवश्य कर रखा था। हिंदी के मध्यकालिक कर्ताओँ

---

* मखक कहते हैँ—

अज्ञातपांडित्यरहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्।
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान्-हालाहलास्वादनमारभन्ते॥

—श्रीकंठचरित

† कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।

को साहित्यशास्त्र की आवश्यकता इसलिए नहीं हुई थी कि उसके चिंतन-मनन में विकास करना है। उनकी फुटकल या मुक्तक रचनाओं का महल उठाने में काव्यशास्त्र ने गारे का काम किया। रत्नों को फूँक-फूँक कर चूना और बरी बनाई गई। अच्छे-अच्छे महल बने, बसने योग्य कम, देखने-दिखाने योग्य अधिक। पर उनके संभार को देख-कर यह कोई नहीं कह सकता कि हमारे पास जायदाद कम है, बाप-दादों की कमाई नहीं है। हम अपनी संपत्ति-समृद्धि का कोई उपयोग-प्रयोग नहीं जानते। इसमें लग जाने का सुपरिणाम यह हुआ कि हमने अपनत्व नहीं खोया। फारसी का राजनीतिक अदब-कायदा चाहे जितना सीखा हो पर उसका साहित्यिक अदब-कायदा नहीं लिया। उनकी जो सजधज हमें रुची उसका अपने ढंग से अभिव्यंजन भर कर दिया। संस्कृत के साहित्यशास्त्र की अपेक्षा-आवश्यकता हिंदी से पहले की किसी भी भाषा को एक प्रकार से नहीं हुई थी।

हिंदी को साहित्यशास्त्र का रिक्थ इसी से सीधे संस्कृत से मिला, प्राकृत या अपभ्रंश से नहीं। प्राकृत और अपभ्रंश में से प्राकृत संस्कृत के साथ है, अपभ्रंश हिंदी या देशी के साथ। संस्कृत-प्राकृत का युग्म है। वहाँ भाषाभेद है साहित्यभेद नहीं। भाषाभेद के कारण प्राकृत के व्याकरण अवश्य पृथक् बने, पर साहित्यशास्त्र पृथक नहीं बना। प्राकृत का कार्य संस्कृत में बने शास्त्रीय ग्रंथों से ही चल जाता था। यहाँ तक कि पिंगलभेद भी नहीं था। 'गाथा' प्राकृत की विशेषता होने पर भी आर्या से भिन्न नहीं है। यदि कोई यह कहे कि गाथा से ही आर्या बनी तो भी इतना ही पिंगलभेद है, अन्यत्र पिंगलभेद भी नहीं। पर अपभ्रंश से पिंगलभेद भी हो गया। संस्कृत-प्राकृत में वर्णवृत्तों का प्रयोग होता था, गाथा-आर्या के अतिरिक्त। अपभ्रंश से मात्रावृत्तों का प्रयोग प्रधान हुआ। वर्णवृत्तों में तुकांत अपेक्षित न था, अपभ्रंश के मात्रावृत्तों को नादतत्त्व की वृद्धि अपेक्षित हुई। तुकांत की योजना हुई। पर साहित्यशास्त्र संस्कृत का ही रहा। जैनों ने व्याकरण का सहारा लेकर अपभ्रंश का प्रयोग बहुत किया, पर साहित्य-शास्त्र संस्कृत का ही रहा। हाँ, प्राकृत की भाँति संस्कृत की साहित्यशास्त्र संबंधी धरोहर पर ही वह अवलंबित नहीं रहा, उसने अपने माध्यम से भी उसे प्रस्तुत करने का कुछ प्रयास किया। पर वहाँ भी साहित्य-शास्त्र के लेखक या अनुवर्तक गिने-चुने ही हैं। जैनों के ग्रंथों का सहारा हिंदीवालों ने नहीं लिया, हिंदीवालों के लिए वे सुलभ ही

कहाँ थे, ग्रंथागारों में बंद पड़े थे या जैनबंधुओं के घरों में ही बेठनों से खुलते थे। लोकप्रवाह में वे नहीं आए। अर्थात् व्याकरण-भेद और पिंगलभेद होने पर भी साहित्यभेद नहीं हुआ।

साहित्य का निर्माण इस देश में बहुत प्राचीन है। साहित्यशास्त्र का निर्माण भी बहुत प्राचीन है। एक ओर वाल्मीकि पर तो दूसरी ओर भरत पर दृष्टि जाती है। वाल्मीकि ने काव्य अर्थात् श्रव्यकाव्य का निर्माण किया, भरत ने नाट्यशास्त्र या दृश्यकाव्यशास्त्र का विवेचन किया। वाल्मीकि की रामायणीय कथा कुशीलव ने गाकर सुनाई, कुशीलव अभिनेता को भी कहते हैं। नाट्यशास्त्र में अलंकारों का भी विचार है जो श्रव्यकाव्य के लिए भी उपयोगी है। जैसे निर्माण में काव्य और नाट्य अथवा श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य दो प्रवाह हैं वैसे ही साहित्यशास्त्र की भी उभयविध धारा है। एक वह है जिसमें शब्दार्थ के चारुत्व के उत्कर्ष का विचार होता आया। दूसरी वह जिसमें शब्दार्थ की रसवत्ता का विचार प्रमुख हुआ। पहली धारा का संबंध मूलतः श्रव्यकाव्य से है, दूसरी मूलतः दृश्यकाव्य से संबद्ध है। आगे चलकर दोनों धाराएँ मिल गईं। पहली धारा काव्य के बाँकपन का विचार करती है, वह वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति पर अधिक ध्यान देती है। उनके यहाँ काव्य की विशिष्ट पदरचना का विभाजन वक्रता या अतिशयता से होता है। पर वक्रोक्ति के अतिरिक्त भी वाङ्मय होता है। उसको स्वभावोक्ति कहा गया। दंडी ने स्पष्ट ही कहा कि वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति के भेद से वाङ्मय दो प्रकार का होता है। पर इस स्वभावोक्ति का विस्तृत विचार नहीं किया, जाति-स्वभाव कहकर उसे छोड़ दिया। स्वभावोक्ति विभाजक धारा नहीं थी। उधर दृश्यकाव्य में रस का विचार प्रमुख हुआ। पहले प्रवाह ने निर्माता पर अधिक ध्यान दिया, निर्मिति पर विशेष दृष्टि रखी, वर्णना का प्रमुख विचार किया। दूसरी धारा चर्वणा के चिंतन में लगी। निर्माता व्यक्ति से ग्रहीता जाति पर उसका ध्यान विशेष रहा। दृश्यकाव्य में स्वभाव की योजना स्थान-स्थान पर करनी पड़ती थी, पर इनकी दृष्टि रस पर थी। इसलिए उक्ति के रूप में उसकी विचारणा नहीं हुई, व्यक्ति के रूप में हुई। नेता के प्रपंच में स्वभाव का कुछ विचार आया, जितना रस के विवेचन के लिए अनिवार्य था। नेता के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत भेदों में सर्वत्र 'धीर' शब्द ध्यान देने योग्य है। यह रस की दृष्टि के कारण है। इसी में नायिकाभेद का भी प्रपंच है। श्रव्यकाव्यप्रवाह या चारुत्वप्रवाह में से हिंदी में वक्रोक्ति-

मत का विचार एकदम नहीं, यहाँ तक कि वक्रोक्ति अलंकार का स्वरूप, काकुवक्रोक्ति का निरूपण, भी संस्कृत आलंकारिकों से भिन्न हो गया। वाच्य से व्यंग्य की ओर चले गए हिंदीवाले। रीति-मत का विचार भी सर्वांगनिरूपण के साथ ही साथ है, वह भी अधिकतर छोड़ दिया गया है। अलंकारों की उपनागरिकादि वृत्तियाँ ही ली गईं। अतः अलंकार-मत ही यहाँ गृहीत हुआ। अन्य सबको रीतिकाल के आचार्यों ने छोड़ ही दिया।

दृश्यकाव्यप्रवाह में ध्वनि का विचार पृथक् नहीं, काव्यांगों के साथ ही है। रस-संप्रदाय प्रमुखता से आया। उसकी दो शाखाएँ हैं, जो संस्कृत में भानुभट्ट की दो पुस्तकों 'रसमंजरी और रसतरंगिणी' से स्पष्ट हैं। एक रसभाव का विचार, दूसरे नायकनायिकाभेद का विचार। रसभाव-विचार में भी रसराज शृंगार का विचार प्रमुख हुआ। सगुण भक्तिसंप्रदाय की बहुत सी बातें लेकर भी माधुर्यादि भावों के विचार में ये लोग नहीं पड़े; उज्ज्वलनीलमणि, भक्ति-रसामृतसिंधु से अपना संबंध नहीं जोड़ा। जितना सरल सुबोध सर्वग्राह्य हो सकता था उतना ही लिया। फारसी-साहित्य से प्रेरणा-ही ग्रहण की गई। कई काव्यप्रवृत्तियाँ ली गईं, पर उसके साहित्य शास्त्र से कोई संबंध नहीं जोड़ा गया। फारसी-साहित्य का सरापा तो आया, पर अदब-कायदा नहीं छाया। जो कुछ आया वह भारतीय प्रवाह में मिल गया। हिंदी-साहित्य अनेक ग्राह्य प्रवृत्तियों को समेटता चल रहा था। जनता से बारहमासा, शास्त्रीय प्रवाह से षड्ऋतु और फारसी सरापा से शिखनख फिर नखशिख का ग्रहण हुआ। पर साहित्य-शास्त्र का विवेचन अपना ही रहा, संस्कृत का ही रहा, उसीमें से अपने अनुकूल चुनाव कर लिया। इस साहित्यशास्त्र का उपयोग समालोचना के लिए बहुत थोड़ा होता था। ज्ञानवृद्धि के लिए, परंपरा की जानकारी के लिए, लक्ष्यों के स्वरूपबोध के लिए ही इसका अधिक उपयोग होता रहा। कहीं कहीं थोड़ी आलोचना भी मिलती है, विशेषतया टीकाओं में।

अब समालोचना पर आइए। समालोचना हिंदी को रिक्थ में नहीं मिली। यह स्थानांतरप्ररोह या कलम है जो अँगरेजी के माध्यम से पश्चिम से आई। सिद्धांत और व्यवहार इसके दो पहलू हैं। सिद्धांत में सामान्य या जाति का विचार रहता है, व्यवहार में विशेष की उसी के आधार पर छानबीन की जाती है। इसमे व्यव-

ङ्गारपक्ष प्रबल है। पश्चिमी आलोचना का भी अपना बड़ा प्राचीन इतिहास है। यूनान और रोम ऐसे प्राचीन देशों की संस्कृति के विकास के बीच उसका विकास हुआ है तथा अफलातूँ एवम अरस्तू ऐसे मनीषियों की विचारपरंपरा से उसका संबंध है। उसका विकास महत्त्वपूर्ण हुआ है। वहाँ नित्य नवीन विचारसरणियाँ सामने आती रहती हैं। साहित्य की कृति के ही नहीं, आलोचना-समालोचना के भी विविध प्रवाह वहाँ चल पड़े हैं। उसमें बहुत उपयोगी बातें हैं। उनका अपने साहित्य के अध्ययन में आना श्रेयस्कर है। पर उनकी अनुकृति समालोचना में भी करने का परिणाम यह है कि आलोचना निर्मितिपर्यवसायी नहीं होती। अधिकतर निर्मिति को सामने रखकर समालोचना नहीं होती। आलोचना को ही ध्यान में रखकर निर्मिति का अवलोकन-पर्यवेक्षण होता है। यद्यपि हिंदी में अंधाधुंध निर्माण हो रहा है, पर उसमें अपनी विशेषताएँ भी उभर रही हैं, ऐसी विशेषताएँ जिनका उल्लेख पश्चिमी आलोचकों ने अपनी विकाससरणि में नहीं किया है। पर पश्चिमी आलोचना का पदानुसरण करने का फल यह है कि यहाँ नया आलोचनाशास्त्र नहीं बन पा रहा है।

आधुनिक युग में अँगरेजी-साहित्य के संपर्क में आने से हिंदी-साहित्य में केवल साहित्य की विविध शाखाओं की सर्जना का ही विस्तार नहीं हुआ उन उन शाखाओं और प्रवृत्तियों के विचार के लिए अँगरेजी-साहित्य की आलोचना का भी सहारा लिया जाने लगा। संप्रति अँगरेजी साहित्य-समालोचना की जितनी जानकारी पठित व्यक्ति को होती है उतनी साहित्यशास्त्र की नहीं। जैसे हिंदी में साहित्यशास्त्र का नूतन विचारोन्मेष नहीं हुआ, सारा विचार संस्कृत से ले लिया गया, उसी प्रकार समालोचना के लिए भी नूतन विचारोन्मेष प्रायः नहीं के समान दिखाई देता है। अँगरेजी में जो विचार वहाँ के आलोचकों ने किए हैं उन्हीं की उद्धरणी अधिकतर होती रहती है। अँगरेजी-साहित्य में समय समय पर जो नई नई पद्धतियाँ चलती हैं उनका अनुकृतिरूप में ग्रहण और उसके लिए उनकी आलोचना का अनुग्रहण होता आ रहा है। जितने प्रकार के वाद वहाँ दिखाई पड़ते हैं उतने प्रकार के वाद यहाँ भी आ जाते हैं। शास्त्र शासन का भी कार्य करते थे। समालोचना से शासन का कार्य बंद हो गया। शास्त्र कर्ता-निर्माता की भी सहायता करता था, पाठक-श्रोता-ग्रहीता की भी सहायता करता था। समालोचना का संबंध कर्ता-निर्माता से उतना

अधिक नहीं जितना ग्राहक-सामाजिक से। आधुनिक युग में अनुसंधान के उन्मेष ने भी विलक्षण स्थिति उत्पन्न कर रखी है। अनुसंधान करनेवाला नूतन तथ्योपलब्धि और नूतन व्याख्या से जितना संबंध रखता है उतना समालोचना से नहीं। समालोचना की आवश्यकता जनता को उतनी नहीं है जितनी अध्ययन करनेवाले परीक्षार्थियों को। फल यह हुआ है कि आलोचना लिखनेवाले अनेक हो गए हैं, नए नए पैंतरे से एक ही साज-सज्जा सामने आ रही है। समालोचना का गंभीर विचार करनेवाले गिने-चुने ही हैं।

इधर संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रमुख ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं जिनसे एक लाभ यह अवश्य हुआ कि संस्कृत साहित्यशास्त्र के संबंध में बहुत सी ऊटपटांग उक्तियाँ बंद हो गईं या बंद होती जा रही हैं। पर साथ ही दूसरा नया प्रवाह चल पड़ा है, साहित्यशास्त्र का वैज्ञानिक विश्लेषण। वैज्ञानिक विश्लेषण उपयोगी है, पर सबको उसमें हाथ नहीं डालना चाहिए। उसके वैज्ञानिक विश्लेषण का परिणाम यह है कि साधारणीकरण की विलक्षण व्याख्याएँ होने लगी हैं, गुणों का विलक्षण विवेचन होने लगा है। भारतीय साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का विचार पृथक् ही रखना चाहिए। पश्चिमी समालोचना के साथ उसको मिलाना या उसमें पश्चिमी समालोचना को जोड़ना मंगलकारी न होगा। भारतीय साहित्यशास्त्र का अध्ययन अवश्य हो और अनिवार्य हो, पर उसमें पश्चिमी मेल मिला कर उसे बिगाड़ा न जाय। साहित्यशास्त्र के अध्ययन की पराङ्मुखता का परिणाम समालोचना के युग में यह है कि आलोचनाशास्त्र अपना नहीं बन रहा है। हिंदी के मध्यकाल में कवियों ने अनेक उक्तियाँ ऐसी कहीं जिनके आधार पर अलंकार के क्षेत्र में नूतन विचार-सरणि का संकेत किया जा सकता था, पर उस समय किसी ने ऐसा नहीं किया। संप्रति अँगरेजी की प्रेरणा से साहित्य की जिन जिन शाखाओं में निर्माण हो रहा है उन उन का विवेचन आलोच्य ग्रंथों के विश्लेषण से कम, अँगरेजी-समालोचना के ग्रंथों के आधार पर अधिक हो रहा है। जब तक नया आलोचनाशास्त्र नहीं बनता हिंदी के कर्तृत्व का ठीक ठीक अध्ययन तो हो ही नहीं सकता, आलोचना के कर्तृत्व को संस्कृत-साहित्यशास्त्र और पश्चिमी आलोचनाशास्त्र की बहुत बड़ी चुनौती भी बनी रहेगी। इसी से यहाँ जिज्ञासुओं के लिए भारतीय आलोचना और पश्चिमी आलोचना का पृथक् पृथक विचार किया जायगा।

सामाजिक और सहृदय

रस-प्रक्रिया में 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग बारंबार हुआ है। अभिनवगुप्त 'नाट्यशास्त्र' की टीका में फलरूप में रसापवाद करनेवाले को सामाजिक कहते हैं।* दशरूपकार धनंजय ने अनुभाव की परिभाषा करते हुए उसका लक्षण सामाजिक को भाव का अनुभव करानेवाला बताया है।† अन्यत्र, नाट्यशास्त्र ही नहीं काव्यशास्त्र के आचार्य भी अनुभावों की मीमांसा के प्रसंग में ऐसा ही कहते हैं।‡ काव्यानुभूति के प्रसंग में सामाजिक का उल्लेख पश्चिमी भारत के ही नहीं पूर्वी भारत के काव्यशास्त्राचार्य भी करते हैं। + लक्षण ग्रंथों में ही नहीं, लक्ष्यग्रंथों में भी इसकी चरचा है। ×

सम्प्रति रस-प्रक्रिया की आधुनिक मीमांसा होने लगी है, पर 'सामाजिक' की ओर किसी की दृष्टि नहीं गई, समाजवादियों की भी नहीं। अच्छा तो 'सामाजिक' है कौन ? रस का आस्वाद लेनेवाला। ऊपर अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'रसमयं विश्वम्' कहते हुए फलरूप में रस का आस्वाद लेनेवाले को 'सामाजिक' नाम से अभिहित किया है। यही क्यों! उन्होंने 'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव' कहकर कवि और सामाजिक की भी एकवाक्यता कर दी है, उन्हें समानधर्मा कह दिया है। कवि में 'रस' बीजरूप में रहता है, सामाजिक के पास वह फलवत् आता है। रस की सफलता सामाजिक के कारण

---

* यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः, तेन रसमयमेव विश्वम्। —अभिनवभारती, पृष्ठ २९५।

† भावाननुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः। —दशरूप, ४-३।

‡ स्थायिव्यभिचारलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनः अनुभवन् अनुभाव्यते साक्षात्कार्यते यैः ते अनुभावाः। —काव्यानुशासन, २।

\+ सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। न च तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतुः। —काव्यप्रदीप।

× तेन हि तत्प्रयोगादेवानुभवतः सामाजिकानुपास्महे। —मालतीमाधव, १ इत्यादि।

है, यह भी कहा जा सकता है। रस सफल होता है सामाजिक के निकट। रस-प्रक्रिया को आचार्यपाद ने सर्वत्र व्याप्त तो कह दिया पर उसकी परिपूर्णता सामाजिक में ही होती है। उसके विकास या परिपाक का चरम अधिष्ठान सामाजिक का हृदय है। अस्तु। यह 'सामाजिक' पद बना कैसे ? 'समाज' ही से न ? समाज क्या है ? अमरकोश कहता है—

जंतुओं के वृंद का नाम संघ-सार्थ, तिर्यक्-वृंद का नाम यूथ, पशुओं का समज और अन्यों का समाज होता है। अन्यों में मनुष्य आदि हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य-समूह 'समाज' कहलाता है।* इस समूह का ही, इस समाज का ही अंग 'सामाजिक' है। रस का आस्वाद लेनेवाला, समाज का प्राणी सामाजिक है। जो समाज का न होगा वह सामाजिक नहीं हो सकता। समाज की भावना से जो ओतप्रोत न हो वह सामाजिक कैसा।

इस सामाजिक के लिए ग्रंथों में एक शब्द और आता है—सहृदय।† अच्छा तो यह 'सहृदय' कौन है ? श्री भानुजी दीक्षित लिखते हैं, ‡ जो हृदय के साथ हो। हृदय तो प्राणिमात्र में होता है। अतः वे फिर लिखते हैं, 'प्राणिमात्रस्य तथात्वादत्र प्रशस्तहृदयपरत्वं हृदयशब्दस्य'। सहृदय शब्द की व्याख्या में यह प्राशस्त्य या तो काम चलाना है अथवा प्राशस्त्य का अर्थ समानहृदयता है। 'प्रशस्तहृदयपरत्व' के बदले 'समानहृदयत्व' क्यों न माना जाय और 'प्रशस्तहृदयमस्य' के बदले 'समानं हृदयमस्य' क्यों न कहा जाय। सहृदय वही न होगा जो कवि के हृदय से अपना हृदय मिला ले ! जो आश्रय के हृदय से अपना हृदय मिला सके, जो अपने हृदय को दूसरे के हृदय से मिला सके,

---

* वृन्दभेदाः समैर्वर्गः संघसार्थौ तु जन्तुभिः।
सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुंनपुंसकम् ॥
पशूनां समजः अन्येषां समाजः अथ सधर्मिणाम्।
स्यान्निकायः··· ··· ··· ··· ॥—काव्यप्रकाश, १।

† इत्युपदेशं कवेः सहृदयस्य च करोति।
परिष्कुर्वन्त्यन्ये सहृदयधुरीणाः कतिपये ॥ —रसगंगाधर।
इत्यादि काव्येषु सहृदय-हृदय-सागरसमुचलद्राकामृगांकप्रतिबिंबेषु।
—अभिनवभारती, पृष्ठ २२३, आदि आदि।

‡ सहृदयः सह हृदयेन।

उसके हृदय की समानुभूति कर सके। समानुभूति के बिना सहृदयता किस काम की? इस प्रकार रस का आस्वाद लेनेवाले, फल चखनेवाले के दो नाम हुए—सामाजिक और सहृदय। समाज की भावना के अनुरूप आस्वाद लेनेवाला। दूसरे के हृदय में अपना हृदय डालकर समानुभूति करनेवाला। एक नाम बाह्यविषयत्व के कारण है, दूसरा आभ्यंतरिक गुण के कारण। दोनों की विशेषताएँ दो भिन्न दृष्टियों से हैं और दोनों के अर्थ एक दूसरे के पूरक हैं। 'सामाजिक' को 'सहृदय' होना चाहिए और 'सहृदय' को 'सामाजिक' होना चाहिए। कहाँ? रसचर्वणा में। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजगत भावना का तथा हृदयगत भावना का ग्राहक ही सहृदय-सामाजिक है। इसको विश्लिष्ट करके यों भी कह सकते हैं कि यदि काव्य में समाजगत अनुभूति की अभिव्यक्ति न हो, सर्वसामान्य अनुभूति की व्यंजना न हो, तो सामाजिक के लिए वह अग्राह्य हो सकती है, उद्वेगजनक चाहे न हो। 'अग्राह्य' कहने में भी बाधा हो तो कह सकते हैं कि पूर्णतया ग्राह्य नहीं हो सकती। व्यक्तिगत अनुभूति सामाजिक के आस्वाद में विघ्न नहीं तो अपरिपूर्णता तो ला ही सकती है। काव्य में कुछ ऐसे प्रसंग भी आया करते हैं जिन्हें 'रसाभास' कहा गया है। यह 'रसाभास' और कुछ नहीं है, जहाँ सामाजिक की अनुभूति के विपरीत या अनुकूल वैयक्तिक अनुभूति काव्य में आ जाती है वहाँ रसाभास हो जाता है। जैसे समाज की मर्यादा के अनुसार किसी का पिता या गुरु आदर का भाजन होता है। यदि कहीं पिता या गुरु के प्रति अनादरव्यंजक आचरण हो तो वह रसाभास का हेतु होगा। यदि कोई पुत्र अपने पिता को पीट रहा हो और कवि इसका वर्णन करके पुत्र के क्रोध से रौद्र रस की व्यंजना करना चाहे तो उसे सफलता न होगी। यहाँ रौद्र रस न होगा, उसका 'आभास' हो सकता है। इस बाधा का कारण क्या है? यही न कि पिता के प्रति पुत्र का क्रोध उचित नहीं है? क्रोध के औचित्य में हेतु क्या है? समाज की मर्यादा। 'समाज' ही वस्तुतः रसविधान का, उसके औचित्य का साधक है। रसभंग का कारण अनौचित्य होता है, असामाजिकता होती है। इसी से सामाजिक रस का पूर्ण या ठीक अनुभव नहीं कर पाता। तो यह क्यों न कहा जाय कि 'रस-प्रक्रिया' में सामाजिकता ही प्रमुख है। 'औचित्य-विचार' का दूसरा नाम 'सामाजिकता-विचार' है। केवल किसी की चित्तवृत्ति का प्रतिपादन ही काव्य नहीं है, वस्तुतः काव्य में सामा-

जिकता-विधायक निर्माण अपेक्षित है। यदि यह न माना जायगा तो सभी वक्ता कवि हो जायँगे।*

औचित्यानौचित्य का सारा विचार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने सामाजिकता की ही दृष्टि से किया है। रीतिबद्ध कविता रचनेवाले कितने ही कृतियों ने औचित्य का विचार किए बिना ही अलंकारों की योजना कर दी है। यदि कोई करुण प्रसंग में यमक की कारीगरी दिखाने बैठे तो क्या कहा जायगा? यही न कि कविजी सामाजिकता से कोसों दूर हैं! 'यम' के प्रसंग में 'यमक' न लाना ही बुद्धमानी है; यथार्थ से, सामाजिक व्यवहार से, इसका मेल नहीं।†

कोई अद्यतन समाजसेवी यदि कहे—'माना कि रस में सामाजिकता है, पर संप्रति समाजसेवा का जो उदात्त भाव चारों ओर फैला है, क्या उसकी भी समाई रस-प्रक्रिया में है? शृंगारादि के साथ शांत की चरचा करके जगद्विरागविषयक शांत की स्थापना तो रसाचार्यों ने कर दी, पर इस उदात्त सामाजिकता, राष्ट्रीयता आदि का भी कोई विचार हुआ या हो सकता है?' तो उसे भी निराश न होना चाहिए। महामहिम आचार्यों ने उसकी भी चरचा की है। रस-तरंगिणीकार भानुदत्त बड़े ही तार्किक और स्वच्छदृष्टिसंपन्न रस-विमर्शक हो गए हैं। उन्होंने शांत की प्रतिद्वंद्विता में रस की विलक्षण कल्पना की है, उसमें अद्यतन सामाजिक व्यवहार की पूरी समाई हो सकती है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार निवृत्तिमूलक शांत रस होता है उसी प्रकार प्रवृत्तिमूलक माया रस भी हो सकता है।‡

यदि कोई कहे कि अन्य रसों में ही इसका अंतर्भाव क्यों नहीं कर देते, तो उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि किसी रस में इसका

---

* न तु सर्वे वक्ता कविरित्यतिप्रसंगलक्ष्यमाणप्रबंधबंधुरं काव्यनिर्मातृत्वं हि कवित्वं, न चित्तवृत्तिप्रतिपादकत्वम्।

—अभिनवभारती, २, पृ० २२।

† अनौचित्यनिबंधस्तु करुणविप्रलंभादौ यमकस्य।

—अभिनवभारती, २, २९९।

‡ चित्तवृत्तिर्द्विधा प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च। निवृत्तौ यथा शांतरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र न इति वक्तुमशक्यत्वात्।

अंतर्भाव नहीं हो सकता। अन्य रसों के स्थायी भाव इसमें संचारी भाव हो जाते हैं।* यदि यह कहा जाय कि रस सामान्य नाम है, शृंगार आदि उसके विशेष रूप हैं, तो वे कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं।†

माया रस का पेटा बहुत बड़ा है। शृंगारादि रसों के स्थायी भाव इसमें संचारी का काम करते हैं। वस्तुतः शृंगारादि अन्य रसों में विभावादि व्यक्तिरूप में रहते हैं। आश्रय का आलंबन व्यक्तिबद्ध भूमि पर स्थित रहता है, पर माया रस में सारा समाज आलंबन हो जाता है, अतः उसकी परिसीमा बृहत् है। इसके अन्य अंगों का भी उन्होंने उल्लेख किया है।‡

इसमें 'विजयसाम्राज्यादयः' विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे माया रस की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। संप्रति दल, संप्रदायादि के रूप में जो समाज सेवापर लोकसंघ चल रहे हैं वे 'माया रस' की सीमा के भीतर आते हैं। आधुनिक समाजसेवियों को इसमें दो बातें अच्छी न लगेंगी। एक तो इस रस को 'माया' कहना तथा इसके 'स्थायिभाव' को मिथ्याज्ञान मानना। यह नाम किसी को न रुचे तो वह रस का नाम 'समाजरस' रख ले। स्थायी भाव को 'लोकज्ञान' कह ले। समझना तो यह है कि पुराने आचार्यों ने समाज और लोक-भावनात्मक अनुभूति को भी रस की सीमा तक जानेवाला माना है, उसकी महत्ता, उसकी व्याप्ति स्वीकार की है।

शृंगारादि रसों का आस्वाद लेनेवाला 'सामाजिक' ही था, साथ ही सामाजिक प्रवृत्ति की अनुभूति भी रसात्मक मानी गई। प्रगतिवादी

---

* न च स रतिरेव। तर्हि स कस्यास्तु व्यभिचारी। न शृंगारस्य तद्वैरिणो बीभत्सस्यापि। न हास्यस्य। तद्वैरिणः करुणस्यापि तत्र सत्त्वात्। अतएव न करुणस्यापि। न भयानकस्यापि रौद्रस्य तद्वैरिणोऽद्भुतस्यापि तत्र सत्त्वात्। अतएव नाद्भुतस्यापि। न वीरस्य। तद्वैरिणो तत्र सत्त्वात्। अतएव न भयानकस्यापि। नापि शान्तस्य तद्विरोधित्वात्।

† न च सामान्य एव रसस्तद्विशेषा इतरे भवन्तीति। शान्तरसस्य तर्हि रसाभासापत्तेः। किंतु विकृत एव। रतिहासशोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। तेन तत्र ते व्यभिचारिभावा इति।

‡ लक्षणं च प्रवृद्धमिथ्याज्ञानवासना मायारस इति। मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभावः। विभावाः सांसारिकभोगार्जकधर्माधर्माः। अनुभावाः पुत्रकलत्रविजयसाम्राज्यादयः।

बंधु आलोचना के क्षेत्र में चाहें तो 'समाजरस' की घोषणा करके नूतन आलोचना को रस की पुरानी दृष्टि से भी पोषित कर सकते हैं। भारतीय आचार्यों की परंपरा नवीनोद्भावना, नवीन स्थापना में साहसपूर्वक अग्रसर होती रही है। उसमें सांप्रतिक समाजोन्मुखी वृत्ति के बीज आरंभ से ही थे। जनता की दृष्टि से ही साहित्य की अवतारणा हुई। साहित्य-साधना रूढ़ि से बँधकर चलनेवाली न थी। उसे बाँध दिया कुछ रूढ़ि-प्रेमियों ने। स्वच्छंदता का मार्ग किस प्रकार साहित्य ने पकड़ा या आधुनिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि 'कैसी क्रांति की' इसका संकेत भरत मुनि के नाट्यवेद की उद्भावना से ही मिल जाता है।* 'शूद्रजातिषु' का पक्ष लेकर साहित्य-सर्जना की गई, पर 'सार्ववर्णिक'।

साहित्य एकांगदर्शी नहीं माना गया। भारत रूढ़ियों का त्याग सामाजिक-सार्वभौम दृष्टि से निरंतर करता आया। अन्यत्र चाहे जो हो साहित्य न वर्गभेद मानता है, न स्त्रीपुंनपुंसकादि का लिंगभेद, जहाँ तक उसकी रस-प्रक्रिया का संबंध है; क्योंकि वह सामाजिकता के साधारणीकरण के साम्यभाव पर टिकी है। जो अपने अज्ञान, अशक्ति, आलस्य, स्वार्थ आदि से उसका आलोड़न-मंथन करना ही त्याग दें उनकी 'प्रगति' 'सद्गति' नहीं कही जा सकती। 'नव नव' की पुकार बहुत मच रही है, पर 'प्राचीन' में क्या 'नव' है इसे देखने का साहस भी कोई नहीं करता।

यहाँ एक बात और कह देनी है। साहित्य की सामाजिकता की व्याप्ति कुछ अधिक दूर तक है। समाज में रनेहवाले मानव-वृंद तक ही नहीं, वह पशुओं के 'समज' और पक्षियों के 'यूथ' तक जाती है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का 'शोक' 'श्लोकत्व' में परिणत हुआ, क्यों? क्रौंच-वध से। जो अपने 'मद' में केवल व्याध और वाल्मीकि को देख पाते हैं और अपने अज्ञान से व्याध तथा वाल्मीकि को विभिन्न वर्गों का प्रतीक कह बैठते हैं उन्हें ऐतिह्य का मनन करना चाहिए। वाल्मीकि भी पहले व्याध ही थे। उन्होंने शूद्रक-वध के पूर्व रावण-वध भी कराया था। क्यों? सामाजिकता की साधना के लिए। सीता-त्याग भी इसीलिए। भवभूति के 'आराधनाय लोकस्य' का स्मरण कर लीजिए। वह सामाजिकता किसी को आदर्श न जान पड़े,

---

* न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ॥
तस्मात् सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम् ॥

यह दूसरी बात है। पर हुआ सब सामाजिकता की ही दृष्टि से, 'स्व' के स्थान पर 'पर' का विशेष ध्यान रखनेवाली सामाजिकता की नीति से।

निष्कर्ष यह कि जो रस-प्रक्रिया को आत्मपर्यवसायी मानते हैं उन्हें उसकी विश्वविषयता या सामाजिकता का ध्यान करना चाहिए। जो कहते हैं कि प्राचीन रस-प्रक्रिया समाज के काम की नहीं उन्हें उसको समझने का अभ्यास डालना चाहिए। साहित्य में 'बाल-वचन' नहीं 'बुध-वचन' की साधना होती है। 'बाल-वचन' अनर्थ भी होते हैं, उनसे अनर्थ भी होता है। पर 'बुध-वचन' सार्थक ही होते हैं, उनसे अर्थसिद्धि ही होती है। इसी से अभिनवगुप्तपादाचार्य के उन वचनों की ओर फिर चलना चाहिए—

'कवि में रस बीजवत् रहता है। कवि सामाजिक के तुल्य ही है। काव्य रस का थाला होता है। नटों के कार्य फूल होते हैं। सामाजिक का रसास्वादन फल होता है। सब कुछ रसमय है।'

यहाँ यह भी कह दें कि आचार्यपाद की यह व्याख्या कोई अलौकिक व्याख्या नहीं। सब कुछ लौकिक है। रसवृक्ष का यह विचार लौकिक दृष्टि से, सांप्रतिक दृष्टि से बड़े काम का है। इसमें सामाजिक का स्थान सर्वोपरि है। सारी सफलता उसी से है। अभिनव तथा परकालीन आचार्यों ने रस-प्रक्रिया को चाहे किसी दृष्टि से अलौकिक कहा हो, कहें। पर नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत ने उसे लौकिक ही रखा है, कहीं अलौकिक शब्द का उल्लेख नहीं। क्योंकि उन्हें साहित्य में लौकिकता या सामाजिकता का ही विचार करना था। समाजशास्त्री, समाजवादी और प्रगतिवादी साहित्य की इस सामाजिकता का भी कुछ विचार करें।

साहित्य में व्यष्टि और समष्टि

इस 'प्रश्न' का 'उत्तर' देने के लिए सबसे पहले 'साहित्य' की निरुक्ति आवश्यक है। 'साहित्य' शब्द 'सहित' से बना है। 'सहित' पद का प्रयोग आरंभ में 'शब्द' और 'अर्थ' के सहितत्व के लिए हुआ। 'शब्द' का तात्पर्य है 'ध्वनि' 'उच्चरित वर्ण' या 'पद' और 'अर्थ' का तात्पर्य है वह 'पदार्थ' या 'वस्तु' जिसके लिए वह 'ध्वनि' की गई है। 'पदार्थ' की व्युत्पत्ति ही इसको बतलाती है—'पद' का 'अर्थ', लक्ष्य, बोध्य। इससे स्पष्ट हुआ कि 'साहित्य' में 'शब्द' या 'पद' और 'अर्थ'

या 'बोध्य' वा 'वस्तु' का माहात्म्य है। संसार का सारा वाङ्मय 'शब्द' और 'अर्थ' के ही ग्रहण से स्वीकार्य होता है। वह चाहे शास्त्र हो, चाहे इतिहास और चाहे काव्य। पर सर्वत्र 'शब्द' और 'अर्थ' की एक सी स्थिति नहीं होती। शास्त्र या वेद में शब्द की प्रधानता रहती है, उसका शब्द बदला और अर्थ का अनर्थ हुआ। वेद के लिए शब्द का कितना महत्त्व है, 'स्वरतोऽपराधान्मृत्युः' की कथा का स्मरण कर लें। 'इंद्रशत्रु' शब्द का अशुद्ध उच्चारण करके वृत्रासुर के पुरोहित ने 'वृत्र' को मार डाला। वेदों के ही लिए 'शब्द-प्रामाण्य' माना गया। वेदों की आज्ञा स्वामी की आज्ञा है, जो शब्द उच्चरित हुआ उसका अक्षरशः पालन होना चाहिए। वह प्रभुसंमित होता है।

इतिहास-पुराण में 'शब्द' नहीं 'अर्थ' की महत्ता है। शब्द कुछ भी हो, उसका तात्पर्य उसका बोध्य ही काम का होता है। पुराणों में एक ही बात भिन्न भिन्न स्थानों और भिन्न भिन्न रूपों में आई है, कहीं कहीं परस्पर विरोध भी होता है। कहीं सज्जनों की महिमा होगी तो कहा जायगा कि सज्जन दुर्जनों को भी बदल देते हैं, कहीं दुर्जनों की लघिमा होगी तो कहा जायगा कि दुर्जन कभी बदल नहीं सकते। ऐसी परस्पर विरोधी बातें, यदि शब्द को मुख्य माना जाय तो, कभी ठीक न मानी जायँगी। इसी से पुराणेतिहास के तात्पर्य-निर्णय में 'अर्थवाद' का महत्त्व है। एक स्थान पर सज्जन की महत्ता साध्य है, दूसरे पर दुर्जन की बृहत्ता या लघुता। एक सज्जनता की पराकाष्ठा के लिए, दूसरा दुर्जनता की परावधि के लिए है। यहाँ शब्द कुछ नहीं, अर्थ ही सब कुछ है। वेद-शास्त्रों का 'शब्दवाद' यहाँ नहीं, यहाँ 'अर्थवाद' है। अर्थ प्रधान है। सुहृद् की भाँति ये कोई अर्थ समझाना चाहते हैं, अपने शब्दों के अक्षरशः पालन पर जोर नहीं देते।

किंतु 'साहित्य' में शब्द और अर्थ का सहितत्व यह है कि इसमें शब्द भी प्रधान और अर्थ भी प्रमुख। साहित्य न शब्द को छोड़ सकता है न अर्थ को। इसमें दोनों का तुल्यबल होता है। इसमें वेद के 'शब्दवाद' और पुराण के 'अर्थवाद' का सांकर्य है, संश्लेष नहीं, दोनों नीरक्षीर की भाँति मिले हैं, तिल-तंदुल की भाँति नहीं। दोनों शिव-शक्ति की भाँति संपृक्त हैं, गिरीश-गिरिश की भाँति संयुक्त नहीं। दोनों जल-तरंग की भाँति भिन्नाभिन्न हैं जल-तट की भाँति श्लिष्टाश्लिष्ट नहीं। कविता रमणी है जिसका बाह्य और अभ्यंतर दोनों रमणीय होते हैं। काव्य न रमणीय अर्थ है, न अर्थ का प्रतिपादक

शब्दमात्र। वस्तुतः 'सहितौ शब्दार्थौं काव्यम्' ही ठीक है। साहित्य' के 'सहित' का विशेष अर्थ है। पर 'साहित्य' का विच्छेद केवल 'सहितस्य भावः या सहितयोः भावः' करके रह जाना घोर संकुचित सीमा में उसे घेर देना है। 'सहितानां भावः' भी साहित्य ही है। साहित्य की इसी व्याप्ति के कारण राजशेखर ने कहा कि ऐसी कोई विद्या, कला, शास्त्र नहीं जो 'साहित्य' में 'सहित' न हो सके। संक्षेप में यह कि साहित्य की व्याप्ति संसार की सभी प्रकार की विद्याओं से अधिक है। साहित्य का पेट बहुत बड़ा है, साहित्य का पेटा बहुत लंबा है और साहित्य की पेटी बहुत भारी है। जो लोग साहित्य को किसी विद्या या नीति का अंग माने बैठे हैं उन्हें आँखें गड़ाकर इसका स्वरूप देख और समझ लेना चाहिए। यह कोई आधुनिक व्याख्या नहीं है। पुराने भारतीय आचार्य ऐसा ही मानते आए हैं। कोई उनकी न सुनकर बहक जाय तो इसमें कहनेवाले का क्या दोष है, बहकानेवाले का लोभ है; न साहित्य का अवगुण, न साहित्य के आचार्यों का स्वार्थ।

अब साहित्य की निरुक्ति के अनंतर उसके निर्माण की सीमाओं का अंकन कीजिए। साहित्य का निर्माता, अपना निर्माण त्रिकोणात्मक करता है। एक शीर्ष पर वह रहता है, दूसरे पर वर्ण्य और तीसरे पर ग्राहक। साहित्य या काव्य के निर्माण में कर्ता वर्ण्य की जिन अनुभूतियों का अनुभव सामने रखता है ग्राहक उनका ग्रहण करता है। अनुभूति या भाव की धारा तीनों में से प्रवाहित होती है। वर्ण्य की जिस भाव-धारा का प्रवाह कर्ता की वाणी से फूटता है वह ग्राहक के हृदय-प्रदेश में प्रवाहित होकर एक वृत्त बनाता है। भारतीय आचार्य इसे ही 'रस' कहते हैं। इस प्रकार ऊपर का त्रिकोण वृत्त का परिधिव्यापी अंतःस्थ त्रिकोण है—
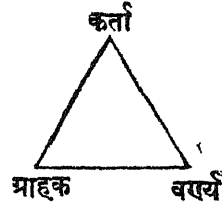
रसमीमांसा में भारतीय आचार्यों ने 'अर्थ' का बोध्य केवल 'वस्तु' को न मानकर 'भाव' को माना है। शास्त्रीय शब्दों में वस्तु-व्यंजना के स्थान पर भाव-व्यंजना का महत्त्व स्वीकार किया है। भाव-व्यंजना से ही रस संभव है। वस्तु-व्यंजना रह सकती है, पर साहित्य की, रस की प्रक्रिया में 'भाव' उसका चरम लक्ष्य है। इस प्रकार इसके लिए शब्द, अर्थ और भाव तीनों का महत्त्व है। शब्द का सीधा संबंध कर्ता से, अर्थ का वर्ण्य से और भाव का ग्राहक से होता है। शब्द, अर्थ और भाव के त्रिकोण में ही इसका वृत्त अवस्थित है—
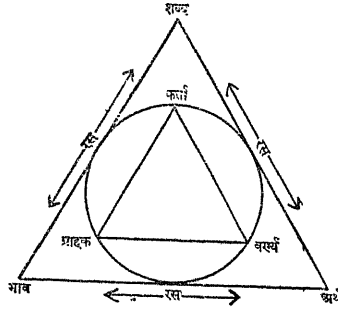
कर्ता में शब्द कहाँ से आता है। परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी से तात्पर्य नहीं। जंगलों में रहनेवाला भी इन चतुर्विध वाणी के स्वरूपों का अधिष्ठान हो सकता है, पर साहित्य में जिस वाणी का व्यवहार होता है वह समाज की देन है। भाषण की शक्ति नहीं, भाषा का ज्ञान ही सही। यही स्थिति 'अर्थ' या वस्तु की है। हमारे अंतःकरण में जो रूपसागर लहराता रहता है वह समाज का ही होता है। समाज के ही नाना रूप मानस में संचित होते रहते हैं और वे ही वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। हमारे भीतर जो कुछ संचित होता है सब बाहर का, समाज का होता है। जो भाव उठते हैं वे भी उन्हीं रूपों के कारण जो बाहर या समाज में या समाज के होते हैं। यदि समाज न हो तो साहित्य भी न होगा। यदि साहित्य हो तो समाज भी होगा। समष्टि ही साहित्य में अभिव्यंजित है अतः साहित्य और समाज का वृत्त शब्दार्थ-भाव के त्रिकोण को आवृत किए हुए है। रेखाचित्र के विधान से देखिए—
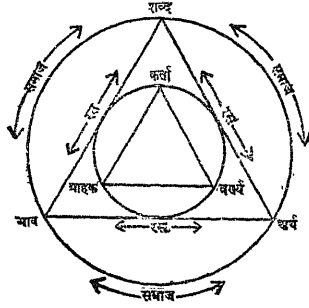
इस प्रकार साहित्य में समाज (समष्टि) का महत्त्व स्पष्ट है। पर साहित्य का निर्माण किसी व्यक्ति के द्वारा होता है। यदि एक ही विषय का वर्णन भिन्न-भिन्न व्यक्ति करें तो उनमें भिन्नता होगी। प्रश्न होता है कि साहित्य में इस भिन्नता का महत्त्व माना जाय या समष्टि की अभिन्नता का। भिन्नता या व्यक्ति का संबंध केवल कर्ता से नहीं, ग्राहक से भी है, वर्ण्य से भी है। जैसे कहनेवाला व्यक्ति, वैसे ही कहा जानेवाला व्यक्ति, तैसे ही सुननेवाले या देखनेवाले, समझनेवाले या ग्रहण करनेवाले, पढ़नेवाले श्रोता, दर्शक, प्रेक्षक, सहृदय, ग्राहक या पाठक व्यक्ति। राम-सीता व्यक्ति, तुलसीदास व्यक्ति, हम-आप व्यक्ति अथवा विशेष। बिना विशेष के न साहित्य बन सकता है, न समाज। फिर व्यक्ति का महत्त्व है या जाति का। विशेष का महत्त्व है या साधारण का। इसका उत्तर यही है कि राम, सीता की अनुभूति न तुलसीदास की हो सकती है, न तुलसीदास की अनुभूति हमारी आपकी हो सकती है। कोई यदि सर्वसामान्य भावना न हो तो राम, तुलसीदास और हम आप का एकीकरण नहीं हो सकता। इसी से कहा जाता है कि साहित्य में विभावादिकों की साधारणीकृति होती है। राम राम न रहकर मनुष्य रह जाते हैं। तुलसीदास तुलसीदास न रहकर मनुष्य रह जाते हैं। हम आप हम आप न रहकर मनुष्य रह जाते हैं। इसी प्रकार जितने भी पदार्थ या अवयव हैं सभी असाधारण या विशेष न रहकर साधारण हो जाते हैं। साहित्य में 'विशेष' व्यवहार के लिए है, उसके स्वरूप का पता साधारण से चलता है। यदि कोई कर्ता ऐसा भाव साहित्य में लाए जिसका वर्ण्य में होना संभव न हो, ग्राहक के द्वारा जिसका ग्रहण संभव न हो तो वह किसी सर्वनिष्ठ या सर्वव्यापी वृत्त के घेरे में न आ सकेगा। यदि कोई कर्ता अपनी ऐसी

अनुभूति सामने लाता है जिसकी सीमा उसका परिवार या घर या प्रिय है, उसकी यह अनुभूति यदि सर्वव्यापी समाज या सामाजिक से उसका लगाव नहीं रख सकती तो वह साहित्य के काम की नहीं हो सकती, कर्ता के ही काम की हो सकती है। कर्ता दूसरों की अनुभूति, रूप आदि का ग्रहण प्रतिबिंब के रूप में करता है। राम आदि के भाव बिंब हैं। तुलसीदास आदि रामकाव्य लिखनेवालों के हृदय में उस बिंब का प्रतिबिंब रहता है। ग्राहक उस प्रतिबिंब को अपने मानस में प्रतिबिंबित करता है। इस प्रकार उनका एकीकरण हो जाता है। साहित्य की सत्ता, प्रातिबिंबिक सत्ता है, प्रातिभासिक नहीं। साहित्य सत् का प्रतिबिंब है, असत् का भ्रम नहीं। जो साहित्य को असत् कहकर उसकी अवहेलना करते हैं उन्हें उसकी इस सत्ता को समझने का अभ्यास करना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य की व्याप्ति के लिए समष्टि को व्यापक और व्यक्ति को व्याप्य मानना चाहिए। व्याप्ति के लिए व्यापक को माना जाय या व्याप्य को इसका निर्णय कोई भी तार्किक या नैयायिक कर सकता है। वस्तुतः व्यक्ति का महत्त्व पश्चिमी देशों की अनुकृति के कारण बारंबार सामने किया जाता है, जहाँ साहित्य का लक्ष्य मनोरंजन है और जहाँ साहित्य कला है। भारत में साहित्य का लक्ष्य मनोरंजन नहीं, रसानुभूति या मनोमुक्ति है। जिसके अनुसार रंजन (रजोगुण) और स्वार्थ (तमोगुण) का अत्यंताभाव हो जाता है तथा असत् के स्थान पर केवल सत् का, सत्य का उद्रेक हो जाता है, व्यक्तित्व का—विशेष का—समष्टि या साधारण में लय हो जाता है। वह 'भग्नावरण चित्' रह जाता है। 'अहंता' का 'समष्टि' में लय यह भारतीय सूत्र है, 'समष्टि' से 'अहंता' का पार्थक्य यह विदेशी प्रक्रिया है। पर-भाव में स्व-भाव का लोप यह यहाँ का साहित्य कहता है। स्वभाव का चित्रण यह पश्चिमी साहित्य चाहता है। एक द्वैत या भिन्नता से अद्वैत या अभिन्नता की ओर जाता है, दूसरा अद्वैत और अभिन्नता से द्वैत और भिन्नता की ओर बढ़ता है। द्वैत के बिना जगत् की, 'अहम्' की अभिव्यक्ति नहीं, अद्वैत के बिना सत् की, रस की प्राप्ति नहीं। इसी से 'रसो वै सः' भारत मानता आया है। उसके लिए इदम् (जगत्) और अहम् (व्यक्ति) के कारण कोई बाधा नहीं, वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' भी मानता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' का भी उद्घोष करता है। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि ज्ञान-

योग, राजयोग की भाँति साहित्य का भी 'भावयोग' है। यह व्यक्ति या व्यष्टि का समष्टि में लोप मानता है। यहाँ साध्य समष्टि है, साधक व्यक्ति है, साहित्य भाव-साधना है। समाज लक्ष्य है, सामाजिक ग्राहक है और सामाजिकता साहित्य-धर्म है। इसी से पश्चिमी साहित्य उचिता-नुचित का विचार न करे, न करे। पर यहाँ साहित्य को, सामाजिक को उचित का विचार करना पड़ता है। यहाँ औचित्य का विचार करना पड़ता है। यहाँ औचित्य का विचार साहित्य में आवश्यक है, मर्यादा उसके लिए अपेक्षित और अनिवार्य है। व्यक्ति अपने 'स्व' के भीतर उचित का विचार न करे, न करे; पर समाज के विस्तार में 'पर' का विचार आवश्यक है। वहाँ, 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' की विधि में 'स्व' को 'पर' तक जाना पड़ेगा। यहाँ रस में 'औचित्य' का विचार प्रधान है, वक्रोक्ति' का नहीं।*

साहित्य इसी से यहाँ वह 'कला' नहीं जहाँ व्यक्तित्व का प्राधान्य मान्य हो सकता है। कला को यहाँ उपविद्या माना गया है, वह साहित्य-विद्या में सहायता कर सकती है। साहित्य को व्यक्तित्व-प्रधान मानना भारतीय दृष्टि से उसे नीचे गिराना है, स्वामी को सहायक बना देना है। साहित्य में कौन सी दृष्टि संमान्य हो भारतीय समष्टि-दृष्टि या पश्चिमी व्यष्टि-दृष्टि इसका निर्णय आपसे आप हो सकता है। साहित्य की व्याप्ति दूर तक करनी हो तो समष्टि को मानिए। उसकी व्याप्ति अपने घर, गाँव, प्रांत आदि तक ही करनी हो तो विशेष या व्यक्ति को मानिए। साहित्य में रहेंगे दोनों ही। व्यक्ति की प्रधानता होगी तो वह 'मैं, मैं' चिल्लाता रहेगा, सब उसकी बातें सुनें चाहे न सुनें। समष्टि की प्रधानता होगी तो सब उसकी सुनेंगे, भले ही यह भूल जायँ कि किसकी सुन रहे हैं।

वर्णना और चर्वणा

साहित्य वाणी का विलास है, वाङ्मय है। वाङ्मय द्विविध होता है—काव्य और शास्त्र। पहला प्रतिभा का उद्भव है, दूसरा प्रज्ञा की उपज।†

---

* औचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा॥

† द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्॥

साहित्य में दोनों आते हैं। काव्य कविकर्म है—अविचारित रमणीय और शास्त्र कविकर्म का विचार है—विचारित सुस्थ। कविकर्म के अतिरिक्त अन्य प्रकार के क्रियाकलापों की विचारणा साहित्य के आभोग के बाह्य है।

काव्य के निर्माण में तीन कोण होते हैं, वह त्रिकोणात्मक है। एक कोण में काव्य का कर्ता रहता है, दूसरे में वर्ण्य और तीसरे में ग्रहीता। काव्य शब्द के वाच्य मुक्तक, प्रबंध, नाटक, कथा-कहानी सभी हैं। वर्ण्य को अलंकार्य, अनुकार्य भी कहते हैं। ग्रहीता श्रोता, दर्शक, पाठक आदि सबकी अभिधा है।

काव्य के नाम से जो देखा, सुना या पढ़ा जाता है वह वाणी है, कथन है, उक्ति है। पर वाणी दैनंदिन व्यवहार में भी देखी सुनी जाती है, किंतु उसकी संज्ञा काव्य नहीं। अतः स्पष्ट है कि सामान्य या साधारण कथन, वचन, उक्ति या वार्ता काव्य नहीं। असाधारण या विशेष उक्ति ही काव्य-पद-वाच्य है। इसी से कविकर्म के मीमांसकों ने काव्योक्ति की इस विशेषता का विचार सबसे पहले किया। उन्हें काव्य की उक्ति में सज्जा-संभार, आन-बान, गति-विधि की विशेषता दिखाई पड़ी। इसीलिए काव्य की यह विशेषता कहीं अलंकार, कहीं गुण, कहीं रीति मानी गई।

पर काव्य का यह विचार कुछ लोगों की दृष्टि से ऊपर-ऊपर से काव्य को देखना था। इससे काव्य का बाह्य ही स्पष्ट हुआ, अभ्यंतर नहीं। अलंकार, गुण, रीति में बीजरूप से जो विशेषता पाई जाती है वह आभ्यंतर है। काव्योक्ति की यह विशेषता उसकी अतिशयता है, उसकी वक्रता है। इस वक्रता को किसी ने अलंकार, किसी ने लक्षणा या भक्ति भी कहा। नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने तो नाट्यलक्षणों को भी वक्रोक्ति-रूप कहा।*

कहना यह है कि काव्योक्ति में वक्रता की विवेचना कृति या कर्ता को दृष्टि में रखकर की गई है। भारतीय साहित्यशास्त्र-मीमांसा में यह श्रव्यकाव्य के पक्ष से काव्योक्ति का निरूपण है। दृश्यकाव्य या रूपक

* समस्तार्थालंकारवर्गस्य बीजभूताश्चमत्काराः कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते। लक्षणानि गुणालंकारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते। लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादिरेखादिवत्काव्यशरीरस्य सौन्दर्यदायी।

—अभिनवभारती, षोडशेऽध्यायानुबंध।

में कर्ता के साथ अनुकर्ता का भी ध्यान रखना पड़ता है, नेता के साथ अभिनेता भी विचार-पथ में आता है। वहाँ काव्य या नाट्य का विचार उक्ति की दृष्टि से न होकर प्रभाव-परिणाम, चर्वणा-आस्वाद की दृष्टि से हुआ। श्रव्यकाव्य के मीमांसक 'वर्णना' को सामने रखते थे तो दृश्यकाव्य के विचारक चर्वणा को। इसका तात्पर्य यह नहीं कि 'वर्णना' वाले रस से अपरिचित थे या 'चर्वणा' वाले वक्रता का ध्यान ही नहीं रखते थे। 'वर्णना' वालों के लिए 'रस' गौण था। 'चर्वणा' वालों के लिए वक्रता गौण थी। एक काव्योक्ति का विचार करते थे, दूसरे काव्यार्थ का। दूसरों की दृष्टि में काव्यार्थ 'रस' था। पहले संघटना, सुषमा, सौंदर्य या चारुत्व की चरचा करते थे दूसरे भोग या रमणीयता का उद्घोष। दोनों में स्पष्ट दृष्टिभेद है। रसवादियों के समक्ष कर्ता, अनुकर्ता, अनुकार्य और ग्रहीता चार थे। अतः 'रस कहाँ होता है' का उत्तर देते समय किसी ने उसे अनुकार्य में माना, किसी ने अनुकर्ता में और किसी ने ग्रहीता में। रसवादियों ने 'कर्ता' का विचार एक प्रकार से छोड़ दिया है। हाँ, टीकाकारों ने, जैसे अभिनव-गुप्त ने, सांगोपांग दृष्टांत देते हुए, 'कर्ता' का भी उल्लेख किया है।

पर इस वर्ग के आचार्य वस्तुतः समाज का ध्यान, सामाजिक का विचार मुख्य मानते हैं। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि पहला वर्ग सौंदर्य का विचार करता है, कर्ता की व्यक्ति-दृष्टि से काव्य को देखता है। दूसरा वर्ग रमणीयता को लक्ष्य करता है, समाज या समष्टि की दृष्टि से काव्य को देखता है। पहला वर्ग इसी से अभिधा को ही प्रधान कहता है, उक्ति तक ही परिमित होने से उक्ति में ही वे काव्य का चमत्कार बतलाते हैं। अभिधा में ही काव्य मानते हैं। इस प्रकार प्रथम वर्ग को सुविधा के लिए 'वक्रोक्ति-वर्ग' कह सकते हैं। दूसरा वर्ग 'रस' को मुख्य मानता है। 'रस' में भी औचित्य को मुख्य मानता है। इसलिये उसे 'रस-वर्ग' या 'औचित्य-वर्ग' कह सकते हैं। इस वर्ग में अभिधा के स्थान पर व्यंजना का माहात्म्य है। पहले वर्ग में अभिधा के लिए ही लक्षणा और व्यंजना हैं। दूसरे में व्यंजना के लिये अभिधा लक्षणा सहायक हैं।

भारतीय साहित्यशास्त्र

पहले कहा जा चुका है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में दो प्रवाह हैं—चारुत्वप्रवाह और अनुभूतिप्रवाह। इनमें से पहले का संबंध काव्य या श्रव्यकाव्य से है और दूसरे का संबंध नाट्य या दृश्यकाव्य

से। यह भी बताया जा चुका है कि साहित्य का निर्माण त्रिकोणात्मक है—कर्ता, वर्ण्य और ग्रहीता से उसका संबंध है। कर्तृपक्ष या काव्य-पक्ष से विचार करने पर जो वर्ण्य कहलाता है वही ग्रहीतापक्ष या नाट्यपक्ष से विचार करने पर अनुकार्य कहलाता है। चारुत्वप्रवाह कर्ता और वर्ण्य से संबद्ध है और अनुभूतिप्रवाह ग्रहीता और अनुकार्य से। चारुत्वप्रवाह में मुख्य अलंकार और रीति की पद्धति है। रीति का ही स्वरूप बतलाने के लिए गुण का विचार हुआ। अलंकार और गुण काव्य के धर्म हैं। अलंकार अनित्य और गुण नित्य है। इस प्रकार चारुत्वप्रवाह का त्रिकोण अलंकार, गुण और रीति से बनता है—
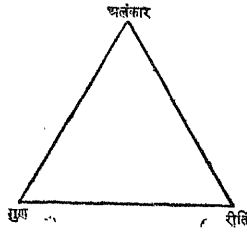
प्राचीन आचार्यों में से वामन ने इसे बहुत स्पष्ट कहा है। उन्होंने बताया कि काव्य की ग्राह्यता अलंकार से है और अलंकार और कुछ नहीं सौंदर्य है,* चारुत्व है। पर काव्य की आत्मा रीति है।† रीति विशिष्ट पदरचना का नाम है।‡ विशेषता गुण है। + गुण काव्य की शोभा करनेवाले हैं और अलंकार उस शोभा की वृद्धि करनेवाले। × अलंकार और रीति-गुण में सामान्य रूप से रहनेवाली विशेषता की खोज करने पर यह निष्कर्ष निकला कि उसका नाम या तो वक्रोक्ति रखा जाय या अतिशयोक्ति। वक्रोक्ति को लेकर कुंतक ने एक ग्रंथ ही प्रस्तुत कर दिया वक्रोक्तिजीवित। इस प्रकार चारुत्वप्रवाह का रूप यों हुआ—

---

* काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।

† रीतिरात्माकाव्यस्य।

‡ विशिष्टा पदरचना रीतिः।

+ विशेषो गुणात्मा।

× काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः। तदतिशयहेतवस्तु अलंकाराः।
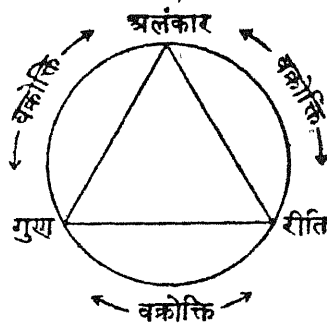
आगे चलकर नाट्य के अनुभूतिप्रवाह की प्रमुखता हुई और यह प्रवाह उसी में विलीन हो गया। अनुभूतिप्रवाह में पहले तो रस ही मुख्य था। आगे ध्वनि का विचार होने पर रस या अनुभूति के अतिरिक्त जो वस्तुध्वनि थी उसका भी संग्रह किया गया पर मुख्य रसध्वनि को ही माना गया। ध्वनि का खंडन करते हुए अनुभूति को अनुमितिगम्य कहा गया। इस प्रकार अनुभूतिप्रवाह रस, ध्वनि और अनुमिति इन तीन से संबद्ध हुआ। ये तीनों चारुत्वप्रवाह को उदरस्थ कर बैठे। इससे स्वरूप यों बना—
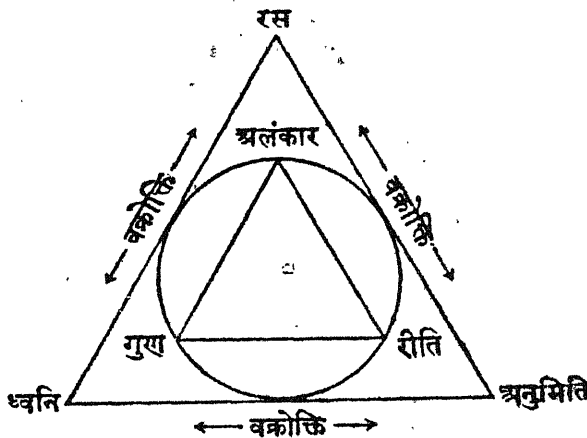
रस, ध्वनि आदि मतों को औचित्य मान्य था। पर 'औचित्य-विचार-चर्चा' में क्षेमेंद्र ने औचित्य को सर्वव्यापी मानकर उसका सांगोपांग पर संक्षेप में निरूपण किया। इस प्रकार भारतीय साहित्य-शास्त्र का सारा प्रबंध इस रूप में उपस्थित होता है—
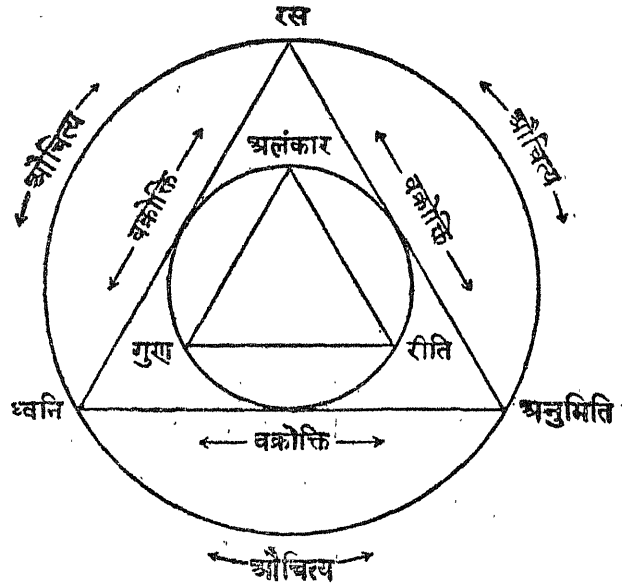
भारतीय साहित्यशास्त्र उल्लिखित आठ मतों का विचार करता है जो परस्पर एक दूसरे से संबद्ध हैं।* आगे क्रमशः इन्हीं का विचार किया जाता है।

अलंकार-मत

काव्य में और लोक में भी वाणी के या कथन के अनेक रूप होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की वाणी में पद्धति की नवीनता कुछ न कुछ अवश्य रहती है। व्यक्ति की संख्या थोड़ी नहीं है। सबके प्रयोगों को एकत्र कर सकना संभव नहीं है, कम से कम दुस्साध्य अवश्य है। व्यक्ति-व्यक्ति की उक्ति में भिन्नता होने से वाणी या कथन के विभेद अनंत हैं। वाणी या कथन के विविध प्रकारों का ही नाम अलंकार है।†

साहित्यशास्त्र में अलंकार का विवेचन और उसकी मान्यता प्राचीन है। काव्य में अलंकार ही प्रधान है यह प्राचीनों को मान्य था। अलंकार-मत काव्य में सौंदर्य को मुख्य माननेवाला है। सौंदर्य काव्य

---

* औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः॥

† अनन्ता हि वाग्विकल्पाः तेषां प्रकारा एव अलंकाराः।
—ध्वन्यालोक।

का धर्म है। काव्य विशिष्ट शब्दार्थ को मानते हैं। 'शब्दार्थ का सहित होना काव्य है' कहने में 'सहित' का अर्थ 'विशेषता' ही है। इसी विशेषता की अनेक प्रकार से कल्पना की गई। विशेषता कहीं धर्म-मुख, कहीं व्यापारमुख और कहीं व्यंग्यमुख मानी गई। ये तीन उसकी मान्यता के पक्ष हैं। इनमें से धर्ममुख विशेषता की दो शाखाएँ हैं—अलंकारमुख और गुणमुख। व्यापारमुख विशेषता की भी दो शाखाएँ हैं—भणितिवैचित्र्य या वक्रोक्ति की और भोगकृति या भुक्ति की। इस प्रकार सब पाँच पक्ष हो जाते हैं।*

काव्य

(शब्दार्थवैशिष्ट्य)

- धर्ममुख
  - अलंकार
  - गुण
- व्यापारमुख
  - वक्रोक्ति
  - भुक्ति
- व्यंग्यमुख
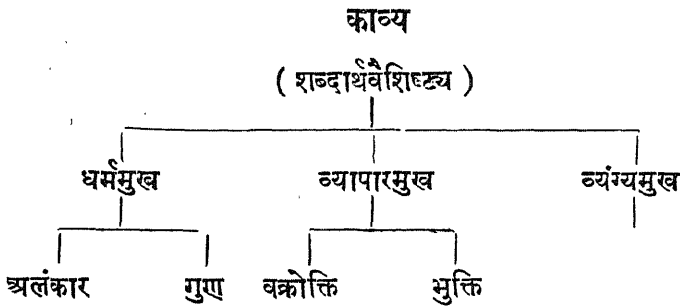
अलंकार-मत के प्राचीन समर्थक अलंकार को ही काव्य का प्रधान तत्त्व या प्राण मानते थे। बिना अलंकार के काव्य नहीं हो सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने काव्य के रूप में कथित समस्त उक्तियों के भीतर अलंकार की स्थापना की। आलंकारिक स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं, और रसवत् अलंकार भी। इसी से उनकी दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। काव्य की उक्ति कहीं अनुभूतिरूप होती है, कहीं चमत्कारमय और कहीं स्वभावकथन मात्र। इन तीनों को अलंकार के समर्थक उसके पेटे में रखते रहे हैं। उनके इस पक्ष का आगे खंडन किया गया। पर आलंकारिकों के पक्ष का विचार सम्यक् रूप से नहीं

* इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापार-मुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः द्वितीयो वामनेन तृतीयो वक्रोक्ति-जीवितकारेण चतुर्थो भट्टनायकेन पञ्चमो आनन्दवर्धनेन।

—समुद्रबंध।

किया गया। समस्त वाङ्मय में से चमत्कारविशिष्ट पद्धतियों का नाम पृथक्-पृथक् रखकर उनका विचार होता आया। भरत के प्राचीनतम रूप में उपलब्ध नाट्यशास्त्र में चार ही अलंकार हैं। चंद्रालोक में इनकी संख्या एक सौ आठ हो गई। कुवलयानंद में १२५ तक जा पहुँची। इन सभी में कोई एक विशेषता है जो साधारण कथन से भिन्न है। इस विशेषता का नाम प्राचीन आलंकारिक अतिशयता या वक्रता मानते हैं। इसके बिना कोई अलंकार नहीं होता। जहाँ अतिशयता न हो ऐसी भी काव्य की उक्तियाँ थीं। उन्हीं को आलंकारिकों ने स्वभावोक्ति और रसवत् रूप में माना। अन्य अलंकारों में अतिशयता या वक्रता भाव-रूप होती है, यहाँ अभावरूप। 'अभावरूप' में भी शैली का ग्रहण हो सकता है। इसके लिए एक उदाहरण लीजिए। श्री रमाकांत जी त्रिपाठी ने हिंदी की गद्यशैली पर एक पुस्तक लिखी है जिसमें हिंदी के गद्यलेखकों की शैली का विचार किया है। प्रत्येक लेखक की शैली की कुछ न कुछ विशेषता उन्होंने ढूँढ़ निकाली है। जब वे बाबू श्यामसुंदरदास की लेखनशैली की विशेषता ढूँढ़ने लगे तो कठिनाई में पड़े। अंत में उन्होंने बताया कि बाबू साहब की लेखनशैली की विशेषता यह है कि इसमें कोई शैली नहीं है। इस प्रकार अभावरूप में उनकी शैली की विशेषता निरूपित हुई। 'अभाव' के इसी महत्त्व के कारण प्रभाकर ने 'अभाव' को एक पदार्थ माना है। तर्कशास्त्र में इसके द्वारा बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझती हैं। जैसे घट बनने के पहले घट नहीं था और टूटने के अनंतर वह नहीं रह जायगा। ऐसी स्थिति में उसका 'अभाव' था या होगा। इसे प्रागभाव और प्रध्वंसा-भाव कहते हैं। स्वभावोक्ति में सचमुच कोई शैली नहीं है, पर शैली का अभाव भी एक शैली है। काव्य में शैली के समस्त अभाव नहीं लिए गए। स्वभाव की उक्ति ले ली गई और रस की उक्ति ले ली गई। रस की उक्ति में आगे चलकर विस्तार हुआ। कहीं रस की उक्ति, कहीं भाव की उक्ति, कहीं संधि-शांति-उदय-शबलता की उक्ति, कहीं आभास की उक्ति। इनके भी पृथक्-पृथक् नाम रख दिए गए। इतना होने पर भी रस-व्यंजना को रसवत् अलंकार नहीं माना गया। जहाँ रस आदि अंग होकर आते हैं वहीं उन्हें रसवत् आदि नाम दिया गया। आलंकारिक रस, भाव आदि से, उसके स्वरूप से परिचित थे। अलंकार और अलंकार्य का भेद जानते थे। ऐसा नहीं है कि उन्होंने भ्रम से इन सबकी कल्पना कर ली थी।

आलंकारिकों का पक्ष वही है जो चंद्रालोककार ने बताया। मम्मटाचार्य के काव्यलक्षण में 'कहीं-कहीं बिना अलंकार के भी काव्य होता है' * से रुष्ट होकर उन्होंने कहा कि जो आग मानते हैं और उसमें उष्णता मानते हैं वे काव्य को निरलंकार कैसे मानते हैं। † तात्पर्य यह कि काव्य में अलंकार नित्य है काव्य है तो अलंकार है, अलंकार है तो काव्य है। अर्थात् आलंकारिक अलंकार को काव्य में अनिवार्य मानते हैं। अलंकार शब्द अत्यंत व्यापक हो गया इसी से। यहाँ तक कि साहित्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र कहा गया।

राजशेखर ने जिस प्रकार साहित्य को पंचमी विद्या कहा ‡ (कौटिल्य ने तो चार ही प्रकार की विद्याएँ मानी थीं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति) + उसी प्रकार उपकारक होने के कारण अलंकार को सप्तम अंग भी कहा। × प्रसिद्ध छह अंगों से ÷ यह विशेष प्रकार का है, उनमें से किसी में अंतर्भुक्त भी नहीं हो सकता। वेद में अलंकारों की भी आवश्यकता पड़ती है। ऐसे अनेक मंत्र हैं जिनमें अलंकारपद्धति के बिना काम नहीं चल सकता। ∠ इसी से कहा कि अलंकार के बिना वेदार्थ की अवगति नहीं हो सकती। △

अलंकार का इतना महत्त्व मानकर भी ये उसे काव्य का शरीर नहीं मानते। जैसे रस, ध्वनि आदि को प्रधान तत्त्व या आत्मा माननेवाले अलंकार को हारादिवत् मानते हैं वैसे ही ये लोग भी। चंद्रालोककार भी अलंकार को हार ही कहते हैं ⊙ और राजशेखर ने तो काव्यपुरुष का रूपक ही बाँधकर अलंकार की स्थिति स्पष्ट की है।

---

* अनलंकृती पुनः क्वापि।

† अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्यादनुष्णमनलं कृती॥

‡ पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।
सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः॥

+ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतयश्चतस्रो विद्या इति कौटिल्यः।

× उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः।

÷ शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः।
ज्योतिषामयनं चैव षडंगो वेद उच्यते॥

∠ जैसे, अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लाम्।

△ ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः॥—काव्यमीमांसा, २।

⊙ हारादिवदलंकारसंनिवेशो मनोहरः।

साहित्यशास्त्र को संसार में फैलानेवाला काव्यपुरुष ही है। यह सरस्वती का पुत्र है। इसने इस शास्त्र की शिक्षा ब्रह्मा से पाई। ब्रह्मा ने इसे शिव से प्राप्त किया। शिव ने ६४ शिष्यों को उपदेश दिया था जिनमें ब्रह्मा और विष्णु भी थे। ब्रह्मा ने मानसपुत्रों वा शिष्यों को इसकी शिक्षा दी, जिनमें काव्यपुरुष भी था। काव्यपुरुष का शरीर शब्द और अर्थ हैं। संस्कृत भाषा मुख है। प्राकृत भुजा है, अपभ्रंश जंघा है, पैशाची चरण है, मिश्र भाषा उरस्थल है। माधुर्य आदि उसके गुण हैं। वक्रोक्ति वाणी है। रस आत्मा है। छंद रोम हैं। प्रश्नोत्तर, पहेली, समस्या आदि वाग्विनोद हैं। अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार या आभूषण हैं।

अलंकार शब्द के भी होते हैं और अर्थ के भी। कुछ अलंकार ऐसे होते हैं जिनमें शब्द और अर्थ दोनों में चमत्कार होता है। पर प्रधानत्व के कारण और शब्दपरिवृत्ति के सहत्व या असहत्व के कारण उन्हें अर्थालंकार या शब्दालंकार कहा गया। शब्दालंकार में जिन शब्दों के कारण चमत्कार होता है वे पर्यायवाची शब्दों से बदले नहीं जा सकते। अर्थालंकार में पर्यायवाची शब्द रखे जा सकते हैं। चमत्कार को कोई क्षति न पहुँचेगी। दो अलंकारों के मेल का नाम उभयालंकार है। दो शब्दालंकार या दो अर्थालंकार या एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार मिलें तो उभयालंकार। दो से अधिक या एक से अधिक संख्या भी हो सकती है। मेल दो प्रकार का होता है; नीरक्षीर की भाँति मेल या तिलतंदुल की भाँति मेल। पहले को 'संकर' और दूसरे को 'संसृष्टि' कहते हैं।

शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकार का महत्त्व अधिक है। शब्दालंकार की संख्या भी थोड़ी ही है। अर्थालंकार का महत्त्व अग्निपुराण में यहाँ तक कहा गया कि अर्थालंकार के बिना सरस्वती विधवा है। शब्दालंकार जैसे वाणी ने पहने वैसे न पहने। इसी से अलंकारों के मूल का विचार करने में अर्थालंकारों को ही आधार बनाया गया। आरंभ में अर्थालंकार के चार ही मूल माने गए—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। * जिन्होंने प्रतीति के आधार पर निश्चय किया उन्होंने भी चार ही प्रकार की प्रतीति मानी—वस्तुप्रतीति, औपम्य-

---

* अर्थस्यालंकाराः वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥—काव्यालंकार।

प्रतीति, रसभावप्रतीति और अस्फुटप्रतीति । * आगे चलकर सात प्रकार के वर्गों की कल्पना राजानक रुय्यक ने की । इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है । † अलंकार अनुभूति की तीव्रता में सहायता करते हैं या रूप, गुण, क्रिया की प्रतीति में तीव्रता लाते हैं । ‡

गुण-मत

गुण-मत उस प्रकार का स्वतंत्र मत नहीं है जिस प्रकार का अलंकार-मत । गुण-मत रीति-मत से संबद्ध है । वामन ने रीति की परिभाषा करते हुए उसे विशिष्टपदवाली कहा । विशिष्टता के लिए इन्होंने गुण का नाम लिया । फिर उन गुणों का विचार किया । जैसे अलंकार शब्द और अर्थ के होते हैं वैसे गुण भी । वामन ने शब्द के दस और अर्थ के भी दस गुण माने । नाम एक ही रखे । अर्थात् शब्द के दस गुणों के जो नाम हैं वे ही अर्थ के दस गुणों के भी हैं । पर परिभाषा पृथक् पृथक् है । उनके नाम हैं—ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति और कांति । दस शब्दगुणों का विचार करते हुए इन्होंने बताया कि गाढ़बंधत्व का नाम ओज है, शैथिल्य प्रसाद है, चिकनापन (मसृणत्व) श्लेष है, शैली का अभेद (आदि से अंत तक एकरूप) समता है, उतार-चढ़ाव का क्रम समाधि है, पदों का पृथक् पृथक् होना माधुर्य है, अपरुषता सौकुमार्य है, विकटता उदारता है (विकटता वहाँ होती है जहाँ पद नाचने से लगते हैं), जहाँ अर्थ प्रकट होने में कठिनाई न हो वह अर्थव्यक्ति है, उज्ज्वलता अर्थात् नूतनता कांति है । +

अर्थगुणों में अर्थ की प्रौढ़ि को ओज कहा है । प्रौढ़ि का अर्थ है प्रौढ़ता । अर्थप्रौढ़ि पाँच प्रकार की मानी—१ पद के लिए

---

* केचित्प्रतीयमानवस्तवः केचित्प्रतीयमानौपम्याः ।
केचित्प्रतीयमानरसभावादयः केचिदस्फुटप्रतीयमानाः ॥—प्रतापरुद्रीय ।

† देखिए, पृष्ठ ६१ ।

‡ देखिए—'तुलसीदास'—आचार्य रामचंद्र शुक्ल ।

\+ गाढ़बन्धत्वमोजः । शैथिल्यं प्रसादः । मसृणत्वं श्लेषः । मार्गाभेदः समता । आरोहावरोहक्रमः समाधिः । पृथक्पदत्वं माधुर्यम् । अजरठत्वं सौकुमार्यम् । विकटत्वमुदारता । अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः । औज्ज्वल्यं कान्तिः ।

वाक्य का, २ वाक्य के लिए पद का प्रयोग, ३ व्यास (विस्तार), ४ समास (संक्षेप), ५ साभिप्रायता ।* अर्थ की विमलता प्रसाद है। मेल (घटना) का नाम श्लेष है। क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति का योग घटना या मेल है।† अनेक क्रियाव्यापार क्रम से रखे जायँ तो क्रम है, चातुर्य कौटिल्य है, प्रसिद्ध पद्धति का अत्याग अनुल्वणत्व है और युक्ति से काम लेना उपपत्ति है। अविषमता अर्थात् प्रक्रम का अभेद समता है। अविषमता का अर्थ सुगमता भी कर सकते हैं। अर्थ के दर्शन समाधि है। समाधि में जो अर्थ होते हैं वे दो प्रकार के—एक अयोनि, दूसरे अन्यच्छायायोनि।‡ अयोनि वह है जहाँ कवि की अपनी सूझ होती है। अन्यच्छायायोनि वह है जहाँ दूसरे की छाया में अपनी सूझ जोड़ी जाती है। पहली में कोई कारण नहीं होता, वह अकारण होती है। अर्थ के दो अन्य प्रकार भी होते हैं—व्यक्त और सूक्ष्म। सूक्ष्म के फिर दो भेद होते हैं—भाव्य और वासनीय।+ शीघ्र ही जिसका निरूपण हो सके वह भाव्य और एकाग्रता की अधिकता से जो समझा जाय वह वासनीय है। इस प्रकार अर्थ के ये प्रकार यों हुए—
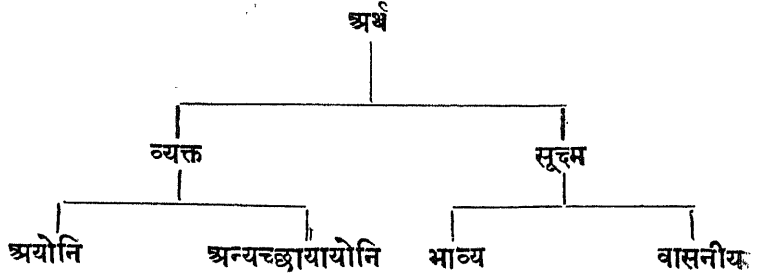
समाधि नाम इसलिए कि शांतचित्त ही अर्थ को देख पाता है। उक्तिवैचित्र्य माधुर्य है। अपरुषता सौकुमार्य है।

---

* पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यासससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च॥

† क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगो घटना।

‡ अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा।

+ अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च। सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च।

अग्राम्यत्व उदारता है। वस्तुस्वभावस्फुटता अर्थव्यक्ति है। दीप्तरसत्व कांति है।*

वामन के पूर्व भरत ने ये ही दस गुण माने थे। वहाँ शब्द और अर्थ का पृथक् विचार नहीं था। किसी किसी के दुहरे लक्षण थे। वामन ने शब्द और अर्थ के इन गुणों का सांगोपांग वर्णन किया। भामह ने ओज, माधुर्य और प्रसाद का विचार किया है। कुंतक ने सामान्य और विशेष गुण माने हैं। सामान्य गुण हैं—औचित्य और सौभाग्य। विशेष गुण हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। अग्निपुराण ने ६ शब्द के, ६ अर्थ के और ६ शब्दार्थ के गुण माने हैं। शब्दगुण हैं—श्लेष, लालित्य, गांभीर्य, सुकुमारता, औदार्य और ओज। अर्थगुण हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकता। शब्दार्थ या उभयगुण हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक और राग। ओज, माधुर्य और प्रसाद की स्थिति यहाँ ध्यान देने योग्य है। ओज शब्दगुण, माधुर्य अर्थगुण और प्रसाद उभयगुण है। इसका और विचार आगे करेंगे। भोजराज ने गुणों के तीन प्रकार कहे हैं—बाह्य, आभ्यंतर और वैशेषिक। वैशेषिक का अर्थ है विशेष स्थितिवाला। वैशेषिक गुण वे हैं जो विशेष परिस्थिति के कारण गुण हैं अन्यथा वे दोष ही हैं। बाह्य और आभ्यंतर में १४ नाम और बढ़ाकर १० को २४ कर दिया है। १४ गुणों के नाम ये रखे हैं—उदात्तता, और्जीत्य, प्रेय, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गांभीर्य, विस्तार, संक्षेप, संमितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढ़ि।

गुण जब चारुत्वप्रवाह से अनुभूतिप्रवाह या रसप्रवाह में पहुँचे तो उनकी संख्या तीन ही रह गई—ओज, माधुर्य और प्रसाद। इनसे क्रमशः मन की दीप्ति, द्रुति और व्याप्ति होती है। पहले ये काव्य अर्थात् शब्दार्थ के धर्म थे अब ये रस के धर्म हो गए। रसवादियों की परिभाषा ठीक से न समझने के कारण 'प्रसाद' गुण को हृदयंगम करने में प्रायः भ्रांति हो जाती है। जिस ढंग से समझने के अभ्यासी हम हैं उस ढंग से वे सर्वत्र समझाते नहीं, इसी से भ्रांति होती है। प्रसाद

---

* अर्थस्य प्रौढिरोजः। अर्थवैमल्यं प्रसादः। घटना श्लेषः। अवैषम्यं समता सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति। अर्थदृष्टिः समाधिः। उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। अपारुष्यं सौकुमार्यम्। अग्राम्यत्वमुदारता। वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। दीप्तरसत्वं कान्तिः।

को समझाते हुए कहा गया कि जैसे सूखे ईंधन में आग दौड़ती है वैसे ही ग्रहीता के हृदय में जो शीघ्र व्याप्त हो वह प्रसाद है। ओज से जैसे दीप्ति होती है और माधुर्य से द्रुति वैसे ही प्रसाद से व्यापकता। यदि इसे यों समझा जाए तो भ्रांति न हो। अंतःकरण की दो वृत्तियाँ हैं—राग और द्वेष। माधुर्य का संबंध राग से और ओज का संबंध द्वेष से है। माधुर्य की द्रुति से राग का संबंध नियत है। ओज की दीप्ति से द्वेष का संबंध नियत है। पर प्रसाद का संबंध न राग से नियत है न द्वेष से। प्रसाद गुण का संबंध नियत नहीं है इसी से इस उभय-स्थितिवाले गुण की कल्पना अनिवार्य थी। अग्निपुराण ने प्रसाद को शब्दार्थगुण या उभयगुण कहकर इस स्थिति की ओर स्पष्ट संकेत कर दिया था। उनका संकेत चारुत्वप्रवाह का संकेत है अर्थात् शब्दार्थ के संबंध से ही वहाँ विचार हो रहा था। अनुभूति के क्षेत्र में उसकी वही स्थिति है जिसका ऊपर उल्लेख हुआ। अनियतवृत्ति होने के कारण ही उसकी व्यापकता का उल्लेख किया गया है।

रीति-मत

जिस प्रकार वाग्विकल्प अनेक हैं उसी प्रकार वाणी के मार्ग भी अनेक हैं। प्रत्येक कवि वाणी का प्रयोग करते समय अपनी कुछ न कुछ निजी शैली अवश्य रखता है। इस सूक्ष्मभेद को स्पष्ट करना कठिन है। * फिर भी अनेक कवियों में प्रयोग मिलते जुलते होते हैं। इसलिए उनके वर्गों की कल्पना की जा सकती है। भामह ने दो प्रकार के काव्य कहे हैं—वैदर्भ और गौड़ीय। दंडी ने इन प्रकारों को रीति नाम से अभिहित किया है। भोज ने तीन प्रकार की काव्योक्तियों में से स्वभावोक्ति और रसोक्ति का संबंध वैदर्भ मार्ग से और वक्रोक्ति का गौड़ीय मार्ग से स्थापित किया है। आरंभ में देशभेद से यह भेद-कल्पना चली। विदर्भ और गौड़ देशों में प्रयोग की भिन्नता थी इससे दो प्रकार के मार्ग या रीतियाँ मानी गईं। पर ऐसा न समझना चाहिए कि रीतियों का संबंध देश से ही है। देशभेद से रीतिभेद होने पर भी उसका मूल अंतःकरण में है। इसी से किसी ने इन भेदों में कोमलता और कठिनता को भेदक माना (शिंगभूपाल ने) और किसी ने कठिनता के बदले विचित्रता की कल्पना की (भोजराज ने)। जहाँ दो

---

* अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥—काव्यादर्श।

भिन्न मार्ग होंगे वहाँ मिश्र या मध्यम मार्ग भी हो सकता है। इसी से रीतियाँ तीन मानी गईं—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। इन रीतियों में समास का विशेष माहात्म्य है। समास के न्यूनाधिक्य के कारण इनमें अंतर किया गया। समास की अधिकता गौड़ी में थी तो समास की अल्पता वैदर्भी में। पांचाली में मध्यम स्थिति थी। समास का ध्यान रखकर रुद्रट ने चार रीतियाँ कर दीं—असमास, अतिसमास, लघुसमास और मध्यमसमास। क्रमशः इनके नाम वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी कहे। लाट देश गुजरात का प्राचीन नाम है। विदर्भ बरार को कहते थे, गौड़ बंगाल को और पंचाल उत्तरप्रदेश के मध्य भाग को। देश की ओर विशेष ध्यान जाने से ही बीच की कल्पना को बल मिला। गौड़ी तथा पांचाली के बीच मागधी और पांचाली तथा लाटी के बीच आवंती की स्थापना भी कर ली गई। भोज ने इसी से चार के बदले छह रीतियाँ कही हैं। राजशेखर ने चार ही रीतियाँ कहीं। वैदर्भी के बदले वच्छोमी * नाम दिया है और मागधी के बदले मैथिली नाम।

रीति का नाम कहीं कहीं वृत्ति भी मिलता है। † अलंकार-क्षेत्र में जो अनुप्रास के अंतर्गत उपनागरिकादि वृत्तियाँ मानी गई हैं वे रीति से भिन्न हैं पर उनकी कल्पना का मूल वही है जो रीति की कल्पना का। तीन गुणों की कल्पना का मूल भी वही है। नाट्यशास्त्र में भी चार वृत्तियाँ आती हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। ‡

---

* वत्सगुल्मी। वत्सगुल्म विदर्भ के आसपास के प्रदेश का ही नाम जान पड़ता है।

† एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौडीया पाञ्चालाख्या रीतय उच्यन्ते। —काव्यप्रकाश।

‡ नाट्यशास्त्र में नाट्य की चार प्रवृत्तियाँ कही गई हैं जिनके नाम रीतियों के नाम से मिलते हैं—

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी॥

दाक्षिणात्या वैदर्भी के निकट है। औड्रमागधी—उड़िया—मैथिली गौड़ी के निकट है।

इनका संबंध विलास से है, रीति का संबंध वाणी से। * उपनागरिकादि का मुख्य संबंध अक्षरों की संघटना से है, रीति का समास की संघटना से। रीति अलंकार से भी भिन्न है। अलंकार और गुण के भेद की कल्पना चारुत्वभेद से की गई है। चारुत्व दो प्रकार का होता है— स्वरूपमात्रनिष्ठ और संघटनाश्रित।† अलंकारों में सौंदर्य स्वरूपमात्रकृत होता है। गुण में सौंदर्य संघटना के आश्रित होता है। रीति की विशिष्टता गुण से है इसलिए रीति का सौंदर्य भी संघटनापर्यवसायी होता है। इसे यों समझना चाहिए कि किसी की आँखें सुंदर हैं, किसी की नाक सुंदर है, किसी के कान सुंदर हैं। आँख, नाक और कान की बनावट यदि ऐसी हो कि ये परस्पर एक दूसरे के सौंदर्य की वृद्धि करनेवाले हों तो कहा जायगा कि यहाँ सौंदर्य स्वरूपपर्यवसायी नहीं है संघटनाश्रित है। अंगों का सुषम संस्थान सौंदर्य की वृद्धि करनेवाला होता है। ‡ इसी से साधारण सौंदर्य का नाम शोभा है, पर परम सौंदर्य का नाम सुषमा है। +

वक्रोक्ति-मत

शब्द की तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं— अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। अलंकार-मत में अभिधेय अर्थ में चमत्कार होता है। अलंकार-मत यद्यपि अपनी सीमा में सब प्रकार के चमत्कार समेटता है, पर अभिधा शक्ति से प्राप्त वाच्यार्थ में प्रधानतया उसकी दृष्टि रहती है। पर वाच्यार्थ की प्रधानता का तात्पर्य यह नहीं कि साधारण कथन अलंकार होता है। इसी से आलंकारिकों द्वारा कुछ अलंकारों की विवेचना में यह स्पष्ट कहा गया है कि बिना अतिशयोक्ति अर्थात् कवि द्वारा कल्पित चमत्कार के काव्यगत वैशिष्ट्य उत्पन्न नहीं किया

---

* वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः। विलासविन्यासक्रमः वृत्तिः। वचनविन्यासक्रमः रीतिः।—काव्यमीमांसा।

† द्विविधं चारुत्वम्-स्वरूपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारुत्वं शब्दालंकारेभ्यः। संघटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्टमुपमादिभ्यः। संघटनापर्यवसितं त्वर्थगुणेभ्य इति।—ध्वन्यालोकलोचन।

‡ पदसंघटना रीतिः अङ्गसंस्थाविशेषवत्।—साहित्यदर्पण।

+ सुषमा परमा शोभा।—अमरकोश।

जा सकता।* जैसे, अलंकार की दृष्टि से वस्तुत्व और प्रमेयत्व में चमत्कार नहीं माना जाता।† वस्तुत्व का तात्पर्य है वास्तविक स्थिति मात्र का कथन। यदि कोई कहे कि 'पुत्र की आकृति पिता के समान है' तो यहाँ पर उपमा अलंकार न होगा क्योंकि पुत्र की आकृति पिता के समान होना वास्तविकता है। इसी प्रकार प्रमेयत्व अर्थात् प्रमाण द्वारा प्राप्त स्थिति में भी रमणीयता नहीं मानी जाती। यदि कहा जाय कि 'नीलगाय गाय के समान होती है' तो यहाँ पर भी उपमा अलंकार न होगा। क्योंकि नीलगाय के लिए गाय शब्द प्रमाण होकर आया है, चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं। इसी प्रकार विभावना, परिवृत्ति, विरोध आदि कई अलंकार ऐसे हैं जिनमें चमत्कार कवि-कल्पना द्वारा माना जाता है। तात्पर्य यह कि काव्यगत चमत्कार विशेष प्रकार के कथन में ही होता है। सभी अलंकारों में अनुस्यूत यह अतिशयोक्ति 'अतिशयोक्ति' नाम के अलंकार से पृथक् है।‡

जिस प्रकार सब अलंकारों के मूल में रहनेवाली अतिशयोक्ति इसी नाम के अलंकार से भिन्न है उसी प्रकार सब अलंकारों में अनुस्यूत वक्रोक्ति भी इसी नाम के अलंकार से भिन्न है।+ इसी वक्रोक्ति को लक्ष्य करके कुंतक ने एक स्वतंत्र मत की स्थापना की। उन्होंने वैदग्ध्यभंगीभणिति को वक्रोक्ति कहा और वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) सिद्ध किया। इसके भीतर अलंकार, लक्षणा, व्यंजना

---

* सर्वत्र एवंविध विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्।—काव्यप्रकाश।

इसी को कुछ लोगों ने 'वक्रोक्ति' भी कहा है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥
—काव्यालंकार (भामह)।

† वस्तुत्वप्रमेयत्वमर्मप्रहारकृतविरहादिजन्यस्य नालंकारत्वम्।

‡ न त्वतिशयोक्त्यलंकारोऽत्र विवक्षितः। तस्यात्रासंभवात्।
—उद्योत।

\+ साहित्यदर्पणकार वक्रोक्ति को अलंकार कहकर उसका काव्यलक्षण के प्रसंग में खंडन करते हैं—एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलंकाररूपत्वात्।

सबके चमत्कार रखे। जैसे ध्वनि को लक्षणा (भक्ति) माननेवाले हुए* वैसे ही वक्रोक्ति के इस प्रपंच को भी शास्त्राभ्यासी लक्षणा मानते रहे हैं। वामन ने सादृश्य के कारण होनेवाली लक्षणा को वक्रोक्ति कहा है।† किसी ने यह भी कहा कि वक्रोक्ति में सारा ध्वनिप्रपंच आ जाता है।‡

वक्रोक्तिजीवितकार स्वभावोक्ति को अलंकार माननेवालों पर बहुत क्षुब्ध हैं। वे कहते हैं कि जो स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं उनसे पूछना है कि आपके पास अब अलंकार्य क्या है। शरीर ही अलंकार है तो गहने किसे पहनाए जायँगे। स्वयम् अपने कंधे पर कोई सवार नहीं हो सकता।+

कुंतक ने वक्रोक्ति के छह भेद किए हैं—(१) वर्णविन्यासवक्रता, (२) पदपूर्वार्धवक्रता, (३) पदपरार्धवक्रता, (४) वाक्यवक्रता, (५) प्रकरणवक्रता, (६) प्रबंधवक्रता। इसके देखने से स्पष्ट है कि वर्ण से लेकर प्रबंध तक काव्य के विस्तार की जहाँ तक सीमा है वक्रोक्ति का क्षेत्र है। पदवक्रता को एक न कहकर 'पदपूर्वार्ध' और 'पदपरार्ध' भेद में बाँट दिया है। 'पद' के दो अंश होते हैं। व्याकरण में पहले को 'प्रकृति' और दूसरे को 'प्रत्यय' कहते हैं। कोई "शब्द' तब तक 'पद' नहीं होता जब तक उसमें 'नाम' (संज्ञा) या 'आख्यात' (क्रिया) का प्रत्यय न लग जाए। पहले प्रकार के प्रत्यय संस्कृत में 'सुप्' और दूसरे प्रकार के 'तिङ्' कहलाते हैं।× इसी से दो प्रकार के भेद कर लिए गए। प्रकृति-अंश की वक्रता पदपूर्वार्धवक्रता हुई और प्रत्यय-अंश की

---

* काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भक्तिमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥

† सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।

‡ उपचारवक्रतादिभिः सर्वो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृत एव।—अलंकारसर्वस्व।

\+ अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥

× सुप्तिङन्तं पदम्।

वक्रता पदपरार्धवक्रता हुई। वर्णों का समूह 'पद' है। पदों का समूह 'वाक्य' है। वाक्यों का समूह 'प्रकरण' है। प्रकरणों का समूह 'प्रबंध' है। उत्तरोत्तर वृद्धि को ध्यान में रखकर ये भेद किए गए हैं।

वर्णविन्यासवक्रता के अंतर्गत अनुप्रास और यमक के समस्त चमत्कारों का विचार है। पर फालतू अनुप्रास की गुंजाइश इस वक्रता में नहीं है। अनुप्रास के लिए तीन प्रतिबंध लगा दिए हैं—(१) नातिनिर्बन्धविहित, (२) नाप्यपेशलभूषित, (३) पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्वल।* अर्थात् अनुप्रास रखने का अत्यधिक निबंध (व्यसन) नहीं होना चाहिए। जैसे, पद्माकर ने वसंत का वर्णन करते हुए 'कूलन में केलिन में कुंजन कछारन में' बरबस अनुप्रास रखा है। अनुप्रास असुंदर वर्णों की घटा से नहीं रखना चाहिए। जैसे, केशवदास ने पंचवटी का वर्णन करते हुए किया—'सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहँ एक घटी' आदि। पहले के आवृत्त वर्णों का त्याग करके नवीन वर्णों का आवर्तन करना ही श्रेयस्कर है। जैसे, तुलसीदास गुरुचरण-कमलों की धूलि का वर्णन करते हुए अनुप्रास की योजना करते हैं—

बंदौं गुरु-पद-पदुम-परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥

यमक में भी वे प्रसादता, श्रुतिपेशलता और औचित्ययुक्तता की दुहाई देते हैं।†

पदपूर्वार्धवक्रता के दस प्रकार हैं—(१) रूढ़िवैचित्र्यवक्रता, (२) पर्यायवक्रता, (३) उपचारवक्रता, (४) विशेषणवक्रता, (५) संवृतिवक्रता, (६) प्रत्ययवक्रता, (७) वृत्तिवक्रता, (८) भाववैचित्र्यवक्रता, (९) लिंगवैचित्र्यवक्रता, (१०) क्रियावक्रता। इनमें से कई के और भी प्रभेद किए गए हैं। पदपरार्धवक्रता के सात प्रकार हैं—(१) कालवैचित्र्यवक्रता, (२) कारकवक्रता, (३) संख्यावक्रता, (४) पुरुषवक्रता, (५ उपग्रहवक्रता, (६) प्रत्ययवक्रता, (७) पदवक्रता। आधुनिक हिंदी-कविता में लाक्षणिक शब्दों का जो अत्यधिक व्यवहार है, प्रतीकात्मकता है, नराकृतिकल्पना

---

* नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्वला॥

† समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थानशोभि यत्॥

पना) में मरिच, चीनी, नमक, खटाई कई का मेल रहता है। उनमें से किसी एक का ही स्वाद नहीं आता। सबका मिला जुला स्वाद आता है। ऐसे ही रस के आस्वाद की भी स्थिति है। भरत मुनि ने तो रस को अलौकिक नहीं कहा, पर आगे चलकर रसानुभूति अलौकिक कही गई।

अलौकिक कहने में तर्क यह दिया गया कि रसात्मक अनुभूति में प्रत्यक्षानुभूति की भाँति मन की सुखात्मक दुःखात्मक दो प्रकार की स्थिति नहीं रहती। प्रत्यक्षानुभूति में मन सुख में प्रवृत्त होता है, वह उसके लिए अनुकूल संवेदन उत्पन्न करता है और दुःख में वह उससे निवृत्त होता है, हटता है। दुःख मन के लिए प्रतिकूल संवेदन उत्पन्न करता है। रसास्वाद में मन लीन रहता है, रमा रहता है, प्रवृत्त रहता है। चाहे काव्य का प्रसंग सुखात्मक हो चाहे दुःखात्मक। काव्य के आस्वाद में, रसास्वाद में अनुकूल संवेदन ही होता है। यदि ऐसा न होता तो करुण रसात्मक प्रसंग पढ़ने या देखने में प्रवृत्ति न रहती, सुख न मिलता।* देखा यह जाता है कि इसमें अधिकाधिक प्रवृत्ति होती है, बारंबार पढ़ने-सुनने या देखने की मनोवृत्ति जगती है। यदि कोई कहे कि फिर आँसू ऐसे प्रसंग में क्यों आते हैं तो इसका उत्तर यह दिया गया कि आँसू करुणा, दुःख या विषाद में ही नहीं आते, आनंद में भी आते हैं, रसानुभव के कारण चित्तद्रुति से आते हैं।† इस प्रकार यह रसानुभूति लोक की सामान्य सुखदुःखात्मक अनुभूति से विलक्षण है। अतः अलौकिक है। उसे अनिर्वचनीय कहा गया है। रस कार्य, ज्ञाप्य, साक्षात् अनुभव, परोक्षानुभव, निर्विकल्पक या सविकल्पक ज्ञान सबसे भिन्न कहा गया।‡

---

* करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।—साहित्यदर्पण, ३–४।

† अश्रुपातादयस्तद्वद्द्रुतत्वाच्चेतसो मताः।—वही, ३–८।

‡ कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्तमानोऽपि।
न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते।
तथाभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च॥
सविकल्पकसंवेद्यः साक्षात्कारतया न च।
परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात्॥
तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।
प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम्॥—वही ३–२१ से २६

रस अखंड, स्वप्रकाशानंद, चिन्मय, वेद्यांतरस्पर्शशून्य, ब्रह्मानंद-सहोदर और लोकोत्तरचमत्कारप्राण कहा गया।* रस की अनुभूति निर्विघ्न स्थिति में होती है। रस में जो विघ्न उपस्थित होते हैं अभिनव-गुप्तपादाचार्य ने उनकी संख्या सात बताई है।† उनका कहना है कि विघ्नरहित रसनात्मक प्रतीति द्वारा जब भाव गृहीत होता है तभी रस होता है। लोक में भी सब प्रकार के विघ्न से विमुक्त ही संवित्ति (ज्ञान) होती है। रस के सात विघ्न होते हैं १—प्रतिपत्ति में अयोग्यता, जिसका नाम संभावनाविरह है अर्थात् विश्वासयोग्य न समझना, असंभव मानना। २—स्वगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश। ३—परगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश। यह समझ लेना कि ये भाव पात्र के ही हैं अथवा ये भाव मैं ने अनुभूत किए हैं। इस प्रकार विशेष देशकाल का आवेश हो जाना, उसकी अपेक्षा हो जाना। ४—निजसुखादिविवशीभाव, अपने सुख या दुःख में ही इतना विवश रहना कि काव्य या नाट्य की अनुभूति ग्रहण करने की ओर मन उन्मुख ही न हो। ५—प्रतीति-उपाय-विकलता एवम् स्फुटत्व का अभाव। प्रतीति का उपाय ही ठीक नहीं है या स्पष्टता नहीं है तो भी विघ्न होता है। अभिनय ही ठीक नहीं है तो कैसे प्रतीति होगी। ६—अप्रधानत्व, जो प्रधान नहीं हैं उनको प्रधान कर देना और स्थायी भाव को अप्रधान बना देना। ७—संशययोग, संदेह हो जाना। अनुभावों से यह पता न चले कि ये किस स्थायी भाव के हैं आदि। मेरे एक घनिष्ठ मित्र कहते हैं कि मैं नाटक देखते समय यह भूल ही नहीं पाता कि यह नाटक है। इसलिए मुझे नाटक से कोई रसानुभूति नहीं होती। यह कैसे कहा जाय कि उनमें बुद्धि सजग है, हृदय सुप्त—वासनारहित।‡

* सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः। —साहित्यदर्पण।

† सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। तथा हि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिः। विघ्नाश्चास्यां सप्त। प्रतिपत्तावयोग्यता संभावनाविरहो नाम। स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः। निजसुखादिविवशीभावः। प्रतीत्युपायवैकल्यस्फुटत्वाभावः। अप्रधानता। संशययोगश्च।
—अभिनवभारती।

‡ सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः॥—साहित्यदर्पण।

पर यह अवश्य कह सकते हैं कि संभावनाविरह विघ्न उनके लिए उपस्थित रहता है।

रस एक ही होता है पर इसके उपाधिभेद से नामभेद किए गए हैं। अनेक रसों की कल्पना की चर्चा पहले की जा चुकी है।* इनकी संख्या यहाँ तक बढ़ी लौल्य, मृग्य, अक्ष, दुःख, पारवश्य, कार्पण्य, क्रीड़नक आदि न जाने कितने रस माने गए। खेद है कि इतने पर भी रसाभ्यासी संकुचित दृष्टिवाले ही समझे जाते रहे हैं।

रसात्मक प्रतीति का विस्तार भी हुआ। स्थायी भाव का परिपाक रस माना जाता है, पर रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भाव-संधि, भावशांति, भावशबलता की प्रतीति भी रसात्मक ही मानी जाती है। यहाँ तक कि काव्यगत चमत्कार मात्र का बोध रसात्मक मान लिया गया। रस की व्याप्ति का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है।

ध्वनि-मत

ध्वनि-मत मूलतः वैयाकरणों के यहाँ उपजा। फिर साहित्य में इसका ग्रहण हुआ। साहित्याचार्यों ने इसकी ऐसी मार्मिक विवेचना और स्थापना की कि ध्वनि काव्य में प्रधान मानी जाने लगी। इस ध्वनि की ओर वैयाकरणों का ध्यान उस समय गया जब शब्द से अर्थबोध का विचार किया जाने लगा। शब्द से अर्थोपलब्धि कैसे होती है। शब्द का कौन सा अंश अर्थ का बोध कराता है—आद्य अंश, अंत्य अंश या समग्र शब्द। कठिनाई का कारण यह है कि वर्ण क्षणस्थायी माना गया है। एक वर्ण दो क्षण से अधिक टिक नहीं सकता। इसलिए 'गऊ' शब्द के ग्, अ, ऊ तीन वर्णों में से अंतिम 'ऊ' वर्ण तक पहुँचने पर 'ग' नहीं रह जाएगा। 'अऊ' से 'गाय' अर्थ नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए वैयाकरणों ने दो प्रकार के शब्द माने हैं—नित्य और अनित्य। वर्णरूप में जो शब्द होता है वह अनित्य है। इसी अनित्य शब्द का हम आप उच्चारण करते हैं। इस उच्चरित वर्णात्मक अनित्य शब्द से नित्य ध्वनिरूप शब्द व्यंग्य होता है। ध्वन्यात्मक शब्द के मूल में स्फोट का सिद्धांत है। वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धांत के अनुसार यह माना जाता है कि शब्द का उच्चारण करने पर अनित्य वर्णात्मक शब्द तो नष्ट हो जाता है पर इन वर्णों के

---

* देखिए पीछे पृष्ठ १०६।

अतिरिक्त पूर्वपूर्ववर्ण के अनुभव सहित अंतिम वर्ण के अनुभव से व्यंग्य अर्थ की प्रतीति करानेवाला अखंड शब्द स्फोट रूप में रहता है।* इसी से शब्द द्वारा अर्थबोध होता है। मीमांसक ऐसे स्थान पर संस्कार की कल्पना करते हैं। पूर्ववर्ण के नष्ट हो जाने पर भी स्मृतिरूप में उसका संस्कार बना रहता है। पर वैयाकरण कहते हैं कि कहाँ तक यह संस्कार माना जाएगा। शब्द का संस्कार, वाक्य का संस्कार तो समझ में आता है, प्रत्येक वर्ण का संस्कार मानने में गौरव है। प्रत्येक वर्ण से अर्थ की प्रतीति होती नहीं। वर्णसमुदाय से अर्थ की प्रतीति में वर्ण का क्षणस्थायित्व बाधक है। प्रतिवर्ण के संस्कार में गौरव है। इसलिए स्फोटरूप अखंड शब्द से ही अर्थबोध होता है। शब्दस्फोट की भाँति वाक्यस्फोट भी होता है। स्फोट प्रकाशक है। इसी प्रकाशकता के कारण वह स्फोट कहा जाता है। जिससे अर्थ स्फुटित वा प्रकाशित हो या जो अक्षरों से स्फुटित वा व्यंग्य हो वह स्फोट है।† मीमांसकों ने इसका विरोध भी किया है। उनका कहना है कि जैसे दीपक से घड़ा प्रकाशित होता है वैसे ही वर्णों, ध्वनियों, पदों या वाक्यों से स्फोट व्यंजित नहीं होता।‡ इनमें व्यंजकता कहाँ से आई।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने कहा है कि वाक्करणों के संयोग और वियोग से, मिलने और हटने से जो स्फोट उपजनित होता है उस शब्दज शब्द को विद्वान ध्वनि कहते हैं।+ वक्ता जिस शब्द का

---

* पूर्वपूर्ववर्णानुभवसहितचरमवर्णानुभवव्यंग्यः अर्थप्रत्यायकः अखण्डः शब्दभेदः।—वाचस्पत्य।

† न तावद्वर्णानां प्रत्येकमर्थबोधकत्वम्। एकैकस्मादर्थाप्रतीतेः। नापि समुदितानां क्षणविनाशिनां समुदायानुपपत्तेः। प्रतिवर्णं च संस्कार-कल्पने गौरवापत्तिः। अतो वर्णोच्चारणानन्तरं यतोऽर्थप्रत्ययो भवति सोऽयं स्फोटकत्वेन प्रकाशकत्वेन स्फोट इत्युच्यते। स एव पदात्मा शब्दः। एवं वाक्यस्फोटोऽपि। अप्रत्यक्षोऽप्ययमर्थः। प्रतीति-लक्षणकार्यानुपपत्त्या गम्यते।""तस्मान्न वर्णात्मकः शब्दः किन्तु स्फोटरूप इति।—सिद्धांतचंद्रिका।

‡ वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः
व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादयः॥—श्लोकवार्तिक।

+ यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः।

उच्चारण करता है उससे दूसरा शब्द उत्पन्न होता है, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा आदि। जब तक श्रोता के कान के पास वह नहीं पहुँचता शब्द की संतति उत्पन्न होती रहती है। इसी शब्दज शब्द को ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि का साहित्य में ग्रहण होने पर उसका तात्पर्य यह माना गया कि जहाँ व्यंग्य में वाच्य से अतिशयता हो वहाँ ध्वनि होती है।* अथवा जहाँ अर्थ अपने को और शब्द अपने अर्थ को गौण करके व्यंग्यार्थ प्रकट करते हैं उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं।† ध्वनि शब्द से भी हो सकती है और अर्थ से भी हो सकती है। ध्वनि किसी रचना में होती है। जिस शब्द से ध्वनि होती है उसे भी ध्वनि कहते हैं, जिस अर्थ से ध्वनि होती है उसे भी ध्वनि कहते हैं। शब्द या अर्थ से जो व्यंग्य होता है उसे भी ध्वनि कहते हैं। जिस कविता में ध्वनि होती है उसे भी ध्वनि कहते हैं। ध्वनि शब्द का इस प्रकार बहुत व्यापक प्रयोग होने लगा। ध्वनि वस्तुतः मूल अर्थ में वह है जो स्फोट को व्यक्त करे।‡ साहित्य में ध्वनि की सूक्ष्मता समझाने के लिए अनुरणन का दृष्टांत दिया जाता है। घंटा बजाने पर आघात के साथ ही जो शब्द होता है उसके अनंतर भी क्रमशः सूक्ष्म ध्वनि सुनाई पड़ती है यदि ध्यान देकर सुना जाय। वह ध्वनि अत्यंत रमणीय होती है। किसी शब्द का वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ हो जाने पर भी जो अन्यार्थ प्रतीत होता है वह इसी प्रकार सूक्ष्म और रमणीय होता है। उस अन्यार्थ से भी उत्तरोत्तर और अर्थ निकलते हैं तथा रमणीयता जगाते हैं।

ध्वनि का सांगोपांग विवेचन सबसे प्रथम आनंदवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में मिलता है। उसमें उन्होंने बताया है कि ध्वनि को काव्य की आत्मा माननेवाले प्राचीन आचार्य थे पर बहुत से महानुभाव उसका अभाव मानते हैं। दूसरे उसे लक्षणा ही कहते हैं। तीसरे उसे अनिर्वचनीय कहते हैं।+ अभाववादी वे हैं जो अभिधा से प्राप्त अर्थ के अतिरिक्त ध्वनि की पृथक् विशेषता नहीं मानते। अलंकार,

---

* अतिशयिनी व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिरिति बुधैः कथितः।—काव्यप्रकाश।

† यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।—ध्वन्यालोक।

‡ ध्वनति स्फोटं व्यनक्तीति ध्वनिः।

+ देखिए, पीछे पृष्ठ १७४।

गुण, रीति के प्रकारों में ही ध्वनि को अंतर्भुक्त मानते हैं। इसके संबंध में उनका कहना है कि अर्थ एक तो वाच्य होता है दूसरे प्रतीयमान। वाच्य अर्थ अलंकारादि के द्वारा प्राप्त होता है। वह वैसा ही होता है जैसे शरीर के अंग की शोभा। आँख, कान, नाक आदि का पृथक-पृथक् सौंदर्य या उनकी संघटना का सौंदर्य। पर प्रतीयमान अर्थ अंगों के सौंदर्य से भिन्न होता है जिसे लावण्य कहते हैं।* लावण्य क्या है। किसी गोपी ने श्रीकृष्ण का लावण्य देखा इससे उसकी आँखों में आँसू आ गए। द्विजदेव ने उसे यों समझाया—

आजु सुभायन ही गई बाग बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताही समै तहँ आए गुपाल तिन्हैं लखि औरो गयो हियरो ठगि।
पै 'द्विजदेव' न जानि परे धौं कहा तिहि काल परे अँसुवा जगि।
तूँ जो कहै सखि लोनो सरूप सो मो अँखियान मैं लोनी गई लगि॥

ऐसा हो सकता है कि कोई कानी-खोथरी भी न हो, शरीर के अंग भी ठीक हों, अलंकारों से सुसज्ज हो फिर भी उसमें लावण्य न हो। इसके विपरीत कोई काली-कलूटी हो, अवयव भी वैसे न हों जैसे पूर्वकथित के, अलंकारों से सजी भी न हो फिर भी वह लावण्यामृत-चंद्रिका हो।† इसलिए लावण्य शरीर के प्रसिद्ध अंगों से अतिरिक्त होता है। ऐसे ही ध्वनि भी अलंकार, गुण, रीति आदि से पृथक् है। साहित्यदर्पण ने वाच्य से व्यंग्य को बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय, विषय आदि के भेद से भिन्न कहा है।‡ जो बाण की भाँति अभिधा व्यापार को दीर्घ-दीर्घतर (लंबा) मानते हैं + अथवा जो तात्पर्य से भिन्न ध्वनि को नहीं मानते और कहते

---

* प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥-ध्वन्यालोक।

† लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यंग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। न चावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणयोगो वा लावण्यम्। पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलंकृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्यांचिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्।—लोचन।

‡ बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः॥

+ सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः।

हैं कि जितना कार्य हो उतना ही उसका (तात्पर्य का) प्रसार होता है * उनका उत्तर यह कहकर दिया गया कि जब किसी शक्ति से एक बार काम ले लिया गया तो उसके व्यापार का अभाव हो जाता है। नैयायिक ही ऐसों को डंडा मार बैठेंगे। †

लक्षणा से भी ध्वनि भिन्न है। लक्षणा में जो प्रयोजनवती लक्षणा होती है उसमें प्रयोजन ध्वनि से ही सिद्ध हो सकता है। लक्षणा में मुख्यार्थ की बाधा और मुख्यार्थ से संबंध भी होता है। ध्वनि का मुख्यार्थ से नियत संबंध नहीं होता इस प्रकार ध्वनि लक्षणा से भिन्न है।

जैसा कहा जा चुका है ध्वनि-मत भी रस को ही प्रधान मानता है। यही क्यों गुणीभूत व्यंग्य को भी ध्वनिरूप कहते हुए रस-भाव या अनुभूतिपक्ष का ही सहारा लिया गया है। रस के संबंध में ध्वनिकार का मत स्पष्ट है कि जैसे वसंत में पहले से देखे-समझे वृक्ष भी नवीन लगते हैं वैसे ही रस के ग्रहण से काव्य में पदार्थ अभिनव हो जाते हैं। ‡ व्यंग्यव्यंजक भाव के अनेक प्रकार होने पर भी कवि को काव्य केवल रसादिमय बनाने में प्रयत्नशील होना चाहिए। + रसादिक की अपेक्षा से निर्माण करना चाहिए, केवल शास्त्रस्थिति-संपादन की इच्छा से नहीं। ×

रस की भाँति औचित्य भी इन्हें मान्य है। रसबंध में औचित्य होने से ही रचना शोभित होती है। ÷ इस प्रकार ध्वनिमत रसप्रवाह और औचित्यप्रवाह से ही संबद्ध है।

---

* तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।
  यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥—धनिक।

† 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति वादिभिरेव पातनीयो दण्डः। —साहित्यदर्पण।

‡ दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
  सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥—धन्यालोक, ४-४।

+ व्यंग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे संभवत्यपि।
  रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥—वही ४-५।

× संधिसंध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
  न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया॥—वही, ३-१२

÷ रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।—वही, ३-६।

अनुमिति-मत

भरत के नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों में श्रीशंकुक का नाम पहले आ चुका है।* वे अनुमिति के द्वारा रसनिष्पत्ति का विचार करने वाले हैं। उनका उल्लेख अभिनवभारती में रससंबंधी मतों के प्रसंग में आया है अन्यत्र उनके मत का सांगोपांग विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं है। पर महिमभट्ट ने अनुमिति-मत का बड़े विस्तार से विवेचन अपने व्यक्तिविवेक में किया है। महिमभट्ट अभिधावादी हैं। ध्वनि के भेद-प्रभेदों को अनुमिति से उपलब्ध सिद्ध करने के लिए ही उन्होंने अपना यह ग्रंथ लिखा।† इस ग्रंथ में तीन विमर्श हैं। प्रथम में ध्वनि का लक्षण और अनुमिति में उसका अंतर्भाव प्रदर्शित है। द्वितीय में अनौचित्य का विमर्श है। जिसके दो भेद किए गए हैं—अंतरंग और बहिरंग। अंतरंग अनौचित्य अर्थ का अनौचित्य है। इसी में रस के दोषों का भी विचार है। बहिरंग शब्द का अनौचित्य है। इसके पाँच भेद हैं-विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन।‡ वाच्यावचन अनौचित्य या दोष के प्रसंग में स्वभावोक्ति का अलंकाररूप में समर्थन अत्यंत विदग्धतापूर्वक किया गया है। उन्होंने वस्तु के दो रूप कहे हैं— एक सामान्य, दूसरा विशिष्ट। स्वभाव का सामान्य रूप ही सब शब्दों का विषय होता है। पर यह विकल्पैकगोचर होता है। दूसरा विशिष्ट रूप सत्कवियों की वाणी में प्राप्त होता है। + यह प्रतिभा द्वारा कल्पित होता है। स्व-

---

* देखिए पीछे पृष्ठ १०१।

† अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

‡ इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम्। अर्थविषयं शब्दविषयं चेति। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगः तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते। अपरं पुनः बहिरङ्गं बहुप्रकारं संभवति। तद्यथा—विधेयाविमर्शः प्रक्रमभेदः क्रमभेदः पौनरुक्त्यं वाच्यावचन चेति।

\+ उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमस्य सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः॥
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः।
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥

भावोक्ति में विशिष्ट रूप गृहीत होता है जिसमें वैचित्र्य रहता है। वैचित्र्य ही, जो प्रतिभोद्भूत होता है, अलंकार का बीज है। अप्रतिभोद्भव अवाच्यवचन में, जो वृत्तपूरण के लिए किया जाता है, कवित्व कहाँ।*

तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के ध्वनिप्रभेद में दिए गए उदाहरणों की मीमांसा करके उन्हें अनुमानसरणि के अंतर्गत दिखाया गया है।

महिमभट्ट ने ध्वनि का अनुमान में अंतर्भाव करते हुए दो प्रकार के अर्थ माने हैं—वाच्य और अनुमेय। अनुमेय के तीन प्रकार कहे हैं—वस्तुमात्र, अलंकार और रसादि। वस्तु और अलंकार वाच्य भी हो सकते हैं, पर रसादि अनुमेय ही होते हैं।† रसादि में रस के अतिरिक्त रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशांति, भावसंधि और भावशबलता का भी ग्रहण है। अर्थात् अनुभूतिमय काव्य अनुमेय ही होता है। उनका कहना है कि रसादि में व्यंग्यव्यंजकभाव की कल्पना भ्रांतिवश है। वस्तुतः वहाँ व्यंग्यव्यंजकभाव औपचारिक है, मुख्य नहीं। उपचार का प्रयोजन यह है कि सहृदयों को चमत्कार अर्थात् आस्वाद-आनंद की उससे प्राप्ति होती है।‡

ध्वनिपक्ष का खंडन करते हुए उन्होंने स्फोट की भी चर्चा की और बताया कि ध्वनिवादी वैयाकरणों के स्फोट के व्यंग्यव्यंजकभाव से ही इस चक्कर में पड़े हैं। वहाँ भी व्यंग्यव्यंजकभाव न होकर

---

* यत्स्वरूपानुवादैकफलं फल्गु विशेषणम्।
अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्मृतमप्रतिभोद्भवम्॥
तदवाच्य मति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणं।
तद्वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते॥

† अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। स (अनुमेयः) च त्रिविधः वस्तुमात्रमलंकारा रसादयाश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि संभवतः। अन्त्यस्त्वनुमेय एवेति।

‡ केवलं रसादिष्वनुमेयेष्वयमसंलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभाव इति सहभावभ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रान्येषां व्यंग्यव्यञ्जकभावाभ्युपगमः तन्निबन्धनश्च ध्वनिव्यपदेशः। स तु तत्रौपचारिक एव प्रयुक्तो न मुख्यः तस्य वक्ष्यमाणनयेन बाधितत्वात्। उपचारस्य च प्रयोजनं सचेतनचमत्कारकारित्वं नाम।

अनुमाप्य-अनुमापकभाव ही होता है।* इस प्रकार उनका कहना है कि जिसे ध्वनिवादी ध्वनि कहते हैं वह अनुमिति ही है।

महिमभट्ट के अनुमिति-पक्ष का संक्षिप्त विचार ऊपर किया गया। काव्य की प्रक्रिया में ग्राहक या सहृदय को अर्थप्रतीति और अनुभूति दो होती हैं। वस्तुव्यंजना और अलंकारव्यंजना के प्रसंग में व्यंग्यार्थ कोई तत्थ ही होता है इससे वाच्य से व्यंग्य तक पहुँचने में अनुमान की प्रक्रिया लग जाती है। ठीक इसी प्रकार जहाँ रसादि व्यंग्य रहते हैं वहाँ भी अर्थप्रतीति होने तक अनुमान की प्रक्रिया लग जाती है, पर उसके अनंतर जब अनुभूति का प्रसंग आता है तो अनुमान की प्रक्रिया नहीं लगती। अनुभूति के इस प्रसंग को उन्होंने उपचार से प्राप्त कहा है और व्यंग्य को तृतीयार्थ स्वीकार किया है।†

महिमभट्ट के इस पक्ष का खंडन करने के लिए कहा यह गया कि अनुमान में 'लिंगात् लिंगिज्ञानम्' यह नियत है। ध्वनि या व्यंजना में व्यंग्यार्थ नियत नहीं होता, वह अव्यभिचारी न होकर व्यभिचारी होता है, अनैकांतिक होता है।‡ किसी शब्द से या अर्थ से जो व्यंग्यार्थ प्राप्त होता है वह विभिन्न परिस्थितियों के कारण न जाने क्या क्या हो सकता है। इसलिए महिमभट्ट का पक्ष ठीक नहीं है।

ये केवल अभिधा ही स्वीकार करते हैं। लक्षणा भी नहीं मानते। लक्षणा से प्राप्त लक्ष्यार्थ को भी अनुमितिगम्य ही मानते हैं। इनका कहना है कि शब्द अभिधा या मुख्य वृत्ति का परित्याग नहीं करता। दूसरा अर्थ यदि उससे गृहीत होता है तो वह अनुमान से ही गृहीत होता है। इसलिए लक्षणा, व्यंजना या तात्पर्य सभी से प्राप्त अर्थ अनुमितिगम्य ही हो सकते हैं।+

---

* श्रूयमाणानां शब्दानां ध्वनिव्यपदेश्यानामन्तःसंनिवेशिनश्च स्फोटाभिमतस्यार्थस्य व्यंग्यव्यञ्जकभावो न संभवतीति व्यञ्जकत्वसाम्याद्यः शब्दार्थात्मनि काव्ये ध्वनिव्यपदेशः सोप्यनुपपन्नः तत्रापि कार्यकारण-मूलस्य गम्यगमकभावस्योपगमात्।

† मुख्यवृत्त्या द्विविध एवार्थो वाच्यो गम्यश्चेति। उपचारतस्तु व्यंग्य-स्तृतीयोऽपि समस्तीति सिद्धम्।

‡ अत्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तमिति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि।

+ मुख्यवृत्तिपरित्यागो न शब्दस्योपपद्यते।
विहितोऽर्थान्तरे ह्यर्थः स्वसाम्यमनुमापयेत्॥

रस के संबंध में महिमभट्ट का पक्ष यह है कि काव्य की आत्मा रस है इसमें किसी की विमति नहीं है।* इस प्रकार अनुमिति-मत रसप्रवाह-अनुभूतिप्रवाह से ही संबद्ध है, अलंकारप्रवाह से नहीं। औचित्य के संबंध में भी यही स्थिति है। औचित्य को ये काव्यस्वरूप-निरूपणसामर्थ्यसिद्ध कहते हैं। काव्य के स्वरूप का निरूपण करने की क्षमता औचित्य में होती है। काव्य रसात्मा होता है। इससे उसमें अनौचित्य का स्पर्श भी संभव नहीं। † अनौचित्य तो रसादि की प्रतीति में विघ्न का विधायक है। वह दोष का सामान्य लक्षण ही है। ‡ इस प्रकार अनुमिति-मत औचित्यप्रवाह से ही संबद्ध है।

औचित्य-मत

चारुत्वप्रवाह में जो स्थान वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति का है वही स्थान अनुभूतिप्रवाह में औचित्य का है। रस, ध्वनि, अनुमिति मतों के प्रसंग में यथास्थान इसका संक्षिप्त उल्लेख किया जा चुका है। औचित्य के माहात्म्य पर श्रीक्षेमेंद्र ने औचित्यविचारचर्चा नामक पुस्तक लिख कर सांगोपांग विचार कर दिया। औचित्य का रसप्रवाह से घनिष्ठ संबंध है इसे वे आरंभ में ही स्पष्ट कर देते हैं। अलंकार अलंकार हैं और गुण गुण हैं रससिद्ध काव्य का प्राण औचित्य है। जैसे, किसी शरीरी के शरीर पर हार आदि होते हैं, उसमें सत्यशीलत्वादि विशेषता होती है। पर ये विशेषताएँ स्थिर नहीं होतीं। हारादि तो बाहरी शोभा के हेतु होते हैं। सत्यशीलत्वादि विशेषताएँ अभ्यास से आती हैं और भीतरी होती हैं। पर ये सब अस्थिर होते हैं। अतः स्थिर अविनश्वर प्राणसत्ता औचित्य ही है। यह नहीं है तो अलंकार गुण सब जीवत्वरहित हैं। + उचित स्थान में विन्यास होने से ही अलंकार

---

* काव्यास्यात्मनि सङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।

† तस्य काव्यस्वरूपनिरूपणसामर्थ्यसिद्धस्य पृथगुपादानवैयर्थ्यात्। रसात्मकं च काव्यमिति कुतस्तत्रानौचित्यसंस्पर्शः संभाव्यते।

‡ एतस्य विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्।

+ अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

अलंकार हैं। ऐसे ही औचित्य से अच्युत ही गुण गुण कहलाते हैं।* इसलिए औचित्य वस्तुतः उचित का भाव है। † यह औचित्य पद, वाक्य, प्रबंध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीष इन २७ काव्य के अंगों में प्राप्त प्राण है।* इस विस्तार से स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेंद्र ने कोई काव्यांग छोड़ा ही नहीं जहाँ औचित्य का प्रवेश न हो। जैसे वक्रोक्ति का विचार करते हुए सर्वत्र वक्रोक्ति की सत्ता दिखाई गई है वैसे ही औचित्य भी सर्वव्यापी है। यह कहा जा चुका है कि औचित्य का संबंध मूलतः सामाजिक मर्यादा से है। इसलिए भारतीय साहित्यशास्त्र का समाज की मर्यादा से घनिष्ठ संबंध है। नीति की या सदाचार की चर्चा काव्य के संबंध में होने पर कुछ लोग पश्चिमी आलोचनाशास्त्र के आधुनिक प्रवाह के कारण चौंकते हैं। सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों की रचना का दृष्टांत देकर यह कहना कि उसमें सदाचार या नीति का लौकिक बंधन मान्य नहीं है इसलिए काव्य का सदाचार या नीति से नित्य संबंध नहीं, ठीक नहीं। राधाकृष्णसंबंधी रचना में सदाचार या नीति का प्रश्न इसलिए नहीं उठता कि सामाजिक मर्यादा ने उसकी नीतिमत्ता, सदाचारिता भगवल्लीला के रूप में स्वीकार कर रखी है। भक्त तो लौकिक शृंगारादि नाम तक उस प्रसंग में पसंद नहीं करते। उनका भगवद्विषयक कांतभाव का परिपाक मधुर रस कहलाता है। कहा गया है कि भगवल्लीला के रूप में जब उन भावों की व्यंजना की जाती है जो लौकिक हैं तो वे भगवल्लीला के दर्पण में प्रतिबिंबित होकर अलौकिक हो जाते हैं। श्रीकृष्णलीला से संबद्ध हो जाने के कारण उनकी ओर अनीति आदि की दृष्टि होती ही नहीं।

---

* परस्परोपकारकरुचिरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्योपमोत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरालंकारास्ते कटककुण्डलकेयूरहारादिवदलंकारा एव, बाह्यशोभाहेतुत्वात्। येऽपि काव्यगुणाः केचनतल्लक्षणविचक्षणैः समाम्नातास्तेऽपि श्रुतसत्यशीलादिवद्गुणा एव, आहार्यत्वात्। औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य तेन विनाऽस्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्।

† रसेन शृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः।

पश्चिमी समालोचना

पश्चिमी समालोचक समालोचना का आरंभ यवनान देश से मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का अत्यंत प्राचीन केंद्र यवनान देश का एथेंस नामक नगर है। यवनान देश में समालोचना का स्वतंत्र विकास नहीं हुआ। यहाँ प्रजातंत्र शासनव्यवस्था होने के कारण अधिकतर प्रजा को प्रभावित करने के लिए भाषण की आवश्यकता पड़ती। इसलिए भाषणशास्त्र का महत्त्व था। भाषणशास्त्र में साहित्यिक समालोचना के केवल कण मिलते हैं। यवनान देश में भाषणशास्त्र तो राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वशाली था, पर धार्मिक दृष्टि से दर्शनशास्त्र का माहात्म्य था। दर्शनशास्त्र में वाद-विवाद, तर्क-वितर्क अपेक्षित होता है। इसलिए साहित्यिक समालोचना के बीज दर्शनशास्त्र के वाद-विवाद के विचार के प्रसंग में ही दृष्टिगोचर होते हैं। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व यवनान देश में इन दोनों शास्त्रों का विशेष महत्त्व था। इसलिए साहित्य का महत्त्व सहकारी रूप में था। उसकी दृष्टि इतनी व्यापक न थी कि वह अपनी स्वच्छंद सत्ता का उद्‌घोष कर सकता। राजनीति और धर्म की समस्याओं के सुलझाने में ही उसकी शक्ति परतंत्र रूप में नियोजित होती थी। राजनीति में अपने पक्ष के समर्थन के लिए अनेकविध उपदेश या शिक्षा का नियोजन किया जाता था और धार्मिक दृष्टि से भी सदुपदेश का ही आख्यान प्रधान था। इसलिए साहित्य का लक्ष्य यदि कोई मान्य हो सकता था तो यही कि वह उपदेश देने के लिए है। उस प्राचीन युग के ग्रंथ संप्रति अप्राप्त हैं। उनके जो उल्लेख परवर्ती समय में प्राप्त होते हैं उन्हीं के आधार पर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ विद्या के विविध क्षेत्रों में की जाती हैं। इस युग के प्रसिद्ध व्यक्ति सुकरात और पेरिक्लीज हैं।

जिस युग में नीतिमत्ता का प्राबल्य हो उस युग में साहित्यकार हार्दिकता से अधिक अपना संबंध स्थापित नहीं कर पाता। परिणाम यह होता था कि यदि कोई साहित्य-कृति नीतिच्युत होती थी तो उसके निर्माता की भर्त्सना ही नहीं होती थी वह निर्वासित तक कर दिया जाता था और प्राणदंड का भी कभी कभी भागी होता था। इस प्रकार की कठोर दंडव्यवस्था का परिणाम जो होना चाहिए था वही हुआ। यवनान देश से साहित्यकारों को पलायन करना पड़ा।

वे अपनी सुरक्षा के लिए अन्य निकटवर्ती देशों में जा बसे। जिन जिन देशों में उस समय के साहित्यकार जा बसे उनमें से सबसे प्रमुख अलेक्जैंड्रिया है। इस पलायन का फल यह हुआ कि यवनानी कला का ह्रास हो चला। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में दर्शन के बदले तर्क का प्राधान्य हुआ। अपनी प्राचीनता की रक्षा की वृत्ति भी सजग हुई। इस रक्षा के लिए प्रयत्न जो होना चाहिए वही हुआ। प्राचीन ग्रंथों और मतों की व्याख्या, भाष्य, तिलक की भावना प्रबल हुई। अपनी नवीन मौलिक उद्भावना करने के बदले, प्राचीन के संरक्षण में ही दत्तचित्त होने के कारण विकास के उस सोपान पर वे न जा सके जिस पर उन्हें अपने प्राचीन गौरव के अनुरूप जाना चाहिए था।

यवनान देश की कला का ही ह्रास नहीं हुआ, रोम के आक्रमण से वह पराजित भी हो गया। रोम राजनीतिक विजेता होकर भी यवनान देश के साहित्यकारों के कारण हार गया। यवनान के साहित्यकार इतने पर भी विजेता रोम के लिए आकर्षण के केंद्र थे। यवनान देश का प्रसिद्ध कवि होमर है। उसका दार्शनिक अफलातूँ है। अफलातूँ का शिष्य अरस्तू वहाँ का विशिष्ट अन्वेषक है। सिसेरो वहाँ का वागीश है और होरेस कलाकार। यों वहाँ कई ख्यातनामा लेखक, प्रभावशाली नाटककार, पंडित इतिहासकार और मनीषी तत्त्ववेत्ता हुए पर उनमें से विशेष ध्यान देने योग्य वे ही हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया। अफलातूँ यद्यपि दार्शनिक है पर आलोचना की प्रथम झलक उसी की कृति में मिलती है। उस युग में होमर की भी कटु और विपरीत समालोचना हुई थी। इसका कारण यह था कि उसका देववाद सांसारिक दृष्टि वालों को उचित नहीं प्रतीत हुआ। होमर के टीकाकारों ने अपनी मार्मिक व्याख्या द्वारा यह सिद्ध किया कि नहीं उस देववाद में भी प्रतीकात्मकता है।

अफलातूँ

यवनान में सुकरात के तर्क-वितर्क का जो कुपरिणाम हुआ वह यह कि चारो ओर अराजकता छा गई। इस अराजकता की विषमता का दूर होना आवश्यक था। यह कार्य सुकरात के ही शिष्य अफलातूँ ने किया। अफलातूँ ने अनेक संवाद लिखकर इस वैषम्य को दूर करने का पूर्ण प्रयास किया। जैसा कहा जा चुका है, अफलातूँ में साहित्य की आलोचना की झलक पहलेपहल मिली। झलक इसलिए कि

साहित्य का स्वतंत्र विवेचन तो उन्होंने किया नहीं। राजनीति, आचार, शिक्षा, दर्शन ऐसे अपेक्षित विषयों पर उन्होंने जो संवाद लिखे उन्हीं में साहित्यसंबंधी कुछ तत्त्व दंडापूपिका न्याय से आ गए हैं। उक्त विषयों पर लिखे गए सभी संवादों में साहित्यविषयक सामग्री नहीं उपलब्ध होती, केवल पाँच-छह संवादों में ही साहित्यसंबंधी तत्त्व मिलते हैं। अफलातूँ तो काव्य और कवियों के विरोधी थे। यहाँ तक कि राजनीतिक विधान से उन्हें सर्वथा पृथक् ही कर दिया था उन्होंने। उनमें काव्य और कवियों के संबंध में यह प्रतिवर्तन उस समय की रचनाओं के कारण हुआ था। यवनान देश प्राचीन युग से अपने नाटकों और उनमें भी त्रासद (ट्रेजिडी) नाटकों के लिए प्रसिद्ध है। अफलातूँ के समय में जैसे त्रासद और कामद (कामेडी) नाटक प्रस्तुत हो रहे थे और जैसे प्रबंध (एपिक) और गीत लिखे जा रहे थे वे साधारण और हीन थे। जनता में किसी प्रकार की उदात्त भावना जगाने में समर्थ नहीं थे। अफलातूँ आदर्शवादी थे। उस समय जिस प्रकार के नाटकों, प्रबंधों और गीतों का जनता में प्रसार था उसे दृष्टि में रखकर उन्होंने अपनी स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि जनता में मान्य होने से ही कोई साहित्य उच्च साहित्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। तात्त्विकता यह है कि जनता यह ठीक ठीक निश्चय ही नहीं कर पाती कि उच्चादर्श क्या है। वह केवल अपनी रंजकता को ही सब कुछ समझती है। इसलिए यदि कोई कृति जनता में आदृत है तो यह नहीं माना जा सकता कि वह उच्चकोटि की है। अफलातूँ के पूर्व सामाजिक भावना यही थी कि समाज का अपेक्षित संस्कार साहित्य के द्वारा ही हो सकता है। इसी धारणा को निर्मूल करने के लिए उन्होंने काव्य और कवियों का विरोध किया।

अफलातूँ वस्तुतः दार्शनिक थे, जीवनतत्त्व के वेत्ता थे, उनमें साहित्यिकता अल्पमात्रा में ही थी। दार्शनिकदृष्टिसंपन्न व्यक्ति यथार्थवादी अथवा कामोत्तेजक साहित्य का समर्थन कैसे कर सकता है। उनकी धारणा थी कि कवियों में न तो आचार ही होता है न विचार ही। उनके द्वारा ज्ञान का आविर्भाव या विकास नहीं होता, वे किसी नैतिक आचार के संरक्षण में प्रयत्नशील भी नहीं होते। कवि मदमत्त की भाँति प्रलाप करते हैं इसलिए उनकी मान्यताओं को स्वीकार करके चलने से उत्कर्ष नहीं हो सकता। वे विश्वसनीय नहीं माने जा सकते। भला भावुकताभरे आवेश और अनैतिकता से कोई समाज

सन्मार्ग पर कभी गया है या जा सकता है। कवियों में दैवी प्रेरणा स्वीकार करना ठीक नहीं। उनमें जो कुछ दिव्य दिखता है वह बाह्य होता है, आभ्यंतर नहीं। यदि उनमें आंतर दैवी प्रेरणा होती तो ज्ञान या तर्क का अभाव न होता। उनका व्यक्तित्व इसी से कुंठित होता है। काव्य का जो प्रतीकात्मक अर्थ करते हैं वह भी अविश्वसनीय है। समाज उत्तम तभी हो सकता है जब देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा हो, वीरों के प्रति आदर हो। कृतिकार अपनी रचना द्वारा ऐसा नहीं कर पाते इसलिए उनकी कृति स्वीकार्य नहीं हो सकती। कवि करता क्या है बाह्य प्रकृति और संसृति का अनुकरण ही तो। पर प्रकृति और संसृति है क्या। वह अक्षय देवलोक का प्रतिबिंब मात्र है। स्वयम् वह सत्य नहीं है, सत्य का प्रतिबिंब है। सत्य के प्रतिबिंब का अनुकरण मात्र करने के कारण कवि देवलोक से बहुत दूर जा पड़ता है। वह समाज के संमुख प्रतिबिंब का प्रतिबिंब रखता है, अनुकृति की अनुकृति प्रस्तुत करता है। भला ऐसी निःसार कृति से समाज का कल्याण क्या होगा। उन्हें तो दूर ही रखना अच्छा। काव्य वही है जो देवप्रशस्ति करके और महापुरुषों या वीरों का गुणगान करके समाज में स्फूर्ति भरे।

अफलातूँ कला को अनुकृति मानते हैं। कला भी दो प्रकार की होती है—उपयोगी कला और ललित कला। उपयोगी कला वह जिसमें दैनंदिन जीवन के उपयोग का पक्ष प्रधान हो और ललित वह जिसमें उपयोग की अपेक्षा सौंदर्य की दृष्टि प्रमुख हो। काव्य भी कला है, अनुकरण है। उसके आंतर और बाह्य दो पक्ष हो सकते हैं। आंतर काव्य आत्मिकशक्तिसंपन्न होता है। कवि में आत्मिक शक्ति ईश्वरीय प्रेरणा से आती है। काव्य के बाह्य भेद हैं—नाटक, प्रबंध और गीत। गीत में कर्ता व्यक्तिवादी या आत्मवादी होता है। नाटक में वह अपने व्यक्तित्व का गोपन करता है। प्रबंध में उभयविध स्थिति रहती है—कहीं आत्माभिव्यक्ति और कहीं आत्मगोपन। अफलातूँ समंजसता के विशेष पक्षपाती हैं। काव्यकृति में केवल वस्तु की ही समंजसता नहीं होती विचार की भी समंजसता होनी चाहिए। उन्होंने तीन तत्त्वों को प्रमुख माना—क्रम, नियंत्रण और समन्विति। काव्य की विशेषता यह है कि उसमें विपरीत भावों की भी समन्विति हो जाती है। गीत में आरोह और अवरोह विपरीत स्थितियाँ हैं उनकी समन्विति जैसे 'सम' में होती है वैसे ही काव्य में भी।

नाटक कामद और त्रासद दो प्रकार के होते हैं। इनमें त्रासद का ही महत्त्व है, वही श्रेष्ठ है। पर उसमें शालीनतामय जीवन की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। उसमें भीति और करुणा का प्राधान्य रहता है। प्रत्येक मनुष्य में भाव मिश्रित रूप में पड़े रहते हैं। उन मिश्रित भावों में से किसी का प्रभावकारी प्रदर्शन होने से वही भाव दर्शक के लिए आनंदप्रद हो जाता है। जीवन के दैनंदिन व्यापार में ऐसा नहीं होता। कामद नाटक के आधार हास्यास्पद और बेढंगे कार्य होते हैं। हास में गर्व, ज्ञान और श्रेष्ठता की भावना रहती है। हास का आलंबन भी ठीक होना चाहिए, क्षति पहुँचानेवाले को आलंबन बनाना लाभप्रद नहीं। हास संयत और शिष्ट होना चाहिए।

रचनाकार दो प्रकार के होते हैं—पद्य या छंद में लिखनेवाले और छंदहीन गद्य में लिखनेवाले। आलोचक में दो गुणों की अपेक्षा है—प्रज्ञा और साहस की। अफलातूँ ने जिस प्रकार का भेद-प्रभेद का विचार प्रस्तुत किया उससे स्पष्ट है कि उन्होंने सबसे प्रथम मनोविज्ञान का आश्रय लिया। इसके पूर्व मनोवैज्ञानिक दृष्टि या विवेचना नहीं मिलती।

अरस्तू

अफलातूँ के शिष्य अरस्तू ने अपने गुरुदेव की मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया। गुरुदेव आध्यात्मिक और आदर्शवादी थे, शिष्य ठीक इसके विपरीत वैज्ञानिक और यथार्थवादी (विवेचनावादी) हुआ। अरस्तू ने दो ग्रंथ लिखे एक काव्यशास्त्र (पोयटिक्स) का, और दूसरा भाषणशास्त्र (रहेटरिक) का। इन्होंने काव्य के भेदों में से त्रासद नाटक का ही विस्तृत विचार किया है। गीत के संबंध में इनका मत है कि यही त्रासद का आदिरूप है। गीत का संबंध संगीत से है, नादतत्त्व से है। काव्यभेदों में यह प्रमुख नहीं गौण है। इसका स्वतंत्र महत्त्व नहीं, यह त्रासद के लिए आभूषण है। काव्य की अभिव्यक्ति मानवप्रकृति का सहज व्यापार है। उसमें दो प्रवृत्तियाँ होती हैं—अनुकरणात्मकता और संगीतप्रियता की। नाटक में गीत और समवेतगायन (कोरस) का मेल होता है। इसके त्रासद और कामद रूपों का मूल होमर के महाकाव्य में ही है।

ये अफलातूँ के अनुकरण-मत को स्वीकार करते हैं, पर उसके विकसित रूप में। अनुकरण ज्यों का त्यों काव्य में नहीं होता। संस्कृति

में जो बीजरूप में रहता है उसे कवि क्रियाशील और ज्योतिर्मय रूप देता है। काव्य न तो यथार्थ का अनुकरण है न भावों का इंद्रजाल ही, वह तत्त्वतः दैनंदिन जीवन का सार्वभौम सत्य है। काव्य इतिहास नहीं है, इतिहास में दार्शनिकता का समावेश नाममात्र को या कुछ भी नहीं हो सकता। काव्य में दार्शनिकता होती है, अधिक दार्शनिकता होती है। कवि और दार्शनिक समानशील कहे जा सकते हैं। उनकी समानशीलता का उभयनिष्ठ तत्त्व है सत्य का निरूपण। कवि दार्शनिक तो है पर उपदेष्टा नहीं। वह प्रत्यक्ष उपदेश नहीं देता, परोक्ष रूप में, संकेत रूप में शिक्षा देता है। कवि में नैतिकता होनी चाहिए, उसका सूत्र छूटने न पाए, पर उसे रमणीयता के साथ घुला-मिलाकर, संमिश्रित करके प्रस्तुत करना चाहिए।

अरस्तू ने सबसे मुख्य सिद्धांत परीवाह (केथार्सिस) का स्वीकार किया है। यह कहना कि काव्य का पाठक या ग्रहीता पर कुप्रभाव पड़ता है ठीक नहीं। काव्य तो मनोविकारों में आंदोलन उपस्थित कर देता है। इस आंदोलन का फल यह होता है कि वे अपना वेग और तीखापन खो बैठते हैं। इस आंदोलन से ऐसा न समझना चाहिए कि उनकी समंजसता बिगड़ जाती है। उलटे उनमें नवीन समंजसता का उदय होता है। इससे काव्य भावों के परीवाह के द्वारा अच्छा प्रभाव डालता है। उसकी समाज को पूर्ण अपेक्षा रहती है।

कवि में दैवी प्रेरणा या शक्ति के होने पर भी उसे जीवन का अपेक्षित अनुभव प्राप्त करना चाहिए, काव्य का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् संस्कृत के आचार्यों की भाँति शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वीकार किया है। उनके विचार से काव्य के लिए छंद या पद्य आवश्यक नहीं है, बिना इसके भी काव्य हो सकता है। फिर भी त्रासद नाटकों में राग, लय और संगीत को अपेक्षित कहा है। काव्य के लिए इस प्रकार वे नादतत्त्व तो स्वीकार करते हैं, पर पद्य (जो नादतत्त्व के बने बनाए साँचे हैं) की अनिवार्यता नहीं सकारते। उन्होंने प्रबंधकाव्य, त्रासद, कामद और गीत ये चार काव्यभेद माने हैं। त्रासद पर उनकी विशेष दृष्टि है। त्रासद की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि त्रासद गंभीर, महत्त्वशाली, संपूर्ण और महत् कार्य की रंगशाला में ऐसी अनुकृति है जो भाषा के साधन से रमणीय और आनंददायिनी होकर भीति और करुणा के संचार द्वारा मनोविकारों

की अति का परीवाह कर समंजसता स्थापित कर दे। त्रासद के विपरीत कामद में गंभीर कार्य नहीं प्रयुक्त होते, प्रबंध की भाँति यह पाठ्य नहीं होता। केवल समवेतगायन में गीतों का प्रयोग होना चाहिए और संवाद में छंदयुक्त रचना रखनी चाहिए।

त्रासद के तत्त्वों का विचार करते हुए उन्होंने वस्तु, पात्र, विचार, भाषा, संगीत और दृश्य का विवेचन किया है। सबसे अधिक मुख्य तत्त्व वस्तु है। वस्तु अर्थात् कथा में आनेवाले कार्यों का संपादन क्रमशः होना चाहिए, उनमें परस्पर सहज संबंध होना चाहिए। उनके द्वारा जो भाव प्रकट होते हों उनमें स्पष्टता होनी चाहिए। त्रासद की वस्तु चौबीस घंटे में समाप्त हो जानेवाली हो। उसमें जो विषाद प्रदर्शित हो वह विस्मयजनक हो। केवल पात्रों के लिए ही वह विस्मय-प्रद न हो दर्शकों को भी विस्मयकारी हो। इसके लिए यह करना चाहिए कि जो दुःख दिखाया जाय वह सहसा आ पड़े, आपत्ति की भाँति एका-एक फट पड़े। इसके विस्मयकारी रूप को यों समझना चाहिए कि जो किसी के शत्रु हैं वे आपत्ति ढहानेवाले होते हैं, मित्र आपत्ति से बचाते हैं, उसके हेतु नहीं होते। शत्रु की ओर से आपत्ति सहज होती है और मित्र की ओर से विस्मयजनक। जो उच्चचरित व्यक्ति हैं उनके द्वारा अनपेक्षित कार्य का घटित होना, तत्परिणामरूप उनकी मृत्यु होना आदि। चारित्र्य में कोई एक त्रुटि दिखानी चाहिए। इसमें होनहार या दैवी अघटित घटना का आकलन नहीं करना चाहिए। पात्र सच्चरित्र हों और उनका प्रकृत जीवन ऐसा हो कि वह आदर्श का स्पर्श करता हो। चारित्र्य-चित्रण में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। कामद में इसके विपरीत स्थिति होती है।

कामद या हासद में निम्नश्रेणी के पात्रों का संयोजन होता है। उनके कार्य कुत्सित, घृणित और उपहासास्पद होते हैं। उनका संबंध शारीरिक विरूपता से होता है। ऐसा होने से किसी को वेदना न होगी। वही हास जो पीड़ाकारक न हो उपयुक्त होता है। किसी ऐसी त्रुटि या मूर्खता का प्रदर्शन ही उपयुक्त है। प्रदर्शन ऐसा होना चाहिए जिससे उसकी निरर्थकता, विसंगति और अनौचित्य सिद्ध हो जाए। तात्पर्य यह कि किसी की व्यक्तिगत त्रुटि के बदले मानव की स्थायी और सहज त्रुटि या दौर्बल्य पर दृष्टि रखनी चाहिए। अरस्तू ने प्राचीन व्यंग्यात्मक रचनाओं में ऐसी दृष्टि न देखकर उनका खंडन

किया। त्रासद में जैसे भीति और करुणा का परीवाह होता है वैसे ही कामद में क्रोध और ईर्ष्या का।

अरस्तू ने नायक, वस्तु और शीलनिदर्शन पर अधिक जोर दिया है। दृश्यप्रदर्शन, वेशभूषा आदि का विचार गौण रखा है। भाषा के संबंध में भी उन्होंने सब प्रकार के शब्दों का संग्रह मान्य ठहराया है। उन्होंने शब्दों के भेद करते हुए चलते शब्द, परदेशी शब्द, बोलचाल के अपभ्रष्ट शब्द और नए निर्मित शब्द के विभाग बताए हैं।

प्रबंध के संबंध में भी उन्होंने अपने विचार भली भाँति व्यक्त किए हैं। उसे वर्णनात्मक कहा है। उसमें गंभीर कार्य का समर्थन किया है। एक ही छंद में उसकी रचना उत्तम कही है। उसकी वस्तु त्रासद की ही भाँति सरल या जटिल हो सकती है। उसके सभी अंगों का परस्पर समन्वय आवश्यक है। उसमें पताका (सहायक कथा) और प्रकरी (उपकथा) की समंजसता होनी चाहिए। उसमें घटनाएँ अनेक होने से विस्तार हो जाता है, त्रासद में यह विस्तार नहीं रहता। प्रबंध में षट्पदी और त्रासद में द्विपदी का ग्रहण दोनों के क्रमशः महाकाय और अल्पकाय होने की दृष्टि से ठीक बैठता है। अरस्तू के पूर्व प्रबंधकाव्य का माहात्म्य था, पर इन्होंने अपनी व्याख्या के द्वारा त्रासद की महनीयता बढ़ा दी।

अरस्तू के पूर्व आलोचना में शब्दों का विशेष विचार होता था, किसी ने कोई अपरिचित शब्द प्रयुक्त किया कि उसकी खिल्ली उड़ाई गई। जो शब्द के आधार पर आलोचना नहीं करते थे वे छंदगत दोष की छानबीन करते थे। यह ऊपरी आलोचना थी। इन्होंने कवियों के विशेषाधिकार को माना और बताया कि उन्हें इस प्रकार साधारण नियमों को भंग करने का अधिकार होना चाहिए। जो शब्द और छंद पर ध्यान न देते वे शीलनिदर्शन या कथा की आलोचना करते। इनमें ऐसे भी थे जो यवनानी भाषा से पूर्णतया परिचित न होने से मुहावरे को कहावत और कहावत को मुहावरा कह देते। इस प्रकार की उपरफट्टू आलोचना से उन्हें किसी प्रकार संतोष नहीं हो सकता था। उन्होंने अनुकृति के परिष्कृत सिद्धांत द्वारा ऐसी स्थितियों और तत्त्वों का समर्थन किया जिनका समर्थन पहले संभव न था। उन्होंने दैवी, ऐतिहासिक और पौराणिक घटनाओं के संबंध में विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया। दैवी घटनाओं के संबंध में उनका मत यह था कि जगत् में जो अनुभूत सत्य होता है उससे असंभव और आदर्श

की स्थिति परे होती है। मनुष्य अपने दैनंदिन जीवन में कुछ ऐसी स्थितियों के लिए लालायित रहता है जो आदर्श होने के कारण अनुपलब्ध और असंभव होने के कारण अघटित होती हैं। ये घटनाएँ तर्क से सिद्ध नहीं हो सकतीं और यथार्थ की सीमा में नहीं समातीं। ऐतिहासिक घटनाएँ तत्त्वतः पूर्वघटित घटनाएँ होती हैं उनका काव्यत्मक प्रयोग उपयोगी होता है। पौराणिक घटनाओं में बहुत सी अयथार्थ होती हैं और किसी महान् सत्य का प्रतिपादन नहीं करतीं। पर मनुष्य ऐसा प्राणी है जो रूढ़ियों में विश्वास करनेवाला है इसी से इन घटनाओं से उसकी मनस्तुष्टि होती है।

अरस्तू के संबंध में कहा जा चुका है कि वे काव्य में सदाचार और नीति के समर्थक थे, पर उसका संकेतरूप में ही प्रदर्शित होना ठीक समझते थे, प्रत्यक्षरूप में नहीं। उन्होंने सर्वत्र 'अनैतिक अनैतिक' की पुकार करनेवाले आलोचकों का खंडन किया और बताया कि साधारण अनैतिकता कभी कभी काव्य में प्रयोजनीय होती है। यदि किसी असज्जन के चरित्र में अनीति का संग्रथन किया जाता है तो उसका प्रयोजन सज्जन के चरित्र को चमकाना हुआ करता है। यही क्यों किसी के चारित्र्य के विकास के लिए यह भी अपेक्षित होता है कि उसमें आरंभ में अनैतिकता दिखाई जाए।

शब्द या नीति के आधार पर किसी रचना का गुणदोष कहनेवाली निर्णयात्मक पद्धति साधारण आलोचना ही थी। कला की मार्मिकता के संबंध में उनकी धारणा विशेष थी। वे मानते थे कि 'कला' शब्द नियम या यथार्थ के स्थूल रूप से भिन्न सूक्ष्म कलागत और रमणीय गुणों पर आश्रित है। उसका संचालन इन मूर्त तत्त्वों से न होकर अमूर्त से होता है। उसके आधार दो हैं—मनुष्य का अदृश्य मन और जीवन के शाश्वत सत्य। तात्पर्य यह कि कला को बाहर बाहर से देखनेवालों का—शब्द का, नीति का, यथार्थ का और नियम का स्थूल विचार करनेवालों का—उन्होंने खंडन किया। कला या काव्य के विवेचन में उससे बाहर के मानदंडों को लेकर चलनेवालों के विपरीत उन्होंने कला का मानदंड स्वयम् कला को ही माना। इसी से काव्य में जब किसी दूसरे शास्त्र की सामग्री गृहीत होती है तो उसका विचार उस शास्त्र की दृष्टि से करने के पक्ष का वे समर्थन नहीं करते। वे काव्य की दृष्टि से ही अन्य शास्त्रों का उसमें ग्रहण मानते हैं। उसका परकीयत्व दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि काव्य की अंतरात्मा से उसका संबंध हो जाए।

अरस्तू ने बालकों की शिक्षा में वक्तृत्वकला विषय का प्रवेश अपने समसामयिक आइसाक्रेटीज की सहमति से कराया था। आइसाक्रेटीज ने वक्तृत्वकला का विशिष्ट विवेचन किया है। इसके पूर्व यह शास्त्र बालकों की शिक्षा में निषिद्ध था। अरस्तू के शिष्य थियोफ्रेस्टस ने उनके सिद्धांतों के स्पष्टीकरण में महाभाष्य की रचना की।

अलेक्जेंद्रियावाद

ईसापूर्व तीसरी-दूसरी शताब्दी में यवनानी संस्कृति के लिए बहुत बड़ी परिवर्तनीय स्थिति उत्पन्न हुई। सिकंदर की विजय के फलस्वरूप एथेंस की महत्ता विनष्ट हो गई। साहित्य के केंद्र अनेक स्थानों में फैले और यवनानी साहित्य का सर्वत्र प्रसार हुआ। इस युग में यवनानी साहित्य की संरक्षा का प्रयास विशेष हुआ। नवीन उद्भावना के लिए अवकाश इसमें नहीं था। साहित्य के आदर्श में परिवर्तन हो गया। पहले वह प्रधानतया बहुजनहिताय या सार्वजनिक हितसाधक ही होता था अब उसका लक्ष्य स्वांतःसुखाय हुआ, व्यक्तिवादी हो गया। आदर्शवाद के बदले यथार्थवाद की विशिष्टता आई। प्रकृतिप्रेम और निसर्गसौंदर्य की प्रवृत्ति उद्बुद्ध हुई। कथन में अतिशयता और वैविध्य की प्रमुखता हुई।

इस युग में अफलातूँ, अरस्तू और आइसाक्रेटीज की कोटि के मनीषी नहीं हुए। अरस्तू की पुस्तकें न जाने कहाँ विलीन हो गईं। काव्य का नैसर्गिक विकास रुका, वह नाना प्रकार के जटिल बंधनों में बँध गया, वह अपने उच्च स्तर से गिर गया, उसकी आध्यात्मिकता दूर हो गई। अलंकारातिशय की विशेषता ऐसी सार्वत्रिक हुई कि अलेक्जेंद्रियावाद चमत्कारातिशयवाद का पर्यायवाची हो गया। इस युग में क्लैसिकल और रोमांटिक का संघर्ष हुआ। इस युग में तीन प्रकार की आलोचनाएँ दिखाई देती हैं। एक है पाठशोधात्मक आलोचना (टेक्स्चुअल क्रिटिसीज्म) जिसे निर्णयात्मक आलोचना के अंतर्गत ले सकते हैं। कृतिकारों की आलोचना में उनके युग के आदर्शों की जाँच-पड़ताल का नियम मान्य होने से ऐतिहासिक आलोचना के भी दर्शन हुए। उत्तम कवियों के श्रेणीनिर्धारण, तालिकानिर्माण से तुलनात्मक आलोचना का उद्भव हुआ। इस युग में अभ्यास का महत्त्व हुआ, प्रेरणा निरर्थक सी हो गई। तीन प्रकार की जिज्ञासाओं का समाधान इनके संमुख उपस्थित था—विषय और वस्तु की जिज्ञासा, आकृति और अभिव्यक्ति की जिज्ञासा, काव्य के उद्देश्य की जिज्ञासा।

रोमीलातीनी मिश्रण

ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में सीजर और आगस्तस का युग आया, जब लोकतंत्र के स्थान पर साम्राज्यवाद का उद्‌घोष हुआ। सीजर साहित्यकारों की वैसी उपयोगिता नहीं स्वीकार करता था पर आगस्तस राष्ट्रीय और सामाजिक-जीवनोत्कर्ष के लिए उनकी उपयोगिता मानता था। इस युग का उत्तम वाग्मी सिसेरो हुआ। इसने यह घोषणा की कि एक प्रकार का साहित्य दूसरे में नहीं मिल सकता। जैसे त्रासद और कामद की विभाजक रेखा इतनी स्पष्ट है कि इनका मेल नहीं हो सकता।

इस समय रोमी काव्यशरीर में यवनानी आत्मा के प्रवेश की अपेक्षा थी। इस कार्य की पूर्ति होरेस ने की। इसने 'आर्स पोएतिका—आर्ट आव् पोयट्री' अर्थात् काव्यकला नाम की पुस्तक लिखी। इसमें इसने बताया कि विषय और आकृति अन्योन्याश्रित हैं। काव्य में उपदेश और आनंद दोनों होते हैं। अनुभूतियों और विचारों की समंजसता होनी चाहिए। औचित्य का पालन सर्वोत्कृष्ट आदर्श है। भावना का निग्रह ही श्रेष्ठ कला है। इस दृष्टि से काव्यकला और चित्रकला में साम्य है। ये अरस्तू से प्रभावित थे। इन्होंने शास्त्रानु-यायियों का विरोध किया है। डायोनिसियस ने यवनानी साहित्यकारों की आलोचना करके लोगों को उनके आदर्श की ओर आकृष्ट किया।

ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में भाषा में नवीन चमत्कार की ओर प्रवृत्ति विशेष हुई। अलंकारों का महत्त्व बढ़ा। भोग-विलास के प्रति भी विशेष आकर्षण हुआ। हिंदी के शृंगारकाल की सी स्थिति हो गई। इस युग के अनंतर ईसा की प्रथम शताब्दी में लांगिनस ने नवीन आलोचना-ग्रंथ प्रस्तुत किया। यह ग्रंथ पूरा प्राप्त नहीं है। इसके पूर्व खंड में साहित्य के विविध दोषों का विमर्श है और दूसरे खंड में शैली के संयोजक तत्त्वों की व्याख्या है। इसने माना कि श्रेष्ठ साहित्य-निर्माण के लिए शैली भी भव्य होनी चाहिए। कला के दो कार्य इसने माने—संयम और सहज अभिव्यक्ति। यदि किसी कर्ता-निर्माता में आत्मिक भव्यता नहीं है तो उसकी अभिव्यक्ति में भव्यता नहीं आ सकती। भव्य शैली के चार तत्त्व माने—अलंकार, पद, वाक्यविन्यास और छंद। माना जाता है कि आधुनिकता की आत्मा के दर्शन यहीं सर्वप्रथम होने लगे।

पुनर्जागर्तिकाल

युगों के व्यवधान के अनंतर ईसा की चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में जो नवोन्मेष हुआ वह पुनर्जागर्ति के नाम से विख्यात है। इस युग में यवनानी साहित्य और सभ्यता की ओर प्रवृत्ति हुई और रोमी साहित्य की पड़ताल की गई। प्राचीन कृतियों के अनुसंधान की अभिरुचि जगी, पाठशोध और टीका-टिप्पणी, अनुवाद का प्रवाह चला। अनुवाद तो इतने हुए कि कदाचित् ही कोई प्राचीन पुस्तक शेष रह गई हो। प्राचीनता के प्रति श्रद्धा के साथ ही मानव के प्रति आकर्षण और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ा। रोमी आलोचक वाङ्मय के चार प्रकार मानते हैं—काव्य, वक्तृता, इतिहास और दर्शन। इनमें से प्रथम दो प्रधान हैं। यवनानी और रोमी साहित्य-सिद्धांतों के अनुगमन की विशेष वृत्ति जगी। यह माना गया कि काव्य का विषय कोई भी हो सकता है। एक आंदोलन प्राचीन काव्य से अनैतिक स्थलों के हटाने का भी चला। आलोचना के संबंध में इस युग में धारणा यह थी कि श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कृति की आलोचना हो सकती है। कोई संकेतात्मक अर्थ को महत्त्वपूर्ण समझते और कोई नैतिकता और उपदेश को मुख्य कहते। इस युग में आलोचना का मानदंड यह था कि कृति के साधारण और असाधारण अर्थात् प्रतीकात्मक दोनों अर्थों को हृदयंगम करने का प्रयास करना चाहिए। यद्यपि इस युग में आलोचना का कोई स्थिर रूप नहीं था तथापि आलोचनाप्रियता सभी क्षेत्रों में व्याप्त थी। प्राचीन को ग्रहण करने के संबंध में इनकी धारणा यह थी कि उससे केवल प्रेरणा ली जा सकती है। ये रोम की दुहाई विशेष दिया करते थे।

पुनर्जागरण के अनंतर

ईसा की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में साहित्य अपने स्वच्छंद रूप को बहुत कुछ खो चुका था, उसे राजनीति और धर्म ने दबोच रखा था। कवियों पर प्रतिबंध लगे थे। फल यह हुआ कि साहित्य की लोकप्रियता घट गई। राजनीति के प्राधान्य के कारण वक्तृता की महत्ता बढ़ी। विल्सन ने प्राचीन भाषणशास्त्र का माहात्म्य ग्रंथ (आर्ट आव् र्‌हेटरिक—वक्तृत्वकला) लिखकर प्रमाणित किया और साहित्यिक ह्रास पर दुःख प्रकट किया। आगे चलकर जो समृद्धि आलोचना के क्षेत्र में दिखाई पड़ी उसका श्रेय अधिकतर इन्हीं को दिया जाता है।

इन्होंने नाटक, काव्य, छंद आदि कई साहित्यिक विषयों पर कुछ न कुछ विचार व्यक्त किए हैं। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आलोचना के विशिष्ट सिद्धांतों की स्थापना हुई। इस समय अनुकृति-सिद्धांत की व्याख्या करते हुए प्राचीन सभी मनीषियों के इस विषय के मंतव्य की मीमांसा की गई, अर्थात् सिसेरो, होरेस, डायोनिसियस, लांगिनस, किंटिलियन जसे मनीषियों के मंतव्यों की मीमांसा। साहित्य का माहात्म्य इसके पूर्व प्यूरिटनों (शुद्धतावादियों) के प्रभाव के कारण कम हो गया था। इस युग में शुद्धतावादियों के प्रतिपक्षी बलशाली हो गए। फलस्वरूप काव्य का महत्त्व वृद्धिंगत हुआ। उनकी ओर से जो कहा जाता था कि काव्य कामुकता का प्रसारक है उसका खंडन किया गया। उसकी अनुपयोगिता का जो आख्यान किया जाता था उसका भी विरोध किया गया।

जो कृतिकारों को अनैतिकता का प्रसारक कहते थे उनका डटकर विरोध सर फिलिप सिडनी ने ग्रंथ (अपालाजी फार पोयट्री—काव्य का समर्थन) लिखकर किया। उन्होंने सिद्ध किया कि काव्य प्राचीन युग से चला आ रहा है और सर्वप्रिय है। कवि की कल्पना मृगमरीचिका नहीं है, वह अपनी कल्पना द्वारा जिस संस्कृति का निर्माण करता है वह आदर्श होती है। उसका प्रभावक्षेत्र अतीत और आगत ही नहीं अनागत भी होता है। काव्य इतिहास और दर्शन की ही भाँति जीवनोपयोगी है। इतिहास में जिस प्रकार स्मृतिशक्ति का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है और दर्शन में विचारशक्ति का उसी प्रकार काव्य में कल्पनाशक्ति का उत्कर्ष दिखाई देता है। साहित्य मानव को उत्तम जीवन की ओर ले जाता है। उसे देवत्व प्रदान करता है। साहित्य मानव के सांस्कृतिक जीवन का उत्स है। ऐसी विशेषता न इतिहास में है, न दर्शन में। काव्य एकांगी नहीं है उसमें सत्, असत् और सदसत् तीनों का ग्रहण होता है और तीनों ही वहाँ आनंदप्रद हो जाते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में साहित्य में नवजीवन का संचार हुआ। जेम्स प्रथम ने भी इसमें योग दिया। इस युग में माना गया कि काव्य में विचारसरणि और अभिव्यक्ति दो तत्त्व हैं और दोनों के नियम पृथक्-पृथक् हैं। प्रबंधों में वीरगाथा और प्रेमगाथा का प्राधान्य माना गया। आलोचना की उत्तमता इस तथ्य में सकारी गई कि वह साहित्य में पाठक की सुरुचि को जगाए। जनता तो आलोचना के

खंडन-मंडन के दाँवपेंच से उसी प्रकार अपना मनोरंजन करती है जैसे दंगल में प्रतिद्वंद्वियों के दाँवपेंच से। इसलिए वही आलोचना ठीक है जो सद्बुद्धि से संयुक्त हो।

इसके अनंतर आलोचना के क्षेत्र में एक से एक महती विभूतियों के दर्शन होने लगे—एडिसन, पोप, जानसन, वर्ड्सवर्थ, लैंब, हैजलिट, शेली, मैथ्यूआर्नल्ड आदि। इनमें से कई कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रतिभाओं से संपन्न थे। आधुनिक युग में आकर पश्चिमी आलोचना की समृद्धि बहुत अधिक हुई। वाङ्मय के अन्य क्षेत्रों के विचारक भी साहित्य को उपेक्षित नहीं समझते। अनेक प्रकार के वाद आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। साहित्य की स्वच्छंद सत्ता स्वीकृत कर ली गई है। उस पर नित्य नई नई दृष्टियों से विचार होता रहता है, प्रत्येक दृष्टि का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन और प्रत्येक स्थापना की गंभीर मीमांसा होती रहती है। अँगरेजी की आलोचना ने विश्व के बड़े भाग को प्रभावित कर रखा है। अँगरेजों के शासन के विस्तार के साथ अँगरेजी-साहित्य और साहित्य-संबंधी उनकी विचारधारा भी विस्तृत भूभाग में फैली। वर्तमान युग में आकर दो दृष्टियों की छान-बीन विशेष हो रही है। एक है अर्थ की दृष्टि, जिसका प्रवर्तन मार्क्स के द्वारा समाज में हुआ और जो भावना समाज के साथ साहित्य में भी घर करने लगी। दूसरी है, काम की दृष्टि जिसका प्रवर्तन मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड के द्वारा हुआ और जिसकी विवेचना बढ़ते बढ़ते बहुत अधिक व्यापक हो गई। इस नवीन मनोविज्ञान की दृष्टि ने साहित्य में भी प्रवेश किया। आलोचना के क्षेत्र में इसने कुछ विशेष चमत्कार भी दिखाए। शेक्सपियर के नाटकों में जहाँ कहीं ठीक संगति नहीं बैठती थी इस नूतन मनोवैज्ञानिक दृष्टि ने वहाँ संगति बैठा दी। इन सबका विस्तृत विवेचन करने के लिए महाकाय ग्रंथ की अपेक्षा है। इसलिए कुछ चुने हुए सिद्धांतों का संक्षिप्त विचार विभिन्न शीर्षकों के द्वारा किया जाता है। यथास्थान भारतीय दृष्टि से उसकी तुलना भी रहेगी।

काव्य और कला

पाश्चात्य आलोचना में काव्य को कला (आर्ट) मानते हैं। कला के दो रूप हैं—एक उपयोगी और दूसरे ललित (फाइन)। जीवन को चलाने के लिए स्थूल रूप में जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है उनके निर्माण का शिल्प उपयोगी कला के अंतर्गत आता है; जैसे—

बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार आदि का शिल्प। उपयोग में आनेवाली वस्तु में उसका व्यवहारक्षम होना प्रधान है, बनावट गौण। किंतु कुछ कलाएँ ऐसी हैं जिनकी स्थूल उपयोगिता प्रधान नहीं होती, सौंदर्य ही प्रधान होता है। उनकी उपयोगक्षमता का वैसा ध्यान नहीं रखा जाता अर्थात् उनमें सौंदर्य प्रधान और उपयोग गौण होता है। ऐसी कलाओं का संबंध स्थूल शरीर से न होकर सूक्ष्म मन से होता है। इसी लिए कहा जाता है कि ललित कला मानसिक दृष्टि से सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण है। ललित कलाएँ पाँच या छह मानी गई हैं—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, अभिनयकला और काव्यकला।* इन सभी कलाओं में काव्यकला सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में जिस कला में स्थूल वस्तु का उपयोग करके सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करने का प्रयास अधिकाधिक देख पड़े वह निकृष्ट और जिसमें वह क्रमशः न्यून होता जाय वह तारतम्य के अनुसार उत्कृष्ट है। इस प्रकार सबसे निकृष्ट वास्तुकला और उससे क्रमशः उत्कृष्ट मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, अभिनयकला तथा काव्यकला हुई। क्योंकि इनमें क्रमशः स्थूलता कम होती और सूक्ष्मता बढ़ती जाती है।

इस प्रकार जिस ललित कला में मूर्त पदार्थ का अधिकाधिक परिमाण में ग्रहण हो वह निकृष्ट होती है। मूत पदार्थ में केवल परिमाण ही नहीं लंबाई, चौड़ाई और मुटाई भी होती है। इनमें से चित्रकला में मुटाई का अभाव हो जाता है। इसलिए वह वास्तुकला और मूर्तिकला से श्रेष्ठ समझी जाती है। कलाग्राहक की दृष्टि से विचार करें तो कुछ कलाएँ नेत्र द्वारा आनंद देती हैं और कुछ श्रोत्र द्वारा। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और अभिनयकला नेत्र द्वारा आनंद देनेवाली हैं। संगीतकला श्रोत्र द्वारा आनंद देती है। किंतु काव्यकला नेत्र और श्रवण दोनों से आनंद देती है। भारतीय साहित्य में तो काव्य के इसी दृष्टि से दृश्य और श्रव्य भेद कर लिए गए हैं। संगीत में सुकंठ व्यक्ति की अपेक्षा होती है। सुकंठ के अभाव में कोई वाद्ययंत्र उसकी पूर्ति करता है। किंतु कविता के लिए वस्तुतः न सुकंठ की आवश्यकता है न किसी वाद्ययंत्र की। यह अवश्य है कि इन विशेषताओं के आ जाने से काव्य का प्रभाव और बढ़ जाता है।

काव्य और कला का जैसा संबंध पाश्चात्य देशों में माना जाता है वैसा भारत में नहीं। यहाँ 'कला' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता

---

* देखिए वर्सफोल्ड का 'जजमेंट इन लिटरेचर'।

है—संगीत और शिल्प। * काव्य न संगीत के अंतर्गत आता है न शिल्प के। इसलिए वह कलाओं से सदा पृथक् ही रखा गया। कामशास्त्र में जिन ६४ कलाओं का वर्णन है उनमें केवल 'समस्यापूर्ति' कला मानी गई है। समस्यापूर्ति का चाहे इधर कम महत्त्व हो किंतु उसका जोड़-तोड़ भिड़ाने में संस्कृत और हिंदी के बहुत से कवि प्राचीन समय में संलग्न रह चुके हैं। उनके ऐसे प्रयत्न के अनंतर भी समस्यापूर्ति महत्त्वपूर्ण स्थान न पा सकी। अब धीरे-धीरे उसका चलन समाप्तप्राय है। तात्पर्य यह कि काव्य को साधारण कोटि की कारीगरी से यहाँवाले सदा पृथक् रखते आए हैं।

सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति

काव्यकला को छोड़कर यदि ललित कला के नाम से प्रख्यात अन्य कलाओं का प्रभाव देखें तो जान पड़ता है कि वे कलाएँ केवल सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करनेवाली हैं। वास्तुकला की कोई कृति देखकर केवल उसके सौंदर्य की प्रशंसा की जा सकती है, उसके द्वारा प्रदर्शित भाव में लीन नहीं हुआ जा सकता। मूर्ति को देखकर मूर्तिकार की कला की प्रशंसा मात्र की जायगी। मूर्ति द्वारा व्यक्त भाव में दर्शक के मग्न होने की संभावना नहीं। सिंह की सुंदर एवम् सजीव मूर्ति देखकर यही कहते हैं कि वाह, कारीगर ने कैसी सुंदर मूर्ति बनाई है। सिंह की मूर्ति से भय नहीं उत्पन्न होता और यदि होता भी है तो क्षणिक या बालकों वा बालबुद्धिवालों में ही। इस प्रकार न इसमें स्थायित्व होता है न रमणीयता। यही स्थिति चित्रकला की भी है। रही संगीतकला, यह कला अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए काव्य का सहारा बराबर लेती है। इसलिए शुद्ध संगीतकला या तो उस्तादों की गलेबाजी होगी अथवा वाद्यों की गत। संगीत में गायन, वादन और नर्तन का ग्रहण होता है। गायन और वादन की स्थिति स्पष्ट की जा चुकी। नर्तन में शुद्ध कला हाव-भाव मात्र होती है। इन सबकी प्रशंसा ही हुआ करती है। कोई दर्शक या श्रोता उस भाव में तब तक मग्न नहीं हो सकता जब तक काव्य भी उसका साथ न दे। इससे स्पष्ट है कि इन कलाओं से दर्शक या श्रोता को केवल सौंदर्यानुभूति होती है, रसानुभूति नहीं। रसानुभूति में मग्न होनेवाला उसी भाव में मग्न होता है जो काव्य में प्रदर्शित या व्यंजित होता है।

रसानुभूति कर चुकने के अनंतर वह सौंदर्यानुभूति भी करता है, कवि की प्रशस्ति भी गाता है। यशोगान में वह तदनंतर प्रवृत्त होता है।

'स्वांतःसुखाय'

काव्य को ललित कला में परिगणित करने से एक गड़बड़ी और उत्पन्न हुई। कहा जाने लगा कि जिस प्रकार अन्य कलाओं की अभिव्यक्ति स्वांतःसुखाय होती है उसी प्रकार काव्य की अभिव्यक्ति भी। उसका दूसरे से अर्थात् पाठक से संबंध जोड़ना समीचीन नहीं। परिणाम यह हुआ कि काव्य में व्यक्तिगत वैचित्र्य बढ़ने लगा, लोकानुभूति की कमी होने लगी। स्वच्छदृष्टिसंपन्न कुछ आलोचक इस पर विचार करने लगे हैं और उन्होंने यह उद्घोषित किया है कि काव्य केवल व्यक्तिगत रचना नहीं है, वह दूसरों से अर्थात् लोक से संबद्ध है। भारत में यह मत प्राचीन कल्प से माना जाता है कि कविता का संबंध कवि के अतिरिक्त पाठक से भी है और कविता करते समय उसका विचार भी रखना आवश्यक है। यहाँ के कुछ कच्चे समालोचक तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' में 'स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा' देखकर कहने लगे हैं कि तुलसीदासजी ने भी कविता केवल अपने अंतःकरण के रंजनार्थ की थी। तुलसीदासजी उसी 'रामचरित-मानस' में आगे चलकर स्पष्ट लिखते हैं—

मनि-मानिक-मुकुता-छबि जैसी। अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी।
नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहि सुकबि-कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

कविता उत्पन्न होती है अन्यत्र और उसकी शोभा होती है अन्यत्र अर्थात् काव्य की उत्पत्ति कवि के हृदय में होती है और उसका आस्वाद लेनेवाला पाठक का हृदय हुआ करता है। इतना ही नहीं उन्होंने यहाँ तक लिखा—

जो कबित्त नहिं बुध आदरहीं। सो स्रम बादि बालकबि करहीं॥

यदि कविता सहृदयों द्वारा आदृत न हुई तो उसकी रचना ही व्यर्थ है। इससे स्पष्ट है कि तुलसीदासजी ने भारत की काव्य-परंपरा के अनुसार काव्य-रचना लोक के लिए ही की थी। दूसरे शब्दों में वह 'स्वांतःसुखाय' न होकर 'परांतःसुखाय' थी। सबके कल्याण के उद्देश्य से ही वे रचना कर रहे थे—

'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि-सम सब कहँ हित होई॥

काव्य और सदाचार

काव्य को कला से जोड़ने से यह भी कहा जाने लगा है कि उसका सदाचार से नित्य संबंध नहीं। काव्य का उद्देश्य उपदेश देना नहीं। वह केवल मनोरंजन के लिए है। पाश्चात्य आलोचकों में भी पहले अरस्तू आदि मानते थे कि काव्य का सदाचार से नित्य संबंध है। किंतु ज्यों ज्यों काव्य कला से अधिकाधिक जुड़ता गया त्यों त्यों यह धारणा प्रबल होने लगी कि उसका सदाचार से शाश्वत संबंध नहीं। ऐसे आलोचक कहते हैं कि क्या काव्य आचारशास्त्र है कि उसमें आचार और नीति का उपदेश आवश्यक हो। उनका यह तर्क उचित नहीं दिखाई देता। वस्तुतः जिस बात पर उनकी दृष्टि जानी चाहिए थी उस पर गई नहीं। यदि काव्य-रचना का चरमोद्देश्य लोकोपदेश होता तो पद्यबद्ध आचारशास्त्र के ग्रंथ काव्य ही कहे जाते। 'चाणक्य-नीति' को किसी ने काव्य-ग्रंथ नहीं माना। इस संबंध में भारतीय आचार्यों की दृष्टि पूर्ण परिष्कृत है, जिसका विचार पहले किया जा चुका है।

कुछ नई रंगत के आलोचक यह भी समझते हैं कि पाश्चात्य देशों में काव्य और सदाचार के संबंध पर जैसा विचार किया गया वैसा यहाँ हुआ ही नहीं। भ्रम दूर करने के लिए यह बता देना आवश्यक है कि शास्त्रीय ग्रंथों में इसका विचार 'रसाभास' के प्रकरण में अपेक्षाकृत विशेष विस्तार से किया गया है। वहाँ भी सहृदयों को ही कसौटी माना गया है। जिन प्रसंगों के पढ़ने से सहृदयों को उद्वेग हो वे प्रसंग दोषयुक्त हैं। रसाभास का प्रकरण सहृदयों के लिए उद्वेग-जनक होता है इसलिए वह काव्याभास मात्र है। पाश्चात्य देशों में और वहाँ की अनुकृति पर भारत की विभिन्न भाषाओं में तथा हिंदी की नवीन काव्यधारा में इस प्रकार की काव्याभास रचनाओं का चलन बढ़ता जा रहा है।

काव्य और रमणीयता

काव्य की प्रक्रिया दो के बीच चलती है—कवि और पाठक (सामाजिक) के। पाश्चात्य आलोचकों का कहना है कि कवि के हृदय पर जीवन या जगत् का जो प्रभाव पड़ता है उससे प्रेरित होकर वह अपनी अंतर्वृत्ति काव्य-रचना के रूप में उपस्थित करता है। कवि दो प्रकार की स्थितियों में से होकर काव्य-रचना तक पहुँचता

है। पहली स्थिति अनुभूति की होती है। * जब तक कवि किसी अनुभूति में संलग्न रहता है तब तक किसी प्रकार की रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकता। क्योंकि अनुभूति में लीन रहने से उसकी प्रज्ञा क्रियमाण नहीं रहती। अनुभूति से पृथक् होने के अनंतर स्मृति के रूप में वह अनुभूति रह जाती है और उस अनुभूति को व्यक्त करने के लिए सहायक के रूप में प्रज्ञा स्फुरित होती है। इन्हीं दोनों के योग से काव्य-रचना हुआ करती है। कवि की प्रज्ञा दो प्रकार के कार्य करती है। एक ओर तो वह अनुभूति को यथातथ्य व्यक्त करने में प्रवृत्त रहती है और दूसरी ओर प्रेषणीयता (कम्युनिकेबिलिटी) लाने का प्रयत्न करती है। कवि अपनी अनुभूति पाठक के हृदय तक भी पहुँचाना चाहता है। पाठक जिस समय काव्य-रचना पढ़ता है उस समय इसका क्रम विपर्यस्त होकर संघटित होता है अर्थात् पाठक अपनी प्रज्ञा के द्वारा पहले काव्यार्थ का ग्रहण करता है तदुपरांत उस अनुभूति तक पहुँचता है जिसकी प्रेरणा से कवि ने रचना प्रस्तुत की है।

कवि जीवन या जगत् से जो अनुभूतियाँ प्राप्त करता है वे तीन गुणों से विशिष्ट होती हैं—सत्यता, शिवता और सुंदरता। सत्यता अनुभूति का वह गुण है जो उसकी सत्ता को प्रमाणित करता है, शिवता वह गुण है जो उसकी उपयोगिता सिद्ध करता है और सुंदरता वह गुण है जो आकर्षण उत्पन्न करता है। अनुभूति की सत्यता और शिवता उसके आभ्यंतर गुण हैं और सुंदरता बाह्य। कवि इसी बाह्य गुण के कारण प्रभावित और उसमें लीन होता है। पाठक भी इसी बाह्य गुण से आकृष्ट और मग्न होता है। इसलिए अंततोगत्वा सौंदर्य ही काव्य का चरम लक्ष्य दिखता है। सौंदर्य के साथ सत्यता और शिवता का योग भले ही हो जाय पर जो प्रत्यक्ष रहता है वह सौंदर्य ही है। इसी आधार पर पाश्चात्य आलोचक मानते हैं कि काव्य से जो अनुभूति पाठक को होती है वह सौंदर्यानुभूति है। किंतु काव्य की अनुभूति यदि सौंदर्यानुभूति मात्र मानी जाय तो वह मूर्तिकला आदि की ही भाँति सामान्य कोटि की ठहरेगी। विचार करने से जान पड़ता है कि पाठक केवल काव्य के सौंदर्य पर मुग्ध होकर नहीं रह जाता प्रत्युत वह उन भावों में रमता चलता है जो काव्य में व्यक्त किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में वह काव्य का रस लेता है। इसी लिए भारतीय आलोचक

---

* देखिए अबरक्रौंबी का 'प्रिंसिपुल्स आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म'।

कहते हैं कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् वह वाक्य जो अपने में रमाने की शक्ति रखता हो काव्य है। इसी को यों भी कहा गया कि "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' अर्थात् रमणीय (रमने योग्य) अर्थ का शब्द द्वारा जिसमें आनयन हो वही काव्य है। इस प्रकार काव्य की सर्वप्रधान विशेषता 'रमणीयता' ठहरती है न कि श्लाघनीयता। काव्य को केवल सुंदर कहने से उसका महत्त्व बहुत कुछ नष्ट हो जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि काव्य की प्रक्रिया में पाठक का मन दो स्थितियों में से संचरण करता है। पहली स्थिति वह होती है जिसमें वह भावमग्न होता है और दूसरी वह जिसमें पहुँचकर वह काव्य का प्रशस्तिपाठ करता है। पाश्चात्य देशों की सौंदर्यानुभूति मान लेने से केवल दूसरी ही स्थिति सामने आती है। जो सहृदय न होगा वह भी दूसरी स्थिति का स्वाँग रच सकता है। किंतु पहली स्थिति जिसमें उत्पन्न होगी वह केवल स्वाँग बनाने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि रसानुभूति के लक्षण जब तक उसमें व्यक्त न होंगे तब तक वह 'सहृदय' नहीं कहा जा सकता। रासानुभूति में लक्षण भी वे ही व्यक्त होते हैं जो भावानुभूति या काव्यगत पात्र की प्रत्यक्षानुभूति में होते हैं। भावों की जो चेष्टाएँ पाठकों में उत्पन्न हुआ करती हैं वे चेष्टाएँ वे ही होती हैं जो काव्य के पात्र में कवि द्वारा उत्पन्न या प्रदर्शित की जाती हैं। यही कारण है कि करुण रस में भी उसकी वे चेष्टाएँ व्यक्त होती हैं और पाठक पात्र के साथ तादात्म्य का अनुभव करके रो उठता है। यदि केवल सौंदर्यानुभूति मानी जाय तो पाठक के रोने का कोई महत्त्व नहीं। पाश्चात्य देशों में जैसे जीवन के अन्य पक्षों में वैसे ही काव्यशास्त्र में भी प्रयोग हो रहे हैं। अपने स्वच्छंद अन्वेषण द्वारा वहाँ के आलोचक उतनी ऊँचाई तक नहीं पहुँच सके हैं जितनी ऊँचाई तक भारतीय आचार्य बहुत पहले पहुँच चुके। भारतीय साहित्य-शास्त्र पुष्ट आधार पर स्थित है। उसमें अनेक ऐसे प्रमुख तत्त्वों का विचार हो चुका है जिन तक वहाँ के प्रौढ़ आलोचक धीरे धीरे पहुँचने लगे हैं। यदि रस की प्रक्रिया उनके यहाँ पहले से गृहीत होती तो उन्हें इस प्रकार द्राविड़ प्राणायाम न करना पड़ता। रिचर्डस् और अबरक्रौंबी के ग्रंथों को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वे रस तक मार्ग पाने के लिए छटपटा रहे हैं।

काव्य और प्रातिभ ज्ञान

पाश्चात्य आलोचना में इधर प्रातिभ ज्ञान (इंटयूशन) की चर्चा अधिक सुन पड़ती है। काव्य की प्रक्रिया में कल्पना का विशेष स्थान मानकर प्रातिभ ज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित किया जा रहा है। कहा जाता है कि यह ज्ञान स्वयम् बोधस्वरूप है और सब प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है। प्रातिभ ज्ञान को काव्य का मूल माननेवाले कहने लगे हैं कि काव्य में न तो वस्तु का महत्त्व है और न भावों का। वस्तु का महत्त्व इसलिए नहीं कि इसके प्रतिपादकों ने आकृति को ही सब कुछ मान लिया है। उनका कहना है कि जगत् की जितनी वस्तुओं का संस्कार हृदय पर पड़ता है वे आकृतिमात्र होती हैं और आकृति प्रातिभ ज्ञान के साँचे में ढलकर कल्पना का रूप ग्रहण कर लेती है। इसलिए काव्य के तीन उपादान वस्तु, आकृति और कल्पना में से केवल दो ही का महत्त्व है। आकृति भी कल्पना के साथ मिल-कर एकाकार हो जाती है और वही अभिव्यंजना के रूप में व्यक्त होती है।*

भावों को काव्यक्षेत्र से हटाने का तर्क यह देते हैं कि भावों की अनुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक होती है, किंतु काव्यानुभूति केवल सुखात्मक अथवा आनंद-स्वरूप ही हो सकती है। यदि काव्य में भावों का भी योग होता तो काव्यानुभूति भी दो प्रकार की होती। जब यह अनुभूति एक ही प्रकार की होती है तो निश्चित है कि इसमें भावों का योग नहीं है। पहले बताया जा चुका है कि काव्यानुभूति और भावानुभूति में कोई अंतर नहीं है। भावानुभूति या प्रत्यक्षानुभूति जिस प्रकार सुखात्मक या दुःखात्मक होती है उसी प्रकार काव्यानुभूति भी। अंतर इतना ही है कि काव्यानुभूति में विशेषत्व का त्याग करना पड़ता है। काव्य की रचना करनेवाला भी विशेषत्व का त्याग करता है और उसका रस लेनेवाला पाठक भी। तात्पर्य यह है कि कवि और पाठक का तादात्म्य स्थापित होता है। यही बात भारतीय शास्त्रों में इस प्रकार कही गई है कि काव्यास्वाद की अवस्था में पाठक की वृत्ति सत्त्वस्थ होती है। काव्य की रचना करते समय कवि की वृत्ति भी सत्त्वस्थ हुआ करती है। रजोगुण और तमोगुण अलग हो जाते या दब जाते हैं। देश और काल की सीमा का उल्लंघन करके कवि और

---

* देखिए क्रोचे कृत 'एस्थेटिक्स्'।

पाठक निरपेक्ष स्थिति में काव्य की इन प्रक्रियाओं में संलग्न रहते हैं। यही कारण है कि काव्यानुभूति सुखात्मक या आनंदस्वरूप जान पड़ती है। वस्तुतः काव्यानुभूति कवि और पाठक के हृदय में सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों ही रूपों में घटित होती है। किंतु स्वसंबंध का परित्याग हो जाने के कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति की स्थितियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। मन अपनी स्वच्छंद क्रिया में संलग्न रहता है। वह 'मुक्तावस्था' प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि प्रातिभ ज्ञान के आधार पर भावों का काव्य के क्षेत्र से बहिष्कार उचित नहीं।

काव्य न तो केवल बुद्धि की क्रिया है और न केवल हृदय की। उसमें बुद्धि और हृदय दोनों का योग रहता है। यह योग कर्ता में भी होता है और ग्राहक में भी। भारतीय शास्त्रकार इसे मानते आए हैं। इसी लिए उन्होंने 'रस का ज्ञान' या 'रसानुभव' न कहकर उसे 'रसप्रतीति' नाम दिया है। 'प्रतीति' शब्द से बुद्धि और हृदय दोनों का योग उन्हें मान्य है।

काव्य और कल्पना

पाश्चात्य साहित्यालोचन में कल्पना की पुकार अधिक सुनाई देती है। देखना चाहिए कि काव्य में कल्पना का योग कहाँ तक होता है। कवि जो कुछ व्यक्त करता है वह कल्पना के द्वारा ही। काव्य का ग्रहण भी पाठक कल्पना द्वारा ही करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कवि जो कुछ व्यक्त करता है वह कोई ऐसी सृष्टि है जिसका संबंध प्रत्यक्ष जगत् से कुछ भी नहीं। कवि के हृदय में जिन काव्यार्थों के व्यक्त करने की प्रेरणा होती है वे काव्यार्थ प्रत्यक्ष जीवन से ही संबद्ध होते हैं। ठीक इसी प्रकार पाठक भी इन काव्यार्थों को जब ग्रहण करता है तो वह भी प्रत्यक्ष जगत् की अनुभूति के कारण ही। भारतीय साहित्यशास्त्र में इसी लिए वह सामाजिक या सहृदय माना गया है। सामाजिक का अर्थ समाज की अनुभूति का ग्राहक है। 'सहृदय' वह जिसका हृदय दूसरे हृदयों की अनुभूति ग्रहण करने में समर्थ हो। यदि ऐसा न हो तो काव्य शुद्ध मनोरंजन का साधन होगा। जिस प्रकार खेल-तमाशे मनोरंजन के साधन हैं उसी प्रकार काव्य भी मनोरंजन का साधारण अथवा (साधारण से काम न चले तो) असाधारण साधन मात्र। सामाजिक का अर्थ 'समाज की अनुभूति का ग्राहक' है।

काव्य और सौंदर्य

पश्चिमी आलोचना में काव्य ललित कला है। वह 'मानसिक दृष्टि से सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण' करता है। ललित कला या काव्य में प्रधान है 'सौंदर्य'। सौंदर्य की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। अधिकतर सौंदर्य व्यक्तिगत माना जाता है, लोकगत नहीं। कला की दृष्टि से तो कुछ दूर तक ऐसा माना भी जा सकता है, क्योंकि किसी को कोई वस्तु सुंदर लगती है और किसी को कोई। व्यक्तिवैचित्र्य पर ही दृष्टि रखकर कहा गया कि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'। किंतु लोक में रुचि की भिन्नता होते हुए भी एकता अवश्य है। यदि इस प्रकार की एकता न हो तो संसार का कार्य चल ही नहीं सकता। किसी वृक्ष के कुछ पत्तों को ही सामने रखकर देखें तो उन पत्तों में भिन्नता अवश्य दिखाई देती है। एक पत्ता दूसरे पत्ते से मिलता हुआ नहीं जान पड़ता। फिर भी उनके रूप और रंग में एकता वर्तमान रहती है। सृष्टि में दिखाई देनेवाले विभिन्न वर्गों के प्राणियों, लता-वीरुध् आदि में सर्वत्र भिन्नता में यही अभिन्नता या एकता दृष्टिगोचर होती है।

जो बाह्य जगत् की स्थिति है वही अंतर्जगत् की भी। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ मानसिक भिन्नता अवश्य पाई जाती है। किंतु साथ ही उनकी मानसिक अभिन्नता या एकता के भी प्रमाण मिलते हैं और भिन्नता की अपेक्षा वह अत्यधिक स्पष्ट और व्यापक है। अपने बच्चों को प्यार करना, जो कष्ट पहुँचाता है उस पर क्रोध करना, विकट कार्य उपस्थित होने पर साहस दिखाना, असाधारण वस्तु देखकर आश्चर्य प्रकट करना, किसी के विकृत वेश-विन्यास पर हँस पड़ना आदि मानसिक स्थितियाँ देश और काल का व्यवधान हटाकर सारे विश्व के मनुष्यों में दिखाई देती हैं। यदि ऐसा न होता और सचमुच काव्य व्यक्तिगत वस्तु ही होता तो होमर, शेक्सपियर, गेटे, रोमाँ रोल्याँ, मैक्सिम गोर्की आदि की रचनाएँ पूर्वीय देशों के लोगों को रुचिकर प्रतीत न होतीं और इसी प्रकार वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, बाण, भवभूति, तुलसीदास, सूर, रवींद्रनाथ, प्रेमचंद आदि की रचनाएँ भी पश्चिमी देशों के निवासियों द्वारा कदापि प्रशंसित न होतीं। अतः स्पष्ट है कि काव्य और लोकजीवन में घनिष्ठ संबंध है और कवि तथा पाठक काव्य का निर्माण और ग्रहण करते समय सर्वसामान्य भूमि पर पहुँच जाया करते हैं। जहाँ उनकी व्यक्तिगत सत्ता का लोप हो जाता है और वे दोनों ही साधारण मनुष्य

मात्र रह जाते हैं। 'साधारणीकरण' नाम की जो काव्य की प्रक्रिया भारतीय साहित्य में मानी गई है वह इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इस पर विचार करते हुए जब 'सौंदर्य' का विश्लेषण किया जाता है तो इसमें भी सामान्य भूमि दिखाई देती है। टेढ़े मुँह, लंबी गर्दनवाले व्यक्ति चाहे किसी व्यक्तिविशेष को भले ही प्रिय हों किंतु अन्य तो ऐसे व्यक्तियों को हास का ही विषय समझेंगे। इससे स्पष्ट है कि जनता में सौंदर्य का कोई सामान्य आधार है। ठीक यही स्थिति काव्य में भी है। टेढ़े मुँह के व्यक्ति को यदि कोई कवि प्रेम का आलंबन बनाना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता। सौंदर्य कोई व्यक्तिगत मानसिक स्थिति नहीं है। यदि कुछ दूर तक वह लोक में व्यक्तिगत रूप में दिखाई भी दे तो भी काव्य में उसका व्यक्तिगत रूप उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकता। मजनूँ को लैला का रूप विशेष प्रिय था। किंतु लैला के काले कलूटे चेहरे का अनुमान करके अधिकतर जन यही कहते सुने जाते हैं कि मजनूँ न जाने लैला के किस रूप पर लुभाया हुआ था।

काव्य और अध्यात्म

कला और काव्य को व्यक्तिगत वस्तु सिद्ध करने के लिए उस पर आध्यात्मिक रंग भी चढ़ाया जाता है। इस तरह की उक्तियाँ बराबर सुनी जाती हैं कि कला स्वर्गीय संगीत है, उसकी अवतारणा अतींद्रिय जगत् से होती है, वह दिव्य विभूति है, लोक से उसका कोई संबंध नहीं, वह अलौकिक ज्योति है आदि आदि। पाश्चात्य देशों में कुछ समय तक ऐसी उक्तियाँ स्वच्छंद रूप से चलती रहीं। कुछ कवि इसी आदर्श को लेकर रचना भी करने लगे किंतु उसका इस रूप में शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ था। इधर इटली के क्रोचे ने 'सौंदर्य-मीमांसा' (एस्थेटिक्स्) नामक पुस्तक लिखकर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि काव्य का मीमांसा की दृष्टि से भी लोक से कोई संबंध नहीं।

उन्होंने ज्ञान दो प्रकार के माने हैं। एक को कल्पनाजन्य कहा है और दूसरे को तर्कजन्य। कल्पना-संबंधी ज्ञान को प्रातिभ ज्ञान (इंटयूशन) माना है। प्रातिभ ज्ञान कल्पना द्वारा उत्पन्न होता है और इससे किसी व्यक्ति अर्थात् किसी विशेष पदार्थ का ही ज्ञान होता है। तर्क-संबंधी ज्ञान को उन्होंने प्रमा (कंसेप्ट) कहा है। यह प्रमा निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान है। इसमें किसी व्यक्ति-

विशेष का ज्ञान नहीं होता प्रत्युत भिन्न भिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध का ज्ञान होता है। तर्कशास्त्र की शब्दावली में कहें तो प्रातिभ ज्ञान 'व्यक्ति' के संकेत से होता है और प्रमा 'जाति' के संकेत से। प्रातिभ ज्ञान में बुद्धि की क्रिया का लेश भी नहीं है। यह मन में स्वतः उद्भूत मूर्त भावना है जिसकी वास्तविकता अथवा अवास्तविकता का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस मूर्त भावना या कल्पना को आत्मा की अपनी क्रिया समझना चाहिए। जिसमें संसार के रूपों एवं व्यापारों का उपादान के रूप में प्रयोग हुआ करता है। आत्मा को द्रव्य की प्रतीति हुआ करती है। वह उन द्रव्यों का निर्माण करने में समर्थ नहीं।

आत्मा की उक्त क्रिया आध्यात्मिक वस्तु है, इसी लिए वह सदा स्थिर और एकरस दिखाई देती है। प्रश्न होगा कि भिन्न भिन्न प्रकार के काव्य फिर क्यों दिखाई देते हैं। उत्तर होगा कि वह भिन्नता बाहरी है अर्थात् उपादानरूप द्रव्यों के कारण दिखाई देती है। वस्तुतः आत्मा की वह क्रिया अखंड और एकरूप है। उसमें आंतरिक भेद कोई नहीं। कल्पना रूप के सूक्ष्म साँचे निर्मित किया करती है। उपादान या द्रव्य कल्पना के उसी साँचे में ढलकर व्यक्त हुआ करता है। इसलिए काव्य के क्षेत्र में जो कुछ महत्त्व है वह कल्पना के उसी सूक्ष्म साँचे या आकृति (फार्म) का, उस साँचे में ढाले जानेवाले द्रव्य या उपादान (मैटर) का नहीं। कला के क्षेत्र में उपादान या सामग्री को महत्त्व की वस्तु समझना ठीक नहीं। सौंदर्य का मूल तत्त्व है आकृति, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

पूर्वोक्त साँचे में बैठकर प्रातिभ ज्ञान का प्रकट होना ही कल्पना है और इस कल्पना का ही व्यक्त रूप है अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन), जो भीतर ही भीतर उठती है और कभी रंग द्वारा, कभी शब्द द्वारा और कभी ऊँचाई, मुटाई एवम् लंबाई द्वारा बाहर व्यक्त हो जाती है। यदि भीतर अभिव्यंजना हुई है तो वह बाहर भी प्रकाशित होगी। यह कहना कि किसी कवि के हृदय में भावनाएँ तो उठती हैं किंतु वह उन्हें व्यक्त करने में असमर्थ है, ठीक नहीं। ऐसी स्थिति में यह समझ लेना चाहिए कि उस कवि के हृदय में अभिव्यंजना हुई ही नहीं। कविता के कुछ उदाहरणों से सर्वसामान्य लक्षण ढूँढ़कर काव्य की परिभाषाएँ गढ़ना भी ठीक नहीं। यह व्यंजना अखंड और एकरस है। इसलिए शास्त्रों में अलंकृत, प्रकृत (रियलिस्टिक), प्रतीकबद्ध

वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

वक्रोक्ति के अनुसार काव्य के तत्त्वों की परिगणना यों होगी।

(१) काव्य की उक्ति सामान्य वार्ता से विशिष्ट होती है।

(२) अभिधा में, काव्य की उक्ति में, चमत्कार होता है।

(३) सौंदर्य ही 'अलंकार' है, सौंदर्य से ही काव्य की ग्राह्यता है।

(४) काव्य की उक्ति प्रतिभा की उद्भावना है।

पर 'रस' की चर्चा बढ़ने पर इनके द्वारा उसका तिरस्कार नहीं किया गया। वक्रोक्ति के प्रतिवाद में वस्तु के यथावत् वर्णन को 'स्वभावोक्ति' कहा गया। काव्य में स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति तीनों होती हैं, पर 'स्वभावोक्ति' को, वस्तु के यथावत् कथन को, काव्य मानने में इन्हें विप्रतिपत्ति थी।

यहीं पर एक बात और देखकर तब 'अभिव्यंजना' का पक्ष देखना चाहिए। रसवादियों में 'व्यंजना' का जो विचार हुआ उसमें 'व्यक्ति-वादी' अभिनवगुप्त ने बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात कही। उन्होंने कहा कि सामाजिक जिन भावों का आस्वाद लेता है वे किसी दूसरे के भाव नहीं होते उसके अपने ही होते हैं। जो भाव वासना-रूप में अव्यक्त पड़े रहते हैं वे ही काव्य के प्रदर्शन से व्यक्त हो जाते हैं। किसी दूसरे के भाव का आस्वाद दूसरा कैसे ले सकता है। इसलिए भोगने योग्य, भोगने का सामर्थ्य आदि की कल्पना में भोजकत्व और भावकत्व की उद्भावना व्यर्थ है। वासना-रूप में जहाँ कुछ न होगा, वहाँ आस्वाद भी न होगा। यह 'व्यक्ति' केवल सामाजिक में ही नहीं, कर्ता और अनुकर्ता में भी उनके अनुरूप होती है। कर्ता में वह 'बीज' रूप होती है। यदि 'बीज' न हो तो आस्वाद्य फल नहीं हो सकता। इस पक्ष का कथितव्य खतियाना चाहें तो यों कहेंगे—

(१) काव्य 'व्यंजना' है, व्यक्ति है। अभिव्यक्ति है।

(२) काव्यार्थ 'रस' होता है।

(३) रमणीयता के ही कारण काव्य की ग्राह्यता है।

(४) रमणीयता या आस्वाद अपने ही अव्यक्त भावों की व्यक्ति में होता है।

अब क्रोचे की 'अभिव्यंजना' पर आइए। इसे समझने के लिये और वक्रोक्ति से इसके मिलान के लिए यस्पर्सन की उक्ति को सबसे

पहले ध्यान में लाना चाहिए। जगत् में हम जो कुछ देखते-सुनते हैं उसका अंतःसंस्कार या प्रभाव (इंप्रेशन) हमारे अंतःकरण पर पड़ता है। जब हम उसे प्रकट करना चाहते हैं तो वे सब प्रभाव परिमाण में अधिक, अस्पष्ट और संकुल होने के कारण ज्यों के त्यों बाहर नहीं आते। अतः उनका दबाव या दमन (सप्रेशन) होता है। इसके अनंतर अभिव्यक्ति (एक्सप्रेशन) होती है। इसके द्वारा उन प्रभावों की ओर संकेत (सज्जेशन) होता है। अभिव्यक्ति वही है जो उन प्रभावों को संकेतित कर सके। यह अभिव्यक्ति सामान्य जन और कवि या कलाकार दोनों की उक्ति में होती है। दोनों एक ही होती हैं या भिन्न यह एक प्रश्न है। कलाकार की अभिव्यक्ति किस प्रकार सामाजिक या पाठक को अनुरंजित करती है यह दूसरा प्रश्न है।

क्रोचे ने दो प्रकार के ज्ञान माने हैं — (१) कला-संबंधी ज्ञान है प्रातिभ ज्ञान (इंट्यूशन), कल्पना में उद्भूत ज्ञान, व्यक्ति का संकेतग्रह अर्थात् किसी एक वस्तु का ज्ञान। (२) तर्क-संबंधी ज्ञान है प्रमा (कंसेप्ट) 'निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान', पृथक् पृथक् व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध का ज्ञान अर्थात् जाति का संकेतग्रह।

प्रातिभ ज्ञान आत्मा की क्रिया है। मन पर पड़ी छाप या संस्कार या प्रभाव को, जो जगत् के नाना रूपों-व्यापारों आदि के होते हैं, उपादान के रूप में कल्पना अपने सूक्ष्म साँचे में भरकर अपनी कृति को गोचर करती है। कला के क्षेत्र में साँचा (फार्म) ही सब कुछ है, द्रव्य (मैटर) कुछ नहीं। प्रातिभ ज्ञान का साँचे में ढलकर व्यक्त होना कल्पना है और वही मूल अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) है। सुंदर उक्ति ही होती है, उस उक्ति में उपादान के रूप में भरे व्यक्त गोचर प्रसार की सुंदरता से उसका कोई संबंध नहीं।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'अभिव्यंजना' (एक्सप्रेशन) का जो अर्थ क्रोचे ने लगाया या लिया है वह सामान्यतया गृहीत या स्वीकृत अर्थ से भिन्न है। उसने कला-संबंधी अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन इन दि एस्थेटिक सेंस) को प्राकृत अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन इन दि नेचुरलिस्टिक सेंस) से भिन्न कहा है। कला-संबंधी अभिव्यंजना सबमें हो सकती है और वह वर्ण, स्वर, रेखा, शब्द आदि में साकार होती है। अभिव्यंजना जब मूर्ति (इमेज) के रूप में होती है तभी वह कला-संबंधी अभिव्यंजना होती है। कला की अभिव्यंजना साँचे के रूप में होती है, जिसमें जागतिक वस्तुएँ उपादान का काम देती

हैं। दूसरे शब्दों में प्राकृत अभिव्यंजना भौतिक होती है और कलात्मक अभिव्यंजना आत्मिक या मानसिक। (स्पिरिचुअल)। संक्षेप में खतियाना चाहें तो क्रोचे के मतवाद को यों कहेंगे—

(१) कला-संबंधी ज्ञान प्रातिभ ज्ञान है।

(२) प्रातिभ ज्ञान ही की अभिव्यंजना होती है। प्रातिभ ज्ञान ही अभिव्यंजना है।

(३) सौंदर्य अभिव्यंजना में होता है, साँचे या आकृति (फार्म) का होता है; वस्तु (मैटर) में सौंदर्य नहीं होता।

(४) यदि भीतर अभिव्यंजना न होगी तो बाहर भी न होगी। मूलतः अभिव्यंजना आंतर होती है।

यद्यपि प्रतिभा और प्रातिभ ज्ञान की भारतीय धारणा से क्रोचे की धारणा भिन्न है, पर मिलान के लिए इन्हीं शब्दों का व्यवहार कर रहा हूँ। तुलना करने से स्पष्ट होगा कि क्रोचे की कुछ बातें तो वक्रोक्तिवादियों से मिलती हैं और कुछ रसवादियों से। किंतु वस्तुतः उसका मेल भारतीय साहित्यशास्त्र की मान्यता से कथमपि नहीं मिलता। क्रोचे के अनुसार—

(१) प्रातिभ ज्ञान=अभिव्यंजना=सौंदर्य।—तीनों अखंड हैं, एक हैं।

(२) साधारण जन की 'अभिव्यंजना' = कवि की 'अभिव्यंजना'। दोनों में स्वरूप-भेद नहीं।

(३) सौंदर्य कला में होता है। पर सौंदर्य कलाकार का कर्म नहीं।

(४) वस्तु में सौंदर्य नहीं होता।

भारतीय दृष्टि से प्रतिभा हेतु है, काव्य कार्य है। केवल प्रतिभा ही हेतु नहीं है, अभ्यास और निपुणता भी हेतु हैं। इसी से मम्मटाचार्य ने कहा—

> शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
> काव्यज्ञशिक्षायाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

'हेतु' शब्द का एकवचन विचारणीय रहा है। कुछ लोगों को 'प्रतिभा' या शक्ति का विशेष आग्रह था। उन्होंने उसी (प्रतिभा) के दो भेद किए—सहजा और उत्पाद्या। उत्पाद्या में उन्होंने निपुणता और अभ्यास को अंतर्भुक्त किया। भारतीय दृष्टि से काव्य में कर्म या प्रयत्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोचे के अनुसार प्रतिभा या प्रातिभ ज्ञान या कल्पना ही काव्य (या कला) है। शक्ति के

कारण कवि दूसरों से, सामान्य जनों से, भिन्न होते हैं, काव्योक्ति सामान्य उक्ति से भिन्न होती है। क्रोचे के अनुसार यह पार्थक्य नहीं हो सकता। भारतीय दृष्टि से अलंकारवादी भी अलंकार और अलंकार्य का भेद मानकर विचार करते हैं। वहाँ अलंकार्य (वस्तु) और अलंकार (अभिव्यंजना = फार्म) का अभेद है।

भारत में साहित्य को दर्शन कहकर भी और विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के अनुसार उसका विवेचन करते हुए भी, अलौकिक, लोकोत्तर आदि विशेषण देकर भी काव्य की मीमांसा में लौकिक पक्ष का, व्यावहारिक दृष्टि का, सांगोपांग विवेचन है। उसका आवश्यक संग्रह-त्याग भी है। पर क्रोचे के अनुसार कला में लौकिकता की चर्चा ही व्यर्थ है। क्रोचे के कथन में सबसे बड़ी असंगति यह है कि यदि कला की अभिव्यंजना किसी एक व्यक्ति की है तो दूसरा उस अभि-व्यंजना का आनंद तद्वत् कैसे उठा सकता है, यदि अभिनवगुप्त की भाँति यह न माना जाय कि सामाजिक अपनी ही अव्यक्त वासना की व्यक्ति में आस्वाद पाता है। वक्रोक्तिवादियों से अभिव्यंजना-वादी क्रोचे का इतना ही मेल है कि दोनों काव्योक्ति में सौंदर्य मानते हैं। दूसरे शब्दों में दोनों में कर्तृत्व-पक्ष से ही विचार किया गया है। पर पहला तो कर्तृत्व कर्ता का मानता है, और दूसरा कर्ता का कर्तृत्व मानता ही नहीं। रसवादियों के ग्रहीता या सामाजिक का पक्ष क्रोचे ने निरर्थक माना है। कला में वह 'सुंदर' को ही मानता है, 'रमणीय' को नहीं। रसवादियों के अनुसार 'सुंदर' के आगे 'रमणीय' है। यह रमणीयता काव्य की ऐसी विशेषता है जो उसे सबसे पृथक् करती है। कदाचित् कला या ललित कला के भीतर ही काव्य का विचार करने के कारण पश्चिमी विचारक 'सुंदर' या सौंदर्यानुभूति से आगे नहीं बढ़ पाते, रसानुभूति का महत्त्व नहीं समझ पाते। भारत में 'कला' काव्य से नीची कोटि की समझी जाती है, केवल सौंदर्यानुभूति तक ही ग्राहक को पहुँचाने के कारण।

भारत में, विशेषतया हिंदी में, यह समझा जाता है कि क्रोचे की दार्शनिकता से अभिभूत पश्चिमी विचारक उसका एकस्वर से समर्थन करते हैं। पर ऐसी स्थिति नहीं है। क्रोचे के मत का, उसकी असंगतियों का स्पष्ट विरोध भी बराबर होता रहा है। दुकासे ने अपने ग्रंथ 'फिलासफी आव आर्ट' में औरों के मतों के परीक्षण के

साथ साथ क्रोचे के मत की भी परीक्षा की है और उसे अत्यंत असंगत बताया है। उसने स्पष्ट कहा है कि क्रोचे के मत से अभिव्यंजना और प्रातिभ ज्ञान के संबंध या एकरूपता की विवेचना सिद्धांततः अस्पष्ट एवम् भ्रामक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उसने प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना में जो संबंध-स्थापना की है वह नितांत अशुद्ध है। कला की भौतिक कृति के स्वरूप-निर्धारण में भी उससे भ्रांति हुई है और उसने सौंदर्य के स्वरूप की जो कल्पना की है वह भी तिरस्करणीय है।

अतः हिंदी में भारतीय साहित्यशास्त्र की परंपरा का कुछ भी ज्ञान न रखते हुए केवल अँगरेजी-ज्ञान के भरोसे जो महानुभाव क्रोचे की अभिव्यंजना का प्रशस्ति-पाठ करते नहीं थकते उन्हें अब अपना व्यापार बंद कर देना चाहिए। हिंदीवालों में अब समझ आ गई है और वे क्रोचे की हकीकत जान गए हैं। क्रोचे की मान्यता भारतीय परंपरा में खप नहीं सकती। भारतीय काव्यमीमांसा में वह कुछ जोड़ती भी नहीं। वह इतनी असंगत है कि काव्य-मीमांसा में उसका यहाँ कभी कोई स्थान नहीं हो सकता। यह सब इसलिए कहना पड़ा कि स्वर्गीय आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने जब से यह कह दिया कि भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान क्रोचे का अभिव्यंजनावाद है तब से कुछ समीक्षक क्रोचे के ग्रंथ से इतस्ततः के वाक्यखंड उद्धृत करके यह सिद्ध करने में लगे कि क्रोचे को शुक्लजी ने समझा ही नहीं। दूसरे लोग उनकी आप्तोक्ति को स्वीकार करके यह मानने लगे कि वक्रोक्ति और अभिव्यंजना एक ही वस्तु के भिन्न देशगत दो भिन्न रूप हैं। परमार्थतः यह स्थिति नहीं है। इसी से उक्त निवेदन की अपेक्षा समझी गई।

काव्य की अलौकिकता

यहीं इस बात का विचार भी कर लेना चाहिए कि भारतीय रसवादियों की 'अलौकिकता' क्या है। काव्य को अलौकिक कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति से वस्तुतः कोई इतर अनुभूति है। क्योंकि शास्त्रकारों ने रस के संबंध में विभिन्न प्रकार के मतों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट कहा है कि पाठक को जो अनुभूति हुआ करती है वह अनुभूति वही है जो काव्य के पात्र द्वारा व्यंजित की जाती है। उन्होंने इस प्रश्न का भी उत्तर दे दिया है कि

पाठक के हृदय में इस प्रकार की अनुभूति आती कहाँ से है। संस्कार-जन्य वासना के रूप में पाठक या दर्शक के हृदय में अनुभूतियाँ संचित होती रहती हैं और नाटक देखने या काव्य पढ़ने के पूर्व उनके हृदय मे दबी पड़ी रहती हैं। काव्यार्थों के प्रदर्शन या अनुशीलन से वे ही उद्बुद्ध हो जाया करती हैं। यह तो हुई लौकिक बात। फिर इन्होंने काव्यगत आस्वाद को अलौकिक कहा, क्यों? इसका उत्तर यह है कि काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति होते हुए भी कुछ परिष्कृत रूप में अवश्य होती है। लोक में इस प्रकार की अनुभूति साधारणतया नहीं देखी जाती। इसी लिए काव्यानुभूति या रसानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से पृथक् करने के लिए उसे 'अलौकिक' कह दिया गया है। अलौकिक विशेषण से या ब्रह्मानंदसहोदरत्व के साहचर्य से इसे कोई आध्यात्मिक या दूसरे लोक की अनुभूति समझना ठीक नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि शास्त्रों में 'अलौकिक' या 'ब्रह्मानंदसहोदर' शब्द केवल रसानुभूति की स्थिति और प्रक्रिया समझाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं, उसे प्रत्यक्षानुभूति से एकदम पृथक् घोषित करने के लिए नहीं।

शास्त्रकारों ने बतलाया है कि जिनमें संस्कारजन्य वासनाएँ नहीं होतीं वे काव्यानुभूति का आस्वाद नहीं ग्रहण कर सकते। इसका तात्पर्य यही है कि जिनमें प्रत्यक्ष जीवन की सुखदुःखात्मक अनुभूतियाँ नहीं हुई रहतीं वे काव्य की परिष्कृत अनुभूति नहीं कर सकते अर्थात् प्रत्यक्षानुभूति और रसानुभूति का अभेद है।

काव्य और व्यक्ति

अब क्रोचे की वह बात लीजिए जिसके अनुसार वह कलासंबंधी ज्ञान में व्यक्ति के संकेतग्रह को प्रधान मानता है। नैयायिकों के अनुसार संकेतग्रह जाति का हुआ करता है, व्यक्ति का नहीं। क्योंकि यदि व्यक्ति का संकेतग्रह हो तो जिस व्यक्ति का संकेतग्रह होगा उसके अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति में संकेतग्रह हो ही नहीं सकता। अतः वे उपाधि में संकेतग्रह मानते हैं। किंतु पुराने साहित्य-मीमांसकों ने यह बात स्वीकृत की है कि क्रियाकारिता और प्रवृत्ति-निवृत्ति की योग्यता व्यक्ति ही में होती है। काव्य में व्यक्ति से जाति की ओर अथवा विशेष से सामान्य की ओर कवि ले जाता है और पाठक जाता है। तात्पर्य यह कि काव्य में व्यक्ति के महत्त्व को उन लोगों ने अस्वीकृत नहीं किया है। 'साधारणीकरण' नाम की काव्य-प्रक्रिया भी यही संकेत करती है। व्यक्ति या विशेष से जाति या साधारण की कोटि

तक पहुँचाना ही काव्य का लक्ष्य है। इसलिए क्रोचे ने जो बात अपने सौंदर्यशास्त्र में उठाई उस पर भी यहाँ के मीमांसक पहले विचार कर चुके हैं और विचार करने के अनंतर उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति की अभिव्यक्ति के लिए जाति नहीं है, प्रत्युत व्यक्ति से जाति की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे शब्दों में जाति को सामने रखकर व्यक्ति तक आने की आवश्यकता नहीं। व्यक्ति की उपाधि के आधार पर जाति को लक्षित करने की आवश्यकता है।

काव्य का सौंदर्य

क्रोचे ने सौंदर्य का भी विलक्षण अर्थ लगाया है। उसका कहना है कि वास्तविक वस्तु अथवा काव्य की वर्ण्य वस्तु में सौंदर्य नहीं हुआ करता, सौंदर्य होता है उसकी अभिव्यंजना में अर्थात् उक्ति में।* ऐसी स्थिति में दृश्य जगत् की शोभा के उद्गारों का कारण संस्कार है। बहुत दिनों से जिन्हें सुन्दर कहते आ रहे हैं उन्हें सुंदर कहने का संस्कार पड़ गया है। यदि ऐसा संस्कार से होता है तो संस्कारों को मार डालनेवाले संसार से विरक्त महात्माओं के हृदय में प्रकृति की विभूतियाँ सुंदर रूप में कभी भी उद्भासित न होनी चाहिए। किंतु देखा जाता है कि वे साधु-महात्मा भी प्रकृति की वही सुंदरता लक्षित करते हैं जो संसारी अथवा कवि लोगों में देखी जाती है। अतः सुंदरता या कुरूपता वस्तु का धर्म प्रतीत होता है, हृदय की कोई संस्कारजन्य वृत्ति नहीं।

काव्यगत आनंद

इसके साथ ही क्रोचे ने काव्यगत आनंद को सब प्रकार के आनंदों से विलक्षण कहा है। सुख और दुःख की अनुभूतियाँ काव्य में आनंद-मय ही प्रतीत होती हैं। इसका कारण सौंदर्यशास्त्र के विधायक काव्यगत अनुभूति का अनुभूत्याभास (अपेरेंट फीलिंग्स्) होना मानते हैं। इसके अनुसार काव्यगत अनुभूति वेगवती नहीं हुआ करती। इस संबंध में पहले कहा जा चुका है कि काव्य के पाठक या श्रोता के समक्ष प्रत्यक्ष कोई आलंबन नहीं रहता; इससे देखने में अनुभूति का वेग कम प्रतीत होता है, पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। स्वानुभूति और काव्यानुभूति के वेग में अंतर नहीं पड़ता। नाटक के दर्शकों में इसका प्रमाण मिलता है। करुणात्मक प्रसंगों में दर्शक अश्रुधारा बहाते और विलाप करते

---

* कुंतक भी कह चुके हैं—'वस्तुमात्रं च शोभातिशयशून्यं न काव्य-व्यपदेशमर्हति'।

देखे जाते हैं। सहृदयों का हृदय ही इसका साद्य है। उनके अनुसार काव्य की अनुभूति में वैसा ही वेग होता है जैसा वास्तविक अनुभूति में।

काव्य की अभिव्यंजना

क्रोचे ने यह भी कहा है कि सामान्यतया कलाकारों के शब्दों, स्वरों या आकारों को ही अभिव्यंजना समझा जाता है। किंतु विचार करने से ये अभिव्यंजनाएँ कला की नहीं, भौतिक जगत् की जान पड़ेंगी। उनके अनुसार अनेक प्रकार की उग्र चेष्टाओं से युक्त क्रोध से व्यग्र व्यक्ति में और कला की वही योजना करनेवाले व्यक्ति बहुत अंतर है। कला की अभिव्यंजना तो आध्यात्मिक क्रिया है। शब्द, वर्ण, रूप, चेष्टा आदि तो उस आध्यात्मिक वस्तु को प्रकाशित करनेवाली भौतिक अभिव्यंजना मात्र हैं। कला की अभिव्यंजना का क्रम इस प्रकार देखा जाता है।

(१) मनःसंस्कार (इम्प्रेशन)।

(२) अभिव्यंजना अर्थात् कला-संबंधी आध्यात्मिक योजना अथवा कल्पना (एक्सप्रेशन ऑर स्पिरिचुअल एस्थेटिक सिंथीसिस)।

(३) सौंदर्य-भावना से उद्भूत आनुषंगिक आनंद (हिडोनिस्टिक अकंपनीमेंट ऑर प्लेजर ऑव् दि ब्यूटीफुल)।

(४) कला-संबंधी आध्यात्मिक वस्तु (कल्पना) की स्थूल भौतिक आकृतियों में अवतारणा (शब्द, स्वर, चेष्टा, वर्ण आदि)।

क्रोचे का कहना है कि इस प्रक्रिया में दूसरी संख्या की प्रक्रिया ही मुख्य है।

काव्य के भेद

पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में काव्य के दो भेद किए गए हैं—एक बाह्यार्थनिरूपक (ऑब्जेक्टिव) और दूसरा स्वानुभूतिनिदर्शक (सब्जेक्टिव)। पहले प्रकार की रचना में कवि अपनी सत्ता पृथक् किए रहता है। जिस रूप में वह बाह्य जगत् का निरीक्षण करता है उसी रूप में उसे ज्यों का त्यों व्यक्त कर देता है। दूसरे प्रकार की रचना में उसका व्यक्तित्व विशेष रूप से लक्षित होता है। यदि इन भेदों पर विचार किया जाय तो ये भेद बहुत ही स्थूल दृष्टि से किए गए दिखाई देते हैं। बाह्यार्थनिरूपक काव्य में कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट शब्दों

में भले ही सामने न आए किंतु कवि जिस रूप में जगत् का निरीक्षण करता है जब वही रूप काव्यबद्ध होता है तो यह निश्चित है कि उस रचना के साथ उसकी अंतःसत्ता भी चिपकी हुई है। यदि ऐसा न हो तो एक ही विषय को लेकर रचना करनेवाले भिन्न भिन्न कवियों की रचनाओं में किसी प्रकार का भेद ही न लक्षित हो। किंतु ध्यान देने से स्पष्ट लक्षित होता है कि एक ही विषय पर भिन्न भिन्न कवियों की रचनाओं में केवल पदावली का ही स्थूल अंतर नहीं होता, प्रत्युत विषय के निरूपण और निरीक्षण का भी पार्थक्य दिखाई देता है। इसलिए शुद्ध बाह्यार्थनिरूपक काव्य कदाचित् ही कहीं दिखाई पड़े। ठीक यही बात स्वानुभूतिनिदर्शक काव्य के संबंध में भी कही जा सकती है। यदि कोई कवि अपनी ऐसी अनुभूति काव्य में व्यंजित करता है जिसका न बाह्य जगत् से कोई संबंध है और न इतर व्यक्तियों की अनुभूति से तो ऐसा विलक्षण काव्य समाज के किसी काम का नहीं हो सकता। इसलिए इस दूसरे वर्ग के अंतर्गत जितनी रचनाएँ रखी जाती हैं उनमें बाह्यार्थ के साथ ही व्यक्तिगत अनुभूति का मेल दिखाई देता है, उससे एकदम स्वच्छंद अनुभूति का नहीं। किंतु इधर थोड़े दिनों से, जब से व्यक्तिवैचित्र्य की विशिष्टता पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा तब से, कुछ विलक्षण रचनाएँ भी काव्य-क्षेत्र में लाई जाने लगीं। पश्चिमी देशों से तो इस प्रकार की रचनाएँ बहुत कुछ हटने या हटाई जाने लगी हैं किंतु भारतवर्ष में और विशेषतः हिंदी-जगत् में इन रचनाओं का वेग अभी रुका नहीं।

इन दो प्रकारों में से प्रबंध-काव्य, कथाकाव्य और नाटक पहले वर्ग के अंतर्गत रखे जाते हैं। प्रगीत (लीरिक्स) या स्वच्छंद मुक्तक दूसरे भेद के अंतर्गत। पहले प्रकार की रचना अनुकरण-सापेक्ष होने से अनुकृत (इमीटेटिव) और जगत् की यथातथ्य व्यंजना करने के कारण प्रकृत (रियलिस्टिक) भी कही जाती है। दूसरे प्रकार की रचना अंतःप्रेरणा की प्रबलता से व्यक्त होती है और वेगपूर्ण व्यंजना करती है। यह कवि की संगीत-प्रवृत्ति से विशेष संबद्ध होती है और गेय पदों में व्यक्त होकर 'प्रगीत' कहलाती है।

काव्य और व्यक्तिवैचित्र्य

विचार यह करना है कि व्यक्तिवैचित्र्य किस रूप में दिखाई देता है और काव्य की रसात्मकता के अनुरूप उसके कौन-कौन से रूप हो सकते हैं। व्यक्ति के दो रूप स्पष्ट लक्षित होते हैं। एक तो

अपने संबंधियों से घिरा हुआ उसका बहुत ही छोटा या परिमित रूप और दूसरा समाज, देश या लोक तक पहुँचता हुआ उसका विस्तृत रूप। जैसे अपने परिमित घेरे में व्यक्ति नाना प्रकार की अनुभूतियाँ संचित करता है वैसे ही अपने दूसरे विस्तृत क्षेत्र में पहुँचकर भी। यह बार-बार कहा जा चुका है कि काव्य का उद्देश्य कवि और पाठक का तादात्म्य स्थापित करना है। व्यक्ति को अपने परिमित घेरे में ऐसी बहुत सी अनुभूतियाँ हो सकती हैं जो जगत् में ठीक उसी रूप में औरों को भी हुई हों। किंतु कुछ ऐसी अनुभूतियाँ भी होंगी जो बहुतों को न होती हों और यदि कुछ को होती भी हों तो संसार में दूसरों के काम की न हों। यदि कोई कवि अपनी अंतर्दृष्टि दूर तक न ले जाकर केवल अपने परिमित घेरे की ऐसी ही अनुभूतियाँ व्यक्त करता है जो सर्वसामान्य हुआ करती हैं तो ऐसी स्थिति में कवि की रचना में चाहे विशेष गहराई न भी हो फिर भी उसका पाठक के साथ तादात्म्य अवश्य स्थापित हो जायगा। किंतु यदि उसकी अनुभूतियाँ वे होंगी जो उसके अतिरिक्त और किसी को नहीं हुईं या हो सकतीं तो पाठक के साथ उसका कुछ भी तादात्म्य स्थापित न होगा। इस प्रकार की रचना पढ़कर उसके हृदय में व्यंजित भाव से भिन्न भाव जगने की संभावना होगी और उन भावों का आलंबन या तो स्वयम् कवि होगा या उसकी वह रचना। कोई हँसी से, कोई घृणा से, कोई क्रोध से और कोई आश्चर्य से इस प्रकार की रचना को देखेगा। हिंदी की नवीन शैली की कुछ रचनाओं के विषय में अधिकतर पाठकों के हृदय में जो पूर्वोक्त प्रकार के भाव जग रहे हैं उसका कारण व्यक्तिवैचित्र्य ही है।

प्रभाववादी आलोचना

काव्य के शास्त्र-पक्ष को कष्टसाध्य समझकर आलोचना के क्षेत्र मे कहा जाने लगा कि कवि की कविता द्वारा हृदय पर जो प्रभाव पड़ा करता है उसे ही ठीक-ठीक व्यक्त कर देना उस रचना की समुचित आलोचना है। तर्क-वितर्क द्वारा काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करना काव्य की सच्ची समालोचना नहीं। ऐसा करना तो वकीलों की भाँति किसी पूर्वनिश्चित पक्ष का समर्थन है। इस संबंध में दो का विचार आवश्यक प्रतीत होता है—एक आलोचक पर पड़े हुए प्रभाव का और दूसरे उसके द्वारा प्रस्तुत आलोचना का। आलोचक की दो स्थितियाँ होती हैं—एक ग्राहक की, दूसरी विचारक की। पहली

भावुक की दूसरी भावक की। कविता पढ़ते या नाटक देखते समय सबसे पहले वह ग्राहक की स्थिति में पहुँचता है और रसास्वाद लेता है। हास, शोक, क्रोध, आश्चर्य आदि भावों में पूर्णतया रमता है। फिर रसावस्था से पृथक् होने पर विचार करता है कि काव्य या नाट्य से हृदय में ऐसे भाव जगे क्यों। मन लीन क्यों हुआ, बारंबार इसमें प्रवृत्ति क्यों होती है, अमुक स्थल पर चित्त में उद्वेग क्यों हुआ आदि आदि। यह विचारक की स्थिति है। ऐसी स्थिति में यदि आलोचक रसावस्था का वर्णन मात्र कर दे, उस अवस्था तक पहुँचने का कारण तर्क-वितर्क द्वारा प्रस्तुत न करे तो वह विचारक कैसा, आलोचक कैसा। तात्पर्य यह कि आलोचना के लिए निश्चित सिद्धांतों का होना आवश्यक है। बिना सिद्धांतों का सहारा लिए उद्‌गार करना मुग्धता का विवरण देना है।

दूसरी बात है इस प्रकार की आलोचना के अपरिमित रूप धारण कर लेने की। इस पद्धति के अनुसार जितने आलोचक होंगे उतने ही प्रकार की आलोचना हो जायगी। कोई तो कवि की प्रशंसा करेगा और कोई उसकी कुत्सा करते न थकेगा। आलोचकों का प्रभाववादी संप्रदाय व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की प्रेरणा का परिणाम मात्र है।

यथातथ्य और आदर्श

पाश्चात्य देशों में जब से कथा-कहानियों का विशेष प्रचार हुआ तब से उनके स्वरूप-निर्णय की चर्चा भी धीरे धीरे होने लगी। पहले पद्य का आंदोलन जब से बढ़ा तब से साहित्य-रचना के संबंध में नए नए मत या वाद चलने लगे हैं। इन वादों में सबसे मुख्य हैं—आदर्श-वाद और यथार्थवाद। पश्चिमी आलोचकों के अनुसार आदर्श वह है जो जीवन में कभी प्राप्त न किया जा सके और यथार्थ वह है जो जीवन में प्रत्यक्ष उपस्थित हो। पश्चिम में काव्य आदर्श को ही लेकर अब तक चलते रहे हैं। कथा-कहानियों के सिलसिले में उठे यथार्थवाद से प्रभावित कविता की पुस्तकें भी मैदान में आईं। देखना चाहिए कि काव्य में यथार्थ का ग्रहण और आदर्श का त्याग किस सीमा तक हो सकता है। यह तो पाश्चात्य आलोचकों को भी मानना पड़ा है कि काव्यगत सत्य जीवनगत सत्य से पृथक् होता है। पार्थक्य का तात्पर्य यह नहीं कि वह जीवनगत सत्य से कोई विलक्षण सत्य होता है। पार्थक्य इसलिए कि काव्य में जीवन का परिष्कृत रूप आया करता है। पहले कह आए हैं कि काव्य की आधारभूमि लोकस्वीकृत

होती है, व्यक्तिस्वीकृत नहीं। काव्य में इसी से परिष्कृत रूप में जीवन की घटनाएँ संनिविष्ट की जाती हैं। किसी के व्यक्तिगत जीवन में घटित सब घटनाएँ समाज के काम की नहीं हो सकतीं। वे सब एक ही लक्ष्य की ओर जानेवाली होतीं भी नहीं। काव्य में वर्णित घटनाएँ किसी निश्चित लक्ष्य तक पहुँचानेवाली अवश्य होती हैं। 'काव्य का उद्देश्य काव्य ही है' माननेवाले भी इसे अस्वीकृत नहीं कर सकते। अतः आलोचकों ने जीवनगत सत्य के दो रूप माने। एक को उन्होंने प्रकृत (ऐक्चुअल) कहा और दूसरे को यथार्थ (रियल)। काव्य में आवश्यक नहीं कि जीवन का प्रकृत रूप ही लिया जाय, उसका यथार्थ रूप भी काव्यगत प्रकृत रूप ही है। प्रकृत और यथार्थ में अंतर यह माना गया कि जीवन में जिसकी पूर्ण संभावना हो, चाहे वह सर्वत्र न भी देखा जाय, यथार्थ है। किंतु 'प्रकृत' संभावित नहीं, वास्तविक होता है। इस प्रकार काव्य में जीवन का परिष्कृत रूप उन्हें भी मान्य है, इसे कौन अस्वीकृत कर सकता है। परिष्कृत रूप की स्वीकृति उन्हें 'आदर्श' की ओर ही तो ले जा रही है ?

अब आदर्श पर आइए। जीवन में जैसा रूप है नहीं प्रत्युत होना चाहिए काव्य में उसका निरूपण आदर्श है। किंतु आदर्शवादियों का यह कहना ठीक नहीं कि आदर्श सदा अप्राप्त रहता है। यदि वह कभी प्राप्त नहीं हुआ तो उसके प्रति इतना राग क्यों। आदर्श वस्तुतः कोई हवाई या अलौकिक वस्तु नहीं है। वह इसी जीवन में उदात्तवृत्तिवाले महापुरुषों में दिखाई देता है। इसी से भारतीय काव्यों में उदात्तचरित महापुरुषों का ही वृत्त गृहीत होता है। पुराण (प्राचीन इतिवृत्त) या इतिहास (नवीन इतिवृत्त) से उसका संकलन किया जाता है।

पश्चिमी देशों में यथार्थ पर अधिक जोर देने का एक कारण यह भी है कि वहाँ काव्य का लक्ष्य अधिकतर शुद्ध मनोरंजन माना जाने लगा। भारतीय काव्यपरंपरा में काव्य का चरम लक्ष्य रससंचार और तदुपरि वृत्तिसंस्कार है। जो काव्य का लक्ष्य शुद्ध मनोरंजन ही मानेगा वह जीवन के आदर्श रूप से हटकर उसके सड़े-गले अंग को देख दिखाकर भी मनोरंजन करता रह सकता है। सौंदर्यानुभूति जिसका लक्ष्य होगी वह किसी की ठीक ठीक अनुकृति मात्र से प्रसन्न हो सकता है। उसके लिए आवश्यक नहीं कि अनुकार्य सद्वृत्त हो अथवा दुर्वृत्त। आदर्श और यथार्थ का भेद करके काव्य में उदात्तवृत्तियों का अवरोध करना उसे अपभ्रष्ट करना है।

अब देखना है कि जिन्हें आदर्श कहकर काव्य का आलंबन बनने से वंचित किया जाता है क्या उनके द्वारा प्रदर्शित वृत्तियाँ यथार्थ से सदा हटी रहती हैं। भारतीय काव्यों में राम का चारित्र्य आदर्श कहा जायगा। गोस्वामी तुलसीदास ने उन्हें परात्पर ब्रह्म का अवतार माना है। फिर भी उनका जीवन यथार्थ जीवन से दूर नहीं दिखाई पड़ता। काव्य जिन भावों का 'भावन' करना चाहता है वे राम में प्रकृत रूप में ही दिखाई देते हैं, कृत्रिम, विलक्षण या अद्भुत रूप में नहीं। साधारणतया अन्य जन जीवन में प्रेम, हास, क्रोध, शोक, करुणा, घृणा आदि की जैसी अनुभूति करते हैं वैसी ही अनुभूति उनकी भी है। सीता के प्रेम में वे उद्विग्न होते हैं, लक्ष्मण के शोक में प्रलाप करते हैं, रावण की दुष्टता से खीझते हैं आदि। इतना ही क्यों, उनके चारित्र्य में वे धब्बे भी दिखाई देते हैं जिनका होना यथार्थवादियों की दृष्टि से विशेष आवश्यक है। जैसे राम ने अपनों का पक्षपात किया। इसे घोषित करने में परमभक्त तुलसीदास को भी किसी प्रकार की हिचक नहीं हुई। वे कहते हैं—

जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। पुनि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली।
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥

काव्य में आदर्श का त्याग अव्यवस्था उत्पन्न करनेवाला ही हो सकता है।

अब देखना है कि जीवन का जो सड़ा-गला पक्ष यथार्थवादियों को विशेष प्रिय है क्या उसकी संभावना भी आदर्श काव्यों में कहीं दिखती है। आदर्श पात्रों का रूप और शील अभिव्यक्त करने के लिए आदर्शोन्मुख रचनाओं में स्पष्ट ही दो पक्ष रखे जाते हैं; एक होता है सत्पक्ष और दूसरा असत्पक्ष। इसी असत्पक्ष का विस्तारपूर्वक ऐसा वर्णन किया जाता है जिससे उसके प्रति घृणा या विरक्ति उत्पन्न हो। विरक्ति जगाने का प्रयोजन होता है सत्पक्ष के प्रति उद्‌बुद्ध श्रद्धा को अधिकाधिक परिपुष्ट करना। अंत में इन काव्यों का लक्ष्य यही निकलता है कि 'सज्जनवत् आचरण करना चाहिए, दुर्जनवत् नहीं'। काव्य के इस संकेतप्राप्त प्रयोजन पर पहले विचार कर आए हैं।

तात्पर्य यह कदापि नहीं कि आदर्शवाद के नाम पर नकली पात्र उपस्थित किए जाएँ। जहाँ तक संभावना काम कर सकती है और जहाँ तक कोई काव्य लोक की चरम सीमा पार करके शुद्ध अलौकिक नहीं हो जाता वहाँ तक आदर्शवाद जा सकता है। ठीक इसी प्रकार

यथार्थवाद का ग्रहण भी वहीं तक हो सकता है जहाँ तक वह सड़े-गले या अप्रयोजनीय रूप में नहीं आता। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार काव्य को केवल स्वर्गलोक के विहार से विरत रखना है उसी प्रकार नरक-कुंड में डूबने से भी। आदर्शवाद के नाम पर स्वर्गलोक का विचरण अनपेक्षित है या यथार्थवाद के नाम पर नरक-कुंड में डूबना, यह विचारणीय है।

आलोचना के प्रकार

मोटे रूप में तीन प्रकार की आलोचना दिखाई देती है—निर्णयात्मक, तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक। सीधी सादी परिचयात्मक आलोचना भी होती है, किंतु स्वरूप के विचार से उसका अंतर्भाव निर्णयात्मक में हो जाता है। निर्णयात्मक आलोचना वह है जो किसी कवि या लेखक की रचना का विवरण देकर यह भी निर्णय करे कि वह उत्तम, मध्यम और अधम में से किस श्रेणी में है। इसमें थोड़ी-बहुत तुलना अवश्य निहित रहती है। भले ही कोई दूसरा समकक्ष रचयिता सामने न लाया जाय, किंतु आलोचक के मन में ऐसी मानतुला अवश्य रहती है जो उनका विभाजन करती चलती है। ऐसी आलोचना, सच पूछा जाय तो, रचयिता का ठीक ठीक रूप व्यक्त करनेवाली नहीं होती। किसी रचयिता में कुछ ऐसी विशेषताएँ अवश्य रहा करती हैं जिनके कारण वह दूसरों से सरलतापूर्वक पृथक् किया जा सकता है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि उसका रूप स्पष्ट करने के लिए कोई समानशील रचयिता सामने लाया ही जाए। स्थान स्थान पर सरलता और स्पष्टता से उसका रूप समझ लेने के लिए वैसे ही दूसरे कर्ता को सामने लाना बुरा नहीं, किंतु आरंभ से लेकर अंत तक एक को दूसरे से मिलाकर केवल तारतम्य दिखलाना कर्ताओं के रूपबोध में पूर्णतया सहायक नहीं हो सकता। निर्णयात्मक आलोचना अब साधारण आलोचना समझी जाने लगी है। आलोचक-भेद से निर्णय का भेद भी दिखलाई देता है। तुलनात्मक आलोचना भी कुछ स्थितियों में और कुछ दूर तक ठीक दिखाई देती है, पर अधिक आगे बढ़ने पर वह भिन्न भिन्न कवियों की विशेषता का निरूपण करने के बदले उनकी समता या विषमता दिखलाकर ही संतोष कर लेती है। यह कैसे कहा जा सकता है कि दो व्यक्तियों के साम्य और वैषम्य से उनकी विशेषताओं का पूर्णतया पृथक् पृथक् उद्घाटन हो ही जायगा। इसलिए विविधता के विचार से तो ऐसी आलोचना महत्त्व की हो सकती है,

किंतु भिन्न भिन्न रचयिताओं की विशेषताओं के सम्यक् निरूपण के विचार से यह अभावपूर्ण है। अतः विश्लेषणात्मक आलोचना की आवश्यकता पड़ती है। विश्लेषणात्मक आलोचना लिखनेवाला आलोचक रचयिता की भिन्न भिन्न विशेषताओं का सूक्ष्मतापूर्वक उल्लेख करता है। निरपेक्ष बुद्धि से वह जिस प्रकार उसके गुणों का संधान करता है उसी प्रकार दोषों का भी। ऐसी आलोचना लिखने में पांडित्य और सहृदयता दोनों अपेक्षित हैं। अपने पांडित्य अर्थात् बुद्धिमत्ता द्वारा आलोचक मार्ग निकालता है तथा सहृदयता द्वारा गहराई में धँसता है।

आलोचना के दो रूप खंडनात्मक और मंडनात्मक भी होते हैं। इस प्रकार की अधिकतर आलोचना रचयिता के संबंध में पूर्वनिश्चित मत की प्रेरणा से होती हैं। किसी कवि या लेखक की रचना या उसके संबंध में जैसी धारणा पहले से बँधी है उसी के आधार पर खंडनात्मक या मंडनात्मक आलोचना कर दी जाती है। इस प्रकार की आलोचना में अधिकतर द्वेष-वृत्ति या राग-वृत्ति काम करती है। ऐसी वृत्ति केवल व्यक्ति के ही संबंध में जगती हो सो नहीं। उसकी रचना से हृदय पर पड़े सुखात्मक या दुःखात्मक प्रभाव के फलस्वरूप भी किसी की रचना या तो अधिक रुचती है या रुचती ही नहीं। प्रभाववादी आलोचना इन्हीं आलोचनाओं का नवीन, विकसित, विकृत, विस्तृत या परिष्कृत—चाहे जैसा कहें—रूप ही है। प्राचीन काल में किसी रचयिता के लिए जो कोई उक्ति कह दी जाती थी वह इसी का लघु रूप थी।

काव्य और अनुकरण

पश्चिमी देशों में काव्य-रचना का मूल अनुकरण माना जाता है। इस मत के प्रवर्तक अरस्तू हैं। उनका कहना है कि अनुकरण की प्रवृत्ति स्वभावगत होती है। कला की कृति में भी यही अनुकरण कार्यशील रहता है। अनुकरण कहीं वर्ण और आकृति द्वारा किया जाता है और कहीं स्वर द्वारा। कला में लय, शब्द और आलाप इसके साधन हैं। कहीं एक से और कहीं दो या तीन के मिश्रण से काम लिया जाता है। वाद्यों में लय और आलाप दो मिलते हैं। नृत्य में केवल लय का प्रयोग होता है। नर्तक चेष्टाओं द्वारा लय के ही सहारे रीति, भाव और कृति की अभिव्यक्ति करता है। काव्य में आकर कहीं कहीं अनुकरण के समस्त साधनों का प्रयोग किया जाता है। काव्य के साधन ये हैं—लय, आलाप और पद्य। अरस्तू ने अनुकरण के भेद भी माने हैं।

उनका कहना है कि अनुकरण अपने प्रकृत रूप में भी आता है, उत्कृष्ट रूप में भी और अपकृष्ट रूप में भी। काव्य के विभिन्न भेदों में उत्कर्ष और अपकर्ष के तारतम्य से ही उसकी स्थिति हुआ करती है। त्रासद नाटक (ट्रेजेडी) में उसका उत्कृष्ट रूप और कामद या हासद नाटक (कामेडी) में उसका अपकृष्ट रूप दिखाई देता है।*

भारतीय नाट्यशास्त्रों में भी अनुकरण का नाम लिया गया है। धनंजय के अनुसार नाट्य अवस्था की अनुकृति को कहते हैं।† उन्होंने नाट्य, नृत्त और नृत्य में भेद किया है। नाट्य रसोद्बोधक माना जाता है। नृत्य में केवल भावों का सहारा लिया जाता है। रसाश्रय नाट्य में जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है वे भाव तद्वत् दूसरों के हृदय में उद्बुद्ध होते हैं अर्थात् अभिनेता प्रदर्शन द्वारा अनुकार्य तथा दर्शकों का तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होता है। नृत्य करनेवाला केवल भाव का प्रदर्शन करता है अर्थात् वह जिन अंतर्वृत्तियों का प्रदर्शन करता है वे ज्यों की त्यों दर्शकों के हृदयों में उद्बुद्ध नहीं होतीं। दर्शक उन्हें देखकर केवल अपनी प्रसन्नता भर व्यक्त कर देता है। जनता में जो 'नकलों' का प्रचार है, धनंजय के अनुसार, वे नृत्य के अंतर्गत ही जाएँगी। इसका नाम धनिक ने 'प्रेक्षणीयक' रखा है। बोलचाल का 'नाच देखना' 'नृत्य प्रेक्षणीयक' है। नृत्त, ताल और लय के ही आश्रित अभिनयशून्य चेष्टाओं को कहते हैं। शुद्ध नाच यह नृत्त ही है। आगे चलकर नृत्य और नृत्त के दो स्वरूप भी दिए गए हैं। नृत्य को मार्गी और नृत्त को देशी कहा गया है। सार्वदेशिक प्रचार के कारण नृत्य को मार्गी कहते हैं किंतु नृत्त देशभेद से पृथक् पृथक् रूपों में दिखाई देता है, इसलिए वह देशी कहलाता है।

अरस्तू के इस कथन में वैमत्य नहीं कि मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति सहज है और बाल्यावस्था से ही दिखाई देती है। मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति अन्य प्राणियों से अधिक देखी जाती है। पशु-पक्षी भी अनुकरण करते हैं किंतु इनका क्षेत्र परिमित है। इसमें भी संदेह नहीं कि काव्य के निर्माण में अनुकृति का योग होता है। भारतीय आचार्यों की उक्ति का अरस्तू के कथन से साम्य भी है। अंतर यह है कि इन्होंने अनुकरण के मूल में मनोवेगों की प्रेरणा मानी है।

---

* देखिए अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' (पोयटिक्स)।

† अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—दशरूपक।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में कवि की शक्ति दो प्रकार की कही है—एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। इनमें से पहली तो काव्यनिर्माण की शक्ति है और दूसरी जीवन और जगत् की यथार्थ अनुभूति द्वारा भावग्राहिका शक्ति। काव्य का निर्माण करते हुए, उसमें भाव का पुट देते हुए स्वयम् कवि का हृदय कल्पना द्वारा लक्षित तथा अनुभूत स्थितियों एवम् भावों में अपने को स्थित और मग्न करता चलता है। तात्पर्य यह कि वह निरीक्षित जीवन का अनुकरण करता है। अतः स्पष्ट है कि शुद्ध अनुकरण ही काव्य का मूल नहीं है। वे भाव या विभाव कारण हैं जिनकी प्रेरणा से अनुकरण की प्रवृत्ति जगती है।

रोमांटिक और क्लैसिक

'क्लैसिकल' शब्द साहित्य में रोम के राजकीय व्यवहार से आया है। रोम के राजकीय व्यवहार के अनुसार मनुष्य अपनी आय के अनुरूप चार विभिन्न 'क्लास' या श्रेणियों में बँटे थे। प्रथम क्लास या श्रेणी को प्रथम क्लास या श्रेणी न कहकर केवल 'क्लास' कहते थे। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ के साथ विशेषण लगते थे। इसलिए प्रथम क्लास या श्रेणी का मनुष्य 'क्लैसिकल' कहलाता था। इस प्रकार 'क्लैसिकल' का अर्थ प्रथम या उत्तम श्रेणी हो गया। साहित्य में यह शब्द उत्तम के अर्थ में गृहीत हुआ। यवनानी और रोमी वाङ्मय के प्रति आदर की भावना होने से उनके लेखक क्लैसिकल लेखक कहलाने लगे, उनकी कृतियाँ 'क्लैसिकल' हुईं। यवनानी और रोमी इन क्लैसिकल लेखकों का अनुकरण करनेवालों को भी आलोचक 'क्लैसिकल' कहने लगे। आगे चलकर उसका विशेष रूप से बद्ध लक्षण सामान्य रूप से बद्ध हुआ और उसके अर्थ का विस्तार हो गया। इसकी सामान्य विशेषता मानी गई वस्तु के बाह्यार्थविषयक सौंदर्य का अनुसंधान। जो कृति सौंदर्य के भव्य रूप और पूर्णता के शाश्वत आदर्श की अनुभूति करा सके वह 'क्लैसिकल' हो गई। यहाँ तक कि जो सब प्रकार के साहित्यिक उन्मेष का प्रातिनिध्य कर सके वह 'क्लैसिकल' कही जाने लगी। उत्तम श्रेणी की कृति, सार्वयुगीन कृति, साहित्यिक परिपूर्णता वाली कृति इसी नाम से अभिहित होने लगी। उत्तमता और उच्चता की दृष्टि से उच्च वर्ग के लिए निर्मित कृति को भी कभी यही नाम दिया गया था।

'रोमांटिक' शब्द 'रोमांस' से बना है। यह प्राचीन फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। इसका अर्थ वर्नाक्यूलर या ग्राम्य भाषा है। ग्राम्य लातीनी (लैटिन) पहले 'रोमांस' कहलाती थी। जो कथा-कहानी इस ग्राम्य भाषा में लिखी जाती थी उसे भी 'रोमांस' कहते थे। आलोचना में यह शब्द ग्राम्य लातीनी भाषा में लिखी कथा-कहानियों की विशेषताओं के अर्थ में प्रयुक्त किया गया। उन कथा-कहानियों में साहसिकता, रहस्यात्मकता, कामवृत्तिविशिष्टता, कार्य-व्यापार की अनियमितता तथा प्रभावोत्पादकता होती थी। इसलिए रोमांटिक शब्द के सामान्य लक्षण में इन सबका समावेश हो गया। साहित्य के क्षेत्र में बहुमुखी आंदोलन और रूढ़िविरोधी वाद के अर्थ में इसका प्रचलन हुआ। फिर तो वर्ण्य विषय, व्यक्तिप्रवृत्ति और पद्धति सभी में इसके अनेक प्रकार के तत्त्वों की खोज की गई। इसकी प्रवृत्ति मूल रूप में व्यक्तिव दिनी हुई और भावुकता का विशेष माहात्म्य हुआ। इसी व्यक्तिवादिता का परिणाम रहस्यात्मकता है। रोमांटिक नायक स्वात्मानुभूतिलीन और रोमांटिक कवि विद्रोही माना गया। विशेष के वर्णन और स्थानिक रंग (लोकल कलर) की महत्ता हुई। साधारण से साधारण के ग्रहण, खँडहर, श्मशान आदि के वर्णन की वृत्ति जगी। प्रकृति के स्वानुभूत रूप के निरूपण पर बल दिया गया। स्वप्न और अंतर्मन के उल्लेख का मान हुआ। इस प्रकार इसके सर्वसामान्य लक्षणों में रूढ़ि, विद्रोह, स्वतःनिर्गत प्रवाह (स्पोंटेनिटी), प्रातिभ ज्ञान (इंट्यूशन), कलात्मकता, रहस्यात्मकता, प्रगीतात्मकता (लिरिसिज्म) और अंतर्मन की वृत्ति का ग्रहण हुआ।

क्लैसिकल में बाह्य सौंदर्य का संधान होता है तो रोमांटिक में आध्यात्मिक का। पहला प्रकृत सत्य का अवलंबन करता है तो दूसरा कल्पनात्मक गतिशीलता का। पहला नियमों से आबद्ध रहता है तो दूसरा उन्मुक्त। पहला प्रज्ञापरक होता है तो दूसरा भावपरक। पहला मौलिकतावादी (फंडामेंटलिस्ट) है तो दूसरा मानववादी (ह्यूमैनिस्ट)। पहले में चारित्र्य के विकास पर विशेष दृष्टि रहती है तो दूसरे में व्यक्तित्व के विकास पर। पहला यांत्रिक व्यवस्था का समर्थक है तो दूसरा आंगिक व्यवस्था का। पहला बाह्य आदर्श से परिचालित होता है तो दूसरा अंतर्वेग से। पहला जीवन से आबद्ध है तो दूसरा मूल वृत्तियों से। इसी से पहले में परंपरा का सत्कार है तो दूसरे में उसके विवेकपूर्वक ग्रहण का।

फ्रांस की राज्यक्रांति के अनंतर वहाँ पर इस प्रकार की धारणा प्रबल हुई कि जो कुछ प्राचीन है वह कुत्सित है। उसे हटाकर नवीनता की स्थापना करनी चाहिए। जागर्तिकाल (रिनेसाँ) के साथ साथ यह धारणा उत्तरोत्तर प्रबल होती गई। फलस्वरूप इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़े बिना न रहा। साहित्य में भी प्राचीन अवद्य माना जाने लगा और नवीन अनवद्य। इसी लिए एक ओर तो प्राचीन रूढ़ियों, विचारों, शैलियों, भाषाओं आदि में प्रस्तुत काव्यग्रंथ रखे गए और दूसरी ओर, चारों ओर नवीनता से घिरे हुए काव्यग्रंथ। धीरे धीरे, ज्यों ज्यों समय बढ़ता गया त्यों त्यों, इन दोनों विभागों का विवेचन भी विभिन्न दृष्टियों से किया जाने लगा। किसी ने कहा कि क्लैसिक विचारधारा मनुष्य का संबंध मनुष्य से ही स्थापित करनेवाली है। पर रोमांटिक विचारधारा का क्षेत्र अपरिमित है। वह प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में पहुँचनेवाली है। प्राचीन लौकिक है, नवीन अलौकिक। पहला परिमित साधनों पर आधृत है दूसरा चरम सीमा की खोज करता है। पहला शांति-सुख का अभ्यासी है दूसरा साहससंपन्न कार्यकलापों से आकृष्ट। पहला रूढ़ियों का प्रेमी है दूसरा विलक्षणता का। एक ओर ऐसे गुण-दोष दिखाई देते हैं जिनका संबंध औचित्य, नाप-जोख, बंधन, सनातन विचार, आप्तप्रमाण, शांति और अनुभव आदि से है, दूसरी ओर का नाता उत्तेजना, शक्ति, अशांति, आध्यात्मिकता, कुतूहल, कष्टदायकता, उत्थान, स्वातंत्र्य, प्रयोग और जागर्ति से जुड़ा है।*

इस प्रकार की भेदकता की स्थापना करने पर भी बहुत से प्राचीन काव्य इन विभाजकों को अपनी परिभाषा के मानदंड से उत्कृष्ट ही दिखाई पड़े। अतः क्लैसिक और रोमांटिक की तुला से पुरानों की भी नाप-जोख की जाने लगी और यह निष्कर्ष निकाला गया कि जहाँ कुतूहल और सौंदर्य-प्रेम की प्रवृत्ति दिखाई पड़े उसकी गणना रोमांटिक के अंतर्गत हो। इसलिए स्थूल रूप से रोमांस में तीन तत्त्व मुख्य हैं—रहस्य की भावना, कुतूहल की बौद्धिक वृत्ति और जीवन की सादगी की प्रवृत्ति।

विचार करने से इन भेदों में कोई गंभीर तत्त्व नहीं दिखाई देता। प्राचीन और नवीन में कालांतर से भेद तो अवश्य हो जाया करता है पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन में जिन आदर्शों का पालन

* देखिए स्काट जेम्स् का 'दि मेकिंग आव् लिटरेचर'।

होता है या काव्य के लिए उसके जो आलंबन तथा भाव हुआ करते हैं वे नवीन काव्यों में आकर एकदम बदल जाते हैं। वस्तुतः जो कुछ अंतर हुआ करता है वह अथन-कौशल या अभिव्यंजना में दिखाई देता है। हिंदी की नवीन काव्यधारा में काव्यगत आलंबन कुछ अवश्य बढ़ गए हैं। किंतु यह नहीं समझना चाहिए कि ये आलंबन सब के सब इससे पहले कभी काव्यबद्ध हुए ही नहीं। जैसे हिंदी की नवीन कविता में आलंबनरूप से प्रकृति का ग्रहण कोई नई बात नहीं। विदेशी (फारसी) प्रभाव समझिए अथवा कालचक्र की गति कि हिंदी के पुराने रचयिता प्रकृति से धीरे धीरे दूर हटते गए, किंतु संस्कृत के पुराने कवियों में ऐसा नहीं था। साधारण और असाधारण का काल्पनिक भेद भी वे नहीं किया करते थे। जिस प्रकार रसाल, जंबू, कमल आदि का वर्णन किया गया उसी प्रकार अंकोट, इंगुदी, बबूल इत्यादि का भी। जिस प्रकार ऋषि, मुनि आदि के वर्णन किए गए हैं उसी प्रकार कोल, भिल्ल, निषाद आदि के भी।

रोमांटिक और यथार्थ

'आदर्श' मानव का चित्रण उस रूप में करता है जिस रूप में उन्हें होना चाहिए। यही आदर्श वृत्ति 'क्लैसिकल' में मानी गई। रोमांटिक का आदर्श 'क्लैसिकल' से भिन्न है, उसकी दृष्टि मानव का चित्रण उस रूप में करती है जैसे वे होना चाहते हैं। यथार्थ उन्हें उसी रूप में रखता है जैसा वे हैं। यथार्थ में वस्तुत्व होता है और रोमांटिक में भावत्व। भावमय होने से रोमांटिक आंतरिक अनुभूति पर जोर देता है और यथार्थ बाह्य दर्शन पर। इसी से रोमांटिक में वास्तविक जीवन से पलायन की वृत्ति होती है। परिस्थितियाँ, प्रतारणा, नैराश्य का झोंका उसे सह्य नहीं। यथार्थ जीवन की वास्तविकता के नाते तुच्छ से तुच्छ स्थिति का भी स्वागत करता है। यहाँ तक कि अधम, अश्लील, अदर्शनीय को भी कहने में उसे हिचक नहीं होती। इसी से रोमांटिक तो कल्पनामय होकर अनुभव से परे तत्त्वज्ञान, अध्यात्म, रहस्य आदि से पोषण प्राप्त करता है और यथार्थ मनोविज्ञान से। पहला धर्म (रेलिजन) के पोषण के प्रति उन्मुख रहता है और दूसरा विज्ञान के पोषण के प्रति। पहले की पुष्टि व्यक्तिहित से विशेष होती है और दूसरे की मानव मात्र के हित से। पहले में चारित्र्य-चित्रण या शील-निदर्शन का माहात्म्य होता है और दूसरे में कार्यप्रदर्शन का। पहला विषय से विवरण की ओर प्रवृत्त रहता है दूसरा विवरण से।

विषय की ओर। पहला जीवन के आदर्शीकरण को महत्त्वशाली समझता है तो दूसरा उसे समझने में ही लीन रहता है।

काव्य और प्रकृति

सुख-समृद्धि के बीच नागरिक जीवन व्यतीत करते हुए राजाश्रित कवि नागरिक व्यक्तियों और नागरिक ऐश्वर्य का वर्णन तो करते थे, पर ग्रामों, पर्वतों, नदियों, झरनों, समुद्र आदि प्राचीन एवम् प्राकृतिक विभूतियों की ओर से धीरे धीरे आँखें फेरने लगे थे। पर प्रकृति के विविध रूपों के बीच जीवन व्यतीत करनेवाले बहुत दिनों तक आँखें बंद नहीं रख सकते थे। परिणाम यह हुआ कि पश्चिम में एलिज़ाबेथ के समय के अनंतर वहाँ के काव्यक्षेत्र में जो प्रतिवर्तन हुआ उसके फलस्वरूप 'प्रकृति की ओर लौटो' की पुकार मची। बहुत से कवि प्रकृति की माधुरी पर मुग्ध होकर उसका चित्रण करते हुए सामने आए। अँगरेज़ी-साहित्य के संपर्क में जब भारतीय भाषाओं के साहित्य आए तो इनमें भी वही पुकार उठ खड़ी हुई। हिंदी में भी धीरे धीरे प्रकृति के ऐश्वर्य पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति फिर से जगने लगी। क्योंकि अँगरेज़ी-कवियों की भाँति हिंदी के मध्यकालिक बहुत से कवि राजाश्रय में ही पलते रहे। प्रकृति की ओर से उनमें विशेष उदासीनता छा गई थी। राजाश्रय से मुक्त तुलसीदास ऐसे दो एक सर्वभूतव्यापी हृदयवाले कवियों को यदि छोड़ दें तो उस काल में ऐसे कवि भी दिखाई देते हैं जो गाँवों की प्राकृतिक विभूति पर मुग्ध होने की कौन कहे वहाँ के व्यवहारों से नाक-भौं ही सिकोड़ते फिरते हैं। बिहारी को 'गँवई-गाँव' में गुलाब के इत्र का कोई प्रशंसक नहीं दिखाई दिया। नागरता के नाम को वे रोते रह गए। उनके गुरु केशवदास शास्त्र का निरूपण करते हुए कवि के लिए सामान्य और विशेष नामक अलंकारों के अंतर्गत राज्यश्री-भूषण का तो उल्लेख करते हैं और उसका विस्तार से वर्णन करने की पद्धतियाँ भी निरूपित कर जाते हैं, किंतु प्रकृति-श्री की ओर से उदासीन ही हैं। किसी उपवन या वाटिका के वर्णन में बड़े लोगों के बगीचों में शौकिया लगाए जानेवाले नाना प्रकार के वृक्षों तथा लताओं का नाम तो वे गिना गए हैं, किंतु पर्वतों एवम् जंगलों में पाए जानेवाले तृण-गुल्मों, द्रुम-वल्लरियों आदि का नाम तक नहीं लेते। केशवदास की इस कविशिक्षा से प्रभावित होकर पिछले काँटे के बहुत से हिंदी-कवियों ने वृक्षलताओं के उत्पत्ति-स्थान का कुछ भी विचार न कर परंपरापालन के निमित्त उन पेड़-पल्लवों

की सूची तो अवश्य दे दी है जो बाग-बगीचों में लगाए जाते हैं पर वर्ण्य देश में पाए जानेवाले लता-वीरुन् का नाम तक नहीं लिया है। जैसे वृंदावन के वर्णन में खिरनी, फालसा, लीची आदि का तो उल्लेख है पर करील के कुंजों का नाम तक नहीं, जिनकी शोभा पर मुग्ध होकर भक्तिसागर रसखानि 'कलधौत के धाम' तक को निछावर कर देने को प्रस्तुत थे। संस्कृत के पुराने कवि प्रकृति की सच्ची विभूतियों से बहुत दिनों पराङ्मुख नहीं हुए। किंतु ज्यों ज्यों समयचक्र उन्हें नगर-निवास के निकट खींच लाया त्यों त्यों प्रकृति की उदासीनता इनमें भी बढ़ने लगी। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, बाण, भारवि आदि तक प्रकृति अपना प्रकृत रूप काव्यक्षेत्र में बहुत कुछ बनाए रही। किंतु श्रीहर्ष तक आते आते प्रकृति की योजना परंपरा का पालन मात्र रह गई। 'नैषध' संस्कृत का अत्यंत उत्कृष्ट काव्यग्रंथ है किंतु प्रकृति का वर्णन उसमें शास्त्रदृष्टि से ही रखा गया है, आत्मदृष्टि से नहीं। हिंदी में भी अधिकतर कवि आत्मदृष्टि से नहीं, प्रत्युत शास्त्रदृष्टि से ही प्राकृतिक ऐश्वर्य का निरूपण करते रहे।

काव्य में प्रकृति दो रूपों में आती है—प्रस्तुत रूप में और अप्रस्तुत रूप में। प्रस्तुत रूप में प्रकृति का वर्णन स्वच्छंद होता है अर्थात् वह स्वतः आलंबन होती है, किंतु अप्रस्तुत रूप में वह सहायक का रूप धारण करती है। रसों के क्षेत्र में अप्रस्तुत रूप में प्रकृति उद्दीपन के भीतर रखी गई और अलंकारों के क्षेत्र में उपमानों के साथ। आलंबन के रूप में आनेवाली प्रकृति भी दो प्रकार से निरूपित होती है। कहीं प्रकृति का कोई खंड-दृश्य स्वतः किसी भाव का उद्बोधक होता है और कहीं वर्ण्य व्यक्ति या घटना का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए पीठिका (बैक ग्राउंड) के रूप में उसका उपयोग किया जाता है। प्रकृति का पीठिका के रूप में उपयोग साहित्य की सभी शाखाओं के लिए प्रयोजनीय जान पड़ता है; कविता के अतिरिक्त घटना या कथा-प्रधान रचना में भी वह आवश्यक है! धीरे धीरे यह प्रथा प्रमुख कथाकाव्यों से तो हट गई, किंतु कविता में, परंपरा-पालन के रूप में ही सही, कुछ बनी रही। फलस्वरूप हिंदी की नवीन काव्यधारा में प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में पहुँचकर उसकी अनुभूति में पाठकों को मग्न करानेवाले कई कवि दिखाई पड़े। शास्त्रों में रसप्रक्रिया का विवेचन करते हुए प्राकृतिक विभूतियाँ शृंगार के उद्दीपन के रूप में रख दी गई हैं। जिस प्रकार व्यक्ति या वस्तु के मेल में आने से नाना प्रकार के भावों का

उद्रेक होता है उसी प्रकार स्वच्छंद प्रकृति के संपर्क में आने से जो भाव जगता है उसका कोई पृथक् नामकरण ही नहीं किया गया। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्रकृति के वर्णन से किसी प्रकार का रस व्यंजित होने की संभावना ही नहीं। यदि भानुभट्ट 'मायारस' की कल्पना कर सकते हैं तो 'प्रकृतिरस' की कल्पना से प्रकृति-प्रेमियों को कौन रोक सकता है। संसार में लोकैषणा, धनैषणा, पुत्रैषणा नामक वांछाओं की पूर्ति में प्रवृत्त रहनेवाले मायारस के आश्रय होते हैं। प्रकृतिगत भाव की सीमा इससे भी विस्तृत है। संसारी और वीतराग सभी प्रकृति की विभूति पर मुग्ध होते देखे जाते हैं। प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति दोनों में प्रकृति के आलंबनत्व से उत्पन्न मनःस्थिति रसमय ही होती है। यह इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता है।

ज्यों ज्यों मनुष्य मानवजीवन में उत्तरोत्तर अनुरक्त होता गया त्यों त्यों प्रकृति से विरक्त भी। संसारी हो जाने से वह प्रकृति को पीछे छोड़ आया। आर्य जातियों में तो प्रकृति का प्रेम संस्कारजन्य होने के कारण बहुत-कुछ बना है किंतु सामी जातियों में शान-शौकत की विशेष बाढ़ आई। आरंभिक वन्य जीवन के कारण जो थोड़ा-बहुत प्रकृति-प्रेम उनमें था भी वह भी लुप्त हो गया। काव्य में दो-चार इने-गिने पेड़-पौधे रह गए और दो-चार बोलते पक्षी। पर्वतों, नदियों आदि के रुचिकर वर्णन दिखाई ही नहीं देते। पर्वत तो आपत्ति के प्रतीक माने जाने लगे, बयाबाँ या जंगल उदासी लक्षित कराने लगे। व्यक्तिगत सत्ता का क्षेम प्रकृति से उन्हें दूर घसीट ले गया।

इधर प्रकृति की जो पुकार मची उसका प्रभाव थोड़ा-बहुत हिंदी की नवीन काव्यधारा पर ही दिखाई देता है। गद्य में लिखी जाने-वाली रचना मानवजीवन के विश्लेषण में प्रवृत्त होने का दावा करने लगी, प्रकृति से उनका कोई सरोकार नहीं। पुराने उपन्यासों में, यहाँ तक कि तिलिस्मी एवम् जासूसी कथा-ग्रंथों तक में, जिनका लक्ष्य घटनाओं का वैचित्र्य ही दिखाना होता था, लेखक पीठिका के रूप में प्रकृति का वर्णन दिया करते थे। धीरे धीरे उपन्यासों क्या कविता से भी प्रकृति-वर्णन बहुत कुछ उठ गया। थोथे समाजवादी प्रकृति को चाहे बाह्य आवश्यकता का साधन मात्र समझते हों किंतु हृदय की भूख तब तक नहीं मिट सकती जब तक प्रकृति अपनी छबि के व्यंजनों से उसकी तृप्ति न करे।

किसी वाद या फैशन के चक्कर में पड़कर प्राकृतिक विभूतियों का

निरूपण करने बैठना ठीक नहीं। नगर के परिमित घेरे में रहकर प्रकृति की असंख्य विभूतियों के न तो दर्शन ही हो सकते हैं और न दूसरों को उनके कृत्रिम वर्णन से परितृप्ति ही मिल सकती है। प्रकृति के खंड-चित्रों को लेकर यों ही कुछ पदावली जोड़ देना और बात है तथा प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म दृश्यों का चित्र खड़ा करना और बात। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रकृति के ऊपर हृद्गत भावों का आरोप अथवा अलंकारों का लदाव करके उसका चित्रण करना भी प्रकृति-वर्णन की पद्धति ही है। विशेष अवसरों पर इसकी भी आवश्यकता पड़ती है। किंतु प्रकृति को अपने व्यक्तिगत घेरे में बाँध रखना अथवा चमत्कार दिखाने के लिए लदाव पर लदाव करके उसे ढक देना पूर्ण सहृदयता का परिचय देना नहीं है। जो व्यक्तिगत जीवन के रंगीन शीशे से प्रकृति को देखते हैं या जो कागजी फूल-पत्तों से उसका अनोखा शृंगार करने का उद्योग करते हैं उनकी मति संकुचित है और रुचि असंस्कृत। कहना नहीं होगा कि हिंदी की आधुनिक कविता में भी प्रकृति के ऊपर ऐसे लदाव देखे जाते हैं और ऐसे भावों का आरोप किया जाता है तथा प्रचुर परिमाण में किया जाता है।

प्रकृतवाद

प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) यथार्थवाद से कुछ अर्थों में मिलता जुलता है। आदर्शवाद का भी यह कुछ अर्थों में विरोधी है और रोमांटिक का भी। 'प्रकृति' के दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। एक प्रकृति या सृष्टि के व्यापक अर्थ से संबद्ध और दूसरा मानव के सहज रूप से। प्रकृति के व्यापक अर्थ में इसके अंतर्गत वे कृतियाँ गृहीत होती हैं जिनमें प्रकृति या सृष्टि का प्रेम प्रदर्शित हो अथवा जिनमें उसका यथार्थ चित्रण हो। मानवसंबद्ध संकुचित अर्थ में भी इसके कई रूप हो जाते हैं। इसमें कुछ तो ऐसी कृतियाँ आती हैं जो मनुष्य के उस रूप को सामने लाती हैं जो उसका सहज रूप होता है जिसमें भावात्मकता का अंश नहीं होता। कुछ ऐसी कृतियाँ भी होती हैं, जिनमें उसके भौतिक रूप का प्रदर्शन होता है। मनुष्य जिस प्रकार प्राणी है उसी प्रकार कई उससे भिन्न जीव भी प्राणी हैं। मनुष्य के ऐसे रूप का प्रदर्शन जो उसे अन्य प्राणियों के मेल में सामने लाए। कुछ ऐसी कृतियाँ भी इसी के आभोग में मानी जाती हैं जिनमें मनुष्य से संबद्ध विषयों का वर्णन विरूप और भद्दी शैली से किया गया हो।

काव्य और रहस्यवाद

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के साथ अध्यात्मवाद का विचार किया जा चुका है। यह काव्य और आलोचना दोनों क्षेत्रों में जोर दिखला रहा है। काव्य के क्षेत्र में यह रहस्यवाद-छायावाद के रूप में हिंदी-कविता में छाया। साहित्य या काव्य को ही आध्यात्मिक वस्तु कहना कहाँ तक उचित या अनुचित है इस पर तो विचार हो चुका। रहस्य-वाद के रूप में जब यह काव्य की एक शाखा बन कर आता है तब उसकी सीमा कहाँ तक जा सकती है इस पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए। संसार में जहाँ तक ज्ञात है उसके आगे और भी कुछ है या नहीं, इसकी जिज्ञासा जीवन में विचारशील लोगों को बराबर हुआ करती है। बुद्धि ज्ञात की सीमा के परे अपने निश्चय के लिए अज्ञात तक जाने का प्रयत्न करती है। कहना नहीं होगा कि बुद्धि की यह यात्रा दर्शनशास्त्र के मार्ग पर होती है। हृदय का पूर्ण योग ज्ञात ही से हो सकता है, अज्ञात से नहीं। किंतु फैशन के रूप में हृदय का वैसा ही संबंध अज्ञात से जोड़ा जाने लगा है जैसा ज्ञात के प्रति हुआ करता है। काव्य में अज्ञात के संबंध में कोई निश्चय करके चलना सांप्रदायिकता है। काव्य तो क्या तत्त्वचिंता में भी 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' कहकर ब्रह्म की जिज्ञासा ही की गई है। किंतु काव्य में जिज्ञासा ने उलटे निश्चय का रूप ले लिया। प्रेम का आलंबन अब 'कौन' भी होने लगा है। जैसे उर्दू में सूफी कवियों की नकल करनेवाले अधिकतर शायर ज्ञात के प्रति की गई रचना को अज्ञात के प्रति की गई बताया करते हैं, इश्क मजाजी में इश्क हकीकी बतलाते हैं, वैसी ही हिंदी के कवियों की भी मनोवृत्ति हो रही है। अन्य शास्त्रों की बातें काव्य में संकेत के रूप में ही गृहीत हो सकती हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। इस विचार से देखने पर हिंदी के सूफी कवि अपने प्रेमकथा-काव्यों में रहस्यवाद को काव्योपयोगी ढंग से लाए हैं। उनके काव्यों में प्रस्तुत वृत्त प्रेमी नायक-नायिका का ही दिखाई देता है। बीच बीच में तुल्य विशेषणों या प्रतीकों द्वारा अप्रस्तुत रूप में अज्ञात का संकेत भी स्थान स्थान पर करा दिया गया है। सारी कथा जो अप्रस्तुत आध्यात्मिक संकेत देती है वह प्रबंध-ध्वनि के रूप में पृथक् ही है।

रहस्यवाद पर इधर जो नई आलोचनाएँ प्रकाशित हुई हैं उनमें ऐसे कवियों की कृतियों में से भी रहस्यवाद के उद्धरण दिए गए हैं जो

कदाचित् ही रहस्यवादी कहे जा सकें। तुलसीदास और सूरदास को भी जो 'रहस्यवादी' कहते या समझते हैं उन्हें क्या कहा जाय। जो ललकारकर कहते हैं "तुलसी अलखहिं का लखै राम-नाम जपु नीच" और "निर्गुन अगम बिचारहि तातें सूर सगुन-लीला-पद गावै" उन्हें रहस्यवादी कैसे माना जाय।

भक्तों की रचना के आध्यात्मिक अर्थ भी किए जाने लगे हैं। श्रीकृष्ण की मुरली, कमली, माखनचोरी आदि लीलाओं के विलक्षण विलक्षण अर्थ प्रस्तुत किए गए हैं। ये दार्शनिक जीव जनता के काव्य-रसास्वाद में भी बाधा डालने लगे हैं। काव्य की प्रक्रिया में देवी-देवताओं का श्रृंगार भी श्रृंगार ही है इसकी घोषणा रस को अलौकिक प्रक्रिया माननेवाले भी डिमडिम नाद से कर चुके हैं। फिर भी न जाने क्यों सूरदास तो सूरदास विद्यापति के पदों के भी आध्यात्मिक अर्थ किए जाते हैं। बात यह है कि पश्चिम से जो हवा चलती है वह पहले बंगाल की खाड़ी में पहुँचती है और वहाँ से पूरब की हवा बनकर 'मानसून' की भाँति हिंदी-प्रदेश में भी घनघटा की छटा छिटकाने लगती है। आध्यात्मिक अर्थ आधिभौतिक एवम् आधिदैविक अनर्थों से मिलकर त्रिताप का रूप धारण कर रहे हैं।

काव्य और लोकजीवन

काव्य का प्रकृत जीवन से बहुत घनिष्ठ संबंध है। जब काव्य जीवन के वास्तविक पक्ष को छोड़कर बँधे-बँधाए कुछ विशिष्ट पक्षों को ही लेकर चलने लगता है तो आवश्यकता होती है कि वह सामान्य जीवन से फिर संलग्न हो। पश्चिमी देशों में काव्य जब कुछ विशिष्ट वर्गों का आश्रय लेकर चलने लगा तो उसे सामान्य जीवन से संबद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप जनवादी (प्रोलितेरियन) उठे। उन्होंने काव्य में साधारण जनता को अधिकाधिक संनिविष्ट करने का बीड़ा उठाया। पश्चिमी देशों में लोकजीवन वैसी स्थिरता नहीं प्राप्त कर सका है जैसी भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही। अतः वहाँ लोकजीवन के नए नए रूप कल्पित किए जाते हैं और उनकी परख की जाती है। जीवन के ये नए नए रूप प्रायोगिक अवस्था में चलते रहते हैं। एक के दोषपूर्ण सिद्ध होने पर दूसरा परीक्षित होता है। सामंजस्य को ठीक ठीक व्यवस्था न होने से घोर विप्लव या क्रांति के रूप में नए नए स्वरूपों का विधान होने लगता है। इधर पश्चिमी

देशों में जिस प्रकार के आंदोलन चल रहे हैं उनके प्रभाव से साहित्य में यह भावना जोर पकड़ रही है कि काव्य का चरम लक्ष्य साधारण जनता का ही वृत्त-वर्णन होना चाहिए। भारत भी पश्चिमी आंदोलनों की प्रयोगशाला बनाया जा रहा है और साहित्य भी ग्रहग्रस्त हो रहा है। काव्य के क्षेत्र में तो यह हवा उतने वेग से नहीं चली किंतु गद्य के आख्यानों में कहीं कहीं इसका प्रबल वेग दिखाई देने लगा है। साहित्य का जब जीवन से अखंड संबंध है तो यह आवश्यक है कि वह उसे छोड़कर न चले। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि साहित्य सांप्रदायिक भावना या किसी वाद के चक्कर में पड़ जाए। हिंदी में मुंशी प्रेमचंद नगरों के परिमित घेरे से निकलकर गाँवों के विशाल भूखंड पर जा खड़े हुए। यहाँ तक तो बात बनी रही, किंतु जब रूसी नीति की नकल पर कुछ लेखक श्रमजीवियों के बीच खड़े दिखाई पड़े तो साहित्य सांप्रदायिक विप्लव के गड्ढे में जा गिरा। श्रमिक-जीवन का चित्रण साहित्य के लिए कोई पाप नहीं। किंतु जीवन की विविधता का विचार करते हुए साहित्य उसके सब रूपों को समाहृत करके चलेगा। अतः पूर्ण जीवन में से कोई एक खंड छाँटकर उसी के निरूपण में संलग्न रहना और उसे ही साहित्य का चरम लक्ष्य घोषित करना अनुचित ही नहीं, अपराध भी है। जिस प्रकार नगर के विलासमय जीवन के या किसी विशेष नागरिक-समुदाय के ही चित्रण में लगा रहना अनुचित है उसी प्रकार साधारण वर्ग के लोगों का किसी विशेष भावना से प्रेरित होकर निरूपण करना भी। दोनों ही जीवन-रूपी शरीरी के अंग मात्र हैं। जीवन के किसी एक अंग का ही स्वरूपबोध कराना साहित्य का लक्ष्य नहीं।

इसी प्रकार किसी विशेष विचारधारा से प्रभावित होकर किसी समुदाय का केवल सत् स्वरूप और दूसरे का केवल असत् स्वरूप सामने लाना धोखा देना है। ऐसा करके जीवन का सच्चा स्वरूप व्यक्त नहीं किया जा सकता। किसी विशेष वर्ग में अच्छे और बुरे सभी प्रकार के लोग हुआ करते हैं। इसलिए एक समुदाय को अच्छा और दूसरे को बुरा कहना बहुतों का कोपभाजन होना तो है ही, काव्य की विभुता भी बिगाड़ना है। विदेशी साहित्य की अनावश्यक नकल शोभा की बात नहीं। भिन्न-भिन्न देशों में परिस्थिति-भेद से चाल-ढाल, रहन-सहन, आचार-विचार आदि में अंतर हुआ करता है। प्रत्येक देश का साहित्य अपने यहाँ के जीवन के बीच से

ही मार्ग निकालता है। अतः भिन्न-भिन्न देशों के साहित्य में बाहरी भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है। किंतु ऐसी सामान्य भावभूमियाँ भी हैं जो सभी देशों के जीवन में पाई जाती हैं और काव्य में व्यंजित या अंकित होती हैं। जो लेखक इनकी ठीक ठीक पहचान रखता है वही सार्वभौम रूप में अपने काव्य का निर्माण करने में समर्थ होता है। यदि ये सर्वसामान्य भावभूमियाँ न हों और विभिन्न देशों के साहित्य वहाँ का केवल बाह्य जीवन ही चित्रित करते रहें तो उनकी रचना परिमित घेरे से आगे नहीं बढ़ सकती। भिन्न भिन्न देशों के जन जो इतर देशों के साहित्य से आनंद उठाते हैं उसका कारण सर्वसामान्य भूमि ही है। सर्वसामान्य भावभूमि क्या है इसका विचार पहले किया जा चुका है, अर्थात् बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक देश में छोटे और बड़े के बीच तथा व्यक्ति और लोक के बीच जो नाना प्रकार के संबंध स्थापित होते हैं वे देशों की भिन्नता होते हुए भी सर्वत्र एक ही प्रकार के दिखाई देते हैं। माता संतति को प्यार करती है, बच्चे बड़ों को चाहते हैं, लोक का कल्याण करनेवाला जनता द्वारा पूजा जाता है आदि। ये स्थितियाँ और विश्वास सर्वत्र एक से हैं। जीवन के इस सार्वभौम स्वरूप पर दृष्टि रखकर जिनकी वाग्धारा प्रवाहित होगी उनकी रचना किसी देश की छोटी सीमा के भीतर ही लहराती न रहेगी। वह उस महासागर तक पहुँचानेवाली भी होगी जहाँ लोक की विभिन्न विचारधाराओं का पर्यवसान होता है।

मार्क्सवाद

कम्यूनिज्म या लोकायत-मत के चार नियम मुख्य हैं— (१) शक्ति के अनुपात में श्रम—अर्थात् जिसमें जितना कार्य करने की क्षमता हो उसे उतना कार्य करना चाहिए। (२) आवश्यकता के अनुपात में उपभोग—अर्थात् प्रत्येक को उतना मिलना चाहिए जिससे उसका जीवन-यापन ठीक ठीक हो सके। (३) वैयक्तिक संपत्ति न हो। (४) सबका सब पर स्वत्व हो। मार्क्स ने इसमें तीन नूतन सिद्धांतों की उद्भावना की—(१) इतिहास की आर्थिक व्याख्या—उसने यह माना कि समाज की प्रवृत्ति के मूल में अर्थ है। आरंभिक युग में प्रभूत परिमाण में पदार्थ उपलब्ध थे। उनके भोक्ताओं की संख्या परिमित थी, धीरे धीरे संपत्ति पर विशेष वर्ग का अधिकार हो गया। इसलिए उसका कहना है कि (२) वर्गसंघर्ष के सिद्धांत से काम लेना आवश्यक है। इस संघर्ष का लक्ष्य है ऐसे समाज की स्थापना जो संपत्तिरहित और

वर्गरहित हो। इससे उसने श्रम के मूल्य को महत्त्वशाली माना। (३) तीसरा सिद्धांत है मूल्य का (थियरी आव् वैल्यू)। जिसने सामाजिक श्रम के अनुपात में जैसा कार्य किया हो उसका मूल्य उसी के अनुसार निर्धारित किया जाय।

हीगल ने दर्शन के क्षेत्र में तीन प्रकार की क्रियाएँ मान रखी थीं। जागतिक व्यापार में इन्हीं के अनुसार गति होती है। पहली का नाम उसने क्रिया (थीसिस) माना। दूसरी को उसने प्रतिक्रिया (ऐंटी-थीसिस) कहा। तीसरी को समक्रिया (सिंथीसिस) कहा। क्रिया के अनंतर प्रतिक्रिया होती है और प्रतिक्रिया होने पर आप से आप समक्रिया होती है। मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (डाइडैक्टिकल मैटीरियलिज्म) में हीगल के इसी सिद्धांत को मानकर सारी स्थापनाएँ की गई हैं। द्वंद्व का तात्पर्य है दो से—प्रकृति और समाज से। इन दोनों की प्रत्येक वस्तु में संघर्ष होने से गति उत्पन्न होती है। इस गति के फलस्वरूप जो विकृति आती है उसका अवरोध भी इसी संघर्ष या विरोध से आप से आप होता है। समाज में मौलिक विरोध आर्थिक ही होता है। साहित्य समाज पर ही अवलंबित है, वह सामाजिक है। इसलिए उसकी मूल प्रक्रिया आर्थिक ही है। साहित्य के इस रूप की कल्पना के अनुसार माना यह जाता है कि साहित्य की अभिव्यक्ति और कुछ नहीं है युग की आर्थिक परिस्थिति और वर्ग-स्वत्व की अभिव्यक्ति है। जब साहित्य का निर्माण मूल में आर्थिक है तो उसका परीक्षण भी आर्थिक ही हो सकता है। इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि साहित्य तभी उत्तम हो सकता है जब उसके विषय अधिकाधिक आर्थिक हों और उसका लक्ष्य अधिकाधिक लोक (प्रोलितेरियत) हो।

प्रोलितेरियत का अर्थ श्रमिक है—लेबरर, मजदूर। वर्गसंघर्ष के संबंध में जिन श्रेणियों की कल्पना की गई है उनके नाम भूमिपति (लैंडलार्ड), दास (सर्फस्), जागीरदार (फ्यूडल लार्ड्स) और श्रमिक (प्रोलितेरियत) हैं।

मार्क्सवादी आलोचना आकृतिवाद की विरोधिनी है। उसका कहना है कि साहित्य को वास्तविक या भौतिक रूप में आना चाहिए, काल्पनिक रूप में नहीं। आकृतिवाद तो काल्पनिक है। साहित्य में श्रमिक (आजकल का सर्वहारा—प्रोलितेरियत) को लाने के संबंध में अनेक प्रकार के विचार उठ खड़े हुए। इसे लाने में सबसे बड़ी बाधा

मध्यवर्ग की थी। यदि मध्यवर्ग की परंपरा नष्ट हो जाए तो सहयोग की भावना का उदय आप से आप हो सकता है। पर मध्यवर्ग की परंपरा नष्ट करने की अपेक्षा जनता के दैनंदिन जीवन की समस्याओं के परिष्कार की सबसे अधिक आवश्यकता थी। इसी से सामाजिक यथार्थवाद सर्वमान्य हुआ। इस सामाजिक यथार्थवाद के नवीन प्रवर्तक उसीविच और रोजेंतालने हैं। मार्क्सवाद का प्रभाव इतना था कि जो उसके विचारों के समर्थक नहीं थे वे दल से निकाल बाहर हुए थे। सुधारवादियों ने मार्क्सवाद में परिष्कार कर यह स्थिति उत्पन्न की।

सामाजिक यथार्थवाद

यथार्थवाद व्यक्ति के सूक्ष्म विवरणों की ओर प्रवृत्त होकर और स्थानों के सूक्ष्म वर्णनों में रत होकर सामाजिक स्वरूप से दूर हो गया था। उसका परिणाम यह हुआ कि वह विनाशक और विध्वंसक हो गया था। उसके द्वारा पारस्परिक जुगुप्सा और निंदा का प्रसार हो रहा था। इसीलिए इस सामाजिक यथार्थवाद की उद्भावना की गई। मैक्सिम गोर्की इसके प्राचीन उद्भावक हैं। नवीन आलोचकों ने इसका और विकास किया है। सामाजिक यथार्थवाद ने समाज से व्यक्ति के संघर्ष के बदले व्यक्तित्व के प्राकट्य पर जोर दिया। किसी के व्यक्तित्व का प्राकट्य दिखाना महत्त्वपूर्ण होने के कारण शोषक समाज के स्थान पर अशोषक समाज के बीच उसकी अभिव्यक्ति कहीं श्रेयस्कर मानी गई। इसके अनुसार मान्य केवल ऐतिहासिक भौतिकवाद है। उसका परित्याग न कर केवल वर्तमान जीवन की ही सीमा में बँधे रहना उपयुक्त नहीं, अतीत और अनागत का भी ध्यान अपेक्षित है। इस प्रकार संकुचित सीमा से पर्याप्त विस्तार हो गया। आकृति और विषय में से कौन मुख्य है इसका मतभेद अनेक प्रकार के विवादों की उपस्थापना करता रहा है। सामाजिक यथार्थवाद मानता है कि दोनों अपेक्षित हैं। साथ ही यह भी स्वीकार करता है कि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इसका ऐतिहासिक क्रम भी है। पहले माना गया था कि कला तत्त्वतः शैली है, कौशल है। कला के इस रूप के अनुसार आकृतिवाद का चलन हुआ। वस्तुतः यह आकृतिवाद भी एक प्रकार का प्रतिवर्तन था। यह समाजवाद और प्रतीकवाद का प्रतिवर्तन था। मूल रूप में आकृतिवाद का विरोध करने के ही लिए सामाजिक यथार्थवाद का आविर्भाव हुआ था। पर उसमें समन्वय के रूप में उपर्युक्त का स्वीकार हुआ।

मनोविश्लेषणवाद

साहित्य के मनोविश्लेषणवाद का संबंध नवीन मनोविज्ञान से है। नवीन मनोविज्ञान की ओर ले जानेवाले फ्रायड साहब हैं। इन्होंने प्राणियों की सब प्रकार की वृत्तियों के मूल में एक वृत्ति खोजी जिसे कामवृत्ति कहते हैं। उनका कहना है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं। उनके सब प्रकार के सुखों में प्रधान सुख कामसुख है। मानव-समाज में भी देखा जाता है कि जितना प्रेम माता और पुत्र के बीच होता है उतना माता और पुत्री के बीच नहीं। इसी प्रकार पिता और पुत्री में जितना प्रेम होता है उतना पिता और पुत्र में नहीं। इस प्रकार विपरीत जाति के बीच प्रेमातिशय्य का हेतु मूल रूप में कामवृत्ति ही है। मानव-समाज में ही सामाजिक औचित्य का विचार होता है अन्य प्राणियों में नहीं। यह औचित्य स्थिर नहीं है, देशभेद से इसमें रूपभेद होता है। औचित्य के कारण लगे प्रतिबंध सामाजिक हैं। इसी से फ्रायड के अनुसार मनुष्य का प्रकृत रूप स्वार्थी का है, उसमें आसुरी वृत्ति होती है। फिर उसमें भलाई आती कैसे है। इसका उत्तर है—समाज के भय से। यदि समाज का भय न हो तो मनुष्य भलाई में कथमपि संलग्न नहीं हो सकता। समाज के कारण जो नैतिक भावना हो जाती है वह चेतन मन और अचेतन मन दोनों में काम करती है। नैतिक भावना के कारण अनुचित भावना चेतन में नहीं आने पाती। प्रतिबंध के कारण जब अनुचित भावना चेतन मन में नहीं आ पाती तो वह अचेतन मन में पड़ी रहती है। उसका विनाश नहीं होता। दमित भावना या वासना या इच्छा ही ग्रंथि (कंप्लक्स) कहलाती है। ये दमित इच्छाएँ स्वप्न में छिपे छिपे प्रकट होती हैं अर्थात् स्वप्न में जो सुखद स्थितियाँ, अनुचित स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं वे दमित इच्छाओं के कारण। यदि ये इच्छाएँ बलवती हो जाएँ तो सामाजिक प्रतिबंध तोड़ डालती हैं, ऐसी स्थिति में मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है। जिसके जीवन में नैतिक नियंत्रण परिमाण में अधिक होते हैं और साथ ही कड़े होते हैं उसके विक्षिप्त होने की संभावना रहती है।

मन या अंतःकरण के तीन स्तर ये स्वीकार करते हैं—चेतन, अर्ध-चेतन या नैतिक मन और अचेतन। सबसे प्रबल अचेतन मन होता है। फ्रायड के अनंतर युंग ने नवीन मनोविज्ञान में विशेष परिष्कार किया। फ्रायड तो मनुष्य को स्वार्थी ही मानते हैं अर्थात् उन्होंने अचेतन मन को स्वार्थी ही स्वीकार किया है। पर युंग ने अचेतन मन

के दो अंश माने हैं। एक है व्यष्टि मन और दूसरा समष्टि मन। व्यष्टि मन तो स्वार्थी होता है पर समष्टि मन परमार्थी हुआ करता है। अथवा यों कह सकते हैं कि उसने आसुरी और दैवी दोनों रूप मन के माने हैं।

देखना है कि साहित्य से इसका संबंध कैसे है। साहित्य में विचार और भाव दो का अंतःकरण से संबंध है। विचार की प्रेरणा बुद्धि से होती है और भाव की प्रेरणा मन से। बुद्धि ही चेतन अंतःकरण है और मन अचेतन। दमित इच्छा की पूर्ति जब जीवन में नहीं हो पाती तो उस इच्छा का उदात्तीकरण होता है। उदात्तीकरण की वृत्ति ही साहित्य में प्रेरक होती है। लेखक अपनी कृति में उन दमित इच्छाओं को पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है जिनको सामान्य रूप से वह समाज में प्रकट नहीं कर पाता। कृति में लेखक का प्रतिनिधित्व करनेवाले पात्र रखे जाते हैं उन्हीं पात्रों के द्वारा वह दमित इच्छाओं का प्राकट्य करता है।

साहित्यिक अंतर्मुख (इंट्रावर्ट) व्यक्ति होता है वह राजनीतिक की भाँति बहिर्मुख (एक्स्ट्रावर्ट) नहीं होता। संप्रति साहित्यिक की अंतर्मुखीन वृत्ति का अधिकाधिक सहारा लेकर साहित्य में नवीन मत का प्रवर्तन हुआ। इसे तथ्यातिशयवाद (सररियलिज्म) कहते हैं। इस वाद के अनुसार यह माना जाता है कि चेतना का प्रवाह (स्ट्रीम आव् कांशसनेस) क्रमहीन होता है। वह क्रमपूर्वक मनोभावों को नहीं आने देता। इसी से साहित्य में चित्रण करते समय उसे अव्यवस्थित, अपूर्ण और असंगत रूप में ही रखना चाहिए। तथ्यातिशयवाद का चेतन-प्रवाह युंग के समष्टि मन (कलेक्टिव अनकांशस) से ही संबद्ध है।

भारत तीन प्रकार की एषणाएँ मानता है। तुलसीदासजी तीनों को यों कहते हैं—सुत बित लोक एषना तीनी। इन्ह कृत केहि कै मति न मलीनी। इनमें से वित्तैषणा की ओर मार्क्सवाद उन्मुख है और पुत्रैषणा या दारैषणा की ओर फ्रायड-युंग का मत, जिनके अनुसार कामवृत्ति (लिबिडो) को जीवनी शक्ति या प्रेरक शक्ति के रूप में माना गया है। नवीन मनोविज्ञान में ऐडलर ने लोकैषणा की ओर ध्यान दिया और बतलाया कि सबसे प्रबल और मुख्य वृत्ति आत्मद्योतन (सेल्फ एसर्शन) है। ऐडलर ने यह भी कहा है कि जब इसकी पूर्ति नहीं हो पाती तो हीनता की ग्रंथि (इन्फीरियारिटी कंप्लेक्स) हो

जाती है। बड़प्पन या गुरुत्व की ग्रंथि भी हीनता की ही ग्रंथि है, वह दूसरे रूप में प्रकट हुई है। इसी लोकैषणा की पूर्ति न होने से नाना प्रकार के रोग होते हैं आदि। नवीन मनोविज्ञान में नित्य नूतन अनुसंधान हो रहे हैं और नए नए तथ्यों की उपलब्धि हो रही है। होमरलेन, हेडफील्ड, मैकडयूगल आदि ने नवीन मतवाद उद्भावित किए हैं। भारतीय लेखकों का कहना है कि नवीन मनोविज्ञान क्रमशः शंकराचार्य के आत्मवाद की ओर बढ़ रहा है।

इस नूतन मनोविज्ञान के मनोविश्लेषण के द्वारा साहित्य में बहुत सी उलझनें सुलझने लगीं। पश्चिम में शेक्सपियर के नाटकों में अनेकत्र पात्रों की विलक्षण मनोवृत्ति का कोई समर्थन प्राप्त नहीं हो रहा था। नूतन मनोविज्ञान के कारण उसकी असंगति के हेतु का पता चल गया। इसलिए इसकी ओर विशेष रूप से दृष्टि गई। साहित्य के आलोचना-पक्ष पर ही नहीं, कर्तृत्व-पक्ष पर भी इसका प्रभाव पड़ा। यह हवा हिंदी के कर्ताओं को भी लगी है। विशेष रूप से उपन्यासों पर इसका प्रभाव पड़ा है। उसमें विलक्षण-विलक्षण पात्रों की सृष्टि इसके सहारे की जा रही है।

साहित्य का इतिहास

आदिकाल या वीरकाल

हिंदी-साहित्य का आरंभ कब से माना जाय इसमें मतभेद है। देशी भाषाओं के उद्भव के पूर्व जो भाषा देश भर में रूपभेद से व्याप्त थी उसका नाम अपभ्रंश है। इस अपभ्रंश को पुरानी हिंदी नाम दिया गया। इस अपभ्रंश या पुरानी हिंदी में रचना का आरंभ छठी शताब्दी में हो गया था। सिद्धों की वाणियाँ इस भाषा में मिलती हैं। इन वाणियों में से कई का समय छठी शताब्दी है। इसलिए कुछ महानुभाव हिंदी-साहित्य का आरंभ छठी शताब्दी से मानते हैं। सिद्धों के अतिरिक्त जैनों की रचना भी अपभ्रंश में मिलती है। सिद्धों की भाषा अपने प्रकृत रूप में है, पर जैनों का अपभ्रंश गढ़ा हुआ है, व्याकरण की पोथियाँ सामने रखकर गढ़ा गया है। सिद्धों की अपेक्षा साहित्यिकता जैनों की रचना में अधिक है। जैनों की इन रचनाओं का समय भी आठवीं शताब्दी तक जाता है। इसलिए हिंदी का आरंभ जो छठी शताब्दी से नहीं मानते वे आठवीं से मानते हैं। इस संबंध में दो बातें विचारणीय हैं। यदि अपभ्रंश को पुरानी हिंदी मान भी लिया जाए तो उसकी पूर्ववर्ती रचना को हिंदी के अंतर्गत न मानकर परवर्ती को मानना अधिक समीचीन है। इस उत्तरवर्ती अपभ्रंश की सब रचना साहित्य के अंतर्गत आ सकती है, यह संदिग्ध है। हिंदी के आदिकाल में साहित्यिक रचना अपेक्षाकृत कम परिमाण में पाकर असाहित्यिक या धार्मिक रचना को उसके आभोग में रखने का लोभ संवरण करना ही ठीक है। उसका लक्ष्य अधिकाधिक लोकवादी (प्रोलितेरियन) हो। जैनों की रचनाएँ साहित्यिक रंग बहुत कुछ लिए हुए हैं। पर वे जनता के प्रवाह में कभी आई ही नहीं। हिंदी की परंपरा से उनका संबंध जोड़ना भी समझदारी नहीं। जैनों की इन धार्मिक रचनाओं को सामने रखकर और आदिकाल में संकलित सामग्री की क्षीणता और संदिग्धता का संकेत करके उसके लिए रखे गए नामों को भी नहीं सकारा जा रहा है। सिद्धयुग, जैनयुग, सामंतयुग आदि नामों की उद्भावना भी

असाहित्यिक है। जैनों की रचना में दयावीरता के ही उदाहरण अधिक मिलते हैं। इसलिए आदिकाल का साहित्यिक नाम वीरगाथा-काल, वीररसकाल या वीरकाल रखने में तब भी कोई आपत्ति नहीं है। चारण-भाटों की रचना का आरंभ जिस समय से माना जाए वही हिंदी-साहित्य के आरंभ का युग है। इस युग को १००० वैक्रम के पूर्व किसी प्रकार नहीं ले जाया जा सकता। आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने हिंदी-साहित्य का आरंभ १०५० से माना है। अधिक से अधिक और पचास वर्ष पूर्व से उसका आरंभ मान सकते हैं। इसलिए आदियुग १०० वैक्रम से आरंभ होता है। इसकी दूसरी सीमा १३७५ तक मानी गई है। इसे भी १४०० तक अधिक से अधिक नीचे ले जाया जा सकता है। मध्यकाल के पूर्वमध्यकाल या भक्तिकाल और उत्तरमध्यकाल या रीतिकाल नाम रखे गए हैं। १४०० से १७०० तक भक्तिकाल और १७०० से १९०० तक रीतिकाल पड़ता है। आधुनिक काल का आरंभ १९०० से लेकर २००० तक मानने से हिंदी साहित्य की दीर्घ परंपरा एक सहस्र वर्षों की दिखाई पड़ती है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के वेग का पता इस विभाजन ही से लगने लगता है। आदियुग का आभोगकाल ४०० वर्षों का, भक्तिकाल का ३०० वर्षों का, रीतिकाल का २०० वर्षों का है और आधुनिक काल १०० वर्षों में ही अपना विस्तार अत्यधिक कर चुका है।

यदि प्रत्येक युग का नाम रस या मनोवृत्ति के विचार से रखा जाय तो रीतिकाल का नाम श्रृंगारकाल और आधुनिक काल का नाम प्रेमकाल रखना विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है।

रस के विचार से आदिकाल की रचनाएँ वीररस-प्रधान हैं। वीरों की प्रशस्ति लिखनेवाले भाट या चारण हुआ करते थे। उन दिनों भारत पर मुसलमानों के आक्रमण निरंतर होते रहते थे। अंतिम गुप्त सम्राट् हर्ष की मृत्यु के अनंतर भारत छोटे छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। सबको संबंध-सूत्र में बाँधे रहनेवाली सत्ता का लोप हो गया। परिणाम यह हुआ कि देश पर बाहर से तो आक्रमण हो ही रहे थे, भीतर भी पारस्परिक असहनशीलता चरम सीमा को पहुँच गई। युद्ध लोकरक्षा के लिए न होकर बल या शक्ति के प्रदर्शन के लिए होने लगे। इसके फलस्वरूप उत्तरापथ रणचंडी के तांडव का क्षेत्र बना। वीरों का काम अपनी वीरता का आतंक जमाना मात्र रह गया। कवि लोग इन्हीं नरेशों का कीर्तिगान करने में लगे। कीर्तिगान

के युद्धों के लिए कोई व्याज होना चाहिए। किसी की सुंदर कन्या का पता चलते ही वह माँगी जाती थी और उसके न मिलने पर अपने को बलशाली सिद्ध करनेवाला आक्रमण कर देता था। तात्पर्य यह कि ये युद्ध मूल में प्रेम द्वारा प्रेरित थे। पाश्चात्य देशों में प्रेम और युद्ध (लव एंड वार) की बहुत सी कथाएँ मिलती हैं। हिंदी के आदिकाल की रचनाएँ भी प्रेम और युद्ध को लेकर चलीं।

ये रचनाएँ मुक्तक-रूप में प्रस्तुत न होकर प्रबंध-रूप में प्रस्तुत हुईं। ये प्रबंध भी दो प्रकार के दिखाई देते हैं। कुछ तो लंबे लंबे जीवन-वृत्त लेकर चले और वर्णनात्मक प्रसंगों की योजना द्वारा विस्तार के साथ प्रबंध-धारा बहाने लगे तथा कुछ गान-रूप में छोटी सी घटना को रंजक ढंग से वर्णन करने में लगे। पहली श्रेणी के अंतर्गत खुमानरासो, पृथ्वीराजरासो, जयचंदप्रकाश, जयमयंकजसचंद्रिका आदि ग्रंथ आते हैं। दूसरी श्रेणी में बीसलदेवरासो, आल्हा आदि रखे जाते हैं।

पृथ्वीराजरासो

पृथ्वीराजरासो को ऐतिहासिक जाली कहते हैं। परंपरा में प्रसिद्ध है कि 'चंद' नाम का पृथ्वीराज का एक दरबारी भाट था, जो शहाबुद्दीन गोरी द्वारा पृथ्वीराज के कैद कर लिए जाने पर उनके पीछे गजनी पहुँचा। वहाँ शब्दवेधी बाण के कौशल द्वारा गोरी के मारे जाने पर परस्पर शस्त्राघात से पृथ्वीराज और चंद स्वर्गवासी हुए। चंद के अनंतर उनके पुत्र जल्हन ने उनकी रचना पूर्ण की। प्राप्त पृथ्वीराजरासो में जल्हन द्वारा ग्रंथ की पूर्ति का उल्लेख भी पाया जाता है। पृथ्वीराजरासो में जो ऐतिहासिक घटनाएँ दी गई हैं वे इतिहास से मेल नहीं खातीं। नामों की भी गड़बड़ी पाई जाती है। संवतों का ब्यौरा भी ठीक नहीं मिलता। भाषा भी बहुत इधर की दिखाई देती है। महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह तक का वृत्तांत उसमें संनिविष्ट है। अतः इस संबंध में दो ही अनुमान किए जा सकते हैं। एक तो यह कि पहले की कोई रचना रही होगी जिसमें आगे के चारण या भाट कुछ न कुछ बराबर जोड़ते गए और अंत में इतना बड़ा ग्रंथ प्रस्तुत हो गया। दूसरे यह कि चंद नाम का कोई कवि था ही नहीं। जनश्रुति के अनुसार अमरसिंह ने जब पृथ्वीराजरासो देखने की इच्छा प्रकट की तो भाटों ने एक बहुत बड़ा पोथा उन्हें चमत्कृत करने के लिए प्रस्तुत कर दिया। पृथ्वीराजरासो की अभी तक पूरी छानबीन नहीं हुई है।

पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह ज्यों का त्यों प्राचीन नहीं है। उसका प्राचीन अंश भी बदलते बदलते बहुत बदल गया है। 'पुरातन-प्रबंधसंग्रह' में तीन-चार छंद चंद बलिद्द के रचे पृथ्वीराज के वृत्त से संबद्ध ऐसे मिले हैं जो परिवर्तित रूप में रासो में मिलते हैं। भाटों के यहाँ और राजदरबारों में पड़ी पृथ्वीराजरासो की प्रतियों में फिर भी कुछ प्राचीन रूप मिलते हैं, किंतु आल्हाखंड की रचना तो स्थानभेद से भिन्न भिन्न रूप धारण कर चुकी है, क्योंकि वह प्राचीन काल से गेय रूप में चली आ रही है और गानेवाले उसमें यदृच्छा परिवर्तन करते आए हैं।

बीसलदेवरासो

बीसलदेवरासो पृथ्वीराजरासो से पुराना कहा जाता है। इतिहास से इसकी भी घटनाएँ नहीं मिलतीं। इसमें घटनाएँ बहुत कम हैं। अधिकतर भिन्न भिन्न प्रसंगों के वर्णन ही जुड़े हुए हैं। केवल रचनाकाल के आधार पर यह प्राचीन कहा जाता है। इसमें रचनाकाल इस प्रकार दिया हुआ है—

बारह सै बहोत्तरहाँ मझारि, जेठ बदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायण आरंभइ, सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि॥

'बहोत्तरहाँ' का अर्थ पहले 'बहत्तर' करते थे और अब 'द्वादशोत्तर'। इस प्रकार यह रचना बारह सै बारह (१२१२) संवत् की मानी जाती है।* विग्रहराज चतुर्थ का, जो 'बीसलदेव' भी कहलाता था, एक शिलालेख सं० १२२० का मिलता है। इसलिए माना जाता है कि नरपति नाल्ह इन्हीं का दरबारी भाट रहा होगा जिसने यह 'रसायन' या 'रासो' गाने के लिए प्रस्तुत कर दिया। भाषा में प्राचीन प्रयोग की भी दुहाई दी जाती है। विशेषण और विशेष्य का समानाधिकरण्य, षष्ठी की 'ह' विभक्ति, सप्तमी में इकारांत रूप (मनि, घरि आदि) इसमें बहुत हैं। ध्यान से देखने पर मानना पड़ता है कि इसमें भी अधिक परिवर्तन हुए हैं, किंतु प्राचीनता थोड़ी-बहुत बनी है। अधिक प्रयोग तो मारवाड़ी भाषा के दिखाई देते हैं जिसमें पुराने रूप अब तक चले चल रहे हैं। इसलिए बीसलदेवरासो पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से कोई पक्की बात नहीं कही जा सकती। काव्यगत महत्त्व का

* श्रीगौरीशंकर हीराचंद ओझा ने एक लेख लिखकर इसे भी परकालीन रचना माना है।

निरूपण है कि भावुक हृदय उसमें मग्न हुए बिना नहीं रह सकता। विद्यापति ने देशी भाषा और अपभ्रंश दोनों में रचना की है। इनके समय तक अपभ्रंश का प्रचलन केवल साहित्य-भाषा के ही रूप में रह गया था। बोलचाल में देशी भाषाएँ आ गई थीं और उनमें साहित्य-रचना भी होने लगी थी। स्वयम् विद्यापति अपनी 'कीर्तिलता' में, जो अपभ्रंश में है, लिखते हैं—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तें तैसन जंपओं अवहट्ठा॥

इससे स्पष्ट है कि ये देशी भाषा की सहज मिठास को माननेवाले थे। इन्होंने जो अपभ्रंश लिखा उसमें भी मिठास लाने का वैसा ही प्रयास किया है। उस भाषा के इस वैशिष्ट्य को लक्ष्य करके ये उसी ग्रंथ में लिखते हैं—

बालचंद विज्जावइ-भासा, दुहु नहिँ लग्गइ दुज्जन-हासा।
ऊ परमेसुर हर-सिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर-मन मोहइ॥

विद्यापति का यह अपभ्रंश कुछ प्रांतीय रूप भी लिए हुए है। इसलिए कहा जा सकता है कि यह 'मागधी अपभ्रंश' है जो देशव्यापी 'नागर अपभ्रंश' से प्रभावित था।

कभी कभी प्रश्न उठा करता है कि विद्यापति हिंदी के कवि समझे जायँ या बँगला के। बंगालियों ने उन्हें अपना सिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए उनकी कृतियों के संपादन-प्रकाशन-आलोचन का श्लाघनीय कार्य किया है। किंतु परमार्थतः विद्यापति हिंदी के ही अधिक निकट हैं। उनकी रचना मैथिली भाषा में है। जिस प्रकार मागधी प्राकृत से बँगला निकली उसी प्रकार मैथिली भी। किंतु बँगला ने जो रूप धारण किया उसके कारण विद्यापति की रचनाएँ उसके निकट नहीं दिखाई देतीं। 'अवधी' में लिखे गए 'रामचरितमानस' का पढ़नेवाला विद्यापति की रचना जितनी अधिक समझता है उतनी 'कृत्तिवास' का 'रामायण' पढ़नेवाला नहीं। वस्तुतः हिंदी-साहित्य के अंतर्गत पुरानी साहित्यिक प्राकृतों में से बहुतों के परकालीन साहित्य का समावेश हो जाता है। जिस प्रकार शौरसेनी प्राकृत से निकली व्रजी और शौरसेनी एवम् पैशाची के मेल से उठ खड़ी हुई खड़ी बोली के साहित्य को हिंदी-साहित्य अपने अंतर्गत समझता है उसी प्रकार शौरसेनी और मागधी के मेल अर्थात् उन दोनों की विशेषताओं को वहन करनेवाली अर्ध-मागधी से निकली 'अवधी' के साहित्य को भी । इसी प्रकार मागधी से निकली मैथिली का साहित्य भी उसी का साहित्य समझा जायगा।

क्योंकि शब्दावली के विचार से वह हिंदी के ही निकट है। बँगला ने तो अपनी बहन मैथिली से अपने को एकदम पृथक् कर लिया है। ध्यान में रखना चाहिए कि विद्यापति ने जिस मैथिली का व्यवहार किया है वह एकदम बोलचाल की भाषा नहीं है। उसका परिष्कृत रूप ही उनकी रचनाओं में दिखाई देता है। यह परिष्कार भी सर्व-सामान्य काव्य-भाषा व्रजी के ढर्रे पर किया गया है। इसलिए विद्यापति की रचनाएँ भाषा और साहित्य दोनों के विचार से हिंदी ही के अंतर्गत आती हैं।

विद्यापति की रचनाओं के संबंध में अधिकतर बंगाली लेखकों ने अध्यात्म की चर्चा उठाई है, अर्थात् यह कहना चाहा है कि वे श्रृंगारगत न होकर अध्यात्मगत हैं; स्थूल दृष्टि से उनकी कृति को केवल श्रृंगार की समझना अपने को भ्रम में डालना है। विद्यापति शैव थे पर देशी भाषा की रचनाओं में उन्होंने श्रीकृष्ण और राधा की प्रेमलीलाओं का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण और राधा रीतिशास्त्र के ग्रंथों में श्रृंगाररस के काव्यसिद्ध आलंबन माने गए हैं। अतः विद्यापति के राधाकृष्ण श्रृंगार या काव्य के देवता हैं, भक्ति के नहीं। विद्यापति की आध्यात्मिक विवेचना के अनुकरण पर महात्मा सूरदास की रचना के भी विलक्षण आध्यात्मिक अर्थ किए जाने लगे हैं। अध्यात्म पर काव्य ने कभी चढ़ाई नहीं की, किंतु काव्य पर अध्यात्म का आक्रमण असह्य सीमा तक पहुँच गया है।

पूर्वमध्यकाल या भक्तिकाल

पृथ्वीराज के साम्राज्य का विध्वंस होने के अनंतर भारत में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो गया। पहले मुसलमानों के आक्रमण द्रव्यलोभ से ही हुआ करते थे, पर बाद में उसका स्थान राज्यलोभ ने ले लिया। भारत में शासक के रूप में उनके स्थित हो जाने पर शासित और शासक दोनों के बीच सर्वसामान्य मार्ग निकालने के कई प्रयास होने लगे। इसके लिए कई महात्मा आगे बढ़े। ईश्वर की एकरूपता और मनुष्यों की एकता प्रतिपादित करनेवाले साधु दोनों पक्षों में दिखाई पड़े। कई ने केवल एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया और कई हृदय की तल्लीनता के प्रयास में लगे। ईश्वर की भक्ति के कई मार्ग दर्शाए गए। मुसलमानी एकेश्वरवाद का सहारा लेकर किसी ने निर्गुण से उसका मेल मिलाया। किसी ने सूफी मत की सर्वग्राही प्रेमानुभूति में जनता को लीन करने का उद्योग किया। भक्त कवियों ने प्राचीन

भक्तिमार्ग का आश्रय लिया। इस प्रकार ईश्वर-भक्ति की ओर ले जाने-वाले कई मार्गों पर रचना प्रवाहित होने लगी। आरंभ में निर्गुणमार्गी संत दिखाई पड़े। उनके अनंतर सगुणभक्ति का काव्य के व्याज से प्रतिपादन करनेवाले प्रेममूर्ति एवम् लोकमूर्ति कवियों की वाग्धारा फूटी। इस प्रकार सं० १४०० के आसपास से लेकर सं० १७०० के आसपास तक हिंदी में भक्ति की रचना का प्राधान्य दिखाई देता है। इसका विभाजन यों किया जाता है—
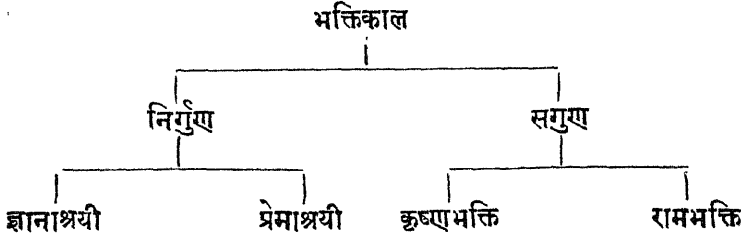
भारतवर्ष में साधना के कई मार्ग प्राचीन काल से दिखाई देते हैं—योगमार्ग, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और उपासनामार्ग या भक्तिमार्ग। इनमें से योगमार्ग और कर्ममार्ग प्राचीन माने जाते हैं। योगवाले तो अपने मार्ग की प्राचीनता वेदों से भी पहले ले जाते हैं। जो भी हो, प्राचीन योगमार्ग बौद्धधर्म के भीतर उस समय विकृत रूप धारण कर चुका था जब उसमें हीनयान और महायान की शाखाएँ फूटीं। महायान में भी वज्रयान और सहजयान नाम के मार्ग निकले। सहजयान की तांत्रिक उपासना भारत में बहुत दिनों तक चलती रही। कहते हैं कि यही संप्रदाय बौद्धों के विध्वस्त हो जाने पर भी 'सहजिया' नाम से बना रहा। बौद्धों की तांत्रिक साधना से ही संबद्ध सिद्ध माने जाते हैं जिनकी प्राचीन वाणियों का हिंदी-साहित्य में ग्रहण किया जाता है। आगे चलकर योगियों का नाथपंथ सामने आया। नाथपंथ में मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ आदि प्रसिद्ध नाथ हो गए हैं। चौरासी सिद्ध और नौ नाथ प्रसिद्ध हैं। नाथों के विचारों एवम् मतों का राजपूताना, पंजाब आदि प्रांतों में प्रसार हुआ। इन पंथों के भीतर जाति-पाँति का कोई भेद नहीं था। फल यह हुआ कि नीची श्रेणी के लोग, जो शास्त्रीय अध्ययन से कोरे थे, उत्साह के साथ इसकी ओर बढ़े।

निर्गुन-पंथ

सिद्धों एवम् निर्गुनियों की परपरा मिलानेवाले सूत्र का ठीक ठीक पता नहीं चलता। निर्गुण की उपासना के लिए लेकर सर्वसामान्य भक्तिपथ का आभास देनेवाले महाराष्ट्र के नामदेव माने गए हैं।* नामदेव की रचना में दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। प्राचीन भक्ति सप्रदाय के अनुगमन पर की गई रचनाएँ और नए निर्गुन-पथ के ढग की रचनाएँ। कहा जाता है कि इनकी पहले प्रकार की रचनाएँ उस समय की हैं जब ये नए पथ की ओर मुडे नहीं थे। अतः ज्ञानमार्गी निर्गुण शाखा के आदिकवि नामदेव ही निश्चित होते हैं। नामदेव महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त हैं। जिस प्रकार उनके बहुत से अभग मराठी भाषा में पाए जाते हैं उसी प्रकार पद हिंदी में भी। उनकी रचना में सगुण-निर्गुण दोनों का विचार प्राचीन प्रवाह के अनुकूल है। इसलिए नामदेव का सबध निर्गुन पथ के प्रवर्तन से जोडना कहाँ तक उचित है यह अनुसधान-सापेक्ष है। निर्गुण और सगुण में से सगुण का खडन करना और निर्गुण को स्थापित करना यह विदेशी मुसलमान धर्मवालों के ही लिए सभव था जिनके यहाँ सगुण के लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिए निर्गुन-पथ को व्यवस्थित रूप में चलानेवाले कबीरदास ही जान पडते हैं। इनका पथ विभिन्न धार्मिक मतों का समन्वित रूप लेकर चलनेवाला है। नाथपथियों से ये भली भाँति प्रभावित हुए। ये स्वामी रामानद के शिष्य कहे जाते हैं और ऐसी भी प्रसिद्धि है कि शेख तकी नामक सूफी फकीर से इनका सत्सग हुआ था। कबीर द्वारा एक बात की पूर्ति अवश्य हुई। नाथपथियों के योगमार्ग में भक्ति का विधान न था। किंतु कबीर ने अपनी रचना द्वारा ज्ञान और भक्ति दोनों का समन्वित रूप सामने रखा। भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित होने के कारण इनकी रचना में अद्वैतवादी वचन भी मिलते हैं। सूफियों के सत्सग के कारण प्रेमतत्त्वपरक वचन भी पाए जाते हैं। वैष्णव-भक्तों का अहिंसावाद भी इनकी रचना में मिलता है। हिंदू और मुसलमानों की एकता स्थापित करने के प्रयत्न में ये विशेष रूप से सलग्न हुए। ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद, प्रेममार्गी सूफी मत, अहिंसाप्रधान प्रपत्तिवादी वैष्णव मत, मुसलमानी एकेश्वरवाद और नाथपथियों के योगमार्ग—सबका प्रभाव इनकी

---

* देखिए शुक्लजी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास'।

रचना में स्थान स्थान पर दिखाई देता है। इन्होंने अधिकतर नीची श्रेणी के अपढ़ लोगों को प्रभावित किया। पढ़े-लिखों पर इनका तथा इसी प्रकार के अन्य निर्गुन-पंथी संतों का वैसा प्रभाव नहीं दिखाई देता। अपढ़ जनता को आकृष्ट करने के लिए योगसाधना और ज्ञान-मार्ग की फुटकल बातों को अपनी उलटबाँसियों द्वारा चमत्कारपूर्ण रूप से लक्षित कराने का इन्होंने प्रयास किया था। प्राचीन भक्तिमार्ग ज्ञान और कर्म दोनों के सामंजस्य के साथ चलनेवाला था। कबीर ने ज्ञान को तो ग्रहण किया पर कर्म की वैसी व्यवस्था अपने पंथ में नहीं की। ये भारतीय वैदिक मार्ग का खंडन भी करते थे। इसी से प्राचीन भक्तिमार्ग के सच्चे रूप को पहचाननेवाले महात्मा तुलसीदास इस वेदविरोधी निर्गुन-पंथ को लक्ष्य करके कहते हैं—

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहिं बेद-पुरान॥

'साखी सबदी दोहरा' वाले कबीर और किहनी-उपखानवाले मलिक मुहम्मद जायसी दोनों ही इस दोहे के लक्ष्य जान पड़ते हैं। ये संत बातें तो वे ही कहते थे जो प्राचीन शास्त्रों में पहले ही कही जा चुकी हैं, किंतु पद्धति अवश्य विलक्षण थी। आचार-विचार में से आचार नवीन थे, विचार प्राचीन। केवल आचार की नूतनता के कारण ही ये पंथ कहलाते हैं, संप्रदाय नहीं। संप्रदाय के लिए अपना पृथक् दर्शन अपेक्षित होता है। अपने पंथ को नवीन तथा वेदशास्त्रादि से पृथक् बताने के लिए ये उन्हें असत्य कथन करनेवाला भी कह दिया करते थे। ये अपढ़ जनता को यह भी बतलाते थे कि इस निर्गुण-साधना के आचरण में ऐसी विशेषता है कि साधक सुर, नर, मुनि आदि सबसे बढ़ जाता है। कबीर साहब कहते हैं—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

....

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कर दीनी चदरिया।
दास कबीर जतन सों ओढ़ी, जैसी की तैसी धर दीनी चदरिया॥

जो भी हो, कबीर के प्रयत्न से जनता में एकता का भाव अवश्य जगा। यद्यपि इन्होंने भक्ति, प्रेम आदि की भी व्यंजना एवम् निरूपण किए तथापि इनमें प्रधानता ज्ञान की ही दिखाई देती है। अतः कबीर आदि संतों का पंथ ज्ञान-प्रधान है। इसी से इन्हें 'ज्ञानाश्रयी' कहा गया है।

कबीर की सब रचनाएँ शुद्ध काव्य के अंतर्गत आ सकती हैं, इसमें संदेह है। योगसाधना की प्रक्रिया का उल्लेख करनेवाली, नाड़ी, चक्र, सुरत, निरत, ब्रह्मरंध्र आदि का विवरण देनेवाली रचनाएँ काव्य के अंतर्गत नहीं मानी जा सकतीं। जिनमें प्रेमतत्त्व का निरूपण है या जिनमें पति-पत्नी, सेव्य-सेवक, पिता-पुत्र आदि लौकिक संबंधों से रहस्य-संकेत किए गए हैं वे ही किसी प्रकार काव्य के भीतर ली जा सकती हैं।

कबीर ने अपभ्रंश की दोहापद्धति और जनता की गीतपद्धति दोनों में प्रचुर रचना की है। इनकी भाषा भी कई प्रकार की देखी जाती है। दोहे आदि में साधु-संतों की ऐसी खिचड़ी भाषा है जिसमें खड़ी बोली का पुराना रूपरंग विशेष दिखाई देता है। गीतों या पदों में सामान्य काव्यभाषा व्रजी का विशेष पुट है। कुछ रचना पूर्वी भाषा का रंग लिए हुए भी है, रमैनी में ऐसा रूप अधिक है। कबीर की भाषा में पुराने प्रयोग बहुत दिखाई देते हैं इसलिए भाषा की दृष्टि से इनकी रचना का अधिक महत्त्व है। हिंदी की वह स्थिति साफ साफ मिल जाती है जब उसमें संयुक्त क्रियाओं के वर्तमान रूपों से मिलते-जुलते रूपों के बनने का लग्गा लग चुका था। विशेषण-विशेष्य का समानाधिकरण्य भी दिखाई देता है और पुरानी विभक्तियों का प्रयोग भी।

ज्ञानमार्गी शाखा के अंतर्गत कबीर साहब के अनंतर गुरु नानक, दादूदयाल, सुंदरदास आदि संतों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी निर्गुण-भावना में थोड़ा थोड़ा भेद भी लक्षित होता है। जैसे गुरु नानक की रचना में 'साकार' की भावना का भी समावेश है। गुरु नानक अटपटी बानी कहकर लोगों को आकृष्ट करनेवाले नहीं थे। कबीर ने जैसी डाँट-फटकार दिखलाई वह भी गुरु नानक में नहीं दिखाई देती। भक्तों के हृदय में जैसी सरलता अपेक्षित होती है वह इनमें पूर्ण थी। फलस्वरूप इनकी रचना कबीर की रचना की अपेक्षा सरल और सरस है। पदों की भाषा में कई भाषाओं का मेल है। ये पंजाब के थे इसलिए काव्यभाषा व्रजी और लोकभाषा खड़ी के अतिरिक्त इनकी रचना में पंजाबी का भी मेल है। इनकी रचनाओं का संग्रह 'ग्रंथ साहब' में मिलता है, जिसमें कुछ पद शुद्ध पंजाबी के हैं।

दादूदयाल (सं० १६०१ से १६६०) ने 'दादूपंथ' नाम से स्वच्छंद पंथ चलाया। इनमें अंतर्मुखी रहस्य की प्रवृत्ति वैसी नहीं जैसी कबीर

में थी। डाँट-डपट की अभिरुचि इन्हें भी नहीं थी। इनकी रचना प्रेमभाव से पूर्ण दिखाई देती है। जाति-पाँति के निराकरण, हिंदू-मुसलमानों की एकता आदि पर इनके जो पद मिलते हैं वे तर्क-प्रेरित न होकर हृदय-प्रेरित हैं।

सुंदरदास (सं० १६५३ से १७४६ तक) की रचना सभी संतों की अपेक्षा साहित्यिक है। इनकी रचना में काव्यत्व की मात्रा अन्य संतों की अपेक्षा बहुत अधिक है। ये संतमत की बातों को काव्य के क्षेत्र में लाने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। यही कारण है कि इन्होंने ब्रजी के परिष्कृत रूप का व्यवहार किया है और संतों के पदों और दोहों की शैली छोड़कर कवियों की कबित्तों और सवैयों की शैली ग्रहण की है। उसमें कुछ आलंकारिक चमत्कार का विधान भी कर दिया है। इन्होंने भिन्न भिन्न देशों के आचार-विचार पर कवि के नाते व्यंग्य भी किया है। इन्होंने अटपटी बानी कहीं भी नहीं रखी। नए ढंग का सृष्टि-तत्त्व भी इन्होंने शास्त्रीय ही कहा है। मनमानी योजना इन्होंने कहीं नहीं की। निर्गुण-मत को मानते हुए भी इन्होंने लोकधर्म के विरुद्ध बातें नहीं की हैं।

यद्यपि निर्गुण-मत के अनुसार रचना करनेवाले ज्ञानमार्गी अनेक संत हो गए हैं तथापि औरों में अपनी विशेषताएँ पृथक् पृथक् नहीं दिखाई देतीं। इन संतों ने अपने अलग अलग पंथ भी चलाए हैं। जिनमें से दादूदयाल की परंपरा में आगे चलकर सत्यनामी संप्रदाय निकला।

प्रेममार्गी शाखा

भक्तिकाल में दूसरी धारा प्रेममार्गी कवियों की दिखाई देती है। प्रेमकाव्यों का आरंभ अलाउद्दीन के समय में मुल्ला दाऊद की 'नूरक चंदा' या चंदावत नामक प्रेमकथा से होता है। पदमावत की प्रस्तावना में मलिक मुहम्मद जायसी ने कई पूर्वगामी प्रेमकथाओं का उल्लेख किया है—

बिकरम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा।
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइ गा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ।
साधे कुँवर खँडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह बियोगू।
प्रेमावति कहँ सुरबर साधा। उषा लागि अनिरुध बर बाँधा॥

यहाँ प्रेमियों और प्रेमिकाओं की चर्चा दृष्टांत रूप में है। इनमें से कई कथाएँ काव्यबद्ध भी मिली हैं। यदि विक्रम और अनिरुद्ध की पौराणिक कथाएँ छोड़ भी दी जायँ तो भी मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती ये चार नाम बच रहते हैं। इनमें से मृगावती और मधुमालती का पता चल चुका है। जान पड़ता है कि प्रेमकाव्यों की परंपरा हिंदी में उतनी ही प्राचीन है जितनी हिंदी के निर्गुन-पंथी ज्ञानमार्गी संतों की रचना।

प्रेमकाव्यों में दो धाराएँ स्पष्ट हैं—एक शुद्ध प्रेमकाव्य की और दूसरी सूफी रहस्यकाव्य की। हिंदी में प्रेमकाव्य का चलन विदेशियों द्वारा हुआ हो ऐसा नहीं है। इसकी कड़ी संस्कृत के प्रेमकाव्यों से जुड़ी हुई है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' के उदाहरण में भैमरथी, सुमनोत्तरा और वासवदत्ता तीन प्रेमकाव्यों का उल्लेख किया है। ये प्रेमकाव्य कल्पितकथावाले थे। आगे चलकर बाण की कादंबरी, सुबंधु की वासवदत्ता आदि जो प्रेमकाव्य संस्कृत में लिखे गए वे उसी परंपरा में हैं। इनके अनंतर भी ऐसी ही प्रेम-कहानियाँ गद्य में कई लिखी गईं, जिनका सिलसिला बारहवीं शती तक चलता रहा। प्राकृत और अपभ्रंश में भी ऐसे कल्पितकथावाले प्रेमकाव्य चलते थे। जनता में उन पुरानी प्रेम-कहानियों का प्रचार मौखिक रूप में भी हो गया था। सूफियों ने इन्हीं प्रचलित कहानियों को आरंभ में प्रेम-भावना व्यक्त करने के लिए चुना। यही कारण है कि संस्कृत की प्रेम-कहानियों का ढाँचा इनमें मिलता है। योगमार्ग में भी ऐसी कहानियाँ चलती रही होंगी जिनमें योगमार्ग के भीतर राजाओं के योगसाधन की चर्चा की गई होगी। गोपीचंद और भर्तृहरि की प्रचलित कहानी से इसका आभास मिल सकता है। सूफियों के प्रेमकाव्य में सिंहलद्वीप की चर्चा बराबर रहती है। यह उन योगियों की भावना के अनुगमन का परिणाम है जो सिंहलद्वीप में पद्मिनी स्त्रियों के होने की कल्पना किया करते हैं। संस्कृत के प्रेमकाव्यों में शुद्ध प्रेम का ही निरूपण है। अतः वे शुद्ध साहित्यिक ग्रंथ हैं। किंतु सूफियों में रहस्यवाद की मतवादी प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। वस्तुतः इन्होंने काव्य का सहारा प्रेम-भावना के प्रसार के लिए लिया। सूफियों के काव्यों में साहित्य के विधि-विधानों का पूरा पूरा समावेश इसी से नहीं हो पाया। प्रेम के दोनों पक्षों संयोग और वियोग के भीतर जितनी साहित्यिक विधियाँ प्रेमकाव्यों में गृहीत हो चुकी थीं और मौखिक

कथाओं में बच रहीं उन्हीं का ग्रहण इन्होंने किया; जैसे संयोग में शिखनख आदि का और वियोग में बारहमासे आदि का ग्रहण।

काव्य लिखने का ढंग इनका विदेशी ही है। फारसी में प्रेमकाव्यों की मसनवी शैली प्रचलित है। इसी शैली में ये प्रेमकाव्य भी लिखे गए। हाँ, छंद इन्होंने हिंदी के दोहा-चौपाई लिए। दोहे और चौपायों की परीक्षा से दिखाई देता है कि उनमें मात्राओं की न्यूनाधिकता है। इन्होंने अर्धाली को ही पूरा छंद मानकर दो दोहों के बीच कहीं सात, कहीं नौ, कहीं ग्यारह अर्धालियाँ रखी हैं। भारतीय प्रबंध-काव्यों का ढाँचा न लेने से कथाएँ सर्गबद्ध नहीं हैं। जैसे फारसी की मसनवी शैली में बीच बीच में प्रसंगों के शीर्षक रख दिए जाते हैं वैसे ही इन प्रेमकाव्यों में भी।

इन काव्यों में मसनवी शैली पर ईश्वर की वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, शाहेवक्त की प्रशंसा, गुरुपरंपरा, मित्रों आदि का विवरण आरंभ में दिया जाता है। इसके अनंतर कथा आरंभ होती है। प्रत्येक कथा में किसी देश का राजा दूसरे देश की रूपवती राजकुमारी का रूप-वर्णन सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए योगियों का वेश धारण करके निकल पड़ता है। राजा और राजकुमारी के बीच संबंध जोड़नेवाला कोई पक्षी (प्रायः सुग्गा) हुआ करता है। अंत में अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करके राजा इच्छित राजकुमारी पा जाता है। रनिवास में आने पर कहीं युद्ध से और कहीं अन्य कारणों से राजा की मृत्यु हो जाती है। राजा की परिणीता और प्रेमिका दोनों सती होती हैं। सूफियों के प्रेमकाव्य साहित्य की दृष्टि से दुःखांत दिखाई देते हैं, किंतु सांप्रदायिक भावना के कारण वे सुखांत हैं। इनमें राजा साधक, राजकुमारी ब्रह्मज्योति और पक्षी मध्यस्थ या गुरु निरूपित किया जाता है। मार्ग में पड़नेवाली विघ्न-बाधाएँ साधना में पड़नेवाले प्रत्यूह हैं। इसी से राजा योगियों के वेश में राजकुमारियों को खोजने निकलते हैं। प्रेमकथा के लौकिक पक्ष के साथ आत्मा और ब्रह्म के अलौकिक पक्ष की योजना कर लेने से साधक या प्रेमी के राजकुमारी या साध्य तक पहुँचने के पूर्व ही प्रेम की पीड़ा का बढ़ा चढ़ा रूप सामने लाया जाता है। लौकिक दृष्टि से विचार करें तो राजकुमारियों द्वारा प्रदर्शित यह पीड़ा कामपीड़ा ही मानी जायगी और प्रबंध की दृष्टि से भोंड़ी होगी, किंतु ब्रह्म की अलौकिक दृष्टि से उसका समाधान हो जाता है।

इन काव्यों में बीच बीच में भी अवसर आने पर पात्रों द्वारा रहस्य-संकेत कराए गए हैं। ये संकेत कुछ तो प्रचलित दृष्टांत होते हैं और कुछ सांप्रदायिक धारणाएँ। इहलोक और परलोक को नैहर और ससुराल कल्पित करना अथवा इन्हें हाट मानना चलते दृष्टांत हैं। किंतु सारे जगत् को उसी की सत्ता से प्रोद्भासित कहना या उसका प्रतिबिंब मानना सांप्रदायिक धारणा है। प्रकाश और अंधकार के रूप में ज्ञान और अज्ञान या मायाच्छन्न जीव और ब्रह्म का संकेत देना तथा अहंकार के त्याग का संकल्प दिखाना आदि सिद्धांतगत प्रतीक हैं। बीच बीच के ऐसे संकेतों में इन्होंने समस्त काव्य में स्वीकृत रूपक या अध्यवसान का ध्यान नहीं रखा है। तात्पर्य यह कि प्रस्तुत के बीच अप्रस्तुत के विभिन्न छोटे छोटे संकेत भी मिलते रहते हैं। इसलिए प्रबंध-काव्य का स्वारस्य नष्ट नहीं होने पाता है। रहस्य का संकेत काव्य में इसी रूप में स्वाभाविक कहा भी जा सकता है। फिर भी इनमें योगियों की साधना के प्रसंग विवरणों के साथ रखे हुए मिलेंगे। यही नहीं, वस्तुओं की सूची भी स्थान स्थान पर व्यर्थ ही विस्तारपूर्वक जुड़ी हुई है। मुद्रालंकार की योजना तो इनमें कहीं कहीं अतिरेक को पहुँच गई है।

सूफी मत में ब्रह्म की भावना दो रूपों में की जाती है। कुछ तो उसका 'जमाल' देखते हैं और कुछ 'जलाल'। जमाली ईश्वर की सुंदरता ग्रहण करते हैं और जलाली ऐश्वर्य। भक्ति में प्रेम और श्रद्धा का मेल है। प्रेम का संबंध सौंदर्य से और श्रद्धा का ऐश्वर्य, शक्ति, शील आदि से है। हिंदी के सूफी कवियों ने ब्रह्म की सुंदरता ही ग्रहण की है और उसे प्रेमस्वरूप ही दिखलाया है। अतः इनका स्वरूप श्रीकृष्ण की प्रेमलक्षणा भक्ति करनेवाले उन भक्त कवियों का सा ही था जो ईश्वर के ऐश्वर्यरूप के नहीं रसरूप के उपासक होते हैं। सूफियों के प्रभाव से कृष्णभक्त कवियों में आगे चलकर 'इश्कमजाजी' इतनी बढ़ी कि उनके काव्य प्रेम-व्यापार के कोश हो गए।

जायसी

सूफी कवियों की प्रेमगाथाएँ प्रायः कल्पित हैं, पर मलिक मुहम्मद जायसी ने कल्पित कथा इतिहास के साथ जोड़ दी है। पद्मावत का पूर्वार्द्ध कल्पित कहानी है, किंतु उत्तरार्द्ध में एक तो कवि प्रेमियों के व्यक्तिपक्ष से हटकर लोकपक्ष पर आ गया है, दूसरे कथा अलाउद्दीन और पद्मिनी के ऐतिहासिक आख्यान से जुड़ गई है। अलाउद्दीन ने

पद्मिनी के लिए चित्तौर पर चढ़ाई की और वह स्वयम् अभियान में गया था, यह ऐतिहासिक सत्य नहीं है। ऐतिहासिक व्यक्तियों के शौर्य या प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए ऐसी कथाएँ गढ़ ली जाती थीं। पृथ्वीराजरासो में ऐसी अनेक गढ़ी कथाएँ शौर्यप्रदर्शन की अभिव्यक्ति के लिए जोड़ी गई हैं जिनका इतिहास से कोई संबंध नहीं। अलाउद्दीन के प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए और भी कई काव्य लिखे गए जिनमें से एक 'छिताई-कथा' है। इसमें भी पदमावत की भाँति अलाउद्दीन के संबंध में कल्पित वृत्त जोड़ा गया है। अलाउद्दीन के वृत्त के कारण पदमावत काव्य अन्य प्रेमकाव्यों से पृथक् ही नहीं, प्रबंध की दृष्टि से उत्कृष्ट भी हो गया है। अन्य सूफी काव्यों में अधिकतर प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति आदि कोमल भाव ही व्यक्त हुए हैं, किन्तु लोकदृष्टि से समन्वित होकर पदमावत को कुछ उग्र भाव भी लाने पड़े हैं। युद्ध, उत्साह, क्रोध, खीझ आदि उग्र भावों में यद्यपि कवि वैसी गंभीरता नहीं दिखा सका है जैसी प्रेम, करुणा आदि कोमल भावों में, तथापि इनकी योजना से उसमें प्रबंध की अपेक्षित सामग्री अधिकाधिक जुट गई है।

मलिक मुहम्मद में व्यापक तत्त्वदृष्टि भी थी। सूफी सृष्टि को ब्रह्म से वियुक्त कल्पित करते हैं और संसार में जहाँ जहाँ आनंद, सुख आदि दिखाई देते हैं वहाँ वहाँ ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं। जायसी ने शांकर अद्वैत की भाँति आत्मा और ब्रह्म की एकता का आभास दिया है। उन्होंने पदमावत के अतिरिक्त 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' नामक दो पुस्तकें तत्त्वज्ञान-विषयक लिखी हैं। इनमें उन्होंने सहमार्गियों से बढ़कर तत्त्वचिंतन की कुछ बातें कही हैं। सिद्धांत की दृष्टि से तो सूफी मत भारत के विशिष्टाद्वैत-संप्रदाय से मिलता-जुलता है किंतु जायसी ने मायारूप में सृष्टिव्यापार की कल्पना करके अपने को वेदांत के अधिक निकट पहुँचा दिया है।*

रहस्यगत पृथक्ता

यहीं प्रेममार्गी और ज्ञानमार्गी कवियों के रहस्यवाद पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए। निर्गुन-पंथ को व्यवस्थित करनेवाले कबीर ने रहस्य की जैसी प्रवृत्ति दिखाई है वैसी औरों ने नहीं।

* देखिए स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल संपादित 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका।

कबीर ने रहस्य का संकेत या आभास कई लौकिक संबंधों द्वारा व्यक्त किया है। कहीं पिता और पुत्र, कहीं स्वामी और सेवक, कहीं शासक और शासित तथा कहीं पति और पत्नी का संबंध प्रतिष्ठित है। सूफियों ने केवल प्रिय और प्रेमी का ही संबंध लिया है। कृष्णभक्ति के माधुर्य-भाव जैसी ही सूफियों की भी कल्पना थी। अंतर यह है कि भक्ति में ईश्वर पति अर्थात् पुरुष और आत्मा पत्नी है, किंतु सूफियों को प्रेम-पद्धति में साध्य (ईश्वर) स्त्री और साधक (आत्मा) पुरुष है। बीच में नायिका द्वारा जो संकेत कराए गए हैं उनमें अवश्य भारतीय माधुर्य-भाव का सा ही ढाँचा है। वस्तुतः मुसलमानी धर्म में ईश्वर (खुदा) लिंगहीन माना जाता है।

ज्ञानमार्ग में मुक्तकों का ही प्रचार था पर प्रेममार्गी सूफियों ने प्रबंधकाव्यों की पद्धति पकड़ी। इसमें काव्य की दृष्टि से प्रेम की विभिन्न अंतर्दशाओं की व्यंजना का पूर्ण अवकाश था। साधना-पक्ष से साधक की दशाओं का विघ्न-बाधामय रूप प्रदर्शित करने का भी पूरा अवसर उन्हें मिला।

प्रेमकाव्य की परंपरा के मुख्य कवि हैं—मृगावती के कर्ता कुतबन (सं० १५५०), मधुमालती के रचयिता मंझन (सं० १५६०), पद्मावत के प्रणेता मलिक मुहम्मद जायसी (सं० १५७७), चित्रावली के लेखक उसमान (सं० १६७०), ज्ञानदीप के लेखक शेख नबी (सं० १६७६), हंस-जवाहिर के निर्माता कासिम शाह (सं० १७८८) और इंद्रावती के कवि नूर मुहम्मद (सं० १८०१)। यद्यपि इस प्रकार की बहुत सी रचनाएँ प्रस्तुत हुईं तथापि उनमें वैसी काव्यशक्ति नहीं दिखाई देती।

सगुण-भक्तिधारा

कबीर आदि के प्रयत्न से बुद्धि की तो कुछ तुष्टि हुई, किंतु हृदय की वैसी नहीं। प्रेममार्गियों ने इसका भी प्रयास किया। पूर्ण मनस्तुष्टि के लिए जागरित भाव के निमित्त प्रकृत आलंबन अपेक्षित होता है। यह न ज्ञानपंथ में था, न सूफी प्रेममार्ग में। अतः प्राचीन भक्तिमार्ग की धूमिल पड़ती हुई पद्धति को फिर से स्पष्ट करने और बाह्य एवम् आभ्यंतर दोनों प्रकार की तुष्टि के विचार से सगुण-लीला के गीत गाए जाने लगे। एक ओर रामभक्ति गृहीत हुई, दूसरी ओर कृष्ण-भक्ति। नारायण-धर्म या भागवत धर्म भारत में प्राचीन काल से चला आ रहा है। भक्ति में राम और कृष्ण का भेद प्राचीन काल में नहीं था। वासुदेव की ही भक्ति चलती थी। इधर हिंदी में भक्त

कवि जब सगुण-लीला का वर्णन करने में लगे तो उन्हें भिन्न भिन्न महात्माओं से राम और कृष्ण की भक्ति की प्रेरणा प्राप्त हुई।

व्यास के ब्रह्मसूत्र पर स्वामी शंकराचार्य ने भाष्य लिखकर जब से अद्वैत का प्रतिपादन किया और जगत् को मिथ्या एवम् उसमें प्रतीत होनेवाली सत्यता को माया कहा, तब से यह प्रयत्न भी होने लगा कि जगत् ब्रह्म की सत्ता के भीतर ही दिखाई दे। प्राचीन काल में ज्ञान, भक्ति और कर्म के जो पृथक् पृथक् मार्ग थे उनमें से शंकर ने ज्ञान का ही विशिष्ट रूप में प्रतिपादन किया। यद्यपि लोक व्यवहार में इन्होंने निर्गुण के अतिरिक्त सगुण की सत्ता भी स्वीकृत की और उसके साथ भक्ति को भी थोड़ा सा अवकाश दिया, तथापि जो मार्ग प्रस्तुत किया गया वह शुद्ध ज्ञान का ही मार्ग था, उसमें कर्म और भक्ति दोनों हो के लिए पूर्ण अवकाश नहीं था। फलस्वरूप ज्ञान की उसी चरम कोटि तक भक्ति को भी ले जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। भक्ति के आचार्यों ने व्याससूत्र पर भाष्य लिखकर भक्ति के लिए अवकाश कर लिया।

रामभक्ति-शाखा

स्वामी रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्री-भाष्य' लिखकर विशिष्टाद्वैत-मत का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार ब्रह्म चित् और अचित् दो सूक्ष्म विशेषताओं से युक्त माना गया। सूक्ष्म चित् से स्थूल चित् अर्थात् जीव की और सूक्ष्म अचित् से स्थूल अचित् अर्थात् जगत् की उत्पत्ति मानी गई। इस प्रकार जगत् को भी ब्रह्म के भीतर ही मान लेने से भक्ति का प्रकृत आलंबन खड़ा हो गया। रामानुजाचार्य ने श्री-संप्रदाय की प्रतिष्ठा की और प्राचीन भक्तिमार्ग के अनुसार नारायण या विष्णु की उपासना चलाई। इन्हीं की शिष्य-परंपरा में रामानंदजी हुए। रामानंद ने यद्यपि श्री-संप्रदाय की ही दीक्षा ली तथापि भक्ति-पद्धति विशेष प्रकार की रखी। इन्होंने नारायण या विष्णु की भक्ति के स्थान पर विष्णु के ही अवतार लोकरक्षक राम की उपासना चलाई। राम की भक्ति पहले भी चलती थी, विष्णु के जैसे और रूप चलते थे वैसे ही रामरूप भी। किंतु इन्होंने विष्णु के अन्य अवतारों या रूपों में से रामरूप को विशेष महत्त्व दिया। कहा जाता है कि इन्हीं के चेले थे निर्गुन-पंथ के प्रवर्तक कबीर और भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास भी, जिन्होंने अनेक शैलियों में 'रामचरित' लिखकर लोक-मानस में

रामभक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा की। पर अनुसंधान से यह प्रमाणित नहीं होता कि रामानंदजी का शिष्य दोनों में कोई भी रहा हो।

तुलसीदास

तुलसीदास ने राम का रूप अपनी विविध रचनाओं से अत्यधिक चमकाया। उन्होंने श्रव्यकाव्य की सभी चलती पद्धतियों में रामचरित गाया। वीरकाल के चारणों वाली छप्पय की तथा दरबारी कवियों वाली कवित्त-सवैयों की पद्धति पर 'कवित्तावली' बनाई। छप्पय और सवैये भी पहले कवित्त ही कहे जाते थे। विद्यापति और सूरदास आदि की गीतपद्धति पर रामगीतावली, कृष्णगीतावली तथा विनयपत्रिका लिखी। अपभ्रंश-काल से चली आती नीति की दोहा-शैली पर 'दोहावली' की रचना की। सूफी कवियों द्वारा गृहीत चौपाई-दोहेवाली अर्धमागधी लोकपद्धति पर 'रामचरितमानस' का प्रणयन किया। ग्रामगीतों के ढर्रे पर संस्कारों के अवसर पर गाने योग्य सोहरों में जानकीमंगल, पार्वतीमंगल और रामललानहछू निर्मित हुए। तुलसीदास को साहित्य में प्रचलित दो भाषाएँ दिखाई पड़ीं। एक व्रजी और दूसरी अवधी। व्रजी काव्य की सर्वसामान्य भाषा थी और अवधी का प्रयोग जायसी आदि प्रबंधकाव्यकर्ताओं ने किया था। 'रामचरितमानस' में इन्होंने सूफियों की भाषा की अपेक्षा उस भाषा में विशेषता उत्पन्न की। उसे ठेठ रूप में न रखकर परिष्कृत किया अर्थात् साहित्यिक बनाया। पर संस्कारों के अवसर पर जनता के गाने के प्रयोजन से पार्वतीमंगल आदि पोथियों में अवधी का ठेठ रूप ही रखा है जिसे "पूरबी अवधी' कहते हैं।

तुलसीदास रामभक्ति को वैसा ही सर्वसुलभ कहते हैं जैसे अन्न और जल। इन्होंने भक्तिमार्ग को न तो ज्ञानमार्ग का विरोधी माना है, न कर्ममार्ग का। ये 'मानस' के आरंभ में ही लिखते हैं—

मुदमंगलमय संतसमाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।
रामभगति जहँ सुरसरिधारा। सरसइ ब्रह्मबिचार-प्रचारा।
बिधिनिषेधमय कलिमलहरनी। करमकथा रबिनंदिनि बरनी।
हरिहर-कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल-मुद-मंगल-देनी॥

भक्ति के साथ ज्ञान और कर्म दोनों का मेल हो जाने से प्राचीन काल से चले आते त्रिविध साधनामार्गों का इनके द्वारा प्रस्तुत भक्ति के रूप में बहुत ही सुंदर समन्वय हो गया है। तुलसीदास ने प्राचीन

भक्तिमार्ग का ग्रहण करते हुए अन्य साधनामार्गों का विरोध कहीं नहीं किया है। निर्गुन-पंथियों का विरोध इसलिए किया कि वे वेद-मार्ग के विरोधी थे। वेद के विरोध के कारण बुद्ध के अवतार के निंदित होने की चर्चा भी इन्होंने की है—

अतुलित महिमा बेद की तुलसी किये बिचार।
जेहि निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥

इन्होंने ज्ञानमार्ग को कठिन कहकर ही सबके लिए अनुपयुक्त माना है। 'मानस' के सप्तम सोपान में वेद स्तुति करते हुए कहते हैं—

जो ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन-जस नित गावहीं॥

ये ज्ञान के साथ भक्ति को आवश्यक समझते हैं, बिना भक्ति के चित्त को वैसी विश्रांति नहीं प्राप्त होती जैसी उसके रहते हुए। मानस के अंतिम सोपान में 'ज्ञानदीपक' और 'भक्तिमणि' का लंबा-चौड़ा रूपक बाँधकर इसी का प्रतिपादन किया है। अतः इनका मत है—

जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुरदुर्लभपदादपि परत हम देखत हरी॥

इतना होने पर भी इन्होंने स्पष्ट घोषणा की—

भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा।
तदपि मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सुनु सोउ बिहंगबर॥

समन्वय की यह प्रवृत्ति केवल सिद्धांत-पक्ष में ही नहीं थी, व्यवहार में भी थी। 'मानस' का मंगलाचरण करते हुए इन्होंने प्रथा के अनुसार गणेश और सरस्वती की वंदना तो की ही, साथ ही शिव, विष्णु आदि देवों की भी वंदना की। यद्यपि तुलसीदास भक्ति की दृष्टि से राम को परात्पर ब्रह्म मानते थे, और उनको 'बिधि हरि संभु नचावन-हारे' कहते थे, तथापि लोक में समन्वय स्थापित करने के विचार से राम और शिव को एक मानते थे और शिव को 'सेवक स्वामि सखा सियपिय के' घोषित करते थे। समन्वय की ही यह प्रवृत्ति थी कि 'रामगीतावली' लिखने पर 'कृष्णगीतावली' भी लिखी और 'जानकी-मंगल' बनाकर 'पार्वतीमंगल' भी बनाया। पौराणिक पंचदेवोपासना का विचार इन्होंने स्थान स्थान पर रखा है। विनयपत्रिका के आरंभ में गणेश, सूर्य, शिव, शक्ति, विष्णु सबकी प्रार्थना की गई है।

समन्वय की इस प्रवृत्ति को अब चाहे हम उनकी व्यक्तिगत विशेषता मानें, चाहे उनके वैष्णव संप्रदाय का फल समझें।*

तुलसीदास ने भक्ति के साथ काव्य का अनोखा मेल कर दिया है। बहुत से स्थानों पर तो सहसा यह लक्षित ही नहीं होता कि ऐसा काव्य के विचार से लिखा गया है। 'मानस' में ऐसा विशेष दिखाई देता है। मंगलाचरण में दुर्जनों की भी स्तुति की गई है। सामान्यतया यही कहा जाएगा कि ऐसा इन्होंने भक्ति के उद्रेक में किया है। साहित्यशास्त्र में दुर्जनों की स्तुति (व्याजनिंदा) प्रबंधकाव्य का अंग मानी गई है। धनुषयज्ञ के अवसर पर यज्ञभूमि में राम को अनेक जन अनेक रूपों में देखते हैं। ईश्वरावतार होने के कारण ही नहीं, काव्य में उल्लेख (अलंकार) की पद्धति पर ऐसी ही योजना होती है। जो अलंकार नहीं जानते वे इसे भगवल्लीला मात्र समझते हैं।

तुलसीदास ने काव्य की वह भूमि ली है जो सबके अनुकूल पड़ती है। मर्यादा की प्रतिष्ठा का कारण यह भी है। शृंगार के अवसरों पर ये अधिक सावधान हैं। शास्त्र की दृष्टि से शृंगार में पूर्वराग की भी प्रतिष्ठा होती है। जनक की पुष्पवाटिका में गुरु विश्वामित्र के पूजन के लिए राम जब पुष्प लेने जाते हैं तभी सीता भी वहाँ आ जाती हैं। परस्पर एक दूसरे को देखने से उनके हृदयों में पूर्वराग जगता है। सीता भी लता-ओट में राम की छवि देखती हैं और राम का मन भी क्षुब्ध होता है। लक्ष्मण से वे मन के क्षोभ की चर्चा यों करते हैं—

---

* तुलसीदास को स्मार्त वैष्णव कहा जाता है। स्मार्त मत प्राचीन मत है, स्मृतियों के अनुसार चलनेवालों का मत। पर स्मार्त वैष्णव विलक्षण कल्पना है। स्मार्त मत का संप्रति जो स्वरूप कल्पित किया जाता है वह भी आधुनिक कल्पना ही है। स्मार्त मत के संबंध में कहा जाता है कि यह पंचदेवोपासना माननेवाला समन्वयवादी मत था। इस प्रकार का कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। तुलसीदासजी के महत्प्रयास और समन्वयवादी प्रयत्न से धारणा ऐसी बँधती है कि ये भक्ति का व्यापक रूप लेकर नवीन सर्वजन-सुलभ मार्ग चलाना चाहते थे। ऐसा मार्ग जिसमें सभी सहृदयों की समाई हो सके। इसका कोई नूतन नाम भी उन्होंने रखा था, जो अनुसंधानसापेक्ष है।

तात जनकतनया यह सोई। धनुषयज्ञ जेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखी लेइ आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥ *

प्रबंध में ही नहीं मुक्तक-रचना में भी मर्यादा सुरक्षित है। ग्रामवधूटियाँ सीता से राम का परिचय पूछती हैं—

सादर बारहिं बार सुभाइ चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्रामबधू सिय सों कहौ साँवरे से सखि रावरे को हैं॥

यहाँ 'चितै तुम त्यों' पद ध्यान देने योग्य है। राम जब देखते हैं तो सीता की ओर ही, इन ग्रामबधूटियों की ओर नहीं। मर्यादा का इतना ध्यान रखने पर भी 'रामललानहछू' में आए अल्प अतिशृंगार की कड़ी टीका की गई है। इसमें आलोचकों को दशरथ कामुक दिखाई पड़े हैं। ऐसा कहनेवाले यह नहीं समझते कि 'रामललानहछू' की रचना किस लिए की गई है? उपनयन एवम् विवाहगत नहछू के अवसर पर गाने के लिए यह रचना हुई है। उनका लक्ष्य था कि साधारण जनता अश्लील गानों के स्थान पर राम के गीत गाए। तुलसीदास सब प्रकार की रुचिवालों के अनुरूप रामचरित प्रस्तुत करना चाहते थे। अतः संस्कारों के अवसर पर गाए जानेवाले पदों में भी रामचरित गाया गया। इसी से साधारण जनता की रुचि का भी ध्यान उन्हें रखना ही पड़ा; कुछ विनोदपूर्ण बातें जोड़नी ही पड़ीं—

काहे को रामजिउ साँवर लछिमन गोर हो।
परि गा रानि कौसिलहिं जानहुँ भोर हो॥

तुलसीदास ने सब प्रकार की रुचिवालों का ध्यान बराबर रखा है। विनयपत्रिका में संस्कृतगर्भ पदावली संस्कृत के प्रेमियों या पंडितों के

---

* तमिल भाषा के प्रसिद्ध प्राचीन कवि कयंब के रामायण में भी पूर्वराग की योजना की गई है। इधर तुलसीदास के 'मानस' में भी उसे पाकर यह कहा गया है कि हो न हो यह प्रसंग इन्होंने वहीं से देखकर रखा है। इन्होंने जयदेवकृत संस्कृत के प्रसन्नराघव नाटक से पंचम सोपान (सुंदरकांड) में निश्चित सहायता ली है। इस नाटक में पूर्वराग की योजना की गई है। यह अधिक संगत प्रतीत होता है कि जयदेव के प्रसन्नराघव से इन्हें इस योजना और प्रसंग की नियोजना की प्रेरणा मिली हो। जयदेव को चाहे कयंब रामायण से ही प्रेरणा मिली हो पर तुलसीदास के लिए प्रसन्नराघव ही सुगम्य था।

आकर्षण के लिए है। कोमल और उग्र दोनों प्रकार के भावों के अनुकूल शब्दयोजना रखने से उसका आकर्षण कोमलकांत पदावली में निर्मित 'गीतगोविंद' से कहीं बढ़ गया है। अलंकारानुरागियों के लिए दोहावली में चमत्कारपूर्ण दोहे भी रखे गए हैं। इन्होंने उच्च-नीच बाल-वृद्ध, युवक-युवती सभी की रुचि का विचार रखा है।

यही नहीं प्रबंध, मुक्तक तथा पद्य-निबंध के रूप में इन्होंने कई प्रकार की रचना की। अतः विविधता के विचार से हिंदी में इनके ऐसा समर्थ कवि दूसरा नहीं। सूरदास मुक्तक लिख सकते थे, प्रबंध नहीं। जायसी ने प्रबंध-काव्य अवश्य लिखा, पर वे भली भाँति प्रेम-वृत्ति का ही निरूपण कर सकते थे। जीवन की विविध परिस्थितियों एवम् भावों की तुलसीदास जैसी अनेकरूपता उनमें कहाँ। केशवदास चमत्कारवादी थे, 'मानसकार' जैसी रसग्राहकता उनमें कहाँ। अतः तुलसीदास को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है।*

अन्य कवि

रामभक्ति-शाखा में अधिक कवि नहीं हुए। यदि भक्ति का विचार करें तो इस शाखा के अंतर्गत तीन ही और प्रधान कवि दिखाई देते हैं—स्वामी अग्रदास, नाभादास और प्राणचंद चौहान। अग्रदास (सं० १६३२) ने राम के ध्यान पर कुछ रचनाएँ लिखी हैं। इन्होंने राम का कोमल रूप ही ग्रहण किया है। इनकी भाषा अपरिष्कृत है। नाभादास (१६५७) अग्रदास के शिष्य थे। इन्होंने 'भक्तमाल' में लगभग २०० भक्तों का चमत्कारबोधक चरित्र छप्पय छंद में लिखा है। उपास्य के नाम, रूप, लीला और धाम सबका इन्होंने वर्णन किया है। इनकी फुटकल रचना अधिक नहीं मिलती। कृष्णभक्ति-शाखा-वाले कवियों की रीति पर इन्होंने भी प्रेमलक्षणा भक्ति दिखाई है। प्राणचंद चौहान ने 'रामचरित' पर कई नाटक लिखे। तुलसीदास ने रामचरित रूपक-पद्धति पर नहीं प्रस्तुत किया था। इन्होंने अपनी रचना द्वारा उसकी पूर्ति कर दी।

इन कवियों के अतिरिक्त ऐसे कवि भी दिखाई देते हैं जिन्होंने रामकथा पर रचना तो की पर उनकी रचनाएँ भक्ति के अंतर्गत नहीं ली जा सकतीं। जैसे हृदयराम (सं० १६८०) का हनुमन्नाटक। यह नाटक संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर अनुवादरूप में प्रस्तुत

---

* देखिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत 'तुलसीदास'।

हुआ है। रामभक्ति के भीतर हनुमद्भक्ति भी आ जाती है। हनूमान-जी पर कई छोटी छोटी रचनाएँ हुई हैं।

कृष्णभक्ति-शाखा

कृष्णभक्ति-शाखा की रचना का आरंभ हिंदी में मोटे तौर पर वल्लभाचार्य के समय से होता है। वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता) पर भाष्य लिखे हैं। ब्रह्मसूत्र पर इनका भाष्य 'अणुभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। इस मत के अनुसार ब्रह्म में दो प्रकार की अचिंत्य शक्तियाँ होती हैं—आविर्भाव की और तिरोभाव की। उसके सत्, चित् और आनंद तीन स्वरूप हैं। वह शक्तियाँ द्वारा जगत् के रूप में परिणत भी हो जाता है और उससे परे भी रहता है। वह अपने रूप का कहीं आविर्भाव और कहीं तिरोभाव किए रहता है। जीव के रूप में उसका सत् और चित् आविर्भूत रहता है और आनंद तिरोभूत। जड़ में सत् ही आविर्भूत रहता है और शेष दोनों रूप तिरोभूत।* इस प्रकार इन्होंने शांकर अद्वैत को माया से शुद्ध करके अपने मत का प्रतिपादन किया। अतः इनका मत 'शुद्धाद्वैत' कहलाया। "शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य ने बात उलटकर सगुण को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा।"† इन्होंने कृष्ण को परब्रह्म माना और उन्हें दिव्य गुणों से संपन्न 'पुरुषोत्तम' कहा। उनके लोक को व्यापी वैकुंठ बतलाया और गोलोक को उस व्यापी वैकुंठ का एक खंड, जिसके अंतर्गत वृंदावन, यमुना, गोवर्धन, निकुंज आदि सभी नित्य हैं। इन्हीं में भगवान् गोचारण, रासक्रीड़ा आदि लीलाएँ नित्य किया करते हैं। जीव यदि इस नित्यलीला में प्रविष्ट हो जाय तो उसे परम गति प्राप्त होती है। जीव का इस नित्य-लीला में प्रवेश भगवान् के अनुग्रह या पोषण ही से हो सकता है। इस भगवदनुग्रह को पोषण या पुष्टि मानने से ही वल्लभाचार्य का चलाया हुआ मार्ग 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। भक्ति के भीतर पूज्य-बुद्धि या श्रद्धा और सौंदर्य-बुद्धि या प्रेम का मिश्रण होता है।

---

* देखिए शुक्लजी कृत 'हिंदी-साहित्य का इतिहास'।

† वही, पृष्ठ १८६।

वल्लभ-संप्रदाय में उसके दूसरे अंश अर्थात् प्रेम का ग्रहण हुआ। अतः इनकी भक्ति 'प्रेमलक्षणा भक्ति' कहलाती है। वल्लभाचार्य के पुत्र और शिष्य विट्ठलनाथ हुए। इन्होंने वल्लभाचार्य के अधूरे अणुभाष्य की पूर्ति की। इन्हीं ने कृष्णलीला का गान करने के लिए आठ कवियों का चुनाव 'अष्टछाप' के नाम से किया था; जिनके नाम हैं—सूरदास, नंददास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी और चतुर्भुजदास।

सूरदास

अष्टछाप के कवियों में शिरोमणि हुए सूरदास। संस्कृत में जयदेव ने जिस प्रकार 'गीतगोविंद' लिखकर संस्कृत में गीतों की परंपरा चलाई, उसी प्रकार लोकगीतपद्धति ने हिंदी में भी साहित्यिक रूप धारण किया। पूरब में सबसे पहले गीतपद्धति को साहित्यिक रूप देकर मैथिलकोकिल विद्यापति ने देशी वाणी (हिंदी) में बहुत सी रचना प्रस्तुत की। पश्चिम में कृष्णभक्ति-शाखा के हिंदी-कवियों में भी गीतों का विशेष प्रचार हुआ। लौकिक गीतों में वाङ्मय की प्रभूत सामग्री है। जनता के बीच गाए जानेवाले गीत प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। निर्गुण-धारा के कवियों ने भी गीतपद्धति में अपनी बहुत सी रचना की है। कृष्णभक्ति-शाखा के कवियों ने भी गीतपद्धति पकड़ी और उसमें विशेष रूप से साहित्यिक रचना प्रस्तुत की। विद्यापति और सूरदास के गीतों में गृहीत श्रीकृष्ण के रूपों में अंतर है। विद्यापति ने गीतों में श्रीकृष्ण का रूप साहित्य-परंपरा के अनुरूप लिया है। भक्ति के उपास्य देवता के रूप में श्रीकृष्ण और राधिका के गीत उन्होंने नहीं गाए। सूरदास की रचना भक्ति को लेकर चली। उनके भगवद्विनय के अनेक पद पृथक् मिलते हैं। भगवल्लीला का वर्णन करते हुए अंतिम चरण में सूरदास ने श्रीकृष्ण को प्रभु, स्वामी आदि विशेषणों से बराबर स्मरण किया है। यह कह चुके हैं कि इस शाखा में भगवान् की प्रेमलक्षणा भक्ति ही गाई गई है। अतः इन कवियों के लिए श्रीकृष्ण का उतना ही जीवन पर्याप्त था जितना वृंदावन और उसके अनंतर मथुरा-प्रवास में व्यतीत हुआ। महाभारत में युद्ध-संचालक के रूप में धर्म की सच्ची व्यवस्था करनेवाले श्रीकृष्ण के लोकरक्षक रूप का ग्रहण इनमें नहीं हो सका। वृंदावन में भी दुष्टों के दलन का जो प्रभाव उपस्थित किया गया उसमें क्रोध, उत्साह

आदि उग्र भावों की सम्यक् योजना नहीं दिखाई देती। अतः कृष्णभक्त कवियों की रचना एकांगी हुई और उसमें श्रीकृष्ण का एकांत जीवन ही विविध छटाओं के साथ गाया गया।

हिंदी में कोई सूरदास की रचना में सख्यभाव के दर्शन करता है और कोई माधुर्यभाव के। वात्सल्यभाव उनमें है ही। सूर ने विनय के जितने पद लिखे हैं उनमें सेव्य-सेवकभाव या दास्यभाव है। तो क्या सूरदासजी भक्ति के पाँचों भावों में रचना कर गए हैं। इस विषय में थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। भक्ति की साधना में आचार्यों ने पाँच भाव माने हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। शांतभाव तो सभी संप्रदायों में होता है, पर दास्यभाव की उपासना श्रीरामानुजाचार्य के श्रीसंप्रदाय में, सख्यभाव की उपासना निंबार्काचार्य के सनकादिसंप्रदाय में, वात्सल्यभाव की उपासना वल्लभाचार्य के रुद्रसंप्रदाय में और माधुर्य या कांतभाव की उपासना मध्वाचार्य के ब्रह्मसंप्रदाय में प्रधान रूप से गृहीत है। गौण रूप से अन्य अनुलोम भावों की उपासना भी आप से आप होती रहती है। 'अनुलोम' का अर्थ यह है कि दास्यभाव का उपासक केवल दास्यभाव की ही उपासना कर सकता है, सख्य, वात्सल्य या माधुर्य भाव की उपासना वह नहीं कर सकता। उसके लिए ये भाव विलोम पद्धति में पड़ते हैं। पर सख्यभाव का उपासक दास्यभाव की उपासना कर सकता है, वात्सल्य या माधुर्य भाव की नहीं। वात्सल्यभाव का उपासक सख्य और दास्य भावों की भी उपासना कर सकता है, करता है। पर माधुर्यभाव की उपासना नहीं करता। केवल माधुर्यभाव का उपासक सब भावों की उपासना कर सकता है। सूरदासजी वल्लभाचार्यजी के संप्रदाय में थे इसलिए उनका प्रधान भाव वात्सल्यभाव है। इसमें सख्य और दास्य भावों की उपासना निहित है, पर माधुर्यभाव की उपासना विहित नहीं। माधुर्यभाव की उपासना की चर्चा करते हुए गोपियों के श्रीकृष्ण के प्रति कांतभाव की चर्चा की जाती है। यही भ्रम है। उपासक जब श्रीकृष्ण को पति और अपने को पत्नी माने तभी उसकी उपासना कांतभाव या माधुर्यभाव की हो सकती है। जैसे मीराबाई ने श्रीकृष्ण को पति मानकर उपासना की थी। कबीरदास भी राम को 'भतार' और अपने को दूलहन कहते हैं। यह माधुर्यभाव है। सूरदास ने श्रीकृष्ण को पति और अपने को पत्नी कहीं नहीं कहा। इसलिए उनमें माधुर्य-

भाव की खोज भ्रम के कारण की जाती है। सख्यभाव उनमें हो सकता है और है।

सूरदासजी ने वात्सल्यभाव की प्रधानता के कारण श्रीकृष्ण की बाललीला का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि हिंदी ही नहीं बाललीला का इतना विस्तार संसार की किसी भाषा के साहित्य में उपलब्ध नहीं है। वल्लभाचार्य के संप्रदाय के सभी कवि बाललीला का वर्णन करते हैं। पर सूरदास से अधिक परिमाण में और किसी ने ऐसी रचना नहीं की। अष्टछाप के अन्य कवियों में से परमानंद ने भी होड़ में सागर प्रस्तुत किया है। उसी में कुछ विस्तार है। यों अष्टछाप के सभी कवियों ने बाललीला पर कुछ न कुछ अवश्य कहा है। सूरदास ने बाललीला के अतिरिक्त भागवत का अनुगमन करने के कारण तथा अन्य कारणों से भी यौवनलीला के पद भी परिमाण में अधिक कहे हैं। इनमें संयोग के ही नहीं वियोग के पद भी हैं। वियोग में भ्रमरगीत का प्रसिद्ध विस्तृत अंश आता है।

काव्य की दृष्टि से सूरदास के समक्ष वर्णन-सामग्री अधिक नहीं थी, किंतु श्रीकृष्ण के नटखट जीवन का सहारा लेकर उन्होंने बाललीला के अंतर्गत अनेक प्रसंगों की उद्भावना की। यौवनलीला में भी वृंदावन के उन्मुक्त जीवन में रहने के कारण नवीन प्रसंगों के लिए बहुत अधिक विस्तृत काव्यभूमि निकल आई है। कृष्ण और गोपियों का प्रेम केवल सुंदरता के आग्रह से प्रस्फुटित नहीं हुआ था। उनकी क्रीड़ाएँ एक दूसरे के जीवन का अंग बन गई थीं। बहुत दिनों तक साथ साथ रहने के कारण उन लोगों का प्रेम परिपुष्ट होता गया और वह इतना पक्का हो गया कि जीवन भर न छूटा। इसी लिए गोपिकाएँ उद्धव से कहती हैं कि 'लड़िकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटै।' यदि यह प्रेम केवल सौंदर्य के आधार पर ही स्थित होता तो कदाचित् उसमें वैसी तीव्रता न होती जैसी उसके संसर्गगत होने से दिखाई देती है।

वर्ण्य सामग्री के अतिरिक्त जब उद्दीपक सामग्री का विचार करते हैं तो यमुना के कछार, व्रज के वन, करील के कुंज आदि प्राकृतिक विभूतियाँ उनके चतुर्दिक फैली दिखाई देती हैं। ये उद्दीपक सामग्रियाँ भी वर्ण्य के ही अंतर्गत हैं। अतः बाहरी उद्दीपनों की योजना करने के लिए कवि को कोई कृत्रिम प्रयास

नहीं करना पड़ा। अब रहे आलंबनगत उद्दीपन। इन उद्दीपनों की संख्या परिमित है। श्रीकृष्ण की अनेक चेष्टाएँ, उनका त्रिभंगी रूप, उनकी नटखटपने की बातें, उनकी मुरली की तान आदि का अनेक भंगिमाओं के साथ उल्लेख किया गया है। सूर ने वर्ण्य सामग्री कृष्णजीवन में उतनी अधिक नहीं पाई जितनी सूरसागर ऐसे प्रकांड ग्रंथ के लिए अपेक्षित थी। अतः उन्हें प्रत्येक प्रसंग के अनुरूप नवीन उद्भावनाएँ करने की आवश्यकता पड़ी। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने अनेकानेक मार्मिक एवम् नूतन उद्भावनाएँ कीं। प्रबंध का लंबा-चौड़ा मैदान न मिलने पर भी सूर ने जो अनेक पद विभिन्न अवसरों के गाए वे उनकी नवीन कल्पना कर सकने की प्रबल शक्ति के परिचायक हैं।

नवीनोद्भावना के अतिरिक्त सूर ने अपनी रचनाओं का विस्तार अप्रस्तुत की योजना द्वारा भी किया है। एक एक प्रसंग पर उन्होंने जितने पद लिखे हैं उनमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टांत आदि साम्य-मूलक अलंकारों के व्याज से एक पर एक अप्रस्तुत लादे हैं। इस प्रकार जीवन के छोटे से दायरे में भी उन्होंने कहने-सुनने के लिए लंबी-चौड़ी काव्यभूमि प्रस्तुत कर ली है। एक एक प्रसंग ही नहीं, एक एक वस्तु और एक एक अवयव पर उनकी न जाने कितनी उक्तियाँ हैं। इन उक्तियों में पार्थक्य की स्थापना करना सरल काम नहीं। पर सूर ने इस कठिनाई को भी पार किया। नेत्र, मुरली, पीतांबर, त्रिभंग मुद्रा, मोरमुकुट आदि पर उनकी अनेक उक्तियाँ हैं। कवि वर्ण्य सामग्री के अभाव की पूर्ति उक्तियों की विविध प्रकार की योजना द्वारा किया करते हैं। उक्तियों की ऐसी योजना वही कर सकता है जिसकी ज्ञानराशि और निरीक्षणशक्ति अधिक हो। सूर का उक्ति-विधान उनकी इस शक्ति का प्रमाण है।

बालकों की अनेक वृत्तियों का सूक्ष्मता के साथ जैसे निरूपण हुआ है वैसे ही युवा और युवतियों की विविध रंगमयी कामवृत्तियों का भी। संयोग में प्रिय सामने रहता है अतः प्रेमी की वृत्ति बहिर्मुख रहती है। वह अपने प्रिय की रूपछटा, मुद्रा आदि पर मुग्ध होता है, उसके संयोग-सुख से आनंद-लाभ करता है। हास्य और विनोद की वृत्ति भी सुलभ रहती है। सूरसागर के संयोगपक्ष में इन सबका पूर्ण समावेश है। आलंबन और आश्रय दोनों के विचार से प्रणय में नेत्रों का व्यापार अधिक दिखाई देता है। सूर ने जो बहुत सी नयनोक्तियाँ कही हैं

उसका रहस्य यही है। नयनोक्तियों पर विशेष जम कर कहने का कारण उनकी आँखों का बंद होना भी है। वियोगपक्ष में पहुँचकर तो कवि ने अपना हृदय-कोश ही उन्मुक्त कर दिया है। यद्यपि संयोग में भी चपलता, उमंग, अभिलाष, विनोद, क्रीड़ा आदि का बहुत ही प्रभावकारी वर्णन है तथापि वियोग में पहुँचकर प्रेमी की वृत्ति के अंतर्मुखी हो जाने के कारण हृदय की अनेक अंतर्वृत्तियों को व्यंजित करने की आवश्यकता उपस्थित हुई है और सूर ने इन अंतर्वृत्तियों की बहुत ही गंभीरता के साथ अभिव्यक्ति की है। वियोग में पहुँचकर सगुण और निर्गुण की सुगमता और दुर्गमता भी सामने लाई गई है, ज्ञान तथा योग से भक्ति का पार्थक्य भी भली भाँति लक्षित कराया गया है।

इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि जिस 'भागवत' को आधार बनाकर कवि ने श्रीकृष्णलीला का वर्णन किया उसमें उद्धव-प्रसंग के अंतर्गत सगुण-निर्गुण के वाद-विवाद की चर्चा क्या संकेत भी नहीं है। फिर भी कवि ने सगुण-निर्गुण और ज्ञान-भक्ति के भेद की चर्चा चलाई है। इसका कारण है लोकदशा। उन दिनों ज्ञानमार्गी संतों का भक्तिविरोधी जो निर्गुन-पंथ चल रहा था उसका प्रतिरोध करने की आवश्यकता उस समय के भक्त कवियों को प्रतीत हुई। तुलसीदास ने भी 'मानस' में ऐसा किया है। अयोध्या के दाशरथी राम को निर्गुण ब्रह्म सिद्ध करना 'मानस' का उद्देश्य है, अतः उसमें जितने श्रोता-वक्ता रखे गए हैं वे एक ही प्रकार का संदेह करते हैं। ग्रंथ के उपसंहार में काकभुशुंडि द्वारा ज्ञान और भक्ति का जो विवेचन कराया गया है वह भी सोद्देश्य है।

निर्गुण और सगुण के विवेचन में तर्कपद्धति से काम न लेकर हृदय की भावपद्धति से काम लिया गया है। इतना ही नहीं वियोग-व्यथा के बीच कृष्ण के मित्र उद्धव को पाकर गोपियों की विनोद-वृत्ति भी जगी है। प्रिय के प्रति जिस हास की व्यंजना होनी चाहिए वह उनके तद्रूप मित्र को पाकर उन्हीं के प्रति व्यंजित हुई है। वियोग में वृत्ति अंतर्मुख होती है। इसी से विरह की दस दशाएँ भाव-प्रधान अनुभूतिमयी कही गई हैं। वियोग में सूर ने जो 'भ्रमरगीत' गाए उनमें व्रज-वधूटियों के अनुरूप वाङ्मय का बहुत ही विस्तृत और उदात्त रूप रखा गया है। बात बात में लोकोक्तियों की चर्चा करना स्त्रियों की प्रवृत्ति होती है। सूर इसे भी नहीं भूले हैं। सूर की समस्त विशेषताओं पर दृष्टि रखकर यह कहना ठीक ही है—

तत्व तत्व सब कठवा कहि गा, अँधरै कही अनूठी ।
बची खुची सो जुलहा कहि गा, और कहै सो जूठी ॥

अर्थात् सूर ने प्रेम के प्रसंग की इतनी बातें कह दीं कि अन्य कवियों की उस प्रसंग की उक्तियाँ जूठी जान पड़ती हैं।

सूरदास को हिंदी कवियों में सर्वश्रेष्ठ माननेवालों ने यह उक्ति गढ़ी—

सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केसवदास ।
अब के कबि खद्योत सम जहँ तहँ करहिं प्रकास ॥

कहनेवाले का तात्पर्य काव्यपरंपरा को मिलनेवाले प्रकाश के तारतम्य से है। हिंदी को सूरदास से अधिक प्रकाश, तुलसीदास से उससे कम, केशवदास से उससे कम तथा अन्य कवियों से तो बहुत कम या एक प्रकार से नहीं के समान प्रकाश मिला। अब जाँचना यह चाहिए कि इन तीनों कवियों से हिंदी-साहित्य की परंपरा को मिला क्या। सूरदास ने राधाकृष्ण की यौवनलीला का भी विस्तार से वर्णन किया है; यह कह आए हैं। भक्तिकाल के अनंतर हिंदी में जो शृंगारकाल आया उसके आलंबन के रूप में राधाकृष्ण ही माने गए। भले ही शृंगारकाल में वर्णन साधारण नायक-नायिका का ही हो, पर माना यही गया कि नायक श्रीकृष्ण और नायिका राधा हैं। सूरदास ने उत्तरवर्ती हिंदी-साहित्य को आलंबन दिया। 'सूरदास ने आलंबन दिया' का तात्पर्य यह है कि कृष्णभक्त कवियों में से जिनसे अधिक संपर्क उत्तरवर्ती हिंदी-साहित्य का हुआ वे सूरदास ही हैं। अन्य कवियों की रचना उतनी सर्वसामान्य नहीं हुई। पर सूरदास का प्रभाव ग्रहण करने पर भी हिंदी-साहित्य ने भाषा उनकी नहीं ली। सूरदास की भाषा चलती अवश्य है, पर व्रजी ही है। उसमें मेल शब्दों का ही है। भाषा का ऐसा मेल नहीं है कि व्रजी तथा अन्य भाषा की खिचड़ी हो। परवर्ती हिंदी-साहित्य में जो सर्वसामान्य भाषा चली, वह व्रजी और अवधी के मेल से बनी मिश्रित भाषा है। इन पश्चिमी और पूर्वी दोनों भाषाओं को मिश्रित किया तुलसीदास ने। इस प्रकार परवर्ती शृंगारकाल की भाषा तुलसीदास की देखादेखी मिश्रित हुई, उन्हीं के आदर्श पर। आलंबन की अपेक्षा, काव्यविषय की अपेक्षा काव्यभाषा का महत्त्व अवश्य कम है। तुलसीदास की भाषा का आदर्श स्वीकार करने पर भी शैली उनकी नहीं ली गई। तुलसीदास ने अनेक प्रकार की शैलियों में निर्माण किया, उन शैलियों में एक कबित्त-सवैयों की शैली भी है जिसमें कबित्तावली

लिखी गई। यह तुलसीदास की प्रमुख शैली नहीं है। तुलसीदास की प्रमुख शैली दोहे-चौपाइयों वाली है जिसमें उन्होंने रामचरित-मानस का निर्माण किया। रामायण की यह शैली रामायनी या रमैनी शैली ही हो गई। इसी से कबीरदास की या किसी संत की चौपाई की रचना का नाम ही रमैनी पड़ गया। पर परवर्ती हिंदी-साहित्य उसको ग्रहण नहीं कर सका। सूरदास की शैली पदों की शैली है। इसे भी परवर्ती साहित्य ने ग्रहण नहीं किया। केशवदास की प्रधान शैली कबित्त-सवैयों की है जिसका प्रयोग उन्होंने रसिक-प्रिया और कविप्रिया में किया है। केशवदास की ही शैली इसलिए कि परवर्ती श्रृंगारकाल का कवि और किसी की रचना पढ़े चाहे न पढ़े पर केशवदास की रचना अवश्य पढ़ता था, उनमें से सर्वप्रधान रसिकप्रिया और कविप्रिया थीं। इन दोनों में कबित्त-सवैयों की शैली ही नहीं है, अलंकार-चमत्कार की वृत्ति भी वैसी ही है जैसी आगे के कवियों में दिखती है। कबित्त-सवैया लिखनेवाले तो रसखानि भी थे और नरोत्तमदास भी थे। पर इनके कबित्त-सवैयों में वह चमत्कृति नहीं जैसी केशवदास के कबित्त-सवैयों में है। रसखानि की मुक्तक रचना तो एक प्रकार से अलंकार से पराङ्मुख अनुभूतिप्रवण रचना है। उसका ग्रहण श्रृंगारकाल की सर्वसामान्य प्रवृत्ति नहीं है। निष्कर्ष यह कि शैली की देन केशवदास की है। काव्यविषय से कम महत्त्व काव्यभाषा का और काव्यभाषा से भी कम महत्त्व काव्य-शैली का होने से इन तीनों कवियों से प्राप्त प्रभाव में तारतम्य रखा गया है।

सूर की भाषा चलती हुई है। 'चलती' कहने से तात्पर्य उस भाषा से है जिसमें अन्य बोलियों या प्रांतों के प्रयोग भी खप सकें। इनकी भाषा में स्थान स्थान पर शिथिलता भी है। यद्यपि इसका गौण कारण रचना का दूसरों के द्वारा लिखा जाना भी है तथापि मुख्य कारण है गीतों का प्रतिज्ञाबद्ध रूप में नैत्यिक निर्माण। भावों की पुनरुक्ति का भी यही कारण है।

'सूरसागर' के अतिरिक्त इनके नाम पर दो रचनाएँ और प्रचलित हैं। सूरसारावली और साहित्यलहरी। ये दोनों रचनाएँ इनकी नहीं जान पड़तीं। बहुत बाद की बनी प्रतीत होती हैं। सूरसारावली सूरसागर की प्रस्तावना के रूप में बनी और साहित्यलहरी में 'दृष्टिकूटक' के पद हैं। सूरसागर में भी दृष्टिकूटक हैं, पर वे प्रायः सरल हैं। साहित्यलहरी के

दृष्टिकूटक अधिक उलझन वाले हैं। दृष्टिकूटकों की इस प्रवृत्ति का बीज विद्यापति की रचना में भी वर्तमान है।

नंददास

सूर के अतिरिक्त अष्टछाप के दूसरे प्रसिद्ध कवि हैं नंददास। इनके संबंध में कहा जाता है कि 'और सब गढ़िया नंददास जड़िया'। नंददास की रचना में शब्दों का जड़ाव ऐसा ही है जिससे भाव दमक उठे हैं। इनकी भाषा सूर से विशेष मधुर और प्रांजल है। कृष्णलीला के कुछ रसमय प्रसंगों पर इन्होंने अपनी मधुर शैली में पद्य-निबंध लिखे हैं जिनमें से 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' की विशेष प्रसिद्धि है। एक में संयोगपक्ष और दूसरे में वियोगपक्ष की अंतर्वृत्तियों का निरूपण है। रासपंचाध्यायी में कथा तो भागवत से ही ली गई है, किंतु कवि ने वर्णन अपने ढंग पर किया है। इसमें नवीन प्रसंग की कोई उद्भावना नहीं। किंतु 'भँवरगीत' के उद्धव-गोपी-संवाद में काव्य की भावपद्धति छोड़कर प्रायः तर्कपद्धति ग्रहण की गई है। इनका यह पद्य-निबंध सूर के 'भ्रमरगीत' से विशेष महत्त्व रखता है। तर्क-पद्धति के कारण जो कम प्रभाव पड़ता है उसका परिहार प्रबंध के गुण से हो गया है। अर्थात् रसात्मकता बिगड़ी नहीं है। सूर के भ्रमरगीत में अधिक उक्तियाँ गोपियों की ही हैं, उद्धव का मुख बहुत कम खुला है। किंतु इनके पद्य-निबंध में गोपी-उद्धव-संवाद उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में बहुत दूर तक चला गया है। संवाद की सधी योजना के कारण भी तर्क रसात्मकता में अधिक बाधा नहीं डाल सका।

कृष्णभक्ति-शाखा में बहुत अधिक कवि हुए। उनमें से बहुतों की स्वच्छंद विशेषताएँ भी हैं। भक्ति एवम् शैली के भेद से जिनमें भिन्नता दिखाई देती है उनमें से केवल दो, मीराबाई और रसखानि, का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है। रसखानि भक्त की अपेक्षा स्वच्छंदता-वादी प्रेमकाव्य के कवि अधिक हैं।

मीराबाई

भक्ति के रूप के विचार से मीराबाई का विशेष महत्त्व है। इन्होंने पति-पत्नीभाव से या कांतभाव वा माधुर्यभाव से भगवद्भक्ति की थी। भक्ति के विचार से यद्यपि ये कृष्णभक्तों में ही आती हैं किंतु इन पर निर्गुन-पंथ का भी प्रभाव लक्षित होता है। मीराबाई पर कबीर के ज्ञान और सूफियों के प्रेम दोनों का प्रभाव है। इनमें योग की झलक

निर्गुन-पंथ के प्रभाव के कारण है। ज्ञान का प्रभाव तो कृष्णभक्तों पर उतना नहीं पड़ा, पर आगे चलकर वे सूफी मत से कुछ अवश्य प्रभावित हुए। सखी-भाव की उपासना के वर्तमान रूप का कारण सूफियों की प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रभाव कहा जाता है। रहस्य और गुह्य की भावना का प्रसार इसी से विशेष हुआ। आगे चलकर नागरीदास, कुंदनशाह आदि प्रमुख कवि इसी गुह्य भावना से प्रभावित हुए।

मीरा श्रीकृष्ण के अतिरिक्त संसार में किसी पुरुष का अस्तित्व नहीं मानतीं। कांत या माधुर्य भाव की यह चरम सीमा है। मीराबाई के इस क्षेत्र में आने से इसका प्रमाण मिल जाता है कि भक्ति की व्याप्ति बहुत दूर तक थी और इसमें किसी प्रकार का अधिकार-अनधिकार का भेदभाव नहीं रह गया था। मीरा की रचना की विशेषता है तल्लीनता। जैसी तल्लीनता इसमें है वैसी अन्य भक्तों की रचना में कम दिखाई देती है। मीरा में ऐसी लीनकर्त्री वृत्ति माधुर्यभाव अर्थात् पति-पत्नीभाव के कारण ही आई है। प्रेम के विचार से पतिपत्नी का अनुराग सर्वतोधिक लीन करनेवाला होता है। औरों की तरह मीरा ने भी गिरिधर-गोपालरूप की उपासना की थी।

स्वच्छंदतावादी काव्यप्रवाह

भक्तिकाल में ही स्वच्छंदतावादी प्रेमकाव्य का प्रवाह चल पड़ा था। रसखानि इस प्रवाह के आरंभ में दिखाई पड़ते हैं। इस युग में दूसरे स्वच्छंदतावादी कवि शेख आलम हैं।

रसखानि

रसखानि बहुत ही सरसहृदय कवि हुए। इनकी मधुर उक्तियों के ही कारण मधुर रचना का सामान्य नाम 'रसखानि' पड़ गया। इन्होंने अधिकतर प्रेम का संयोगपक्ष ही लिया है। इनकी कुछ रचना प्रेममार्ग का निरूपण करनेवाली भी है। रसखानि ने अपने को शाही घराने का बतलाया है। इनके भक्ति में आने से सिद्ध हो जाता है कि कृष्णभक्ति ने प्रफुल्लता का प्रसार बहुत दूर तक कर लिया था। भक्ति की धारा में अवगाहन करने के लिए विधर्मी भी उत्कंठित होने लगे थे। उनके लिए कोई रोक-छेंक भी नहीं थी। अन्य भक्तों से इनकी प्रणाली भी भिन्न है। कृष्णभक्ति की अधिकांश कविता गीतशैली में लिखी गई है, किंतु इन्होंने कवित्तों और सवैयों की शैली पकड़ी। कवित्तों से सवैयों की संख्या अधिक है। इन्होंने

व्यंजना-पद्धति सीधी-सरल रखी है, जिसे वक्रोक्ति-पद्धति के प्रतिपक्ष में स्वभावोक्ति-पद्धति कह सकते हैं। मधुरता का कारण है शब्दावली का चुनाव। शब्द चुनते हुए व्रजी के रूपों का विशेष ध्यान रखा गया है। शुद्ध व्रजी लिखनेवाले कवियों में रसखानि का भी मुख्य स्थान है। ये उदारवृत्तिवाले भक्त थे, इसी से शिव, गंगा आदि की भी स्तुति इन्होंने बिना किसी भेदभाव के की। इनकी भक्तिभावना स्वच्छंद वृत्ति लिए हुए है। इसलिए स्वच्छंदतावादी शृंगारी कवियों से इनकी प्रवृत्ति विशेष मिलती है। ये उनके अग्रणी प्रतीत होते हैं।

आलम शेख

जनश्रुति के अनुसार आलम और शेख दो भिन्न भिन्न कवि हैं। कहा जाता है कि आलम पहले ब्राह्मण थे और कविता करते थे। उन्होंने रँगरेजिन के यहाँ पगड़ी रँगने को दी, जिसके खूँट में दोहार्ध चिट पर लिखा बँधा था। कवि उत्तरार्ध की उद्भावना नहीं कर सका था, भविष्य में उसकी पूर्ति करने के लिए उसे पगड़ी में बाँध रखा था। दोहार्ध यह था—'कनक छरी सी कामिनी काहे तें कटि छीन'। रँगरेजिन ने चिट को पढ़ा। वह भी कवयित्री थी। उसने उत्तरार्ध की पूर्ति कर दी और पगड़ी रँग जाने पर चिट पर उत्तरार्ध भी लिखकर उसे उसके छोर में बाँध दिया। ब्राह्मण देवता ने पगड़ी के छोर में बँधी चिट खोलकर पढ़ी। जिस उत्तरार्ध की कल्पना न कर सकने के कारण चिट पगड़ी में बाँध दी गई थी उस उत्तरार्ध की बढ़िया पूर्ति पढ़कर उनका हृदय प्रफुल्ल हो उठा—'कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य धरि दीन'। कविजी पूर्तिकार की खोज करते रँगरेजिन के यहाँ पहुँचे। जब पता चला कि पूर्ति रँगरेजिन ने ही की है तो उस पर निछावर हो गए। कहते हैं रँगरेजिन का नाम शेख था। उससे निकाह कर विप्रदेव आलम नाम से प्रसिद्ध हुए। यदि रँगरेजिन के रँगरेज की खोज न भी की जाय तो भी शेख किसी महिला का नाम नहीं होता। जो रचना आलम और शेख छाप से मिलती है वह एक ही हस्तलेख में है, कोई अंतर नहीं किया गया है। अतः स्वाभाविक यही जान पड़ता है कि एक ही कवि आलम और शेख दो नामों से रचना करता रहा होगा। कवि का नाम शेख आलम रहा होगा। वह पहले ब्राह्मण रहा हो फिर मुसल-मान हो गया हो और मुसलमान होने में हेतु स्वच्छंद प्रेम हो,

यह भी हो सकता है। पर एक ही पुस्तक में आलम और शेख दो छापों से जो प्रकीर्णक रचना मिलती है वह एक ही व्यक्ति की है। इस मुक्तक-संग्रह का नाम 'आलमकेलि' है। कहा जाता है कि आलम-केलि नाम भी भ्रम से चल पड़ा है। मूल हस्तलेख में 'आलम के कबित्त लिख्यते' के स्थान पर पहली पंक्ति के अंत में लिख गया 'आलम के लि'। इस पंक्ति में 'लि' 'लिख्यते' का अंश था 'कबित्त' शब्द छूट गया था। दूसरी पंक्ति में लेखक ने पूरा शब्द 'लिख्यते' फिर से लिख दिया। इस प्रकार कवि के मुक्तक-संग्रह का नामकरण संयोग से हो गया—'आलम के लि लिख्यते' से 'आलमकेलि'।

आलम हिंदी में दो माने जाते थे। एक अकबर के समय के और दूसरे औरंगजेब के पुत्र के समय के। इस भ्रांति का हेतु यह था कि औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम शाह के दरबारी कवि ने 'माजम-प्रकाश' नाम से अलंकार का ग्रंथ निर्मित किया था। उसकी एक रचना कहीं शिवसिंह सेंगर को मिली। उस रचना में आलम शब्द का संसार अर्थ में प्रयोग था। सेंगरजी ने उसे आलम की रचना समझकर शिवसिंहसरोज ग्रंथ में आलम को मुअज्जम शाह का दरबारी बताया। उधर पंजाब में भारी संग्राम खड़ा हो गया। आलम की प्रेमगाथा 'माधवानल-कामकंदला' से कुछ अंश रागमाला' का 'ग्रंथसाहब' में संकलित है। एक वर्ग कहने लगा कि यह अंश प्रक्षिप्त है। दूसरा वर्ग कहता कि नहीं आलम अकबर के समय में हुए थे। मैं अन्यत्र विस्तारपूर्वक सप्रमाण सिद्ध कर चुका हूँ कि आलम एक ही हैं और उन्हीं की रचना सब है। वे अकबर के समय में हुए थे। इसलिए आलम का समय भक्तिकाल के भीतर है। रसखानि और आलम का समय आसपास है।

शेख आलम प्रेम के स्वच्छंद गायक हैं। शेख छाप की रचना में कोमल अनुभूति की मधुरिमा विशेष है। इनमें हृदयपक्ष का आतिशय्य है। अनुभूतियाँ जीवन की वास्तविक अनुभूतियाँ हैं। ये वास्तविक अनुभूतियाँ सच्चे कवि को काव्य की उस उच्चभूमि पर पहुँचा देती हैं जहाँ पहुँचकर उसकी सरसता बढ़ जाती है। प्रसंग-कल्पना के अतिरिक्त अर्थभूमि की विविधता इन्हें दूसरे कवियों से पृथक् कर देती है। इनकी उस रचना में भी भावभूमि स्पष्ट लक्षित होती है जिसमें उड़ान भरी गई है। मुक्तक और प्रबंध दोनों क्षेत्रों में इसका समान अधिकार है। प्रबंध भारतीय प्रेमप्रबंधों की परंपरा

में बना है, सूफियों की भाँति रहस्यात्मकता इसमें नहीं है। माधवानल-कामकंदला के स्वच्छंद प्रेम की कथा इसमें ली गई है। यह कथा हिंदी में बहुप्रचलित रही है। कई कवियों ने इस पर प्रबंध-काव्य लिखे हैं।

भक्तिकाल में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिनकी रचना भक्ति के नाते नहीं साहित्य के नाते महत्त्वपूर्ण हुई है; जैसे नरोत्तमदास, गंग आदि। इनमें से केवल दो (नरोत्तमदास और गंग) का बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

नरोत्तमदास

नरोत्तमदास की दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—सुदामाचरित्र और ध्रुव-चरित्र। इनमें से सुदामाचरित्र बहुत प्रचलित है। दूसरा अप्राप्त है। यह छोटा सा बहुत ही भावपूर्ण खंडकाव्य है। इसमें कथा कहने के लिए दोहा और भावव्यंजना तथा वर्णन के लिए मुख्यतः कबित्त और सवैये रखे गए हैं। सुदामा की दरिद्रता और श्रीकृष्ण की उदारता दोनों का कवि ने अतीव सहृदयतापूर्ण चित्र खींचा है। दांपत्य और वात्सल्य प्रेम की व्यंजना तो बहुतों ने की, किंतु सख्य प्रेम की कम ने। इन्होंने इसकी व्यंजना ही नहीं की, विविध वृत्तियों का मर्मज्ञतापूर्ण विधान भी किया। इनका एक एक छंद भावमय है। भाषा भी बहुत ही सधी और मँजी हुई है। चमत्कारपूर्ण उक्तियों की योजना में कवि नहीं लगा है। रसखानि की सी ही स्वभावोक्ति-पद्धति इनकी भी है। वक्रता के फेर में ये भी नहीं पड़े। कवि की दृष्टि भावों को ही व्यक्त करने में विशेष रही है। संवादों के विचार से भी इनकी योजना बहुत ही मुग्धकारिणी है। इससे जान पड़ता है कि कवि अत्यधिक भावुक या सहृदय व्यक्ति था। हिंदी के खंडकाव्यों में छोटा सा सुदामाचरित्र कई स्पष्ट विशेषताओं को लिए हुए पृथक् ही दिखाई देता है।

गंग

पुराने कवियों में गंग का भी बहुत नाम है। 'दास' ने अपने 'काव्यनिर्णय' में तुलसी के साथ इन्हें भी सुकवियों का सरदार लिखा है * और भाषा की गति-विधि की परख रखनेवाले कवियों में उत्तम

* तुलसी गंग दुवौ भए सुकबिन के सरदार।

माना है। भाटों की कबित्त-शैली प्रसिद्ध है। गंग ने अपने आश्रय-दाताओं की प्रशस्ति ओजपूर्ण शब्दों में गाई है। इसमें संदेह नहीं कि भावानुकूल शब्दावली का प्रयोग करने में गंग अद्वितीय थे। उत्साह का चित्र इन्होंने अत्यंत ओजपूर्ण शब्दों में खींचा है। इनकी रचना के समक्ष वीररस के अन्य कवियों की रचना बहुत शिथिल दिखाई देती है। भूषण की कविता के प्रसार का कारण लोकमान्य आलंबन का चुनाव था। अन्यथा ओज के विचार से गंग की रचना के समक्ष उनकी रचना भी कुछ फीकी दिखाई देती है।

उत्तरमध्यकाल या शृंगारकाल

प्रेमलक्षणा भक्ति में शृंगार को हाथ-पैर फैलाने का पूरा अवसर मिला। अपभ्रंशकाल की शृंगारी प्रवृत्ति, जो समय पाकर दब गई थी, धीरे धीरे सिर उठाने लगी। शृंगार की रचना बराबर होती आई है। आदिकाल में विद्यापति की रचना की चर्चा हो चुकी है। भक्तिकाल में स्वयम् सूरदास ने राधाकृष्ण के शृंगार का भक्तिमिश्रित वर्णन किया। फल यह हुआ कि कवि भक्ति की आड़ लेकर शृंगारी रचना में प्रवृत्त होने लगे। उन्होंने शृंगार-वर्णन को 'राधिका-कन्हाई के सुमिरन' का बहाना बना लिया। घोर शृंगार की रचना उस बहाने की ओट में चल पड़ी। यद्यपि शृंगारी रचना सं० १६०० के आस-पास से ही स्वच्छंद रूप में दिखाई पड़ती है तथापि १६०० से १७०० तक उसका प्रस्तावनाकाल ही समझना चाहिए। शृंगार की प्रवृत्ति एक तो रीतिशास्त्र का सहारा लेकर बढ़ी, दूसरे भक्तिकाल की अधिकतर फुटकल रचना के परिणाम-स्वरूप सूफियों के प्रबंध-काव्य की ओर न जाकर मुक्तकों की ओर लपकी। नायिकाभेद और अलंकार का निरूपण इसी से उपयुक्त दिखाई पड़ा। नायिका-भेद या रसनिरूपण पर जो रचना हुई वह तो शृंगारमय थी ही, अलंकार-निरूपण में भी उदाहरण-स्वरूप शृंगार की ही रचना अधिक परिमाण में निर्मित हुई।

सं० १५९८ के आसपास मोहन मिश्र ने 'शृंगारसागर' नाम की पोथी शृंगार में लिखी, इसमें रसनिरूपण किया गया है। रहीम ने भी बरवै-नायिकाभेद लिखा। केशव ने रसिकप्रिया का निर्माण किया और सेनापति ने भी कबित्त-रत्नाकर में शृंगार की ही तरंगें लहराईं। सं० १७०० के आसपास भक्ति की रचना मंद पड़ गई और शृंगार की रचना प्रचुर परिमाण मे होने लगी।

शृंगारकाल में दो प्रकार के कवि स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक वे जो रीति का सहारा लेकर शृंगार की रचना करते थे, दूसरे वे जो रीतिमुक्त स्वच्छंद रचना करनेवाले थे। रीतिबद्ध रचना करनेवालों में भी दो प्रकार के कवि दिखाई पड़ते हैं। कुछ तो रीतिशास्त्र का कोई लक्षण-ग्रंथ लिखने बैठते थे और उसके उदाहरणों के रूप में शृंगारी रचना प्रस्तुत करते थे और कुछ प्रकीर्ण रचना ही करते थे, लक्षणग्रंथ नहीं बनाते थे, पर उन पर रीति का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। रीतिमुक्त रचना करनेवालों की कृति रीति की पद्धति पर नहीं चली। वह उनका स्वच्छंद उद्‌गार है। अधिक संख्या रीति का अनुगमन करनेवालों की ही है और जो शृंगार की रचना करनेवाले नहीं थे वे भी रीति का ही सहारा लेकर चले। इसी से ऐतिहासिक इसे 'रीतिकाल' कहते हैं। उत्तरमध्यकाल को 'रीतिकाल' कहना ठीक है। पर रीतिकाल में अपनी स्वच्छंद उद्भावना दिखानेवाला कोई नहीं हुआ। वस्तुतः ये लोग रीति के आचार्य न होकर कविमात्र थे। संस्कृत से रीति की पकी-पकाई सामग्री लेकर ये कवित्वशक्ति का ही प्रदर्शन करना चाहते थे। अतः वर्ण्य इनके पास शृंगार ही था। रीतिकाल कहने से इनकी कृतियों के विभाजन का कोई मार्ग नहीं मिलता। पर शृंगारकाल कहने से स्पष्ट विभाग दिखाई पड़ते हैं। अतः इसे वर्णन-प्रणाली के विचार से रीतिकाल न कहकर वर्ण्य के विचार से शृंगारकाल कहना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है। इसका विभाग यों होगा—
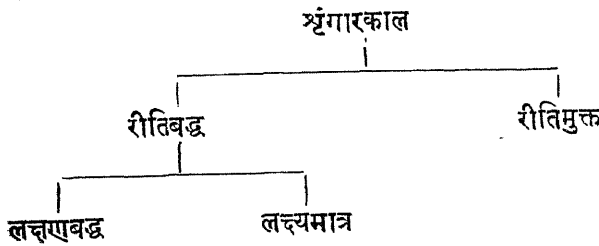
प्रस्तावनाकाल के कवि

शृंगार के प्रस्तावनाकाल में कई कवि हुए जिनमें से केवल तीन प्रमुख कवियों की प्रवृत्तियों का संक्षेप में उद्‌घाटन किया जाता है—

केशवदास

केशवदास ने लक्षण-ग्रंथ ही नहीं, लक्ष्य-ग्रंथ भी लिखे हैं। केवल शृंगार की ही नहीं, अन्य रसों की भी रचना की है। मुक्तक ही नहीं

प्रबंध भी लिखे हैं। इनके ग्रंथों के नाम ये हैं—रसिकप्रिया, कविप्रिया, रामचंद्रचंद्रिका, शिखनख, छंदमाला, रतनबावनी, वीरचरित्र, जहाँगीर-जसचंद्रिका और विज्ञानगीता। रतनबावनी, वीरचरित्र, जहाँगीरजस-चंद्रिका प्रशस्तिकाव्य हैं। रतनबावनी काव्यनिबंध है और वीरचरित्र प्रबंधकाव्य। यह दोहे-चौपई की शौरसेनी पद्धति पर लिखा गया वीररसात्मक प्रबंधकाव्य है। इसमें युद्ध के वर्णन दान-लोभ के संवाद के रूप में किए गए हैं। इसके ऐतिहासिक तथ्य ऐतिहासिकों के विशेष काम के हैं। इनका प्रसिद्ध प्रबंधकाव्य रामचंद्रचंद्रिका है। प्रबंधकाव्य के लिए कथा का क्रमबद्ध और अवसर के अनुकूल विस्तार-संकोच अपेक्षित होता है। रामचंद्रचंद्रिका में समुचित रूप में ऐसा नहीं है। केशवदासजी दरबारी प्रवृत्ति के जीव थे। जो दरबार या राजश्री के अनुकूल पड़ा उसका वर्णन विस्तार से किया है। पांडित्य का प्रदर्शन भी इनमें प्रधान था, जो रामचंद्रचंद्रिका में स्थान स्थान पर दिखाई देता है। शास्त्रस्थितिसंपादन की इच्छा इन्हें बराबर रही।

महाकाव्य वर्णन-प्रधान होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्णनों पर ही दृष्टि रखकर कवि चले और वर्ण्य विषयों का ठीक ठीक निरूपण न करे या वर्णनों के लिए कथा की क्रमबद्धता का त्याग कर दे। संस्कृत में पिछले काँटे श्रीहर्ष का 'नैषध' बना। उसमें कथा-भाग थोड़ा है, वर्णन ही अधिक है। श्रीहर्ष ने वर्ण्य विषयों के साथ तादात्म्य की प्रतीति नहीं खोई है। निरीक्षण इतना सूक्ष्म और व्यापक है कि वर्णनों को पढ़नेवाला ऊबता नहीं। किंतु केशवदास के वर्णन वैसे मार्मिक नहीं हैं। ये चमत्कारवादी कवि थे। स्थान स्थान पर चमत्कार दिखलाना इनका लक्ष्य था। चमक-दमक के चक्कर में विशेष रहने से प्रबंधकाव्य के अन्य अपेक्षित गुणों का ध्यान इन्हें नहीं रहा। यह निःसंकोच कह सकते हैं कि केशवदास की रचना में भावपक्ष दब गया है। रचना में कलापक्ष की प्रधानता का हेतु संस्कृत का पांडित्य है। इन्होंने संस्कृत के जिन ग्रंथों को आदर्श बनाया वे सब चमत्कारपूर्ण उक्तियों से लदे हैं। परिसंख्या, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि अलंकारों की जैसी भरमार राम-चंद्रचंद्रिका में दिखाई पड़ती है वैसी उसके आदर्शग्रंथ बाण की 'कादंबरी' में भी। कादंबरीकार ने जिन जिन दृश्यों, स्थानों आदि का वर्णन किया है उनकी विशेषताओं का कुछ ध्यान भी रखा है, पर केशव ने चमत्कार के फेर में यह ध्यान बहुत कुछ त्याग दिया है।

प्रबंध में बीच बीच में उपदेशात्मक प्रसंगों की नियोजना भी ठीक नहीं जान पड़ती। केशव की यह प्रधान प्रवृत्ति है। संस्कृत के 'प्रबोध-चंद्रोदय' नाटक के आधार पर लिखी 'विज्ञानगीता' में भी ऐसे कई प्रसंग जुड़े हैं।

रामचंद्रचंद्रिका में संवादों की योजना ध्यान देने योग्य है। यह योजना नाटकीय शैली की है। इन्होंने रामाख्यान पर लिखे संस्कृत नाटकों से तो कई प्रसंग उल्था करके ही रख दिए हैं। राजनीतिक प्रसंग के संवाद अधिक आकर्षक हैं। कुछ पात्रों का चारित्र्य भी विशेष रूप में लक्षित कराया गया है। उत्तरार्द्ध में लवकुश की उक्तियाँ विशेष मार्मिक बन पड़ी हैं। पर ऐसे मार्मिक स्थल इतने बड़े काव्य में थोड़े ही हैं। शैली देखते हैं तो उसमें विविध प्रकार के छंदों के उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है। प्रबंध-काव्य में धारा होती है। धारा को बनाए रखने में छंद भी सहायक होते हैं। इसी से एक सर्ग में प्रायः एक ही छंद का प्रयोग करते थे। केवल अंत में दो-चार छंद बदल दिए जाते थे। किंतु रामचंद्रचंद्रिका में छंदों का परिवर्तन इतना शीघ्र और इतने अधिक रूपों में हुआ है कि प्रवाह खंडित हो गया है। अतः प्रबंधकाव्य के विचार से रामचंद्रचंद्रिका आदर्श रचना नहीं है। कथाक्रम यथावश्यक न होने से वह प्रकीर्ण युक्तियों का संग्रह जान पड़ती है।

लक्ष्य-ग्रंथों को छोड़कर लक्षण-ग्रंथों की छानबीन करते हैं तो वहाँ भी अवधानता नहीं दिखाई पड़ती। इन्होंने काव्य-कल्पलतावृत्ति, काव्यादर्श आदि के अनुगमन पर 'कविप्रिया' नाम से कविशिक्षा की अच्छी पुस्तक प्रस्तुत की। उसमें अलंकार (विशेष) * के निरूपण में कई स्थल त्रुटिपूर्ण हैं। निरीक्षण की शक्ति न रखनेवालों या उससे भागनेवालों को भी काव्यपरंपरा का ज्ञान कविप्रिया से सुलभ हो गया। कवि कविशिक्षा की पोथी पढ़कर ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होने लगे, स्वतः निरीक्षण करना इन्होंने छोड़ ही दिया। दक्षिणापथ के वर्णन में उत्तरापथ के वृक्षों की उद्धरणी या उत्तरापथ के वर्णन में

---

* 'कविप्रिया' में 'अलंकार' शब्द के भीतर सारी काव्यसामग्री गृहीत हुई है। उसमें अलंकार के दो भेद किए गए हैं—सामान्य और विशेष। 'सामान्य' के अंतर्गत वर्ण्य वस्तु (मैटर) और विशेष के अंतर्गत वर्णन-प्रणाली (फॉर्म) या प्रकृत अलंकार रखे गए हैं।

दक्षिणापथ के वृक्षों की नामावली अथवा मथुरा में मेवे के पौधे लगाना केशव की ही जमाई परिपाटी का परिणाम है।

'रसिकप्रिया' में नायिकाभेद और थोड़ा सा रसों का परिचय है। इसमें शृंगार की रसराजता विलक्षण ढंग से प्रमाणित की गई है। इन्होंने संस्कृत की ही सारी सामग्री ली है। 'रसिकप्रिया' को देखते हुए मानना पड़ता है कि केशव में प्रसंग-कल्पना की शक्ति थी अवश्य। काव्यभाषा से भी ये भली भाँति परिचित थे। यदि इसी पद्धति पर इनकी सारी रचना होती तो ये 'कठिनकाव्य के प्रेत' होने से बच जाते। पांडित्य-प्रदर्शन के विचार से इन्हें महाकाव्य लिखने का उत्साह हुआ। इसी से रामचंद्रचंद्रिका की रचना बेढंगी हो गई। इन्होंने संस्कृत के शब्द अधिक रखे हैं और कहीं कहीं तो अप्रचलित तक। ये कहते भी थे—

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा-कबि भो मंदमति तेहि कुल केसवदास ॥—कविप्रिया।

रहीम

अब्दुर्रहीम खानखाना अकबरी दरबार के प्रसिद्ध कवियों में से थे। यह वह समय था जब कविता की वाग्धारा राजा-रईसों को भी काव्य करने के लिए खींच रही थी। स्वयम् अकबर हिंदी में कविता करता था और उसके बड़े बड़े मुसाहिब भी। रहीम बहुरंगी रचना करनेवाले कवि थे। इन्होंने संस्कृत में भी रचना की है और कई भाषाओं के मिश्रण से 'भाषा-समक' भी लिखा। किंतु इनकी प्रसिद्धि नीति के मुक्तक दोहों और बरवै-नायिकाभेद के कारण विशेष है। कुछ महाशयों की धारणा है कि बरवै छंद रहीम के समय से चला। किंवदंती है कि इनके किसी सेवक की पत्नी ने परदेश जानेवाले पति से निम्नलिखित छंद में प्रेमरक्षा की प्रार्थना की—

प्रेमप्रीति कर बिरवा चलेउ लगाइ।
सींचन कै सुधि लीन्हेउ मुरझि न जाइ ॥

यह छंद रहीम को इतना पसंद आया कि इन्होंने इसी छंद में छोटा सा नायिकाभेद लिख डाला। इस छंद में आए 'बिरवा' शब्द के अनुसार इसका नाम 'बरवै' रख दिया। यह कपोल-कल्पना ही है। यह छंद पूर्वी प्रदेश की जनता का है, रहीम पश्चिम के थे। इसलिए हो सकता है कि यह वहाँ नया छंद समझा गया हो। बरवै पहले से

प्रचलित छंद है। यह भी कहा जाता है कि तुलसीदास ने 'बरवै रामायण' रहीम की देखादेखी लिखा है।

रहीम ने नीति की बहुत सी रचना की, पर इसके कारण इन्हें केवल सूक्तिकार समझना ठीक नहीं। साधारण नीतिकार जैसी रचना करता है उससे इनकी रचना भिन्न है। नीति लिखनेवाले साधारण जन यदि दृष्टांत, उदाहरण आदि का सहारा लेते हैं तो प्रायः जीवन के सामान्य तथ्यों का ही ग्रहण करते हैं, विशेष की ओर नहीं झुकते। यदि झुकते भी हैं तो मार्मिक दृष्टांत नहीं चुनते। रहीम ने जीवन के अधिकतर विशेष तथ्यों का ग्रहण किया है और उसका मार्मिक से मार्मिक पक्ष सामने रखा है। कवि की नीति की रचना मन की प्रेरणा या मार्मिकता से हुई है। रहीम की रचना का अत्यधिक प्रचार इसी मार्मिकता के कारण हुआ।

सेनापति

सेनापति हिंदी के कवीश्वरों में से थे। इनकी रचना दो प्रकार की है। एक अलंकार-चमत्कार से परिपूर्ण, दूसरी वर्णनात्मक, जो प्रायः अलंकार के लदाव से मुक्त है। यद्यपि इन्हें श्लेष का विशेष अनुराग था तथापि इनका श्लेष-चमत्कार औरों से निराला है। सर्वत्र शब्द-साम्य लेकर ही इन्होंने श्लेष्ट रचना नहीं की। इनकी भंगपद श्लेष की भद्दी रचना बहुत थोड़ी है। अर्थश्लेष के जैसे उदाहरण 'कबित्तरत्नाकर' में हैं, वैसे अन्यत्र नहीं। केशव ने भी श्लेष का चमत्कार दिखाया है पर उनकी रचना में अधिकतर शब्द-साम्य है और साथ ही वह सफाई नहीं जैसी इनमें। इसका कारण है। श्लेष का काव्योपयोगी चमत्कार दिखाने के लिए भाषा पर अच्छा अधिकार होना चाहिए। सेनापति का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। केशवदास की रचना में श्लेष का चमत्कार संस्कृत भाषा से उधार लिया हुआ है। सेनापति ने श्लेष का चमत्कार हिंदी भाषा के आधार पर दिखाया है। इनकी वर्णनात्मक रचना से इनकी निरीक्षणशक्ति का पता चलता है। इनकी वर्णनात्मक रचना षट्ऋतुओं पर है। उनमें भी इन्होंने कहीं कहीं श्लेषपरक उक्तियाँ रखी हैं। पर ऐसी भी कई मुक्तक रचनाएँ हैं जिनमें या तो ऋतुओं का उद्दीपनरूप में वर्णन है या स्वच्छंद रूप में उनकी विशेषताओं या उनके प्रभाव का मार्मिक अभिव्यंजन। सेनापति ने ऋतुओं को केवल उद्दीपन के रूप में नहीं

से, अभिनेताओं का अभाव होने से नाटक-रचना की ओर किसी की रुचि ही नहीं हुई, फिर नाटक पर लक्षण-ग्रंथ ही लिखने कौन बैठता? मुसलमानों का शासन भी नाट्यप्रदर्शन का विरोधी था, धार्मिक नीति के कारण।

राजाओं के मनोरंजन के लिए आवश्यकता होती है कि दरबार या सभा में कवि थोड़े समय के भीतर कविता का पूर्ण चमत्कार दिखा सके। अतः मुक्तक-रचना का बाहुल्य हुआ। उसमें भी चमत्कार उत्पन्न करने की ओर कवियों की विशेष दृष्टि गई। वे प्रकृत कल्पना (इमैजिनेशन) की अपेक्षा उड़ान (फैंसी) भरने में अधिकाधिक प्रवृत्त हुए। विदेशी अर्थात् फारसी-साहित्य के संपर्क में आने से इस प्रकार की रुचि को और सहारा मिला। दरबारदारी के उपयुक्त उधर जैसे शेर या गजल, वैसे ही इधर कवित्त, सवैये या दोहे बने।

यद्यपि काव्य की गद्य और पद्य दोनों शैलियाँ संस्कृत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही हैं तथापि उसकी अधिकतर काव्य-रचना पद्य में ही है। हिंदी की भी यही स्थिति है। शृंगारकाल में गद्य का वैसा विकास नहीं हो सका जैसा लक्ष्य-ग्रंथों के लिए अपेक्षित था। संस्कृत में चलते गद्य का विकास चाहे न हुआ हो, किंतु निरंतर शास्त्र-चर्चा के कारण शास्त्रीय गद्य का अच्छा विकास हुआ। गद्य का विकास न होने से हिंदी के लक्षण-ग्रंथ पद्य में ही लिखे गए। लक्षण और लक्ष्य दोनों पद्य में ही प्रस्तुत हुए। एक ओर तो रीति के विविध विषयों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद या पार्थक्य बनाए रखने के लिए नपी-तुली शब्दावली की अपेक्षा, दूसरी ओर अनेक बंधनों में बँधकर चलनेवाली पद्यशैली। उस पर भी लक्षणों पर कवियों की विशेष दृष्टि नहीं। फल यह हुआ कि हिंदी में लक्षण-ग्रंथ रीतिशास्त्र का सम्यक अध्ययन करने के उपयुक्त बन ही नहीं सके। स्थूल रूप से विषय का बोध करानेवाले अनेक ग्रंथ लिखे गए, पर सूक्ष्म विवेचन करनेवाले ग्रंथ तब तक नहीं बन सके जब तक गद्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ।

यह कह चुके हैं कि रीतिग्रंथ लिखनेवाले दो प्रकार के थे। एक वे जिन्होंने संपूर्ण काव्यांगों का विवेचन किया, दूसरे वे जो किसी एक ही अंग को लेकर चले। अधिक संख्या में अलंकार और नायिका-भेद के ग्रंथ लिखे गए। यद्यपि कई रचयिताओं ने नवरस-वर्णन करने की प्रतिज्ञा करके ग्रंथ का आरंभ किया तथापि अन्य रसों का बहुत थोड़ा विचार किया और शृंगाररस का सबसे अधिक विस्तार।

इनके आधार-ग्रंथ हुए संस्कृत के काव्यप्रकाश, चंद्रालोक, कुवलयानंद (चंद्रालोक के अलंकार-प्रकरण की विस्तृत व्याख्या), रसमंजरी, रसतरंगिणी आदि। अलंकारों की व्याख्या करनेवाले प्रायः कुवलयानंद को आधार बनाते रहे और दशांग काव्य का विवेचन करनेवाले काव्यप्रकाश को। नायिकाभेद का आधार-ग्रंथ रसमंजरी है। केशव ने रसिकप्रिया में कुछ और ग्रंथों को भी आधार बनाया। आगे के कुछ कवियों ने कम से कम नायिकाभेद के प्रसंग में केशव की भी लकीर पीटी। किंतु हिंदी में नायिकाभेद के जो अधिकतर ग्रंथ बने उनका मूलस्रोत भानुदत्त की रसमंजरी है। इसी प्रकार नवरस के थोड़े से विवेचन के साथ नायिकाभेद लिखनेवालों ने भानुदत्त की रसतरंगिणी का सहारा लिया। 'रसतरंगिणी' सामने न होने से हिंदी में देव कवि द्वारा निरूपित 'छल' संचारी बहुत धूम मचाए हुए था। अन्यत्र प्रमाणित किया जा चुका है कि देव ने 'भावविलास' में और बातों के साथ 'छल' संचारी भी वहीं से लिया है। उन्होंने रसतरंगिणी का नाम तक नहीं लिया। पर ग्वाल कवि ने 'रसरंग' में उसका स्पष्ट उल्लेख किया है।* भानुदत्त की इन दोनों पुस्तकों ने हिंदी के रीतिग्रंथों को बहुत प्रभावित किया। संस्कृत में नायिकाओं के अंगज, स्वभावज, अयत्नज अट्ठाईस अलंकार माने जाते हैं, किंतु हिंदी में 'हाव' के नाम से दस अयत्नज चेष्टाओं का ग्रहण हुआ। यह भी भानुदत्त के अनुगमन का परिणाम है। उन्होंने हाव नाम से 'रसतरंगिणी' में इन्हीं दस का उल्लेख किया है। साथ ही इन हावों को उन्होंने स्थितिभेद से अनुभाव और उद्दीपन दोनों के अंतर्गत स्वीकृत किया है। हिंदी में भानुदत्त द्वारा विवेचित स्थितिभेद से होनेवाले अंतर का उल्लेख गुलाम नबी ने रसप्रबोध में किया है।† काव्य के अंग क्या प्रत्यंग मात्र का वर्णन या निरूपण करनेवाले ग्रंथ भी लिखे गए; जैसे नखशिख, षट्ऋतु, बारहमासा आदि के

* भानुदत्तजू नै लिख्यो रसतरंगिनी माँहि।
नूतन इक औरो बनत छल संचारी चाहि॥—प्रथम उमंग, १८९।

† तन बिभचारिन बिछिति है, ये सब सात्विक भाव।
भावै परगट करन हित गने जात अनुभाव॥
नारि और नर करत हैं जो अनुभाव उदोत।
ते वै दूजे और कौं नित उद्दीपन होत॥—५७५, ७६।

ग्रंथ नायिकाभेद या शृंगार के भीतर तथा चित्रमीमांसा, यमकविलास आदि अलंकार के अंतर्गत। शृंगारी दिनचर्या पर भी पोथी बनी; जैसे अष्टयाम पर। कुछ विभिन्न जाति की स्त्रियों को वर्ण्य नायिका या आलंबन के रूप में रखकर ग्रंथ लिखे गए; जैसे जातिविलास। शास्त्र की दृष्टि से विभिन्न जाति की स्त्रियों को आलंबन रूप में रखना उपयुक्त नहीं। अतः दास ने इनको दूती बनाकर दोष का परिमार्जन करने की चेष्टा की।*

दशांग काव्य लिखनेवालों ने भी शास्त्र का सूक्ष्म विवेचन समझने में भूलें की हैं। नई उद्भावना तो दूर रहे, मूल ग्रंथों को ठीक ठीक उतार देना भी कर्ताओं के लिए कठिन था। फिर भी कुछ ऐसे कर्ता अवश्य हुए हैं जिन्होंने नूतन उद्भावना के लिए हाथ-पैर मारे हैं; जैसे दास ने। भिखारीदास ने 'काव्यनिर्णय' में 'तुक' का नया विचार किया है जो और किसी ग्रंथ में नहीं पाया जाता। अलंकारों का स्थूल वर्ग बाँधने का भी उन्होंने प्रयास किया है, जो विशेष लाभदायक नहीं है।

लक्ष्यकार

कुछ कवि ऐसे भी दिखाई देते हैं जिन्होंने कोई रीतिग्रंथ तो नहीं लिखा पर रीति की छाप जिनकी कविता में पर्याप्त दिखाई देती है; जैसे बिहारी, नेवाज, प्रीतम, रसनिधि, दीनदयाल गिरि, पजनेस आदि। इनकी गणना रीतिबद्ध रचयिताओं में ही होनी चाहिए। पार्थक्य के लिए इन्हें रीतिसिद्ध कवि कह सकते हैं। बिहारी ने रचना रीति से इतनी बद्ध रखी है कि रीति की पूरी परंपरा से परिचित न रहनेवाला कहीं कहीं इनकी रचना का ठीक ठीक अर्थ ही नहीं लगा सकता। ऐसे कवियों की रचना रस, नायिकाभेद या अलंकारों के भीतर सरलता से बाँटी जा सकती है।

बिहारी

नायिकाओं तथा अलंकारों के वे मुख्य मुख्य भेद जो मुक्तकरचना में निपुणतापूर्वक खप सकते थे बिहारी ने अपनी रचना में खपाए हैं। जैसे विदग्धा, खंडिता, अभिसारिका आदि नायिकाओं के चलते भेद गृहीत हुए वैसे ही साम्यमूलक या वैषम्यमूलक अलंकार भी। कुछ चमत्कार मात्र उत्पन्न करनेवाले अलंकार भी वैचित्र्य-प्रदर्शन के लिए लाए गए हैं। बिहारी ने मुक्तक-रचना द्वारा भली भाँति प्रमाणित कर

* देखिए 'शृंगारनिर्णय'।

दिया कि रीतिबद्ध रचना कारीगरी के साथ कैसे की जा सकती है। इनमें ध्यान देने योग्य तीन विशेषताएँ हैं। एक है चेष्टाओं और उक्तियों की योजना, जिसके अंतर्गत नायिकाओं के हावों का चित्रण भी आ जाता है। दूसरी है उनकी व्यवस्थित भाषा। व्रजी की समृद्ध रचना में जिन दो चार कवियों की भाषाविषयक क्षमता ध्यान देने योग्य है उनमें एक बिहारी भी हैं। बिहारी की भाषा में व्यंजकता पूर्ण परिमाण में दिखाई देती है। इन्होंने 'अरथ अमित अति आखर थोरे' को पूर्णतया प्रमाणित कर दिया। तीसरी है विदेशी प्रभाव को भारतीय पद्धति के भीतर ही ग्रहण करना। जुगुप्साव्यंजक विदेशी पद्धति से बिहारी ऐसे प्रभावित नहीं हुए कि अपनापन खो बैठते। इन्होंने भारतीयता के मेल में ही विदेशी रंग-ढंग रखा है।

इन सबके अतिरिक्त बिहारी ने कल्पना और उड़ान दोनों की उक्तियाँ मनोरंजक रूप में प्रस्तुत की हैं। यद्यपि काव्य की दृष्टि से कल्पना का जितना महत्त्व है उतना उड़ान का नहीं, किंतु उड़ान की पद्धति बहुत दिनों से भारतीय मुक्तक-रचना में आ चुकी थी, और उसका पालन करना परिस्थितिवश उस समय के कवि के लिए अनिवार्य था। दरबारों और रसिकों के बीच उड़ान भरनेवाले कवियों का ही विशेष मान हुआ करता था। ये कवि किसी दूसरे लोक के पक्षी तो थे नहीं, पर पंख लगाकर उड़ते अवश्य थे और बहुत दूर तक उड़ते थे। शास्त्रविद्या के पारंगतों को बताने की आवश्यकता नहीं कि इनकी उड़ान अनुमानाश्रित होती थी और इनकी रचना में वस्तुव्यंजना का प्राधान्य होता था। बिहारी के आगमन ने हिंदी-साहित्य-धारा में अनूठा प्रवाह उत्पन्न कर दिया। उसी प्रवाह में बहनेवाले और भी कितने ही दिखाई पड़े। पर उस बूँद से भेंट औरों को कहाँ। शृंगारकाल में बिहारी की सतसैया जितनी अधिक देखी-सुनी पढ़ी-लिखी गई उससे उसका महत्त्व स्पष्ट है। बिहारी की रचना को लेकर साहित्य-रसिकों द्वारा पृथक् वाङ्मय ही निर्मित हुआ, जैसे तुलसीदास की रचना को लेकर भक्तों द्वारा। तुलसीदास की रचना काव्य और धर्म दोनों का योग लेकर चली थी, किंतु बिहारी की रचना शुद्ध काव्य के सहारे। फिर भी उसका जितने बड़े दायरे में पठन-पाठन हुआ उससे सिद्ध है कि शुद्ध साहित्यिक रचना से लोक प्रभावित था। यद्यपि बिहारी की रचना के प्रसार का कारण शृंगारिक लोकरुचि भी थी तथापि उसमें वह विशेषता पूर्ण और समुचित मात्रा में है जो

साहित्यिक रचना के लिए अपेक्षित होती है। यह विशेषता है काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष का तुल्ययोग। लोकरुचि कहीं तो भाव पर मुग्ध होनेवाली होती है और कहीं कला या कारीगरी पर। इसी लिए जो कवि दोनों का तुल्ययोग नहीं कर पाते वे भावप्रधान और कलाप्रधान रचना को पृथक् पृथक् प्रस्तुत करने का उद्योग करते हैं। किंतु इन दोनों पक्षों के तुल्ययोग से संघटित होनेवाली रचना साहित्य की उस उच्च भूमि पर पहुँच जाती है जहाँ से उसके वैचित्र्य के दर्शन सबको हो सकते हैं।

रीतिमुक्त

अब रीतिमुक्त रचना करनेवालों की ओर आइए। प्रेम के इन स्वच्छंद गायकों का साहित्य के इतिहास में विशेष महत्त्व है। भक्तिकाल के भीतर रसखानि और शेख आलम भी इसी प्रकार के गायक हो गए हैं। शृंगारकाल में घनआनंद, ठाकुर, बोधा और द्विजदेव ऐसे ही गायकों में से प्रमुख थे। इनमें अपनी अलग अलग विशेषताएँ हैं और वे ऐसी हैं जो इस काल के दूसरे वर्ग के कवियों के बाँटे नहीं पड़ीं, यहाँ तक कि बिहारी के भी नहीं।

घनआनंद

इनमें से सबसे अधिक आकर्षक रचना घनआनंद की है। ये वस्तुतः प्रेम के पपीहे हैं। इनकी रचना में वियोग की अंतर्दशाओं, प्रेम की अनेकानेक अंतर्वृत्तियों, रूप-व्यापार के वैचित्र्यपूर्ण चित्रों, भाषा की वाग्योगमयी शक्तियों, विरोध की चमत्कारोत्पादक उक्तियों आदि की ऐसी गंभीरता से नियोजना है कि 'नेह की पीर' को 'हिय की आँखों' से देखनेवाले ही उसे भली भाँति समझ सकते हैं।* हिंदी की नवीन कविता में अँगरेजी से उधार ली हुई विदेशी लाक्षणिकता, विरोधमूलक उक्तियों, प्रच्छन्न रूपकों आदि पर निछावर होनेवाले बहुत से कलाकार दिखाई देते हैं। पर वे हिंदी के पुराने भांडार को 'हिय की आँखों' से देखते ही नहीं। घनआनंद की लाक्षणिकता, विरोधात्मकता, प्रच्छन्नरूपकता अँगरेजी की इन विशेषताओं से भी अधिक गुण वाली हैं। घनआनंद ने ऐसे बढ़ बढ़कर प्रयोग बेखटके किए हैं जैसे प्रयोगों का साहस, साहसी से साहसी नवीन कवि बिना हिचक के नहीं कर सकता।

---

* समुझै कबिता घनआनँद की हिय-आँखिन नेह की पीर तकी।

ठाकुर

ठाकुर नाम से हिंदी में प्रसिद्ध कवि तीन हैं, तीनों की रचना बहुत मिलती-जुलती है। केवल भाषा की सूक्ष्म पहचान से ही यदि इनको अलग किया जा सके तो कदाचित् किया जा सके, अन्यथा इनकी रचना को पृथक् करने में बहुतों को धोखा हो चुका है। इन तीनों में से एक जैतपुर (बुंदेलखंड) के हैं, जिनकी रचना अधिक परिमाण में मिलती है। बुंदेलखंड भारतवर्ष में ऐसा प्रदेश है जहाँ भारतीय संस्कृति के चिह्नों की रक्षा करने का बंधन है। बंधन नियम का नहीं, समाज का है, हृदय का है। त्योहारों के मनाने का जैसा अपूर्व उत्साह उधर दिखाई देता है वैसा इधर नहीं, नगरों में क्या गाँवों में भी। यही कारण है कि बुंदेलखंड के कवि इन त्योहारों की समारोहच्छटा का बड़े चाव से वर्णन करते हैं। अखती (अक्षयतृतीया), बरसाइत (वट-सावित्री), गनगौर (गणपति-गौरी) के मेले और त्योहार पूर्ण उमंग के साथ उधर होते हैं और भावसंपन्न व्यक्ति उन पर निछावर भी होते रहते हैं। ठाकुर ने ऐसे त्योहारों का प्रभावकारी वर्णन किया है। ध्यान देने की दूसरी बात है ठाकुर की लोकोक्ति-योजना। स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वे बात बात में लोकोक्ति, दृष्टांत आदि का व्यवहार करती हैं। इन्होंने उनकी इस विशेषता पर दृष्टि रखकर लोकोक्ति-वाङ्मय का बहुत ही काव्योपयोगी व्यवहार किया है। लोकोक्ति का चमत्कार जैसा इस कवि ने दिखाया वैसा हिंदी के किसी दूसरे कवि ने नहीं। लोकोक्ति-योजना में विशेषता यह है कि वह प्रसंगानुकूल होने के अतिरिक्त अर्थगत भी है। इन्होंने सवैया छंद का ही अधिकतर व्यवहार किया है। उसके तीन चरणों में जो उक्ति जमाई गई है वह चौथे चरण की लोकोक्ति द्वारा अर्थ की ऐसी ऊँची और विस्तृत भूमि पर स्थित दिखाई देती है जो हृदय के लिए विशेष आकर्षक और भावुक के लिए विशेष मुग्धकारिणी है।

बोधा

बोधा कुछ नया रंग-ढंग लेकर चलनेवाले स्वच्छंद गायक थे। इनकी मुक्तक रचना अधिकतर प्रेममार्ग का निरूपण करनेवाली हैं, फिर भी 'प्रेमपीर' की वह सचाई इनमें पाई जाती है जो उन्मुक्त कवि के लिए अपेक्षित है। जैसे कुछ रीतिबद्ध रचना करनेवाले फारसी की बाजारू प्रेमपद्धति से प्रभावित हुए वैसे ही रीतिमुक्त बोधा

भी। इनकी रचना में घनआनंद, ठाकुर आदि की सी गहराई नहीं मिलती किंतु भाव बहुत ही सधे और सरल ढंग से व्यक्त किए गए हैं। ये अधिकतर वैचित्र्य के चक्कर में नहीं पड़े हैं। भाषा इनकी विदेशी शब्दों के कुछ अधिक आ जाने से प्रांजल नहीं रह गई है। असल में इनकी रचना में दो प्रकार की भाषा मिलती है। एक तो व्रजी के परंपरागत रूप को लेकर चलनेवाली और दूसरी अरबी-फारसी का सहारा लेकर खड़ी होनेवाली। इनकी व्रजी की रचना विशेष अनुभूतिपूर्ण और मार्मिक है। चलती भाषा के खड़े रूप में की गई रचना कुछ प्रखर है और आशिकी रंग-ढंग विशेष लिए हुए है।

द्विजदेव

द्विजदेव की विशेषता ऋतुवर्णन में दिखाई देती है। हिंदी में रीतिबद्ध रचनाकार शास्त्र में गिनी-गिनाई सामग्री के आधार पर ही ऋतुवर्णन करते रहे हैं, किंतु द्विजदेव ने अपनी आँखों से भी काम लिया है। इन्होंने ऋतुओं के अनुकूल विभिन्न समयों, पक्षियों, वृक्षों, लताओं आदि का अत्यंत प्रभावकारी वर्णन किया है। हिंदी में इनकी रचना इस दृष्टि से अनूठी है। वर्ण्य विषय के अनुरूप छंदों का चुनाव भी किया गया है। उक्तियों पर इन्होंने वैचित्र्य भी लादा है, किंतु केवल चमत्कार दिखाने के लिए नहीं, उसमें भावप्रवणता भी है। बल्कि यों कह सकते हैं कि वैचित्र्य भावव्यंजना में सहायक होकर आया है; वर्ण्यों का रूप निखारने के लिए, उन्हें ढकने के लिए नहीं। यही बात भाषा में भी दिखाई देती है। रीतिबद्ध रचनाकार अनेक कवि हुए किंतु भाषा पर ध्यान देनेवाले मतिराम, पद्माकर आदि कुछ थोड़े ही कवि हैं। प्रेम के स्वच्छंद गायकों में से बोधा को छोड़कर औरों ने हिंदी की लचक या व्यंजक शक्ति पूर्णतया प्रमाणित कर दी है। द्विजदेव ने भाषा में जैसी सफाई दिखाई है वह आगे चलकर हरिश्चंद्र आदि समर्थ कवियों में ही दिखाई पड़ती है। यह सफाई आई है प्राकृत के पुराने शब्दों के त्याग और चलते या चल सकनेवाले नए शब्दों के ग्रहण से। पूरब में रहकर भी इन्होंने पूरबीपन से भाषा को बचाए रखा। दासजी के उस कथन का इन्होंने भाषा द्वारा समर्थन किया जो उन्होंने काव्यनिर्णय में व्रजभाषा की व्याप्ति के संबंध में कहा है अर्थात् व्रजी व्रजवासियों के ही बाँटे नहीं पड़ी। वह उस अखंड परंपरा के बीच से भी प्राप्त की जा सकती

है जो पुराने कवियों से लेकर तत्कालीन कवियों तक दिखाई पड़ती है।*

इस युग के अन्य कवि

शृंगार के अतिरिक्त इस काल में वीररस की भी रचना हुई। वीररस की मुक्तक रचना तो होती ही थी, वीर-कथाकाव्य भी कई लिखे गए। वीररस की रचना के नायक या तो देवी-देवता होते थे या नरेश। देवी-देवताओं पर लिखी गई रचना हनूमान, दुर्गा आदि पर हुई और भक्तिमिश्रित दिखाई पड़ी। वीर पुरुषों पर जो रचना लिखी गई उसमें भी नायक का चुनाव दो प्रकार का है। कुछ कवियों ने तो आश्रयदाताओं का विरुद इसलिए गाया कि वे उनके दरबारी कवि थे। पर कुछ कवि ऐसे दिखाई देते हैं जिन्होंने लोकमंगल में प्रवृत्त होनेवाले वीरों की प्रशस्ति की। भूषण, लाल, जोधराज और चंद्रशेखर ऐसे ही कवि हैं। इन्होंने क्रमशः शिवाजी, छत्रसाल और हम्मीरदेव का यशोगान किया और शिवभूषण, छत्रप्रकाश, हम्मीररासो और हम्मीरहठ नामक ग्रंथ प्रस्तुत किए। आश्रयदाताओं की भाटवृत्ति से विरुदावली गानेवाले सूदन और पद्माकर ऐसे कवि हुए, जिन्होंने सुजानसागर और हिम्मतबहादुर-विरुदावली नामक पोथियाँ लिखीं। जिन कवियों का उल्लेख किया गया है उनमें से भूषण को छोड़ शेष ने वीर-कथाकाव्य ही लिखे हैं। यदि वीरकाल से इन रचनाओं की परंपरा मिलाई जाय तो मानना पड़ेगा कि यह वीरकाव्य का द्वितीय उत्थान था। इसकी विशेषता यह थी कि वीरकाल की रचना की भाँति प्रेम के साहचर्य में वीररस न आकर शुद्ध रूप में आया है। वीररस की रचना का तृतीय उत्थान आगे चलकर आधुनिक काल में दिखाई पड़ता है, जिसमें देश पर तथा प्राचीन वीर नायकों पर वीररस की कुछ रचना निर्मित हुई।

इस युग में नीति लिखनेवाले कुछ सूक्तिकार या पद्यकार भी हुए। जिनमें प्रमुख वृंद, गिरिधरकविराय, सम्मन आदि हैं। वृंद तथा सम्मन ने दोहे में नीति के तथ्य लिखे और गिरिधर ने कुंडलिया में। कुछ भक्त भी हुए हैं, जिनमें भक्तिमिश्रित शृंगार चरम सीमा को पहुँचा; जैसे नागरीदास में।

---

* भाषा-हेतु ब्रजलोक-रीतिहू सो देखी-सुनी,
बहु भाँति कबिन की बानीहू सों जानिए। —काव्यनिर्णय।

आधुनिक काल या प्रेमकाल

आधुनिक काल का आरंभ सं० १६०० से समझना चाहिए। गद्य का इस काल में विशेष प्रसार हुआ और अत्यधिक रचना गद्य में ही लिखी गई। इसलिए इतिहासकार इसे 'गद्यकाल' नाम से अभिहित करते हैं। यदि शैली के विचार से कहा जाय तो बाहुल्य की दृष्टि से 'गद्यकाल' नाम ठीक है, किंतु वर्ण्य विषय या मनोवृत्ति का विचार करके इसे 'प्रेमकाल' कहना सुभीते का जान पड़ता है। इस काल में क्या गद्य क्या पद्य, शुद्ध साहित्य की सभी शाखाओं में प्रेम की ही प्रधानता है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता सभी प्रेमवृत्ति की मुख्यता से व्यंजना करते हैं। 'प्रेम' ऐसा व्यापक नाम लेने से इसके अंतर्गत दांपत्य प्रेम के अतिरिक्त देशप्रेम, प्रकृतिप्रेम, संततिप्रेम, मित्र-प्रेम, ईशप्रेम आदि सभी का ग्रहण हो सकता है; ससीम और असीम दोनों प्रकार के प्रेम अंतर्भुक्त हो जाते हैं।

इस काल में स्पष्ट तीन युग दिखाई देते हैं—आदि, मध्य और सांप्रतिक; जिन्हें क्रमशः भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग और वर्तमान युग कहना चाहिए। भारतेंदु-युग में प्रेमवृत्ति दांपत्य रति से आगे बढ़कर प्रकृति-प्रेम, देशप्रेम तक आ गई थी। कुछ रचना भगवत्प्रेम की भी हुई। द्विवेदी-युग में देशप्रेम और प्रकृतिप्रेम पर अत्यधिक रचना हुई, दांपत्य प्रेम पीछे छूट गया। वर्तमान युग में प्रकृति, देश आदि की ससीम प्रेमवाली रचना कम हुई, असीम के प्रेम की रचना का बाहुल्य हुआ। आदि-युग को भारतेंदु-युग इसलिए कहा गया कि उस समय के लेखकों पर भारतेंदु हरिश्चंद्र की प्रवृत्तियों और प्रेरणा का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। मध्य युग को द्विवेदी-युग कहने का कारण यह है कि उस युग के अधिकतर कर्ता पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी की प्रवृत्तियों का अनुगमन करनेवाले या उनके दिखाए मार्ग पर स्वच्छंद रूप से भी बढ़नेवाले हैं। सांप्रतिक युग में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो सभी शाखाओं का अकेले प्रेरक हो। यदि प्रभाव और नियमन का विचार करें तो स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ही ऐसे दिखाई देते हैं जिनका अंकुश सभी मानते थे। पर उनका सबसे अधिक प्रभाव गद्य में आलोचना के क्षेत्र में दिखाई देता है। अतः इसे वर्तमान युग कहना ही संगत प्रतीत होता है।

भारतेंदु-युग

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदी में भारतेंदु का उदय हुआ। यह अभूतपूर्व घटना थी। इन्हीं के समय से हिंदी-साहित्य नवीनता का रंग पकड़ चला। अँगरेजी शासन प्रतिष्ठित होते ही बहुत सी प्राचीन रूढ़ियाँ समाज से हटाई जाने लगीं, सुधार के आंदोलन उत्तर भारत में जोरों से चल पड़े। समाज के विचारों में परिवर्तन हो चला। बंगाल अनुकरण में सबसे आगे रहा है। विदेशी साहित्य के अनुगमन पर वहाँ नई कही जानेवाली गति-विधि लक्षित होने लगी। भारतेंदु हरिश्चंद्र एक ओर तो अँगरेजी से प्रभावित हुए, दूसरी ओर अँगरेजी की अनुकृति को ले बढ़नेवाली बँगला से। इन्होंने हिंदी में देश-कालानुसार नवीनता की योजना करने का प्रयास किया। एक ओर समाज जीवन को लिए दिए व्यावहारिक पथ में बहुत आगे बढ़ आया था और दूसरी ओर हिंदी-काव्य शृंगार की केवल पद्यबद्ध रचना लिए बहुत पीछे छूट गया था। उस पिछड़े हुए साहित्य को जीवन से जोड़ देने की बड़ी आवश्यकता थी। भारतेंदु ने यही किया।

इन्होंने नवीन भावों की अभिव्यक्ति के लिए पहले गद्य की ओर झाँका। व्रजी में गद्योपयुक्त शक्ति, सामग्री और साहित्य का अभाव दिखाई पड़ा। खड़ी तब तक व्यवहार ही में न रहकर ग्रंथों तक में प्रयुक्त हो चुकी थी। अतः इन्हें गद्य के लिए भाषा तो मिल गई, पर उसके रूप का निर्णय करना आवश्यक था। हिंदी का संस्कृत से परंपरागत संबंध है। अतः भारतेंदु ने अपनी स्वच्छ दृष्टि से संस्कृत-मिश्रित खड़ी को ही गद्य का वास्तविक रूप ठहराया। पहले का जो गद्य दिखाई पड़ा उसमें वह शक्ति और सामर्थ्य पूर्ण मात्रा में नहीं मिली जो चलती भाषा के लिए अपेक्षित होती है। मुंशी सदासुखलाल का गद्य यद्यपि भाषा की प्रकृति के अनुरूप ही चला था तथापि उसमें पंडिताऊपन अधिक था। शास्त्रचर्चा का काम तो वह दे सकता था पर साहित्य-रचना के लिए वैसा पर्याप्त न था। इंशा अल्ला खाँ का गद्य, जो 'रानी केतकी की कहानी' में दिखाई पड़ा, लखनऊ के घेरे में बद्ध था। उसमें सिवा लखनवी बेगमों की घर-गृहस्ती की बोलचाल व्यक्त करने के और अधिक शक्ति नहीं थी। लल्लूलाल का प्रेमसागरवाला गद्य व्रजभाषापन और कविता के ढंग की अनुप्रासांत पदावली से युक्त था। पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त वह व्यावहारिक शिष्ट भाषा

का काम नहीं चला सकता था और न साहित्य की विभिन्न शाखाओं में प्रयुक्त होकर रोचक ही बना रह सकता था। सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा अपेक्षाकृत अच्छी थी किंतु उसमें भी पूरबीपन और पुरानेपन का समयानुरूप त्याग नहीं था। अतः भारतेंदु ने ऐसा गद्य प्रस्तुत किया जो वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं के अनुरूप परिवर्तित होने में समर्थ हुआ।

भाषा के अनंतर साहित्य की ओर दृष्टि ले जाते ही इन्हें दिखाई पड़ा कि श्रव्यकाव्य की रचना तो बहुत हो चुकी पर दृश्यकाव्य के मैदान में सन्नाटा है। 'नाटक' नामधारी कतिपय पुस्तकें तो लिखी जा चुकी हैं पर उनमें से कुछ तो पद्यबद्ध ही हैं और कुछ संस्कृत के केवल अनुवाद-रूप में। तब तक राजा लक्ष्मणसिंह की 'शकुंतला' के अतिरिक्त ठीक-ठिकाने का कोई नाटक संस्कृत से भी अनूदित नहीं हुआ था। अच्छे अच्छे नाटकों से परिचित होने के लिए कई भाषाओं से अनुवाद करने की आवश्यकता थी। अतः इन्होंने अनुवाद में हाथ लगाया। संस्कृत, बँगला और अँगरेजी तीनों से अच्छे अच्छे नाटकों का उल्था किया। कुछ मौलिक रूपक भी प्रस्तुत किए। दृश्य-काव्य का संबंध रंगशाला से है। बिना खेले उसकी उपयोगिता प्रमाणित नहीं हो सकती, इसलिए इन्होंने नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की। भारतेंदु ने स्वयम् तो साहित्य की सेवा की ही, अपने मित्रों, अनुयायियों, प्रेमियों आदि को भी साहित्य की ओर खींचा। फल यह हुआ कि उस समय के सभी हिंदी-लेखक मौलिक नाटक लिखनेवाले, अन्य भाषाओं से नाटकों का अनुवाद करनेवाले और अभिनय में योग देनेवाले दिखाई देते हैं। काशी में ही नहीं, प्रयाग और कानपुर में भी नाटक-मंडलियाँ बनीं। यहीं तक न रह कर भारतेंदु पत्र-पत्रिकाओं की ओर भी मुड़े। इनके मित्रों ने भी इनका अनुगमन किया। अतः हिंदी में उस समय कई पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं, जिनमें विभिन्न विषयों पर निबंध तो प्रस्तुत हुए ही भाषा एवम् शैली के अनेक रूप भी दिखाई पड़े। तात्पर्य यह कि भारतेंदु के समय में साहित्य की भिन्न भिन्न शाखाओं के फूटने का अवसर मिला और वे सिंच-सिंचकर हरी-भरी दिखाई देने लगीं।

भारतेंदु-युग के हिंदी-लेखकों की सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी सजीवता। सबके सब बड़े ही आनंदी जीव थे; जीवन में भी और साहित्यकार के रूप में भी। इस युग में पद्य के क्षेत्र में व्रजी का प्रायः

अखंड साम्राज्य था। गद्य में खड़ी भली भाँति प्रतिष्ठित ही नहीं हो गई, इसने रूप-रंग और प्रवाह भी प्राप्त कर लिया। वर्ण्य विषय नए नए एवम् समय के अनुरूप भी दिखाई देने लगे। इसका प्रमुख कारण था पत्र-पत्रिकाओं की अवतारणा। रसों और भावों के विचार से देशप्रेम एवम् हास्य के अतिरिक्त क्रोध एवम् घृणा के लिए भी कुछ भूमि प्रस्तुत हुई। समाज-सुधार की चर्चा भी साहित्य में दिखाई देने लगी। व्रजी की परंपरा से प्राप्त शृंगारी रचना का लोप तो नहीं हुआ किंतु उनका परिमाण अवश्य कम हो गया। कविता रीतिबद्ध पद्धति छोड़कर रीतिमुक्त मार्ग पर चलने लगी। स्वयम् भारतेंदु की रचना आलम, घनआनंद, ठाकुर आदि प्रेमोन्मत्त गायकों के ढर्रे पर चली। दृश्यकाव्य में भी विधि-विधान के विचार से कुछ थोड़े से परिवर्तन किए गए। संस्कृत के नाटकों में एक अंक के भीतर विभिन्न दृश्यों की योजना नहीं होती थी, पर भारतेंदु ने 'गर्भांक' नाम से अंकों के अंतर्विभाग भी कर डाले।

खड़ी बोली गद्य का प्रसार

खड़ी बोली गद्य में निर्विरोध कैसे गृहीत हो गई। खड़ी व्रजी की ही तरह प्राचीन बोली है। व्रजी का उद्भव शौरसेनी प्राकृत और उससे उद्भूत नागर अपभ्रंश से हुआ। खड़ी का उद्भव भी नागर अपभ्रंश से ही हुआ किंतु वह पैशाची प्राकृत से भी प्रभावित है। अतः व्रजी और खड़ी दोनों बहनें हैं। उनके रूपों और व्याकरण से यही प्रमाणित होता है। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि मुसलमानों के आने से पूर्व भी खड़ी का अस्तित्व था, यद्यपि उसमें साहित्य का निर्माण नहीं हुआ था। उत्तरकालीन अपभ्रंश में शब्दों के जो रूप दिखाई देते हैं उनसे व्रजी और खड़ी दोनों के शब्दरूपों का आभास मिलता है। अपभ्रंश में मुक्तक रचना सभी प्रदेशों के कवि करते थे। खड़ी के प्रांत में रहनेवाले कवियों की रचना में उसके पूर्वरूप का आभास स्पष्ट है। यद्यपि प्राकृतों के बाद देशभेद से अपभ्रंशों का नामकरण मान्य नहीं हुआ तथापि देशभेद से उनके रूपों में अंतर अवश्य हुआ। विद्यापति ठाकुर के अवहट्ठ (अपभ्रष्ट = अपभ्रंश) से यह प्रमाणित हो जाता है। यद्यपि उसका ढाँचा नागर अपभ्रंश का ही है तथापि उसमें मागधी या पूरबी प्रयोग पर्याप्त पाए जाते हैं। अतः उसे मागधी या पूरबी अपभ्रंश कह सकते हैं। पश्चिमी अपभ्रंश की रचना में भी ऐसा ही भेद था। यह अंतर ऐसा ही था जैसा शुद्ध व्रजी और बुंदेली-

मिश्रित व्रजी में आगे चलकर दिखाई देता है। बुँदेलीमिश्रित व्रजी का अच्छा नमूना केशवदास की रामचंद्रचंद्रिका में मिलता है। खड़ी का प्राचीन काल में अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए अपभ्रंश के निम्न-लिखित दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) भल्ला हुआ जो मारिया बहिणि महारा कंत।

(२) अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टि तडत्ति।

इसके अनंतर खड़ी योगमार्गी साधुओं की फक्कड़ी भाषा में दिखाई देती है। यद्यपि योगमार्गियों का मूलस्थान पूरब में था तथापि जनता में अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए ये पश्चिम के राजपूताने, पूरबी पंजाब, दिल्ली आदि प्रदेशों में बराबर घूमा करते थे। यद्यपि इनकी जो रचना मिलती है वह स्वयम् इनके द्वारा लिखी नहीं है, इनके शिष्यों द्वारा लिखी है तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि भाषा का ढाँचा शिष्यों ने एकदम नहीं बदल डाला। इसी से आगे चलकर कबीर की रचना में सधुक्कड़ी खड़ी के कुछ विकसित रूप का प्रमाण मिलता है; जैसे—"कबीर मन निर्मल भया जैसे गंगा-नीर।"

परिष्कृत खड़ी बोली गद्य के जिन सर्वप्रथम लेखक का अब तक पता चलता है वे रामप्रसाद निरंजनी (सं० १७९८) हैं, जिन्होंने 'भाषा-योगवासिष्ठ' नामक पुस्तक लिखी।

भारत के विभिन्न प्रांतों में पृथक् पृथक् बोलियाँ व्यवहार में चल रही थीं, किंतु दिल्ली-दरबार के आसपास की भाषा राजधानी के निकट की भाषा होने के कारण वहाँ बसे हुए लोगों के लिए मुसलमानी शासनकाल में स्वभावतः सुलभ और आकर्षक हुई। विदेशियों को भी जनता से व्यवहार करने के लिए वहाँ की टूटी-फूटी भाषा बोलने का अभ्यास करना पड़ा। फल यह हुआ कि राजधानी और उसके आसपास की हाटों में सर्वत्र बोलचाल में खड़ी सुनाई पड़ने लगी। राज्य के सभी देशी-विदेशी कार्यकर्ता वहाँ की उस बोली का अभ्यास कर लेते थे और राजधानी से दूर नियुक्त होने पर भी उसे साथ लगाए रखते थे। यही कारण है कि दिल्ली के आसपास के कवि जब रचना करने बैठते तो परंपरागत काव्यभाषा व्रजी का तो व्यवहार करते ही, बोल-चाल की खड़ी से भी काम लेते। खुसरो द्वारा दो प्रकार की भाषा के व्यवहार का रहस्य यही है। उन्होंने भावरंजित कविता तो व्रजी में लिखी, पर मुकरियाँ, पहेलियाँ, चुटकुले, दो सखुने आदि बुझौवल और खेल-तमाशे की हलकी चीजें खड़ी में। उन्होंने फारसी और

हिंदी-शब्दों का पर्यायवाची कोश "खालिकबारी' भी प्रस्तुत किया, जिसमें पर्यायों के बीच खड़ी की बोलचाल के शब्द भी रखे हुए हैं।*

मुसलमान स्वभावतः हिंदी या हिंदुई राजधानी की बोली को ही समझते थे और उसे ही बोलते भी थे। अतः व्रजी के कवि काव्य में मुसलमानों का प्रसंग आने पर उनकी बोली का आभास देने के लिए खड़ी का पुट दे दिया करते थे। भूषण, सूदन, चंद्रशेखर वाजपेयी आदि सभी कवियों ने ऐसा किया है। धीरे धीरे खड़ी का सहारा लेकर और अरबी फारसी शब्दों से मिलकर हिंदी की एक नई शैली ही चल पड़ी, जिसका प्रयोग पहले शाही 'उर्दू' (हाट-बाजार) में होने से 'उर्दू' पड़ा और आरंभ में जिसका संबंध शाही हाट से संबद्ध मुगलों-मुसलमानों और फिर अधिकतर मुसलमानों से ही रहा। इसी से व्यवहार के योग्य जितने पद या प्रयोग थे उनसे अधिक खड़ी की शब्द-संपत्ति उर्दू में नहीं जा सकी, वहाँ अधिक की समाई ही नहीं थी। उधर खड़ी जन्मस्थान की जनता के बीच ठेठ रूप लिए और परम्परा से अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के बंधन से बँधी पृथक् ही पड़ी रही, उसकी अरबी-फारसी से भेंट कहाँ। साधु-संतों की फक्कड़ी भाषा में अरबी-फारसीमिश्रित और संस्कृतमिश्रित रूप लिए हुए खड़ी के जो दो ढर्रे मिलते हैं उसका कारण यही है। विदेशियों के सुभीते के लिए वे पहला रूप रख देते थे और जनता की सुविधा के लिए दूसरा। वे भजनों द्वारा जैसे और प्रांतों के शब्द पश्चिम में पहुँचाते वैसे ही पश्चिमी अर्थात् खड़ी के शब्दों को पूरब में। इस प्रकार खड़ी बोली धीरे धीरे उत्तरापथ में फैल चली।

---

* इस प्रकार के कई कोशों का निर्माण हुआ। 'खालिकबारी' कोश तो हिंदी अर्थात् खड़ी बोली में लिखा गया, पर कुछ ग्रंथ संस्कृत में भी बने। अकबर के समय में 'पारसी-प्रकाश' नाम का कोश संस्कृत में ही लिखा गया, जो पंडितों को फारसी से परिचित कराने के उद्देश्य से रचित जान पड़ता है। यह कृष्णदास का बनाया हुआ है और वाराणसी संस्कृत-यंत्रालय से सं० १९२३ में लीथो में छपकर प्रकाशित भी हो चुका है। नमूने के लिए नीचे एक श्लोक उद्धृत किया जाता है—

दीपालये तु ताकः स्यात् शूले दर्द इतीरितः।
आतशस्तु भवेद्वह्नौ श्वाला तस्य शिखासु च॥

इसी समय एक घटना ऐसी घटित हुई जिसने खड़ी का प्रसार सारे उत्तरापथ में भली भाँति कर दिया। यह घटना थी मुगल-साम्राज्य का पतन। इसके परिणाम-स्वरूप मुसलमानों के अड्डे लखनऊ और मुर्शिदाबाद हुए। राजधानी के उजड़ जाने से वहाँ की व्यापारी जातियाँ भी पूरब की ओर फैलीं और धीरे धीरे वहाँ जाकर बस गईं। ये जातियाँ वहाँ की बोली भी साथ लिए गईं। व्यापारियों से व्यवहार करने में उनकी भाषा का अनुकरण जनता की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः खड़ी पहले हाट में और धीरे धीरे सामाजिक कार्यों में भी सुनाई पड़ने लगी। उपदेशक धर्मचर्चा इसी बोली में करने लगे। अतः खड़ी अरबी-फारसी से बहुत कुछ बची हुई परंपरा से बँधी रही। धर्मोपदेश, धर्मचर्चा, सामाजिक व्यवहार आदि में सर्वत्र या तो ठेठ अथवा तद्भव शब्दों का व्यवहार होता या आवश्यकतानुसार संस्कृत-शब्दों का। दूसरी ओर अरबी-फारसी से लदकर वही खड़ी 'उर्दू' नाम से कृत्रिम भाषा बनी और अधिकतर शायरी के काम में आने लगी। उसका जनता से संबंध टूट गया। उस समय अदालतों में भी फारसी का ही साम्राज्य था। इसलिए यह कहना कि मुसलमानों के हिंद में कदम रखते ही उर्दू बी उनके साथ लग गई, ठीक नहीं।

उत्तरापथ में ही नहीं दक्षिणापथ में भी धीरे धीरे खड़ी का प्रसार होने लगा। यह बताया जा चुका है कि उत्तर के योगमार्गी एवम् निर्गुन-पंथी साधुओं ने उपयोग के लिए सधुक्कड़ी भाषा बना रखी थी; जिसमें हिंदी की कई बोलियों का मिश्रण था, पर प्रधानता व्रजी या खड़ी की थी। दक्षिणी प्रांत के साधुओं में भी पारस्परिक संपर्क से उसका धीरे धीरे प्रसार होने लगा। उत्तर के व्यापारी भी दक्षिण के विभिन्न व्यापारिक नगरों में बसने लगे। अतः हाट में जिस बोली का व्यवहार अव्यवस्थित एवम् अशुद्ध रूप में होने लगा वह खड़ी ही थी। संप्रति बंबई, मद्रास आदि प्रधान व्यापारिक नगरों की हाटों में जो खड़ी सुनी जाती है उसका कारण यही है।

अब यह विचारने की आवश्यकता है कि खड़ी के स्थान पर व्रजी के गद्य का प्रसार क्यों नहीं हुआ। व्रजी बहुत दिनों से वस्तुतः पद्य में प्रयुक्त होती चली आ रही थी। गद्य में उसका वैसा प्रयोग हुआ ही नहीं। व्रजी-गद्य का व्यवहार होता अवश्य था, पर अधिकतर उसका व्यवहार या तो धार्मिक प्रसंगों में होता या पुराने ग्रंथों की टीका में।

साधारणतः धार्मिक प्रसंग में वैसी बातें नहीं आतीं, गद्य जिनकी अपेक्षा करता है। कुछ महात्माओं की चमत्कारबोधक कथाएँ भी व्रजी-गद्य में लिखी गईं, पर उसमें भी चलतापन नहीं दिखाई देता। व्याकरण की कोई निश्चित व्यवस्था न होने से व्रजी-गद्य को व्यवस्थित और साधु रूप प्राप्त न हो सका। टीकाओं में तो गद्य की और भी दुर्व्यवस्था थी। संस्कृत-टीकाओं के अनुकरण पर चलने के कारण भाषा का रूप निखर न सका। इस प्रकार व्रजी का गद्य व्यावहारिक न बन सका। उधर खड़ी का प्रसार बहुत दूर तक हो चुका था और वह केवल बोल-चाल की भाषा न रहकर लिखा-पढ़ी की भाषा भी हो चली थी। अतः गद्य के लिए बिना किसी विरोध के उसी का ग्रहण हो गया। आरंभ में पद्यभाग व्रजी में और गद्य खड़ी में चलता रहा; पर और आगे चल कर पद्य में भी खड़ी का प्रयोग होने लगा।

खड़ी जब पहले पहल पद्य में ली गई थी तो वह हल्की चीजों के लिखने में ही प्रयुक्त होती थी। गंभीर विषयों के अनुरूप वह कम से कम पद्य में नहीं समझी गई। लावनी, गजल आदि लिखनेवाले ही इसका व्यवहार करते रहे। व्रजी के काव्यों में भी हँसी के लिए इसका उपयोग होता रहा और मुसलमानों के प्रसंग में ही यह आती रही। भारतेंदु-युग तक पद्य की अधिकांश रचना व्रजी में ही चलती रही, यद्यपि कभी कभी खड़ी का भी व्यवहार कर लिया जाता था।

खड़ी के गद्य का विकास

यह कहा जा चुका है कि खड़ी के सुव्यवस्थित रूप का पता सर्व-प्रथम रामप्रसाद निरंजनी (सं० १७९८) के 'भाषा-योगवासिष्ठ' में लगता है। ये पटियाला-दरबार के कथावाचक थे। इनकी शैली जैसी व्यवस्थित थी भाषा वैसी ही प्रांजल। इनके अनंतर सं० १८१८ में श्री दौलतराम ने 'पद्मपुराण' का अनुवाद खड़ी में किया। यह ७०० पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है। इसकी भाषा निरंजनी की भाषा के समान प्रांजल नहीं है। किंतु इससे यह तो प्रमाणित हो ही जाता है कि खड़ी के गद्य का कई सौ वर्षों से लिखा-पढ़ी में प्रयोग होता चला आ रहा है। इसी प्रकार की और भी छोटी-मोटी कितनी ही पुस्तकें खड़ी में लिखी गईं।

अँगरेजों के यहाँ जम जाने पर देशभाषा की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने देखा कि जिसे 'उर्दू' कहते हैं वह देश की प्रकृत भाषा नहीं और न उसमें प्रस्तुत साहित्य ही देश की संस्कृति का अनुयायी है।

अतः उन्होंने उर्दू और हिंदी अर्थात् खड़ी के दोनों रूपों की खोज की। फोर्ट विलियम कालिज में (सं० १८०७) जान गिलक्राइस्ट ने दोनों शैलियों में अलग अलग पुस्तकें लिखाने का आयोजन किया। इस आयोजन के पहले ही मुंशी सदासुखलाल (उपनाम 'सुखसागर') वैसा ही व्यवस्थित और साधु गद्य प्रस्तुत कर चुके थे जैसा निरंजनीजी के 'योगवासिष्ठ' में दिखाई पड़ा था। लखनऊ के इंशा अल्ला खाँ ने भी 'रानी केतकी की कहानी' 'हिंदवी' में लिखी थी। जिसकी प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है कि मैं ऐसी बोली में पुस्तक प्रस्तुत करना चाहता हूँ 'जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली को पुट न हो।' उन्होंने उसे विदेशी प्रभाव अर्थात् फारसीपन और भाषा के प्रभाव अर्थात् संस्कृतपन दोनों से बचने का प्रयास किया। फल यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत ही बेढंगी दिखाई पड़ी। कुछ लोग तो उसे लखनऊ की जनानी बोली मानते हैं। इस प्रकार विक्रम की उन्नीसवीं शती के मध्य में हिंदी के चार गद्यलेखक दिखाई देते हैं—मुंशी सदासुखलाल (दिल्ली), इंशा अल्ला खाँ (लखनऊ), लल्लूलाल (आगरा) और सदल मिश्र (आरा, बिहार)। पिछले दो लेखक फोर्ट विलियम कालिज में खड़ी गद्य की पुस्तकें लिखने के लिए नियुक्त हुए थे। इन चारों के गद्यों का अंतर पहले ही बताया जा चुका है।

खड़ी-गद्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर उसमें धीरे-धीरे साहित्य भी प्रस्तुत होने लगा। आरंभ में खड़ी का साहित्य उस समय की पत्रिकाओं और लेखकों की फुटकल पुस्तकों द्वारा प्रस्तुत हुआ। इनमें मुख्य नाम राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, राजा लक्ष्मणसिंह, श्रद्धाराम फुल्लौरी और भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद आरंभ में जिस प्रकार की भाषा लिखा करते थे वह चलती थी और उसमें संस्कृत या अरबी-फारसी के अनावश्यक शब्दों का मेल बिलकुल नहीं था। किंतु धीरे धीरे ये उर्दू शैली की ओर झुके और इन्होंने भाषा में अरबी फारसी के शब्द भर दिए। इन्होंने लेख लिखकर भाषा-संबंधी इस नीति का समर्थन भी किया था। वास्तविक कारण यह था कि शिक्षा-विभाग के लिए ये जो पुस्तकें प्रस्तुत कर रहे थे वे ऐसी भाषा में जान-बूझकर निर्मित की गईं जो यदि नागरी लिपि में छापी जाय तो हिंदी समझी जाय और फारसी लिपि में छापी जाय तो उर्दू।

उर्दू और हिंदी को मिलाने का यह प्रयत्न व्यर्थ था। क्योंकि हिंदी प्रकृत मार्ग पर चल रही थी और उर्दू ने मुँह पश्चिम की ओर कर लिया

था। इस बात को राजा लक्ष्मणसिंह ने भली भाँति पहचाना। अतः उन्होंने 'रघुवंश' की प्रस्तावना में स्पष्ट लिखा कि "हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। कुछ अवश्य नहीं कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हों।" अपनी पहचान ठीक ठीक होने के ही कारण राजा साहब की भाषा बहुत ही प्रौढ़ और व्यंजक हुई।

पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी पंजाब के थे और बहुत अच्छे विद्वान् एवम् उपदेशक थे। ये स्वामी दयानंद के नवीन मत के विरुद्ध सनातनधर्म का प्रचार कर रहे थे। स्वामी दयानंद ने भी मतप्रचार के साथ-साथ आर्यभाषा अथवा हिंदी को मुख्य ठहराया। अतः लेखकों, पत्रकारों और उपदेशकों द्वारा हिंदी का पर्याप्त परिमार्जन और साथ ही प्रचार भी हुआ। इस समय तक खड़ी ने स्वाभाविक पथ ग्रहण कर लिया था। साहित्य में केवल उसकी भली भाँति प्रतिष्ठा होने भर की आवश्यकता थी। यह काम भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा हुआ।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भाषा और साहित्य दोनों के विचार से हिंदी में बहुत ही समयानुकूल कार्य किया। यद्यपि भाषा के रूप का आभास अठारहवीं शती के अंत में ही मिल चुका था तथापि उसकी पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा नहीं हुई थी। इसका प्रमाण लल्लूलाल और सदल मिश्र के गद्यों से मिल जाता है। इसके लिए आवश्यकता थी प्रचार की। भारतेंदु ने भाषा के प्रचार, उसके संस्कार और उसमें साहित्य के निर्माण का भी कार्य किया। प्रचार के लिए इन्होंने पत्र-पत्रिकाओं की ओर दृष्टि की, मित्रों का मंडल बाँधा। इस प्रकार हिंदी की समृद्धि का कार्य भारतेंदु ने स्वतः तो किया ही इनके मित्रों ने भी उसमें योग दिया। पं० प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, जगमोहनसिंह, राधाकृष्णदास, रामकृष्ण वर्मा आदि इनके मंडल के ही व्यक्ति थे। भारतेंदु और इनके मित्रों ने बँगला के बहुत से ग्रंथों का अनुवाद किया, जिसका उद्देश्य नवीन लेखकों को अन्यत्र साहित्य की बढ़ती हुई गति से परिचित कराना था। अनुवाद करके ही ये लोग चुप रहनेवाले नहीं थे, इन्होंने मौलिक रचना भी प्रस्तुत की। अनुवाद तो बानगी के लिए थे।

उन दिनों पद्य में व्रजी और गद्य में खड़ी चलती थी। भारतेंदु ने दोनों का परिष्कार किया। यद्यपि व्रजी में बहुत अधिक वाङ्मय प्रस्तुत हो चुका था तथापि उसके परिष्कार का कार्य बहुत दिनों से नहीं हुआ था। काव्यभाषा को सजीव और व्यंजक बनाए रखने के लिए आवश्यकता होती है शब्दों के संस्कार की। जो भाषा बहुत दिनों से परंपरा में गृहीत होती है उसमें स्वभावतः पुराने शब्द और प्रयोग चलते रहते हैं। किंतु समय की गति के साथ वे अपरिचित और दुर्बोध भी हो जाया करते हैं। भारतेंदु ने व्रजी से इस प्रकार के बहुत से शब्द हटाए। वाक्य-विन्यास में भी कुछ सरलता का समावेश किया। शब्दार्थ की गूढ़ता के स्थान पर भाव की गहराई की रुचि दिखाई। इसी प्रकार गद्य में भी परिष्कार किया। इन्हें दो प्रकार के गद्यों की आवश्यकता थी। एक तो विचार-पद्धति के अनुकूल चलनेवाले कठिन और दूसरे बोलचाल के अनुरूप चलनेवाले सरल गद्य की। विचार-व्यंजक गद्य तो प्रकृत रूप में पहले भी दिखाई पड़ा था, किंतु बोलचाल और संवाद के अनुरूप सरल एवम् प्रवाहपूर्ण गद्य की योजना नहीं हुई थी। भारतेंदु ने चलते शब्दों या छोटे छोटे वाक्यों के प्रयोग द्वारा इस प्रकार के गद्य का बहुत ही शिष्ट एवम् साधु रूप प्रस्तुत किया। विवेचना के उपयुक्त जो गद्य पहले से दिखाई पड़ता था उसमें कहीं कहीं उलझनें भी थीं। किंतु भारतेंदु ने बहुत ही सुलझा हुआ गद्य सामने रखा। शुद्ध साहित्य तक ही इनकी दृष्टि का प्रसार नहीं था। ये अन्य वाङ्मयों की ओर भी प्रवृत्त हुए। अतः उसके लिए चलते, अर्थबोधक एवम् साथ ही सरल गद्य की विशेष आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार साहित्य में गद्य के जितने रूप अपेक्षित थे उन सबके परिष्कृत रूप की प्रतिष्ठा भारतेंदु ने की और इनकी मंडली ने उसमें हाथ बँटाया।

उसी समय शुद्ध साहित्यिक गद्य के भीतर विविध शैलियों की प्रतिष्ठा भी होने लगी थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहनसिंह वर्मा आदि के गद्यों से इसका प्रमाण मिलता है। अनुवादों में भी भाषा के प्रकृत रूप की रक्षा का पूरा प्रयत्न दिखाई देता है। कारण यह था कि उस समय के लेखक हिंदी के पूरे जानकार होते थे। उसकी गति-विधि तथा प्रवृत्ति से भली भाँति परिचित होते थे। इसी से दूसरी भाषाओं के अनावश्यक बोझ से भाषा की गति अवरुद्ध नहीं हो पाती थी।

भाषा ही नहीं, साहित्य में भी अत्यधिक उन्नति भारतेंदु और इनके

मित्रों द्वारा हुई। भारतेंदु जो 'हिंदी के जन्मदाता' कहे जाते हैं वह साहित्य की श्रीवृद्धि ही के कारण। हिंदी में दृश्यकाव्यों की बहुत बड़ी कमी थी। जो नाटक पहले लिखे भी गए थे वे बोलचाल की भाषा खड़ी में नहीं थे, पारंपरिक भाषा व्रजी में थे और उनका अधिकांश पद्य में था। अतः उन्हें 'नाटक' कहना ही ठीक न था। इसलिए हिंदी में नाटकों का आरंभ वस्तुतः भारतेंदु ही से समझना चाहिए। भारतेंदु ने नाटकों के अनुवाद भी प्रस्तुत किए और मौलिक रूपक भी लिखे। अनुवाद संस्कृत, अँगरेजी तथा बँगला भाषाओं से किए गए। अनुवादों पर ही ध्यान देने से पता चल जाता है कि भारतेंदु प्राचीन और नवीन के मध्य में स्थित होना चाहते थे। मौलिक नाटकों में भी इन्होंने इसी का प्रयास किया। अनुवाद की भाषा ऐसी रँगी गई है और वह ऐसे ढर्रे पर लाया गया है कि अनुवाद रह ही नहीं गया। अनुवाद की ऐसी विशेषता भारतेंदु-युग के अनंतर हिंदी में फिर वर्तमान युग में ही कहीं कहीं दिखाई पड़ी, बीच में कहीं नहीं। भारतेंदु की दृष्टि केवल शुद्ध साहित्य तक नहीं रही, ये वाङ्मय के अन्य विभागों की ओर भी गए। इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक कही जानेवाली कुछ पुस्तिकाएँ और लेख प्रस्तुत किए। शैलियों और विविधता पर ध्यान देते हैं तो भी यही दिखाई देता है कि इन्होंने पद्य में अनेक शैलियों का व्यवहार किया। विविधता के विचार से इन्होंने छोटे-बड़े सब प्रकार के नाटक लिखे। केवल इन्होंने 'महाकाव्य' नहीं प्रस्तुत किया। वस्तुतः भारतेंदु बहुरंगी व्यक्ति थे। ये समय समय पर नाना प्रकार की बातें सोचा और उन्हें लेखबद्ध किया करते थे। छोटे छोटे पद्य-निबंध या वर्णनात्मक प्रबंध इनके कई निकले। प्रबंधकाव्य वस्तुतः जमकर लिखने की वस्तु है, उस ओर इनकी रुचि ही नहीं हुई और न जमकर इन्हें लिखने का अवसर ही प्राप्त हुआ। अल्पायु होने के कारण भी ये ऐसा नहीं कर सके। हिंदी की परंपरा भी इन प्रबंधकाव्यों से विमुख हो चुकी थी।

जो कार्य भारतेंदु ने किया वही इनके मित्र भी करते रहे। यद्यपि सबकी प्रकृति वैसी बहुरंगी नहीं थी फिर भी जहाँ तक हो सका हिंदी-साहित्य में विविधता का विधान वे लोग भी करते रहे। सबसे ध्यान देने योग्य बात है कि साहित्य-निर्माण में एकता होते हुए भी उनकी गद्य-शैलियों में भिन्नता थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र विनोदशील प्रकृति के व्यक्ति थे, अतः वे सामान्य से सामान्य बातों में भी विनोद की

सामग्री निकाल लिया करते थे। भारतेंदु स्वयम् कई शैलियों में लिखते हुए भी सरल और सुबोध गद्य प्रस्तुत करनेवालों में थे। बदरीनारायण चौधरी गद्य को अलंकृत और जटिल बनाने में व्यस्त रहते थे। जगमोहनसिंह 'कादंबरी' का अनुगमन करते हुए भी जटिलता से बहुत कुछ दूर रहे। यह मानना पड़ेगा कि भारतेंदु-युग में भाषा की रचना और साहित्य को संस्कृत के अनुरूप निर्मित करने के उत्साह तथा अभिव्यंजन की विविध प्रकार की शैलियों के विधान और मस्ती के जैसे दर्शन हुए हिंदी में आगे चलकर फिर कभी नहीं। आज हिंदी का प्रसार पहले की अपेक्षा अधिक है किंतु उस प्रकार की बहुरंगी छटा के दर्शन दुर्लभ हैं।

द्विवेदी-युग

भारतेंदु का अस्त होते ही हिंदी में फिर अवरुद्धता दिखाई देने लगी। उनकी मित्रमंडली ही कुछ न कुछ कार्य करती रही। नए लेखकों का प्रादुर्भाव नहीं हो रहा था। लार्ड मेकाले ने अँगरेजी को शिक्षा का माध्यम बनाकर यहाँ के निवासियों के मन में विदेशी भाषा के लिए प्रबल आकर्षण उत्पन्न कर दिया था। संस्कृत का समृद्ध साहित्य उसके अनुशीलकों को हिंदी की ओर उपेक्षा की दृष्टि रखने को विवश कर रहा था। परिणाम यह हुआ कि अँगरेजी पढ़नेवाले हिंदी को उपयोग की भाषा ही नहीं समझते थे। हिंदी की पढ़ाई-लिखाई की ठीक ठीक व्यवस्था न होने के कारण इसका ज्ञान श्रमसाध्य समझकर लोग इससे पराङ्मुख ही रहते थे। व्याकरण की ठीक ठीक व्यवस्था न होने से अँगरेजीवाले इसके जानने में कठिनाई का अनुभव करते थे और संस्कृतवाले इसे ठीक-ठिकाने की भाषा ही मानने में संकोच करते थे। इसलिए दो बातों की आवश्यकता थी। एक तो इसकी कि व्याकरण की व्यवस्था की जाय और दूसरी इसकी कि हिंदी सचमुच लिखने-पढ़ने और समझने-समझाने की भाषा समझी जाय।

भारतेंदु के अनंतर उनके फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास और इनके बालमित्र बाबू श्यामसुंदरदास आदि के उद्योग से काशी में 'नागरीप्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई और उसके तत्त्वावधान में 'सरस्वती' पत्रिका निकलने लगी। 'सरस्वती' निकलने के दो-तीन वर्ष के अनंतर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसका संपादन-भार अपने कंधों पर उठाया। इनके पहले पत्रिका का संपादन संपादक-मंडल द्वारा होता था।

द्विवेदीजी ने मैदान में आते ही व्याकरण की व्यवस्था पर ध्यान दिया और यह प्रमाणित किया कि हिंदी भी पढ़ने-लिखने योग्य भाषा है। अब तक हिंदी में दूसरी भाषाओं से नाटकों या उपन्यासों के ही अनुवाद हुए थे। इन्होंने अन्य भाषाओं के सामयिक वाङ्मय के संपर्क में हिंदी के पाठकों को पहुँचाने का प्रयास किया। मराठी, गुजराती, बँगला, अँगरेजी आदि भाषाओं में निकलनेवाले पत्रों और विविध विषयों के लेखों से हिंदीवालों को परिचित कराना आरंभ किया। भारतेंदु शुद्ध साहित्य की विविध शाखाओं के अतिरिक्त लोकोपयोगी अन्य वाङ्मयों की ओर केवल प्रवृत्त होकर ही रह गए थे। उन्होंने केवल मार्ग-प्रदर्शन का काम किया। सब प्रकार के विषयों का समावेश वे उस समय हिंदी में न कर सके। द्विवेदीजी ने हिंदी को सब प्रकार के विषयों की ओर उन्मुख करके उसकी समृद्धि और प्रसार का मार्ग खोल दिया। अँगरेजी सी संपन्न भाषा में जितने विषयों पर विचार किया गया था उन्हें हिंदी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न इन्होंने अधिक किया, जिससे केवल हिंदी जाननेवाले भी सब प्रकार के आवश्यक विषयों से परिचित हो सकें। इस सब के लिए हिंदी के व्याकरण, कोश, वैज्ञानिक शब्दावली और इतिहास की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। 'नागरी-प्रचारिणी सभा' के संचालकों का ध्यान इधर गया और धीरे-धीरे ये सब ग्रंथ हिंदी में प्रस्तुत किए गए।

द्विवेदीजी में गद्य की भिन्न भिन्न शैलियाँ तो वैसी नहीं दिखाई देतीं किंतु इन्होंने हिंदी की बाह्य समृद्धि का जो प्रयत्न किया वह हिंदी-जगत् में सदा स्मरणीय रहेगा। शैली का विचार करने पर स्पष्ट लक्षित होता है कि कुछ लेखक विशेष प्रकार के आवेश (मूड) में ही विशिष्ट-शैली-संपन्न भाषा का प्रयोग कर सकते हैं। यह बात हिंदी के दो लेखकों से सिद्ध हो जाती है—एक पं० बालकृष्ण भट्ट से और दूसरे पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी से। भट्टजी चिड़चिड़े व्यक्ति थे। खीझने पर ही उनकी विशिष्ट शैली के दर्शन होते थे। अतः उनके निबंधों में वे ही उत्तम हैं जिनमें उनका चिड़चिड़ापन दिखाई पड़ता है। द्विवेदीजी क्रोधी व्यक्ति थे। अतः रोषावेश में ही इनकी विशिष्ट शैली दिखाई देती है।

द्विवेदी-युग में केवल भाषा का ही संस्कार नहीं हुआ साहित्य की विभिन्न शाखाओं में भी थोड़ा-बहुत कार्य हुआ। नाटक-विभाग में अधिकतर अनुवादों की ही धुन रही। संस्कृत, बँगला और अँगरेजी के अधिकतर नाटकों के अनुवाद किए गए। जो मौलिक नाटक लिखे

भी गए उनमें अभिनय-कौशल का विशेष ध्यान नहीं रखा गया। उपन्यासों का निर्माण इस समय विशेष रूप से किया गया। बँगला के उपन्यासों की धूम तो मची ही, अपने ढंग के घटनाप्रधान उपन्यास भी प्रस्तुत हुए। ऐयारी और तिलस्मी उपन्यास लिखनेवाले देवकीनंदन खत्री इसी समय मैदान में आए। गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासों का आरंभ भी इसी समय से होता है। सामाजिक और ऐतिहासिक कहे जानेवाले उपन्यासों का ढेर लगानेवाले पं० किशोरीलाल गोस्वामी इसी युग में हुए। बँगला की देखादेखी भावप्रधान उपन्यास भी लिखे गए, जिसके प्रवर्तक बाबू व्रजनंदन सहाय थे।

हिंदी में कहानियों का आरंभ इसी युग से समझना चाहिए। आरंभ में कुछ बँगला कहानियों के अनुवाद हुए। फिर मौलिक कहानियों की ओर लोग प्रवृत्त हुए। हिंदी की साहित्यिक मौलिक कहानियों का आरंभ किशोरीलाल गोस्वामी, रामचंद्र शुक्ल और बंग-महिला की कहानियों से माना गया है। किंतु ये लोग कुछ ही कहानियाँ लिखकर विरत हो गए। पर देखादेखी बाबू जयशंकरप्रसाद ने बहुत सी मौलिक कहानियाँ लिख डालीं। विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', राधिकारमणप्रसाद सिंह, ज्वालादत्त शर्मा आदि इसी समय के कहानी-लेखक हैं। पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी की सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक कहानी 'उसने कहा था' इसी समय लिखी गई। हास्यरस की हलकी कहानियाँ लिखनेवाले जगन्नाथप्रसाद (जी० पी०) श्रीवास्तव इसी समय मैदान में आए। प्रेमचंद की कहानियों का आरंभ भी इसी समय से समझना चाहिए।

निबंधों में विशेष उन्नति तो नहीं हुई किंतु छोटे छोटे गद्यप्रबंध लिखने का प्रचलन होने लगा। इस समय के गद्य-लेखकों में विशेष ध्यान देने योग्य दो ही तीन व्यक्ति दिखाई देते हैं। पंडित माधवप्रसाद मिश्र ने उत्सवों, तीर्थ-स्थानों, त्योहारों आदि पर मार्मिक और चटपटे निबंध लिखे। पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने कादंबरी की शैली पर 'कवि और चितेरा' नामक बृहत् प्रबंध लिखना आरंभ किया, जो अधूरा रह गया। पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने कई पांडित्यपूर्ण एवम् प्रसंगगर्भ निबंध लिखे। इस युग में अधिक ध्यान देने योग्य निबंध-लेखक सरदार पूर्णसिंह हुए। इनके चार-पाँच लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता से युक्त निबंध 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। विषय और व्यंजना दोनों के विचार से इनके निबंध सबसे पृथक् दिखाई देते हैं। जैसे इनके विषय

आधुनिक हैं वैसी ही व्यंजना भी। ऐसे निबंध आज तक हिंदी में दूसरे नहीं लिखे गए। यद्यपि इनकी शैली कुछ विदेशी ढर्रा लेकर चली, पर उसमें अपनापन भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

द्विवेदी-युग में जिस प्रकार उपन्यासों और कहानियों को विस्तृत भूमि मिली उसी प्रकार आलोचना को भी। यद्यपि आलोचना का श्रीगणेश भारतेंदु-युग में ही हो गया था पर उसका विस्तार नहीं हो पाया था। इस युग में 'सरस्वती' में पुस्तकों की आलोचना का पृथक स्तंभ ही रखा गया। स्वयम् द्विवेदीजी ने संस्कृत-कवियों की आलोचना प्रकाशित की। मिश्रबंधुओं का 'हिंदी-नवरत्न' इसी समय निकला। तुलनात्मक आलोचना का प्रवर्तन इसी युग में हुआ। पं० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना और पं० कृष्णबिहारी मिश्र का 'देव और बिहारी' इसी समय की रचना हैं। बिहारी को लेकर इस समय बहुत अधिक लिखा-पढ़ी हुई, जिसका आरंभ 'हिंदी-नवरत्न' से हुआ और जिसकी समाप्ति 'बिहारी और देव' नामक लाला भगवानदीनजी की पुस्तक से हुई। तुलनात्मक आलोचना का बाजार विशेष गरम हुआ। बहुत से लेखक तो कवियों की तुलना को ही आलोचना का चरम लक्ष्य समझ बैठे।

इस युग में खड़ी बोली को पद्य में स्वीकृत कराने का प्रबल आंदोलन उठा। स्वयम् द्विवेदीजी ने खड़ी बोली और साथ ही संस्कृत वृत्तों में तथ्यमात्र-व्यंजक रचना की। इन्होंने स्वयम् ही खड़ी में पद्य-रचना नहीं की बहुत से कवियों को मैदान में उतारा भी। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पांडेय में इनकी प्रेरणा जगत्प्रसिद्ध है। इसी समय श्रीधर पाठक और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय भी खड़ी में पद्यरचना करने में प्रवृत्त हुए। पाठकजी ने 'गोल्डस्मिथ' के 'श्रांत पथिक' (ट्रैवलर) का अँगरेजी से अनुवाद किया। मौलिक रूप में इन्होंने बहुत सी फुटकल कविता भी प्रकाशित की। उपाध्यायजी का 'प्रियप्रवास' संस्कृत-वृत्तों में धूमधाम से मैदान में आया। इनकी 'चोखे चौपदे' आदि मुहावरे की पुस्तकें इसी समय की हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से लोग स्वच्छंद रूप से खड़ी में रचना करने लगे, जिनमें से उल्लेखनीय कवि ये हैं— सर्वश्री नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, लाला भगवान-दीन, रामनरेश त्रिपाठी आदि।

शैली के विचार से इस समय संस्कृत के वर्णवृत्तों, हिंदी के

मात्रिक छंदों और उर्दू की बहरों तीनों का विशेष प्रचार हुआ। वर्णवृत्तों में तुकांत और अतुकांत दोनों प्रकार की रचना हुई। मात्रिक छंदों से भी कुछ लोगों ने तुकांत हटाए; जैसे श्रीधर पाठक, जयशंकर प्रसाद आदि ने। पर यह प्रवृत्ति चल न सकी। उर्दू बहरों में फुटकल, प्रबंधात्मक दोनों प्रकार की रचना हुई। इस युग में सबसे अधिक रचना दिखाई पड़ी पद्य-निबंधों की। छोटे छोटे कथाखंड लेकर कुछ दूर तक पद्यबद्ध रचना करने का विशेष प्रचार हुआ। ये पद्य-निबंध सब प्रकार के होते थे—कथात्मक, वर्णनात्मक, उपदेशात्मक। पद्य की भाषा में भी बहुरूपता आई। कुछ कवि तो गद्यात्मक रूप के ही कट्टर पक्षपाती रहे, पर कुछ आवश्यकतानुसार ब्रजी के प्रत्ययों, अव्ययों और नाम-धातु क्रियाओं के प्रयोग में भी प्रवृत्त हुए। यदि उर्दू बहरों में कुछ अरबी-फारसीमिश्रित शब्दावली गृहीत हुई तो वर्णवृत्तों में संस्कृतगर्भ पदावली और लंबे लंबे समासों का व्यवहार बढ़ा।

द्विवेदीजी द्वारा भाषा की व्यवस्था हो जाने के अनंतर हिंदी में साहित्य का निर्माण प्रबल वेग से होने लगा। काशी के अतिरिक्त प्रयाग तथा कानपुर भी इसके केंद्र हुए। विश्वविद्यालयों में भी हिंदी का स्वागत हुआ और उच्च कक्षाओं तक में हिंदी स्वतंत्र विषय मान ली गई। हिंदी-साहित्य-संमेलन की स्थापना हो जाने से हिंदी परीक्षाओं की ओर लोग उन्मुख हुए। विभाषी प्रांतों में भी हिंदी का प्रचार होने लगा। हिंदी में सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं। इस प्रकार शुद्ध साहित्य की विभिन्न शाखाओं में तो पर्याप्त कार्य हुआ ही हिंदी के अन्य विषयों पर भी प्रभूत वाङ्मय प्रस्तुत होने लगा। इसी का परिणाम है कि भारत में जितनी पुस्तकें आज हिंदी में प्रकाशित होती हैं उतनी किसी दूसरी भाषा में नहीं।

वर्तमान युग

द्विवेदीजी ज्यों ही 'सरस्वती' से पृथक् हुए हिंदी में व्याकरण का बंधन कुछ ढीला होने लगा। राजनीतिक प्रवृत्तियों की प्रेरणा और सीधे अँगरेजी के संपर्क में आ जाने से कुछ कवि या लेखक उच्छृंखल या उद्दंड भी दिखाई पड़े। प्राचीन साहित्य का अध्ययन किए बिना ही शेली, बायरन, कीट्स आदि विदेशी कवियों तथा टालस्टाय, बर्नर्ड शा आदि लेखकों का अंधानुसरण करने की प्रवृत्ति अँगरेजी पढ़े-लिखे कुछ नवयुवकों में जगने लगी। वे हिंदी की पुरानी कविता के अध्ययन को छोटा काम समझने लगे। रहस्यवाद का विदेशी भूत बहुतों के सिर

सवार होने लगा। नवीनता की झोंक में आकर काव्य के लिए उपयोगी एवम् साहित्य के लिए वांछित विषयों तथा पद्धतियों के प्रवर्तन की आड़ में विदेशी रंगत खूब चढ़ने लगी। भाषा में भी विदेशी शब्दावली का अक्षरशः अनुगमन हो चला। पद्य और गद्य दोनों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। हिंदी पढ़ने-लिखने की भाषा मानो रही नहीं गई। कलम पकड़ने का टेढ़ा-सीधा अभ्यास करते ही नवसिखुए हिंदी के लिक्खाड़ बनने लगे। ऐसे ही लोगों के कारण हिंदी में मकराश्रु या नक्राश्रु, दृग्बिंदु, मध्यबिंदु, एक अध्ययन, वातावरण, वायुमंडल, दृष्टिकोण आदि भाषा की प्रवृत्ति के विरुद्ध बने हुए शब्द दिखाई देने लगे हैं। वाक्यों का गठन भी विदेशी ढाँचे का हो चला है। 'वह कहता था कि मैं जाऊँगा' के स्थान पर 'वह कहता था कि वह जायगा' ऐसे वाक्य उनकी दृष्टि में शुद्ध भी समझे जाते हैं और अत्यधिक प्रयुक्त भी होते हैं। उन्हें क्या पता कि हिंदी की प्रकृति संस्कृत की भाँति साक्षात् कथन (डाइरेक्ट नरेशन) की है, परोक्ष कथन (इनडाइरेक्ट नरेशन) की नहीं। मध्यग उपवाक्य (पैरेंथेटिकल क्लाज) का हिंदी के अच्छे अच्छे निबंधकारों ने तो बड़ा ही रमणीय नियोजन कर लिया है, पर इनके द्वारा उसका अत्यधिक और भद्दा प्रयोग बहुत ही उद्वेगजनक हो रहा है। अँगरेजी के पूर्वसर्ग (आर्टिकल्स) 'ए' और 'दी' की भद्दी नकल से तो हिंदी में बड़ी ही भोंड़ी पद-योजना चल पड़ी है। अनावश्यक 'एक' और 'वह' की छूत इतनी फैली कि अँगरेजीवाले बाबू साहबों तक ही न रहकर केवल हिंदी जाननेवाले जनों को भी आ लगी है।

एक ओर अँगरेजी की चढ़ाई से हिंदी त्रस्त थी ही, दूसरी ओर से उर्दू ने भी धावा बोल दिया। एकवचन सर्वनाम 'वह' या 'यह' के साथ आदरार्थक बहुवचन जुड़ने लगा है, जैसे 'वह बड़े अच्छे कवि थे'। हिंदी में ऐसे प्रयोक्ताओं को कौन समझाए कि आदरार्थक बहुवचन संस्कृत का प्रसाद है। वहाँ सर्वनाम और क्रियापद दोनों बहुवचनांत ही होते हैं, यहाँ तक कि नाम भी। अतः हिंदी में 'वह' के स्थान पर 'वे' और 'यह' के बदले 'ये' का ही ऐसे अवसरों पर प्रयोग व्याकरण-संमत है। इसी प्रकार उर्दू की नकल पर वाक्य-विन्यास में कर्ता का क्रियापद के निकट होना हिंदी की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं।

भाषा में ऐसी अव्यवस्था होते हुए भी हिंदी-साहित्य की विभिन्न शाखाओं का विस्तार और उनका लदाव पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हो गया है। गद्यशैली के अंतर्गत उपन्यासों और कहानियों का विस्तार

तो सबसे अधिक हुआ। जनता की रुचि परिष्कृत हो जाने से साहित्यिक सुरुचि-संपन्न उपन्यासों की ओर हाथ बढ़ने लगे, घटना-वैचित्र्यपूर्ण उपन्यासों ने हाथ-पैर समेट लिए। उपन्यासों में भी कई प्रकार के वर्ग दिखाई पड़े। आरंभ में उपन्यास वंगभाषा की देखादेखी चलते थे। अब अँगरेजी द्वारा सभी विदेशी भाषाओं से हिंदी के लेखकों का संबंध जुड़ गया है। इसी से बँगला का दबाव हट गया, पर साथ ही वह पदावली की मधुरता भी लेता गया। वंगभाषा के उपन्यासों में काव्यत्व का पूर्ण तिरस्कार हुआ ही नहीं। विदेशी उपन्यासों का ढाँचा बाहर से लेकर भी वहाँ के लेखक भारतीयता को साथ लगाए रहे। हिंदी के पिछले कूँड़े के उपन्यासों में, यहाँ तक कि जासूसी, ऐयारी आदि घटना-प्रधान उपन्यासों तक में प्राकृतिक छटा, परिस्थिति का चित्रण एवम् विवरण मधुर पदावली और रसमय ढंग से प्रस्तुत किए जाते थे। किंतु पश्चिमी उपन्यासों से काव्य का रंग धीरे धीरे उड़ा दिया गया, अतः हिंदी में भी वही स्वाँग भरा जाने लगा।

कहानियों का प्रसार इस युग में सबसे अधिक हुआ। जीवन की संकुलता के बीच थोड़े समय में मनोरंजन करानेवाली छोटी कहानियाँ ही होती हैं। अतः लोग चिल्लाने लगे हैं कि अब बड़े बड़े उपन्यासों का समय लद गया। छोटी कहानियाँ दैनिक समाचारपत्रों तक में प्रकाशित होने लगी हैं। एक ओर उनका प्रसार बढ़ रहा है और दूसरी ओर उनका आकार दिन पर दिन छोटा होता जा रहा है। पश्चिमी हवा के झोंके से वे सिकुड़ीं ही नहीं, उनका काव्यरस भी सूख गया। कहानियों में विविधता के दर्शन तो होते हैं, किंतु कुछ सिद्धहस्त लेखकों के अतिरिक्त अधिकतर कहानी-लेखक व्यर्थ की नवीनता लाने के प्रयत्न में विचित्र रूप-रंग की कहानियाँ पेश कर रहे हैं। कथाओं द्वारा अब मतप्रचार भी किया जा रहा है।

द्विवेदी-युग में तो नाटकों का प्रायः अभाव ही रहा। उसका कारण यह था कि हिंदी बहुमुखी प्रवृत्तियों में संलग्न होकर अपना ऐश्वर्य-विस्तार करने में लगी हुई थी। अतः श्रव्यकाव्य ही उसके अनुकूल दिखाई पड़ा। नाटक-मंडलियों के अभाव में साहित्यिक नाटक लिखने का उत्साह ही कौन दिखाता? हाँ, खेल-तमाशा करनेवाली कंपनियों के लिए कुछ लोग धार्मिक, पौराणिक या सामाजिक नाटक अवश्य लिखते रहे। पर वे सबके सब नाटक साहित्य-कोटि में आ सकते हैं,

इसमें संदेह है। अतः वर्तमान युग में नाटकों की ओर अपनी गंभीर और ऐतिहासिक रुचि लिए हुए भावना-भरित कवि बाबू जयशंकरप्रसाद जी बढ़े। इन्होंने राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ और ध्रुवस्वामिनी नामक कई ऐतिहासिक और कामना एवम् एक घूँट नामक भावात्मक रूपक प्रस्तुत किए। इनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विदेशी अनुकृति पर इससे काव्यत्व एकदम हटाया नहीं गया। आधुनिक शैली पर वैचित्र्यपूर्ण संवाद करते या भाषण देते हुए इनके सभी पात्र एक ही साँचे में ढले से तो जान पड़ते हैं, पर यह कहना ठीक नहीं कि इनके नाटक खेले ही नहीं जा सकते। शुद्ध साहित्यिक नाटकों के लिए परिष्कृत रुचिवाले जैसे दर्शकों की आवश्यकता होती है वैसे सब होते कहाँ हैं। बंगाल में द्विजेंद्रलाल राय के ऐसे ही नाटक तो खेले जा सकते हैं पर हिंदी में प्रसादजी के नाटक नहीं, ऐसा क्यों। पारसी-कंपनियों के हल्के नाटक देखते देखते जिनकी रुचि अपभ्रष्ट हो चुकी है क्या उन्हें ही कसौटी माना जायगा। साहित्यिक रुचि से संपन्न लोगों के समक्ष तो ये नाटक पूर्ण सफलता के साथ खेले गए हैं, फिर भी संशय। क्या पारसी-कंपनी के अपढ़ अभिनेता ऐसे शुद्ध साहित्यिक नाटकों का सफल अभिनय कर सकेंगे। इनके लिए तो साहित्यिक अभिनेता भी चाहिए—पढ़े-लिखे, शिष्ट एवम् सुरुचिशाली; जैसे बँगला के होते हैं, मराठी में पाए जाते हैं। किसी का दोष किसी के सिर क्यों मढ़ा जाय।

इस युग में सबसे प्रसिद्ध निबंधकार पं० रामचंद्र शुक्ल हुए। इनके निबंधों में हृदय और बुद्धि दोनों का सम्यक् योग दिखाई पड़ा। विचारात्मक निबंधों की चरमावधि हिंदी में शुक्लजी के निबंधों ही में दिखाई पड़ी। निबंध के भीतर विचारधारा के विवेचन के साथ साथ व्यक्तित्व का भी उचित योग दिखाई दिया। विचारात्मक निबंधों में शुक्लजी के निबंध निगमन शैली पर लिखे गए हैं। वर्णनात्मक निबंध अब हिंदी में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। जो मिलते भी हैं उनमें वर्ण्य वस्तु के संश्लिष्ट वर्णन की छटा नहीं दिखाई देती। भावात्मक निबंध लिखनेवाले रघुबीर सिंह दिखाई पड़े, जिन्होंने इतिहास का परदा उठाकर मध्यकालीन राजन्यवर्ग की बड़ी ही भावपूर्ण झाँकियाँ देखीं-दिखाईं। उनकी 'शेष स्मृतियाँ' अत्यंत रमणीय रचना है। कथात्मक निबंध पद्मसिंह शर्मा ने कुछ लिखे, जो रसिकता से ओत-प्रोत होकर बड़ी ही विदग्धता के व्यंजक बने। आत्मव्यंजक

निबंध इधर लिखे जाने लगे हैं। सर्वश्री गुलाब राय, सियारामशरण गुप्त और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने ऐसे निबंध पर्याप्त लिखे हैं।

इस युग में गद्यकाव्य अधिक लिखे गए और उनमें विविधता के दर्शन भी हुए। गद्यकाव्य लिखनेवालों में राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके निबंधों में अखंड और खंड शैलियाँ भी दिखाई पड़ती हैं और प्रतीकों का विधान भी, जो अधिकतर अन्योक्ति-पद्धति पर हुआ है। प्रतीकात्मक पद्धति पर चलनेवाले राय कृष्णदास और वियोगी हरि हैं। वियोगी हरि के प्रतीक किसी विशेष भावना को ही चरितार्थ करने के लिए लाए जाते हैं। भक्तिभावना, लोकभावना आदि को पुष्ट करनेवाले छोटे छोटे खंडदृश्य जीवन में से चुनकर प्रस्तुत किए गए हैं। राय साहब के प्रतीकों में कोई एक ही निश्चित भावना नहीं है। कलाकार, भक्त, विचारक, प्रेमी, लोकपीड़ित आदि सभी के लिए छाँटे हुए प्रतीक लाए गए हैं। राय साहब रवींद्रनाथ ठाकुर की अनुकृति पर रहस्यदर्शी के रूप में भी दिखाई पड़े हैं। किंतु वियोगी हरि सगुण-भक्तों के ढर्रे पर ही चले हैं। चतुरसेन शास्त्री ने विभिन्न भावों के अनुकूल अनेक उक्तियों की योजना द्वारा बहुत ही प्रभावोत्पादक व्यंजना की है। बँगला की नाटकीय शैली पर प्रलाप-पद्धति का मार्मिकतापूर्ण अनुधावन किया गया है। उक्त लेखकों में भाषा के रूप की भिन्नता भी पाई जाती है। राय साहब की भाषा कुछ ठेठ पर अर्थगर्भ शब्दों को लिए हुए है, वियोगी हरि की भाषा भावात्मकता लाने के लिए कविता के शब्दों का अभिनंदन बराबर करती चलती है और शास्त्रीजी की भाषा खड़ी की बोलचाल के शब्दों को स्वाभाविकता लाने के लिये समेटती रहती है।

इस युग में सबसे बड़ा कार्य व्याख्यात्मक आलोचना की प्रतिष्ठा का हुआ। अनेक प्रयत्नों और उद्योगों से हिंदी का प्रसार तो दूर दूर तक हो गया था और उसकी शिक्षा की व्यवस्था भी ऊँची कक्षाओं में हो गई थी, किंतु उच्चकोटि की आलोचना का वाङ्मय एक प्रकार से था ही नहीं। जो आलोचना अब तक हुई थी वह अधिकतर परिचयात्मक थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपनी व्याख्यात्मक आलोचना के साथ इस क्षेत्र में उतरे। तुलसीदास, जायसी और सूर पर उनकी मार्मिक एवम् विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएँ भूमिका के रूप में निकलीं। लाला भगवानदीन और उनके शिष्यों ने प्राचीन ग्रंथों के

सुसंपादित संस्करणों के साथ लंबी लंबी भूमिकाएँ प्रकाशित कीं। कबीर पर अयोध्यासिंह उपाध्याय और पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की आलोचनाएँ सामने आईं। इसके अनंतर शुक्लजी की शैली पर स्वतंत्र रूप में अथवा ग्रंथों की भूमिका के रूप में केशव, बिहारी, पद्माकर, मीरा, भूषण आदि कवियों तथा प्रेमचंद, प्रसाद आदि लेखकों पर आलोचनाएँ लिखी गईं। शुक्लजी के अनंतर एकमात्र आलोचना-क्षेत्र में कार्य करनेवाले प्रसिद्ध आलोचक श्री नंददुलारे वाजपेयी हैं। हिंदी-साहित्य के कई ऐसे इतिहास भी मुद्रित हुए जो अधिकतर आलोचनात्मक हैं। साहित्य की अन्य शाखाओं के आलोचनात्मक इतिहास भी प्रकाशित हुए; जैसे कहानी, नाटक, उपन्यास आदि के। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी का व्यापक प्रभाव पड़ा। कुछ प्रभाववादी आलोचकों और अँगरेजी के निरे अनुकरणकर्ताओं को छोड़कर आलोचना का ऐसा वाङ्मय हिंदी में प्रस्तुत हो चुका है जो इसे पूर्णतया समृद्ध और शास्त्रविचार-संपन्न भाषा प्रमाणित कर देता है।

हिंदी में नवीनता की ओर रुचि भारतेंदु के समय से ही दिखाई देती है। द्विवेदी-युग में भी यह रुचि बढ़ती रही। किंतु इस युग में आकर उसका बहुत अधिक प्रसार हुआ। बहुत सी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने और गद्य-लेखों के साथ साथ पद्यबद्ध छोटे छोटे निबंधों के प्रकाशित करने का जो ढर्रा द्विवेदीजी के समय निकला उसने कविता की ओर बहुतों को खींचा। किंतु द्विवेदीजी के समय की कविता पद्य में काव्यतत्त्व और मार्मिकता की योजना करने में उतनी समर्थ नहीं हुई। इसका कारण यह था कि उस समय खड़ी को अनेक साँचों में ढालने का प्रयत्न हो रहा था। पदावली के माधुर्य, वाग्वैचित्र्य और भाव की गहराई की ओर बहुत थोड़े लोगों का ध्यान गया। सीधे अँगरेजी के संपर्क में आ जाने से वहाँ की लाक्षणिकता की ओर, बँगला के साहचर्य से मधुर पदावली के नियोजन की ओर तथा उर्दू के लगाव से उसकी शायरी की बंदिश एवम् वेदना की विवृत्ति की ओर कवि लोग स्वभावतः आकृष्ट हुए। फलस्वरूप वाग्वैचित्र्य-प्रधान कविता अधिक परिमाण में प्रकाशित होने लगी। किंतु लाक्षणिकता का कहीं विदेशी और कहीं दूरारूढ़ नियोजन होने के कारण लोगों को ऐसी कविता सुबोध नहीं दिखाई पड़ी। विलक्षणता के साथ साथ रवींद्रनाथ ठाकुर की रहस्यमयी कविता के अनुकरण

पर हिंदी में भी रहस्यवाद की कविता प्रकाशित होने लगी। नवीनता की रुचि तो यहाँ तक बढ़ी कि लोगों ने छंद का बंधन तोड़कर केवल नाद के आधार पर छोटी बड़ी पंक्तियों में रचना आरंभ की। इस प्रकार की कविता बँगला की देखादेखी छायावाद की कविता कही जाने लगी। एक ओर 'छायावाद' शब्द का व्यवहार रहस्यवाद के अर्थ में हुआ और दूसरी ओर वाग्वैचित्र्य एवम् वैलक्षण्य लिए हुए काव्यों के लिए।

ऐसी कविता का विरोध भी इधर-उधर होने लगा। इसके पक्षपाती इस प्रकार की कविता को ही वास्तविक कविता कहकर उद्घोषित करने लगे। ये पुरानी कविता को निस्तत्त्व बतलाते थे। इनमें रहस्यवाद काव्य की सच्ची शाखा माना जाने लगा। इसका घोर प्रतिवाद पं० रामचंद्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' लिखकर किया। प्रतिवाद के फलस्वरूप कुछ लोगों ने अपनी कविता का रंगढंग भी बदला। रहस्यवाद के साथ ही साथ इस युग में अँगरेजी की नकल पर नैराश्यवाद का प्रसार काव्यक्षेत्र में दिखाई देने लगा। भारतवर्ष में काव्यक्षेत्र के भीतर नैराश्यवाद या दुःखवाद कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता, किंतु विदेशी अनुकरण के कारण यह दुःखवाद प्रायः सभी कवियों में लक्षित हुआ। कोई सिर पर वेदना का भार लिए, कोई दुःख के संसार में बसा हुआ, कोई नैराश्य के भीतर साँस लेता और कोई आँसुओं में स्नान करता नजर आया।

जीवन में तरह-तरह के विप्लव होने से साहित्य भी उनसे प्रभावित होने लगा। जीवन में परिवर्तन उपस्थित होने पर साहित्य का उसके साथ लग जाना उसके जीवित रहने का प्रमाण है। भारत में जीवन का वैसा परिवर्तन वस्तुतः नहीं हुआ जैसा पश्चिमी देशों में। थोड़े से राजनीतिक विचार परिष्कृत रूप में जनता में फैले। समाज में भी कुछ थोड़ा सा समयानुकूल परिवर्तन हुआ। लेकिन जीवन के मूल में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई देता। जो विषमता दिखाई देती है वह वस्तुतः आर्थिक है। घोर शारीरिक परिश्रम करनेवाला उतना द्रव्य नहीं पाता जिससे वह सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके।

मनुष्य की हृद्गत मूल भावना सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। केवल देश-काल के भेद से उन्हें विभिन्न साधनों से या आधारों पर व्यक्त करते हैं। इसलिए यदि ऐसे आधारों पर भाव व्यक्त किए जायँ जो सर्वसामान्य नहीं, तो साहित्य वास्तविक मार्ग त्याग देगा। देश,

समाज या जनता की स्थिति पर विचार करते हुए सारे संसार को भस्म कर देने की प्रार्थना या अभिलाष करना, मृत्यु को आलिंगन करने की घोषणा करना, प्रलय का आह्वान करना आदि ऐसे उद्गार हैं जो सर्वसामान्य तो हैं ही नहीं और यदि हों भी तो परिष्कृत रुचि का परिचय देनेवाले नहीं।

रसों की दृष्टि से विचार करते हैं तो यह अवश्य दिखाई देता है कि कुछ स्थायी भावों के आलंबन पहले की अपेक्षा यदि बढ़ गए हैं तो साथ ही कुछ आलंबनों में गांभीर्य एवम् शिष्ट रुचि का ध्यान ही नहीं रखा जाता। रतिभाव केवल प्रिय या प्रेमिका तक ही न रहकर देश, विश्व, मनुष्य, प्रकृति आदि कई के प्रति स्वच्छंद रूप में दिखाई पड़ने लगा है। देश पर लिखी गई सब कविता वीररस के अंतर्गत नहीं आ सकती। जिसमें उत्साह की व्यंजना होगी वही रचना वीररस की मानी जायगी। किसी भाव के वेग को उत्साह मान लेना ठीक नहीं। दूसरे भावों के साथ संचारी रूप में उत्साह बराबर दिखाई पड़ता है; पर वह वीररस उत्पन्न नहीं करता। देश पर लिखी गई राष्ट्रीय कविता में यदि रसकल्पना करनी ही हो तो हास्यरस की कल्पना बड़े मजे में की जा सकती है।

सबसे अधिक छीछालेदर हास्यरस की हुई। विदेशी ढंग पर हास के आलंबन के प्रति हास के अतिरिक्त दया या घृणा का भाव भी उद्बुद्ध माना जाता है। किंतु यह शास्त्रविरुद्ध है। क्योंकि एक ही आलंबन के प्रति एक ही समय में दो प्रकार के विरोधी भाव नहीं रह सकते। हास और घृणा का विरोध है। दो प्रकार के भाव यदि रहें भी तो एक ही कोटि के होने चाहिए अर्थात् या तो सुखात्मक या दुःखात्मक। इधर कवि-सम्मेलनों में हास्यरस की जो कविता घोर हाहाकार के बीच सुनी-सुनाई जाती है उसमें आलंबन का चुनाव तो ठीक दिखाई देता है किंतु उसकी अभिव्यंजन-शैली असाहित्यिक एवम् कुरुचि-संपन्न दिखाई देती है। साहित्य के अंतर्गत भँड़ैती का ग्रहण नहीं हो सकता।

वीररस के आलंबन भी कुछ बढ़े हैं, जैसे देश पर होनेवाली कुछ रचना में। ऐसी रचना में दृष्टि का कुछ विस्तार भी दिखाई देता है। रौद्ररस के आलंबन भी कुछ बढ़े, किंतु उनके साथ साथ क्रोध की सीमा असीम कर दी गई। फलस्वरूप ऐसी रचना में रससंचार की शक्ति नहीं रह गई। अपना नाश तो मनाया ही जाने लगा, सारी सृष्टि के नाश की आकांक्षा भी की जाने लगी। इस प्रकार का क्रोध अप-

रिष्कृत है। समाज की विषम स्थिति के कारण ही इस प्रकार का क्रोध दिखाया जाता है पर लक्ष्य या आलंबन ठीक न होने से शास्त्रीय दृष्टि से यह भद्दा माना जायगा।

करुणरस की कविता कहने को तो अधिक होती है पर उसमें शोक का संचार करने की शक्ति सर्वत्र नहीं पाई जाती है। वेदना के संसार में घूमनेवालों द्वारा लोकभावापन्न करुणा का संचार कठिन दिखाई देता है। अधिकतर कविता वियोगशृंगार की होती है जिसको लोग भ्रम से करुणरस की समझते हैं। ऐसी कविता द्वारा अधिकतर कवि की स्वानुभूति की व्यंजना होती है, अथवा यों कहिए कि देखादेखी वियोगी बनने का शौक बहुतों को हो रहा है।

अद्भुतरस के लिए आलंबनों की कोई कमी नहीं, पर इस रस की कविता बहुत कम दिखाई देती है। यही दशा भय और बीभत्स की भी समझनी चाहिए। शांतरस का वैसा उद्रेक नहीं दिखाई देता। इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकतर शृंगार और हास्य की तथा थोड़ी सी वीररस की ही कविता होती है। कवि लोग 'दो घड़ियों का जीवन कोमल वृंतों में बिताने' के अभिलाषी अधिक दिखाई देते हैं। उग्र भावों की समर्थ व्यंजना करनेवाले कवि कम हैं।

विभाव और भावपक्ष को छोड़कर जब काव्य के कलापक्ष पर आते हैं तो दिखाई देता है कि उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का लदाव, कहीं कहीं अनावश्यक लदाव, अधिक हो गया है। गोचर पदार्थों के लिए अगोचर उपमान लाना फैशन माना जाता है। विलक्षणता पर दृष्टि इतनी अधिक है कि अर्थपरंपरा का ठीक ठीक और सीधा पता लगाना बहुतों के लिए कठिन हो गया है। यह वैचित्र्य केवल पद्य ही तक परिमित नहीं है, गद्य में भी दिखाई देता है। जहाँ शब्दावली का सरल होना आवश्यक है वहाँ भी यह छाया हुआ है और कभी कभी निमंत्रणपत्रों तक में भी दिखाई देता है।

भाषा पर विचार करने से यह तो अवश्य दिखाई देता है कि हिंदी में लाक्षणिक प्रयोग बहुत अधिक बढ़े। किंतु कहीं कहीं विदेशी नकल होने के कारण और कहीं कहीं लक्षणामूला ध्वनि के दूरारूढ़ होने के कारण भाषा में अनावश्यक दुरूहता भी बढ़ी। अँगरेजी में लाक्षणिक प्रयोग अधिक होते हैं, किंतु वहाँ के कवि सारे प्रसंग को खोलनेवाली कुंजी किसी न किसी शब्द (की-नोट वर्ड) में अवश्य

लगा देते हैं। हिंदी के कवियों में साधारणों की बात जाने दीजिए, समर्थ कवियों में भी इस प्रकार की कुंजियाँ प्रायः नहीं दिखाई देतीं। फल यह होता है कि उनकी कविता सामान्य पाठक के लिए व्यूहवत् दुर्गम हो जाती है। सबसे खटकनेवाली बात है कुछ बँधे हुए शब्दों (कैच वर्ड्स) का प्रयोग। यही कारण है कि अधिक लोग ऐसी कविता, कुछ विशिष्ट कवियों की रचना को छोड़कर, पूर्ण चाव से नहीं पढ़ते। हर्ष की बात है कि अब मुक्तक-रचना और प्रगीत-प्रणयन को छोड़कर कुछ कवि प्रबंध-रचना भी करने लगे हैं। किंतु आधुनिक प्रवृत्तियों से उनके प्रबंध भी मुक्त नहीं हैं। बहुत थोड़े ऐसे प्रबंधकाव्य दिखाई पड़े जिनमें वस्तु, पात्र, परिस्थिति, व्यंजना आदि का अच्छा समन्वय दिखाई देता है। धीरे धीरे नई रचना स्थिरता प्राप्त कर रही है और जोश कुछ ठंढा हो रहा है—नए ढंग की कविता करने-वालों का भी और नई कविता के बेढंगे रूप का विरोध करनेवालों का भी। अतः आशा होती है कि हिंदी-कविता निश्चित और सुव्यव-स्थित मार्ग ग्रहण करेगी।

विदेशी साहित्य के संपर्क में आने से हिंदी में नई नई प्रवृत्तियों के समावेश का द्वार तो उन्मुक्त हो गया, किंतु नवीन कविता तक आते आते भारतीय काव्यपरंपरा से विच्छिन्न हो जाने से उसका विकास अपनेपन को दबाकर हुआ। केवल काव्य-रचना में ही नहीं आलोचना में भी विदेशी रंगत अति मात्रा में चढ़ने लगी। भामह, दंडी, वामन, कुंतक, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि संस्कृत के और कुलपति, सुखदेव, भिखारीदास, प्रतापसाहि आदि हिंदी के आचार्यों का नाम न लेकर विदेश के अरस्तू, प्लेटो, ड्राइडन, एडि-सन, जानसन, शेली, मैथ्यू आर्नल्ड, अबरक्रौंबी, रिचर्ड्स, क्रोचे, वर्सफोल्ड, ब्रैडले, जेम्स स्काट आदि साहित्यमीमांसकों के साथ साथ दार्शनिकों और मनोविज्ञानियों के नाम लिए जाने लगे। मार्क्स और फ्रायड के नाम की उद्धरणी बहुत होने लगी है। बात यह है कि पश्चिमी आलोचना-क्षेत्र में नए ढंग के विश्लेषण का हौसला दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। इसलिए साहित्य के अतिरिक्त दूसरे शास्त्रों के, विशेषकर समाजशास्त्र, सौंदर्य-विज्ञान, दर्शन, मनस्तत्त्व आदि के आचार्यों द्वारा की गई नवीन उपपत्ति एवम् प्रतिपत्ति की आड़ लेकर साहित्य में भी नई नई बातें रखी या लाई जा रही हैं। क्रोचे की 'सौंदर्यमीमांसा' पर पहले विस्तृत विचार किया जा चुका है।

फ्रायड के स्वप्न-सिद्धांत (ड्रीम थियरी) पर कुछ और विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

फ्रायड साहब यहूदी हैं और वियना में चिकित्सक का कार्य करते थे। अनेक रोगियों के बाह्याभ्यंतर का निरीक्षण करते करते उन्होंने स्थिर किया कि विशेष प्रकार की परिस्थिति में उत्पन्न होने से मनुष्य को अपनी उठती या जागती हुई मनोवृत्तियों को दबाने या मारने का जो उपक्रम करना पड़ता है उसके उपसंहार में अनेक प्रकार के रोग खड़े हो जाते हैं। यदि किसी के जीवन का कच्चा चिट्ठा जानकर उसकी दबी हुई वृत्तियों के परिष्कार का प्रयास किया जाय तो अनेक रोगों का उपचार किया जा सकता है। अनेक प्रयोगों द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि असंज्ञान (अनकांशस) ही अनेक विलक्षणताओं का निदान है। इसे लेकर उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि व्यक्ति की दबी हुई वृत्तियाँ या कामनाएँ अवसर पाकर सिर भी उठाती हैं। अनेक रोगियों के स्वप्नों का मनन करके उन्होंने यह सिद्धांत निकाला कि दबी हुई मनोवृत्तियाँ स्वप्नावस्था में बृहद् रूप धरकर दर्शन देती हैं। दरिद्रता की चक्की में पिसता हुआ प्राणी सोते समय राजा होने का स्वप्न देखता है। पेटभर भोजन के लिए भी लालायित रहनेवाला स्वप्न में छप्पन प्रकार के व्यंजनों का आस्वाद लेता है—

सपने होइ भिखारि नृप, रंग नाकपति होइ।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ ॥ —तुलसीदास

हानि-लाभ भले ही न हो, पर भिखारी का स्वप्न में राजगद्दी पाना और रंक का इंद्र बन जाना उसकी कुचली हुई कामनाओं का ही परिणाम है। इसी प्रकार इच्छित प्रेमिकाओं को न पा सकनेवाले अप्सराओं का स्वप्न देखते हैं। समाज की नीची श्रेणी का व्यक्ति स्वप्न में ऊँची श्रेणी का बनता है; शूद्र या चांडाल ब्राह्मण या क्षत्रिय बन बैठता है, मजदूर मालिक हो जाता है, किसान जमींदारी करने लगता है आदि आदि। इससे जीवन में असंज्ञान की मुख्यता सिद्ध होती है। इसी पर फ्रायड साहब ने अनेक निबंध और पोथियाँ लिखीं, जिनमें विविध प्रकार के स्वप्नों के उदाहरणों की भरमार है।

रोग ही में नहीं चरित्रगठन में भी इसी का योग प्रमाणित किया गया है। बस, पश्चिमी समालोचक इसे ले उड़े। कवियों और

लेखकों के कथाकाव्यों में अनेक पात्रों का चरित्र विलक्षण या उलझा हुआ दिखाई देता था। उसकी व्याख्या का तो द्वार ही इस स्वप्न-सिद्धांत या असंज्ञान से खुल गया। किसी पात्र के चरित्र में गूढ़ता, उलझन, रहस्य आदि क्यों आए इसके लिए उसकी परिस्थिति की जाँच करके बतला दिया गया कि वह अपनी अमुकामुक वासनाओं को दबाता आया है। शेक्सपियर के नाटकों के कई पात्रों की चरित्रगत उलझन इसी के सहारे सुलझाई गई। उन्हें इतने से ही संतोष नहीं हुआ वे कृति से और आगे बढ़े और कर्ता तक पहुँचे। दिखाया यह जाने लगा कि रचयिता के जीवन-गत असंज्ञान के ही कारण उसकी रचना में विशेष प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई देती है। कर्ता के प्रकृत जीवन में किसी हेतुवश जो वृत्तियाँ दबी रह गईं या दबाई गईं उन्हें काव्य-रचना करते समय खुल खेलने का अवसर मिला। इधर कवियों और लेखकों के व्यक्तिगत जीवन की जो अधिक छान-बीन होती है वह इतिहास के नाते उतनी नहीं जितनी इस नाते।

कथाकाव्य और मुक्तक या प्रगीत-शैली की जो कृतियाँ बन-ठन-कर निकल रही हैं उनमें स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि कर्ता जीवन से दूर दूर रहकर नए या काल्पनिक लोक में विहार करनेवाले पंछियों का बाना धारण करके उड़ रहे हैं। इसे अधिकतर शृंगारी रूप का लखकर इसी धारणा की आड़ में कुछ समालोचकों ने तो अनिवार्य मिथुनवृत्ति (सेक्स साइकोलाजी) कहकर समर्थित किया और कुछ इसे जीवन की संकुलता से प्रेरित कछुआवृत्ति या पलायनवृत्ति (इस्केपिज्म) कहकर आगे बढ़े। हिंदी में भी ऐसी रचना प्रभूत परिमाण में हो रही है। उनके घोर शृंगारी ढाँचे का कारण केवल असंज्ञानमूलक कामवृत्ति या कछुआवृत्ति नहीं है। वस्तुतः इसका मुख्य कारण तो है गड्डलिका-प्रवाह (फैशन) और गौण है व्यक्तिवैचित्र्यवाद (इनडिविडुअलिज्म)। व्यक्तिवैचित्र्य के ही कारण कामवृत्ति या मिथुनवृत्ति का रंग विशेष चढ़ रहा है। विदेशी सभ्यता के विशेष प्रसार से और शिक्षा का उद्देश्य भृत्यवृत्ति हो जाने से भारत में पलायनवृत्ति के अवसर अधिक अवश्य आते हैं किंतु विदेशों में सामाजिक स्थिति जितनी डाँवाँडोल है उतनी पराधीनता में पकते रहने पर भी भारत में नहीं। अतः हिंदी की नवीन कविता में प्रगीतवाद (लिरिसिज्म), शृंगारी प्रवृत्ति, जीवन के प्रति घृणा या विरक्ति, रोषावेश, नैराश्यवाद (पेस्सिमिज्म) आदि की बाढ़ अधिकतर अनुकरणमूलक है। देश की

पराधीनता, अकिंचनता आदि के कारण कविता में जो रोषाविष्ट रचना हो रही है उसमें अपने या संसार के नाश की कामना या प्रार्थना करना रोष का असंस्कृत रूप मात्र है। राजनीतिक महापुरुषों द्वारा जैसे विदेश के सामाजिक या राजनीतिक नूतन सिद्धांतों का प्रयोग या आरोप इस देश पर किया जा रहा है वैसे ही यहाँ के काव्य पर भी विदेशी मतों का बिना छानबीन किए आक्षेप कर लेना ठीक नहीं। विदेशी प्रभाव से कामवृत्ति और पलायनवृत्ति प्रणेताओं में भले ही कुछ जुगजुगाई हो, किंतु फ्रायड के असंज्ञान या स्वप्नसिद्धांत को यहाँ के काव्य पर सर्वत्र आक्षिप्त मान लेना ठीक-ठिकाने की बात नहीं। विदेशों में भी बाह्यार्थनिरूपक (आबजेक्टिव) कही जानेवाली रचना में स्वप्नसिद्धांत ठीक ठीक नहीं उतर सकता। फिर भारतीय रचना में, जहाँ लोकानुभूति और स्वानुभूति में अधिक अंतर नहीं रहा है, ये स्वप्नलोक की बातें कैसे घटित होंगी। आत्मव्यंजक रचना में भले ही यह सिद्धांत मान लिया जाय, किंतु कविकर्म का प्रेरक वस्तुतः यह सर्वत्र है नहीं।

काव्यकर्ता कृति में संलग्न होता है भावोद्रेक से। भावोद्रेक के लिए आलंबन होते हैं जीवन और जगत् के अनेकानेक विषय या पदार्थ। रूपक, प्रबंधकाव्य, कथाकाव्य आदि में जिनके चारित्र्य का निरूपण किया जाता है वे कर्ता से पृथक् होते हैं। उनके चारित्र्य और उनकी वृत्तियों का अभिव्यंजन कर्ता अपने को उनकी स्थिति में डालकर करता है। जिसका हृदय ढलनशील नहीं होता वह उसका निरूपण ठीक ठीक नहीं कर सकता। इन रचनाओं में वह किसी पात्र को अपना प्रतिनिधि बनाकर खड़ा कर सकता है और अपनी अनुभूतियों का आरोप भी उस पर कर ले सकता है, किंतु सभी पात्र उसकी अनुभूति का अनुधावन करनेवाले नहीं हो सकते। इसलिए फ्रायड साहब का सिद्धांत तो इन रचनाओं में किसी प्रकार घट नहीं सकता। रहीं वे रचनाएँ जो स्वानुभूतिमूलक होती हैं। इनमें अवश्य कर्ता की अनुभूतियाँ आया करती हैं। पर कर्ता का असंज्ञान तो अनुभूति हो नहीं सकता, क्योंकि जिस भावना का हृदय में बारंबार उद्रेक होता है वही अनुभूति का रूप धारण करती है। असंज्ञान में तो वस्तुतः कामनाएँ दबकर अनुभूतिशून्य हो जाती हैं।

इसी प्रकार मतों का सहारा लेकर 'प्रगति प्रगति' की पुकार मचाई गई है। पुराने वाङ्मय को प्रगतिहीन माने बिना प्रगति हो नहीं सकती

एकदम न ढँक जाय तो स्वच्छंदता का विरोध न इतना अधिक होना चाहिए और न होता ही है। किंतु यदि अपनेपन को भुलाकर पराया-पन इतना अधिक लदने लगे कि अपने को पहचानना भी कठिन हो जाय तो इसे किसी साहित्य की अभिवांछित पद्धति नहीं माना जा सकता। हिंदी की पुरानी कविता या साहित्य यदि अधिकतर ऊँची श्रेणी के अर्थात् देवी-देवता, राजा-महाराजा, साधु-संत आदि के ही चरित्रों के निरूपण तक परिमित रहा तो उसमें सामान्य जनता का चरित्र लाना, और सचाई के साथ लाना, साहित्य के लिए मंगलप्रद ही होगा। यदि साहित्य प्रेम के बँधे हुए साँचों में ही ढलता रहा है तो नए साँचों में उन्मुक्त या स्वच्छंद प्रेम को ढालना हितकर ही सिद्ध होगा। यदि प्रकृति की वास्तविक विभूति को त्याग कर काव्य कविसमय-सिद्ध कुछ विशिष्ट रूपों को ही लेकर चलता रहा तो प्रकृति के खुले दर्शन कराने का अभिलाष उसे रसमय ही बनाएगा। इस पर विचार करने से दिखाई देता है कि हिंदी में दो प्रकार की स्वच्छंदता दिखाई देती है—पहली वास्तविक (ट्रू रोमांटिसिज्म) और दूसरी अवास्तविक या कृत्रिम (स्वीडो रोमांटिसिज्म)। पहले प्रकार की स्वच्छंदता का आरंभ श्रीधर पाठक से हुआ। आगे चलकर रामनरेश त्रिपाठी और सुमित्रानंदन पंत में यही स्वच्छंदता दिखाई पड़ी। दूसरे प्रकार की स्वच्छंदता परी उड़ाने या परियों का नाच कराने वालों, हाला ढालने-वालों और प्याले पर प्याला खाली करनेवालों में दिखाई पड़ती है।

प्रबंधकाव्यों, नाटकों, उपन्यासों, कहानियों आदि में वर्ण्य वस्तु चुनी हुई होती है। नाटकों और कथाकाव्यों में वर्ण्य वस्तु की अधिकता न हुई है, न हो सकती है। हाँ, समाज की समस्याओं के रूप में सामान्य या उपेक्षित वर्ग के पात्र या उनके विवरण लाए जा सकते हैं। प्रबंधकाव्यों में वर्ण्य वस्तुओं का विस्तार हो सकता है और होता भी आया है। किंतु उनमें भी छाँटा हुआ व्यापार ही काम में लाया जाता है। इसलिए सब प्रकार के विषयों, व्यक्तियों या वस्तुओं का समावेश संभव होकर भी अप्रचलित और अग्राह्य अवश्य है। अतः मुक्तकों या गीतों में ही सामान्य विषयों का समावेश किया जाता रहा है। किंतु मुक्तकों में उनका ग्रहण अत्यधिक परिमाण में तब तक उचित नहीं प्रतीत होता जब तक उन वर्ण्यों की विशेषताओं के उद्‌घाटन की कोई प्रवृत्ति न दिखाई जाय। होता यह है कि स्वच्छंदता के नाम पर तो साधारण से साधारण व्यक्ति या वस्तु को वर्ण्य विषय बना लिया

जाता है, पर उनके द्वारा कोई ऊँचा लक्ष्य न सिद्ध करके अधिकतर अपनी ही भावुकता और विलक्षण अनुभूति का आरोप किया-कराया जाता है। वर्ण्य वस्तु तो व्याज मात्र होती है, काव्यकर्ता उनका सच्चा वर्णन न करके स्वकीय अनुभूतियों का ही अधिकतर उन पर आरोप करते हैं। तात्पर्य यह कि व्यक्तित्व का आरोप ही प्रधान रहता है, प्रस्तुत विषय कुछ होता ही नहीं। इस प्रकार की रचना में सर्वत्र एक सी उक्तियों का होना ही बतलाता है कि कवि वर्ण्य के निरूपण में तो लगा नहीं, अपनी गाथा उसने अवश्य गा डाली। यद्यपि आलंबन के रूप में संसार की कोई वस्तु आ सकती है तथापि अभी तक किसी भी साहित्य में जिस किसी वस्तु का ग्रहण देखा नहीं जाता। क्योंकि काव्य में सभी वर्ण्य बनाकर सफलतापूर्वक लाए भी नहीं जा सकते। इसीलिए व्यक्तित्व का आरोप करके वर्ण्य का निरूपण किया जा रहा है। इसी से रचनाएँ बेढंगी भी हो रही हैं और बेतुकी भी। कुछ चुने हुए वर्ण्यों द्वारा व्यक्तित्व का प्रदर्शन अधिक रुचिकर न समझकर ही ऐसे सामान्य वर्ण्यों की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है। सौ बात की एक बात यह कि सारे झगड़े की जड़ व्यक्ति वैचित्र्यवाद है। विदेशी अनुकृति के कारण यह अति मात्रा में आ गया है और इसका उपचार तब तक नहीं हो सकता जब तक भारतीय परंपरा से दूर दूर रहकर साहित्यकार चलना चाहेंगे।

आधुनिक काल के कुछ प्रमुख कवि

आधुनिक काल के गद्य-प्रणेताओं की विशेषताओं का बहुत कुछ संक्षिप्त उल्लेख यथास्थान हो चुका है, पद्य-प्रणेताओं की व्यक्तिगत विशेषताओं का उल्लेख शेष है। ब्रजी और खड़ी दोनों के कुछ प्रमुख कवियों का बहुत संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। ब्रजी काव्यधारा में से हरिश्चंद्र की विशेषताएँ बताई जा चुकी हैं। अतः शेष कवियों में से केवल पाँच की कुछ विशेषताएँ दिखाई जाती हैं—जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', रामचंद्र शुक्ल, सत्यनारायण कविरत्न और वियोगी हरि।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

इस युग में रत्नाकरजी ब्रजभाषा के बहुत ही समर्थ कवि हुए। इन्होंने मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार की रचना की। मुक्तकों के लिए इन्होंने घनाक्षरी छंद चुना है और प्रबंध के लिए रोला छंद। 'घनाक्षरीनियम-रत्नाकर' नामक पुस्तक लिखकर इन्होंने इस छंद

की योजना का बहुत अच्छा विचार किया है। एक लेख में इन्होंने 'काव्य' (रोला) छंद का विचार करते हुए यह मत प्रकट किया है कि व्रजभाषा में कथात्मक निबंध या प्रबंध के अनुकूल यही छंद पड़ता है। यही कारण है कि इन्होंने गंगावतरण ऐसे बड़े प्रबंध और हिंडोल ऐसे छोटे काव्यनिबंध में रोला का ही प्रयोग किया। इन्होंने घनाक्षरी या कबित्त में जो रचना निर्मित की वह मुक्तक ही है, जैसे—'उद्धवशतक'। उसे प्रबंधात्मक मुक्तक या खंडकाव्य समझना धोखे में पड़ना है। मुक्तक-रचना में प्रत्येक छंद का पूर्वापर संबंध जुड़ता नहीं चलता। जैसे 'सूरसागर' में कृष्णलीला का वर्णन तो क्रम से मिल जायगा किंतु उसका प्रत्येक पद स्वच्छंद है, वैसे ही 'उद्धवशतक' का प्रत्येक छंद भी। रत्नाकरजी की मुक्तक-रचना व्रजभाषा के बहुत से प्राचीन कवियों की अपेक्षा इस बात में उत्कृष्ट दिखाई देती है कि इसमें चारों चरणों की योजना एक सी है। घनआनंद आदि कुछ इने-गिने पुराने कवियों को छोड़कर व्रजी के अन्य कवियों की अधिकतर मुक्तक-रचना ऐसी है जिसमें चौथा चरण तो ठीक-ठिकाने का दिखाई देता है किंतु शेष तीन चरण जोड़े हुए से जान पड़ते हैं। ऐसा पद्माकर, मतिराम, देव ऐसे विशिष्ट कवियों तक की रचना में कहीं कहीं मिलता है। पर 'रत्नाकर' की कृति में केवल चौथे चरण की ही उत्कृष्टता वाले छंद ढूँढ़ने पर भी न मिलेंगे। मुक्तक को छोड़कर प्रबंध की ओर दृष्टि ले जाते हैं तो कथा के बंधान के अतिरिक्त वर्णनों और रूप खड़ा करने की कला में भी इन्हें बहुत ही समर्थ पाते हैं। मुद्राओं और उक्तियों की आत्मनिरीक्षण द्वारा इन्होंने जैसी योजना की वह इनकी काव्यगत क्षमता का बहुत ही उत्कृष्ट प्रमाण है। भाषा पर विचार करते हैं तो दिखाई देता है कि व्याकरण का ध्यान रखनेवाले व्रजी के जो दो-चार कवि हुए हैं उनमें रत्नाकरजी का नाम आदरपूर्वक लेने योग्य है। यद्यपि व्रजी और अवधी के शब्दार्थों की भिन्नता का पूरा विचार ये भी नहीं रख सके तथापि कारक-चिह्नों और वाक्यगत शब्दों के अनुशासित रूपों का इन्होंने अच्छा विचार रखा है। लाक्षणिक प्रयोग, प्रच्छन्न रूपक और नए नए दृष्टांतों का मार्मिकतापूर्ण ग्रहण इनमें बहुत ही रमणीय दिखाई देता है। ये केवल कवि ही नहीं काव्यमर्मज्ञ भी थे। 'बिहारी-सतसैया' की 'बिहारी-रत्नाकर' नामक टीका और 'सूरसागर' के सूर-रत्नाकर' नाम से संपादित रूप द्वारा इसका पूरा प्रमाण मिल जाता है।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित मार्ग के पक्के अनुयायी थे। इन्होंने व्रजी की रचना में परंपरा-पालन के साथ साथ नवीन प्रवृत्तियों का भी उमंगपूर्वक अभिनंदन किया। जैसे इन्होंने ऋतुओं आदि का परंपराभुक्त वर्णन किया वैसे ही देशभक्ति आदि का परंपरा-मुक्त वर्णन भी। विशेष विशेष उत्सवों पर बराबर कविता बनाया करते थे। भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल पड़नेवाली प्रवृत्तियों का भरपूर प्रतीकार करना कर्तव्य समझते थे। छंद का बंधन तोड़कर छोटी-बड़ी पंक्तियों में नाद के अनुकूल रची जानेवाली रचना से ये बहुत चिढ़ते थे और ऐसे छंदों को 'केचुआ' या 'रबड़' छंद कहकर उनका उपहास किया करते थे। इन्होंने सब प्रकार के छंदों अर्थात् वर्णवृत्त, मात्रिक और कहीं कहीं उर्दू की बहरों का भी प्रयोग किया है। भाषा चलती हुई और साफ होती थी। व्रजी के प्रसार और परिष्कार के विचार से 'कादंबिनी' नाम की पत्रिका भी प्रकाशित की थी। भारतेंदु-युग में पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर को हिंदी का पीठ बना दिया था, उसको हिंदी के भक्तों का तीर्थ बना देनेवाले पूर्णजी हुए। समस्यापूर्तियों का दंगल कानपुर में जो कल तक चला चल रहा था उसके प्रवर्तक ये ही थे। इन्होंने 'धाराधर-धावन' नाम से 'मेघदूत' का बहुत ही मधुर अनुवाद व्रजी में किया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

व्रजी में समयानुकूल परिष्कार जैसा आधुनिक युग के आरंभ में राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा किया गया वैसा ही दूसरी बार स्वर्गीय शुक्लजी ने किया। रत्नाकरजी ने व्रजी का आदर्श केवल प्राचीन कवियों को ही माना था और बहुत से पुराने प्रयोगों को ज्यों का त्यों रहने दिया था, किंतु शुक्लजी ने पुराने शब्दों को छाँटकर व्रजी का ऐसा चलता रूप ग्रहण किया जो बहुत ही सुबोध और सामयिक था। जिस प्रकार खड़ी बोली में संस्कृत शब्द तत्सम रूप में गृहीत होते हैं उसी प्रकार व्रजी में भी संस्कृत शब्दों का तत्सम रूप ग्रहण कर इन्होंने व्रजी को हमारे निकट ला देने का प्रयास किया। परंतु व्रजी के इधर के कवियों ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया। बात यह है कि शुक्लजी की आलोचना के प्रभाव में लोग ऐसे भूले कि उन्हें यह ध्यान ही न रहा कि इन्होंने कवि का बाना भी धारण किया था और व्रजी का परिष्कार करके उसे बहुत दिनों तक काव्य-परंपरा में जिलाए रखने

का उपचार भी बताया था। 'बुद्धचरित' की भूमिका में व्रजी के सारे वाङ्मय के प्राकृत-अपभ्रंश-काल से लेकर आज तक के प्रयोगों की भरपूर छानबीन करके व्रजी, अवधी और खड़ी के पृथक् पृथक् रूपों का बोध इन्होंने बड़े ही पांडित्य के साथ कराया है। यद्यपि यह ग्रंथ सर एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑव् एशिया' के आधार पर निर्मित हुआ है पर वर्णन इसमें स्वच्छंद हैं। प्रकृति का जैसा संश्लिष्ट चित्रण प्रकृति के इस पुजारी से बन पड़ा वैसा हिंदी के किसी आधुनिक कवि से नहीं। इन्होंने खड़ी में भी थोड़ी रचना की है, जिसमें हृदय की कोमल वृत्तियों की अत्यंत रमणीय व्यंजना है।

सत्यनारायण कविरत्न

व्रजी की माधुरी का काव्य में पूर्ण नियोजन करके सामने आनेवाले कविरत्नजी ही दिखाई देते हैं। इनकी रचना में हृदयपक्ष प्रधान और कलापक्ष गौण है। ये वस्तुतः भावुकता की मूर्ति थे। भक्तों की सी पदशैली की मुक्तक-रचना के अतिरिक्त इन्होंने 'भ्रमर-दूत' नाम का पद्य-निबंध भी लिखना आरंभ किया था जो अधूरा रह गया। इसमें इन्होंने नए ढंग की कल्पना की है। यशोदा भ्रमर को दूत बनाकर द्वारका भेजती हैं और ऐसी अर्थगर्भ वचनावली में संदेश देती हैं कि वह भारतमाता का अपने सपूत श्रीकृष्ण के प्रति दिया गया संदेश प्रतीत होता है। यह नंददासजी के 'भवँरगीत' के ढर्रे पर टेकमिश्रित शैली में लिखा गया है। बातें बहुत ही चुटीली और मर्मभेदी कही गई हैं। इससे स्पष्ट है कि व्रजी में नवीनता का समावेश करने और उसे युगानुरूप वाङ्मय से संपन्न भाषा बनाने का चाव इनमें भी विद्यमान था। इस युग में रत्नाकरजी को छोड़कर अधिकतर व्रजी के गायक नए नए आलाप ले रहे थे और उसे खड़ी बोली के साथ साथ आगे बढ़ा ले जाना चाहते थे। कविरत्नजी ने यों तो भाषा की पदावली बड़ी ही मधुर रखी है किंतु उसमें व्रजी की बोलचाल के बहुत से शब्द भी चिपका दिए हैं। व्रजी सामान्य काव्यभाषा के रूप में चलती रही है इसलिए व्रजप्रांत के अधिक ठेठ शब्दों का व्यवहार उसकी गति में बाधक है। कविरत्नजी केवल कोमल भावों के कवि थे। रत्नाकरजी की भाँति कोमल और उग्र दोनों प्रकार के भावों का तुल्यबल अभिव्यंजन इनके बाँटे नहीं पड़ा था। इन्होंने भवभूति के नाटकों के सुंदर अनुवाद भी किए हैं, जिनमें पद्यभाग का व्रजी में बहुत ही सटीक और मधुर उल्था बन पड़ा है।

वियोगी हरि

यों तो इन्होंने कुछ फुटकल रचना और भक्तमाल के ढंग की भी थोड़ी सी कविता कवियों का कीर्ति-कलाप गाते हुए की है किंतु इनकी प्रसिद्धि का कारण 'वीर-सतसई' हुई। इसमें वीररस के स्थायी भाव उत्साह की व्याप्ति दूर तक दिखाई गई है। देश के प्राचीन और नवीन वीरों का उल्लेख तो हुआ ही है, विरहिणी व्रजांगनाओं को विरह-वीरता का भी दिग्दर्शन कराया गया है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से 'विरह की वीरता' उत्साह स्थायी के अंतर्गत नहीं आती तथापि नाना प्रकार के वीरों का वीरत्व जैसा इस ग्रंथ में प्रदर्शित किया गया है उससे कवि की व्यापक और नूतनताविधायिनी शक्ति का परिचय अवश्य प्राप्त होता है। छोटे से दोहे में बड़ी ही सफाई के साथ वीरों की विशेषताओं का परिशोधित कार्यव्यापारों के सहारे उद्घाटन किया गया है। रचना केवल भावपक्ष-प्रधान नहीं है उसमें कलापक्ष की योजना भी बहुत कुछ दिखाई देती है। यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, विरोधाभास आदि अलंकारों की अच्छी योजना है। भाषा में उतनी कसावट नहीं है जितनी रत्नाकरजी में दिखाई पड़ी, पर सफाई और अर्थगर्भत्व का अभाव कहीं नहीं दिखाई देता।

यह कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी ने गद्य में व्याकरण की व्यवस्था भी की और खड़ी को पद्य के क्षेत्र में उतारा भी। परिणाम यह हुआ कि जो व्रजी में पद्यरचना कर रहे थे वे भी खड़ी की ओर उन्मुख हुए। यही कारण है कि एक ही कवि की रचना में दोनों भाषाओं के पद्य मिलते हैं, विशेषतः उनकी कविता में जो पहले से ही पद्यरचना में प्रवृत्त थे। स्वयम् द्विवेदीजी की आरंभिक रचना व्रजी में है और उसमें कुछ ऐसी भी है जिसमें दोनों का विचित्र मिश्रण है। 'पद्यरचना खड़ी में हो' का आग्रह बढ़ने का यह भी दुष्परिणाम हुआ कि पद्य में भी गद्यवत् रूप दिखाई पड़ा। पर यह बात उन्हीं कवियों में आई जो द्विवेदीजी के प्रभाव में चल रहे थे। जो व्रजी की माधुरी चख-चखाकर उसका रस लेकर खड़ी के क्षेत्र में आए उन्होंने भाषा के रूप में हेर-फेर करने का प्रयास भी किया। पंडित रामचंद्र शुक्ल की अधिक रचना व्रजी में है, पर उन्होंने खड़ी में भी रचना की और उसमें भाषा का रूप बहुत ही व्यंजक दिखाई दिया। इनके अतिरिक्त ऐसे प्रमुख कवि तीन ही और दिखाई देते हैं—श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और लाला भगवानदीन।

पाठकजी ने लावनी की शैली ग्रहण की, हरिऔधजी ने संस्कृत-वृत्त अपनाए और लालाजी ने उर्दू की बहरें चुनीं। इन सबकी व्रजी की रचना अधिकतर कवित्त-सवैयों में है और मुक्तक है।

श्रीधर पाठक

ये प्रकृति के उपासक थे, इसलिए प्रकृति पर इनकी रचना पर्याप्त मिलती है। इस रचना में विशेषता यह है कि यह व्रजी के पुराने कवियों की भाँति रूढ़िबद्ध नहीं है। कवि ने आँखें खोलकर प्रकृति की छटा का अवलोकन किया है। पर प्रकृति का रमणीय रूप ही इन्हें भाता था, अतः इनकी दृष्टि कुछ चुने हुए भव्य रूपों तक ही जा सकी है। साधारण लता-वीरुध तक जैसी दृष्टि वाल्मीकि आदि की पहुँची वैसी इनकी नहीं। रीतिकाल का प्रभाव यह भी पड़ा कि प्रकृति के वर्णन उपमा, उत्प्रेक्षा आदि से लदे हुए ही आए। पाठकजी ने शुक्लजी की भाँति प्रकृति के उतने संश्लिष्ट चित्रण तो नहीं किए, पर किए अवश्य हैं। समय की गति के साथ समाजसुधार आदि नवीन विषयों पर भी लेखनी चलाई और देशप्रेम पर भी कितनी ही रचना रची। इनमें केवल विषयगत नवीनता के ही दर्शन नहीं होते, शैली की भी नवीनता मिलती है। नए नए छंदों की योजना, कई छंदों के मिश्रण का प्रयास, अतुकांत मात्रिक रचना, खड़ी में सवैया आदि का प्रयोग सब कुछ है। यदि पाठकजी छंद की दृष्टि से किसी ओर नहीं गए तो उर्दू की बहरों की ओर। भाषा में बड़ी ही सफाई और व्यंजकता मिलती है। व्रजी का प्रभाव अधिक होने से इन्होंने खड़ी के बीच व्रजी का भी पुट दे दिया है, कहीं कहीं दोनों के छंद अलग अलग पड़े हुए हैं। नवीन कविता की अनेक प्रवृत्तियों का मूल इनकी रचना में इसी से मिलता है। इनकी व्रजी की रचना में भी नूतनता के दर्शन होते हैं, मुख्यतः विषय की नूतनता के। ये हिंदी में स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हरिऔधजी ने भी आरंभ में व्रजी में ही रचना की। व्रजी की रचना के तीन मुख्य अखाड़े तीन स्थानों में थे—काशी, कानपुर और आजमगढ़ में। तरह तरह की समस्या देना और पूर्ति में तरह तरह की रचना प्रस्तुत करना यों तो और भी कई स्थानों में, प्रायः बैसवाड़े और बुंदेलखंड में, प्रचलित था पर इन तीन स्थानों में इसकी विशेष धूम

थी। आजमगढ़ में बाबा सुमेरसिंह व्रजी के पूर्ण रसिक थे। उन्हीं की शिक्षा-दीक्षा में हरिऔधजी ने व्रजी की बहुत सी रचना की। 'रस-कलस' में इस प्रकार की रचनाओं का संग्रह हो गया है। इसमें नए नए भेद भी शास्त्र के विधि-विधान के भीतर ही करके दिखाए गए हैं। इधर खड़ी का प्रसार होते देख इन्होंने संस्कृत के वर्णवृत्तों में 'प्रियप्रवास' नाम की अतुकांत रचना प्रस्तुत की। इसमें 'गोपिका-विरह' का वर्णन है। श्रीकृष्ण इसमें अवतार के रूप में नहीं लाए गए, महापुरुष या पुरुषोत्तम के रूप में लाए गए हैं। उनकी लीलाओं का भी वर्तमान नए युग के अनुरूप तर्कसिद्ध रूप ही सामने रखा गया है, जैसे गोवर्धन का उँगली पर उठा लेना लाक्षणिक कथन माना गया। श्रीकृष्ण वृष्टि के समय गो-ग्वाल-गोपियों की रक्षा उसके चारों ओर दौड़ दौड़कर इतनी फुरती के साथ कर रहे थे, मानो उन्होंने उसे उँगली पर उठा लिया हो। भगवल्लीला में पूर्ण विश्वास करनेवालों की राम जाने, पर सब बातों को तर्क की कसौटी पर कसनेवालों का कुछ संतोष इससे अवश्य हो गया होगा। व्रज में श्रीकृष्ण के शृंगारी रूप का इतना अतिरेक हुआ और उन्हें इतना अधिक छैल-छबीला दिखाया गया कि आर्य-समाज और राममोहन राय आदि के सुधारवादी आंदोलनों के अनंतर काव्य में उसका प्रतिवर्तन आवश्यक था। 'प्रियप्रवास' में यही प्रतिवर्तन लक्षित होता है। इसमें नवधा भक्ति का भी नूतन रूप सामने लाया गया है, जो आधुनिक मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल पड़ता है। घन-आनंद ने पवनदूत के एक-दो छंद ही लिखे थे, इसमें पूरा सर्ग है। वर्णनों की ही प्रचुरता इसमें भी है, जो हिंदी के प्रबंधकाव्यों या संस्कृत के पिछले काँटे के महाकाव्यों का अनुगमन मात्र है। वृक्षों और लताओं की नामावली के बीच केशव की जमाई हुई परिपाटी का पूर्णतया पालन किया गया है, जिसमें खिरनी, फालसा, लीची आदि के झुरमुट में बेचारे करील का पता ही नहीं चलता। महाकाव्य के आदर्श पर चलते हुए इसमें केवल उसका वर्णनात्मक अंश लिया गया है, घटनात्मक नहीं। अतः इसमें जो कुछ सरसता है वह वर्णनों की ही। उत्तरांश में वियोग-व्यथा की भी मार्मिक व्यंजना हुई है। सबसे अधिक चौंकानेवाली इसकी भाषा दिखाई पड़ी। एक तो संस्कृत-वर्णवृत्तों के प्रयोग के कारण संस्कृत की समस्त पदावली अनुरूप दिखाई पड़ी, दूसरे वर्णनों में प्रभविष्णुता लाने के लिए भी उसका प्रयोग आवश्यक प्रतीत हुआ। पर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इसमें हिंदी

की सरल पदावली है ही नहीं। हृदय के उद्गार व्यक्त करने के लिए हिंदी की कहीं सरल और कहीं कुछ परिष्कृत पदावली का व्यवहार बराबर किया गया है।

हरिऔधजी ने अनेक रूप की शैली और अनेक भाषा दोनों का व्यवहार किया है। इनकी धुन अनोखी है। मुहावरों पर तीन ग्रंथ लिखे—चुभते चौपदे, चोखे चौपदे और बोलचाल। इनमें उर्दू की बहरों का अपने ढंग से व्यवहार किया गया है। मुहावरे भी बड़े कटकीने से लाए गए हैं और कुछ नए मुहावरे भी रख दिए गए हैं। 'पारिजात' में कबित्तों की कसावट और स्वर्ग-कल्पना का कामद रूप है। 'वैदेही-वनवास' में हिंदी के मात्रिक छंदों का व्यवहार हुआ है। इस प्रकार इन्होंने संस्कृत के वर्णवृत्तों, उर्दू की बहरों और हिंदी के मात्रिक तथा दंडक छंदों अर्थात् सभी प्रकार की चलती शैलियों में रचना करके अपनी महाशक्ति का परिचय दिया है, भाषा के ठेठ रूप से लेकर संस्कृतमय रूप तक में रचना करके उसके विविध रूपों का भी आभास दिया। नई प्रवृत्ति के इन्होंने कुछ 'गेय गीत' भी लिखे हैं, पर वे व्यक्तिवैचित्र्यवाद से मुक्त हैं। इस प्रकार बहुरंगी रचना के विचार से हरिऔधजी इस काल के बहुत ही समर्थ कवि हैं। प्रियप्रवास में खड़ी के जिस रूप का आभास इन्होंने क्रियापदों और अव्ययों के प्राचीन रूपों का ग्रहण करके दिया उसकी पद्धति अब हिंदी में व्याप्त हो गई है।

लाला भगवानदीन 'दीन'

लालाजी की ब्रजी की रचना पुराने कँड़े की ही है, पर उसमें कुछ स्थानों पर मनोरंजन के विचार से मोटर, हवाई-जहाज आदि नवीन वर्ण्य विषय भी लाए गए हैं। असहयोग-आंदोलन के समय इन्होंने चरखा, स्वदेशी, मादकद्रव्य-त्याग आदि को तथा और आगे चलकर कुछ अन्य चलते विषयों को भी सोत्साह ब्रजी की माधुरी में लपेटा। खड़ी में इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'वीर-पंचरत्न' है, जिसमें उर्दू की बहरों का व्यवहार किया गया है। इनका विचार था कि खड़ी इनमें ढलती आ रही है अतः बहरों की यह शैली उसके अनुकूल पड़ती है। गद्याभास रचना का इन्होंने घोर विरोध किया था, जो 'लक्ष्मी' नाम की पत्रिका में बहुत दिनों तक लेखबद्ध प्रकाशित होता रहा। पद्यात्मक निबंध भी कई लिखे हैं और अनेकानेक फुटकल विषयों पर भी कुछ लंबी रचना की है। पंचक, सप्तक, अष्टक तो इन्होंने बहुत से

लिखे। विषय भी नागरिक और ग्रामीण रुचि दोनों के अनुकूल लिए। 'नवीनवीन' या 'नदीमे दीन' नाम से इनकी फुटकल रचना का संग्रह प्रकाशित हुआ है। अभी तक इनकी बहुत सी रचना अप्रकाशित ही पड़ी है। 'वीर-पंचरत्न' का बहुत अधिक प्रचार हुआ। पछाँह में लोग बड़ी उमग से उसे पढ़ते-सुनते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि दीन-जी वस्तुतः चमत्कारवादी कवि थे। केशव की कविता की छाप इन पर भरपूर पड़ी थी। केशवदास के ग्रंथों की टीका करके इन्होंने उनकी रचना पढ़ने-पढ़ानेवालों के लिए सुलभ कर दी। भूमिका में यह भी प्रमाणित किया कि हिंदी में श्रेष्ठ कवि केशवदास हुए। तुलसीदास और सूर को भक्त या महात्मा कहकर पृथक् कर दिया। किंवदन्ती भी है कि अकबर के दरबार में जब केशवदासजी से पूछा गया कि 'भाखा' का सर्वश्रेष्ठ कवि कौन है तो उन्होंने अपना नाम लिया और तुलसीदास एवम् सूर का नाम लेने पर उन्हें भक्त बतलाया। लालाजी बड़े ही काव्य-मर्मज्ञ और हिंदी भाषा के अभिमानी थे। साहित्य का भांडार ये सब प्रकार से भरना चाहते थे। हिंदी की पुरानी रचना को लोग श्रमसाध्य समझकर त्यागने लगे थे अतः इन्होंने उसे सरल करने के लिए स्वयम् टीकाएँ लिखीं और शिष्यों से लिखवाईं। इसी विचार से 'हिंदी-साहित्य-विद्यालय' नाम का विद्यालय भी खोला जो 'श्री भगवानदीन-साहित्य विद्यालय' के नाम से अब भी चल रहा है। व्रजी के इन मर्मज्ञों के उठ जाने से व्रजी का पठन-पाठन तो कम होने ही लगा, मतभिन्नता के नाम पर अशुद्ध अर्थ भी किए जाने लगे। किसी साहित्य की पुरानी रचना की परंपरा से उसके साहित्यिकों का विच्छिन्न हो जाना खटके की बात है। लालाजी बड़े ही मनस्वी थे, मनस्विता उनके जीवन में तो थी ही, रचना में भी दिखाई देती है।

व्रजी की रचना नगर के पढ़े-लिखे लोगों द्वारा धीरे धीरे कम होने लगी। पर अब भी उसमें प्रभूत परिमाण में रचना हो रही है और अधिकतर पुराने ढर्रे पर ही हो रही है। खड़ी के रच-यिताओं में जो परंपरा के साथ बढ़ते आ रहे हैं उनमें से मैथिलीशरण गुप्त, ठाकुर गोपालशरण सिंह और रामनरेश त्रिपाठी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें गुप्तजी और ठाकुर साहब तो द्विवेदीजी के प्रभाव से पूर्णतया प्रभावित हैं, पर त्रिपाठीजी रचना में स्वच्छंदता लेकर चले हैं। किंतु स्वच्छंदता विषय के ग्रहण की ही है, शैली की नहीं।

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्तजी की रचना की तीन स्थितियाँ स्पष्ट हैं। आरंभ में इनकी रचना गद्याभास रूप लेकर चली, वंगभाषा के संपर्क में आने पर इनकी कविता में मधुर एवम् कोमलकांत पदावली का संनिवेश हुआ और नवीन कविता की धारा बहने पर इनमें नूतन कही जानेवाली वक्रता, चित्रमयता आदि की भी वृद्धि हुई। आरंभ में भाषा के गद्य-रूप की जो कट्टरता थी वह अब हट गई है, उसमें व्रजी के भी प्रयोग और कहीं कहीं शब्द भी ग्रहण कर लिए गए हैं। इन्होंने सब प्रकार की रचना की है— मुक्तक, प्रबंधकाव्य, गीत, प्रगीत, तुकांत, अतुकांत आदि। छंद भी सब प्रकार के व्यवहृत किए हैं, पर उर्दू की बहरों से ये दूर ही रहे। नए नए छंद भी कहीं कहीं दिखाई देते हैं। आरंभ में इन्होंने हरिगीतिका छंद का विशेष उपयोग किया। इनकी देखादेखी यह छंद बहुत फैला। इधर इनके कई काव्य निकले हैं जिनमें से 'साकेत' और 'द्वापर' की विशेष धूम है। पुराने इतिवृत्तों को लेकर और उन्हें लाकर नए साँचों में ढालने का भी इन्होंने यत्न किया है। 'साकेत' के निर्माण के पीछे विशेष विचारधारा रही है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने 'काव्येर उपेक्षिता' नामक निबंध लिखकर यह दिखाया था कि संस्कृत के काव्यों में कुछ ऐसी महिलाएँ भी हैं जिन पर कवियों को विशेष ध्यान देना चाहिए था, पर उन्होंने दिया नहीं। वाल्मीकि ने उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र सीता का चरित्र चमकाने के लिए उपेक्षित किया, कालिदास ने 'शाकुंतल' में प्रियंवदा एवम् अनुसूया को भुला दिया, बाण ने कादंबरी में तरलिका का समुचित ध्यान नहीं रखा। वे काव्य के नायक या नायिका के चारित्र्य-विकास में योग देने के लिए उत्पन्न की गईं और जहाँ की तहाँ रह गईं। द्विवेदीजी ने 'उर्मिला' के संबंध में 'सरस्वती' में एक लेख उन्हीं की देखादेखी लिखा और इस उद्गार का पूरा समर्थन किया। गुप्तजी ने 'साकेत' लिखकर 'उर्मिला' की वही उपेक्षा अब हटा दी है। यही कारण है कि कवि उर्मिला और लक्ष्मण के चारित्र्य पर तथा उनसे छूटकर मांडवी-श्रुतिकीर्ति एवम् भरत-शत्रुघ्न के शील पर विशेष ध्यान रखता है। राम-सीता तो 'आर्य' एवम् 'आर्या' बनकर केवल कथासूत्र जोड़ने का काम करते हैं। इस प्रकार प्रख्यात पात्र को दबाकर गौण पात्र को ऊपर करना भले ही बहुत से लोगों को पसंद न आया हो, पर उर्मिला का चारित्र्य सँवारने का और उसे ठीक ठीक अंकित करने का कवि ने विशेष

उद्योग किया है। वाल्मीकि या तुलसीदास ने जिन पात्रों पर पूरा ध्यान नहीं दिया उनका शील भी परिष्कृत करने का प्रयास किया गया है। जैसे 'मानस' की कैकेयी चित्रकूट में 'कुटिल रानि पछितानि अघाई' या 'अवनि जमहिं जाँचति कैकेई। महि न बीच विधि मीच न देई' की स्थिति में पहुँचकर मौन है, पर 'साकेत' की कैकेयी की जिह्वा सजग है। तुलसीदास ने 'भरत-सभा' आदि में भरत की वाणी खोलकर उनका शील भी जिस प्रकार भली भाँति खोला उसी प्रकार गुप्तजी ने भी कैकेयी की वाणी खोलकर उसका शील उद्‌घाटित किया। उर्मिला की वियोग-दशा की व्यंजना में तो मर्मज्ञता का कोश ही खोल दिया गया है। वियोग की अनेक अंतर्दशाओं, स्थितियों आदि की कवि ने विस्तार से योजना की है। अकेली उर्मिला विरह-व्यथा बकती हुई प्रलापिनी जान पड़ती, इसलिए सखी भी साथ है। प्रासाद में पड़ी उर्मिला वियोग को व्यक्त करने के लिए विषय न पाती, इसी से वह वाटिका में जा बैठी है। वियोग में वस्तुव्यंजनाओं की ही प्रबलता है और दूरारूढ़ व्यंजनाएँ भी कम नहीं हैं। कवि ने वियोग-वर्णन की नूतन विधि या नव्य प्रथन-कौशल अवश्य दिखलाया है, और प्रभूत परिमाण में दिखाया है। साकेत में सत्याग्रह आदि के आधुनिक विषय भी कटकीने से रखे गए हैं। सबसे विलक्षण कुछ लोगों को वसिष्ठजी की 'जादू की छड़ी' दिखाई देती है, जिसके घूमते ही वन का सारा दृश्य चित्रपटों की भाँति दिखाई देने लगता है। पर वसिष्ठजी का ऋषिकल्प रूप ही भक्त कवि ने लिया है, उसे आधुनिक तर्कवाद पर कसकर रखने का वैसा प्रयास इसमें नहीं है जैसा 'प्रियप्रवास' में दिखाई पड़ा था। राम-वनवास के पूर्व और पश्चात् साकेत (अयोध्या) की स्थिति क्या थी यही इसमें दिखाया गया है, कवि राम के साथ वन नहीं गया वहीं रह गया। यही इसके नामकरण का कारण है। 'द्वापर' में बँगलावाली शैली पर रंगशाला में आकर उस युग के कुछ चुने हुए पात्र आत्मव्यंजक उक्तियाँ कहते हैं। गोपाल कृष्ण के चारित्र्य का ही इसमें उल्लेख है, द्वारकेश कृष्ण के चारित्र्य का नहीं। इसी से इसका दूसरा नाम 'गोपाल' भी है। 'द्वापर' का अर्थ 'संशय' भी होता है। कुछ पात्रों के मुख से, जैसे कंस और विधृता के, इस संशयास्पद स्थिति का उल्लेख कराया भी गया है। इंद्र के लिए किए जानेवाले यज्ञ-याग में कर्मकांड का जो अतिवादी पशुहिंसावाला प्रचंड रूप छाया था उसकी निवृत्ति होने और हृदय की वृत्तियों को जागरित कर प-पालन की

प्रवृत्ति जगने की झलक देने का प्रयास भी इसमें लक्षित होता है। सत्पात्र और असत्पात्र सभी के शील का रूपक-पद्धति (ड्रामेटिक मेथड) से अभिव्यंजन हुआ है। कंस और नारद के पूर्वप्रतिष्ठित रूपों में कवि अच्छी प्रभविष्णुता ले आया है। पर स्थान स्थान पर कोरी वस्तुव्यंजनाएँ भी हुई हैं; जैसे मुटाई के लिए 'पार्श्व छीलते छिलते (भुजदंड)' और गुरुत्व के लिए 'रवि शशि लटके रहें शून्य में उसमें (कृष्ण में) सार भरा था' कहना आदि। फिर भी यह कहने में कोई हिचक नहीं कि भावदशा और रसदशा से आगे बढ़कर कवि शील-दशा तक सहृदयों को पहुँचा सकने में अवश्य समर्थ हुआ है। युग की सारी प्रवृत्तियों की दृष्टि से देखते हैं तो ये समय के पूरे प्रतिनिधि दिखाई पड़ते हैं। ज्यों ज्यों जीवन और साहित्य में वृत्तियाँ या प्रवृत्तियाँ बदलीं कवि भी त्यों त्यों काव्यधारा मोड़े उसी स्थल पर पहुँचा दिखाई पड़ा जहाँ जीवन और साहित्य पहुँच चुका था। वह प्रवाह में बहा नहीं, उसमें प्रवीण कर्णधार की भाँति काव्य-नौका खेता रहा।

ठाकुर गोपालशरण सिंह

यद्यपि खड़ी में कबित्त-सवैयों को माँजनेवाले और भी कई हुए, कुछ इनसे पहले, कुछ इनके समय में और कुछ इनके अनंतर, पर जिस सादगी के साथ इन्होंने उक्तियाँ कहीं और इन छंदों में जैसी मिठास ये ला सके वैसी अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ी। इनकी आरंभिक रचना में चमत्कार की बिलकुल योजना नहीं है। गूढ़ता से भी ये बचते रहे। इनकी रचना में सरलता पूरी मात्रा में है। इधर ये नई धारा में भी पड़े और 'कादंबिनी' तथा 'मानवी' के दर्शन कराए। 'कादंबिनी' में मेघमाला अनेक प्रकार की नहीं है, जीवन-जगत् के मंगलमय रूपों का ही उसमें आभास है। यद्यपि हिंदी की नई धारा में नैराश्य या करुणा वहाँ से यहाँ तक छाई हुई है तथापि इनमें आशा और प्रफुल्लता के ही दर्शन होते हैं। 'मानवी' में अवश्य नारी-जाति के करुण दृश्य दिखाए गए हैं। नारी की कोमलता और व्यथा ही इसमें आई है, उसके प्रचंड रूप के दर्शन नहीं कराए गए। उग्र भावों से ये सदा दूर रहे। 'ज्योतिष्मती' में जीवन, जगत् एवम् जगन्नियंता के रूप का निरूपण करने का प्रयास है। इनकी भाषा व्रजी की सी माधुरी का सहारा लिए चलती है, अतः उसमें व्रजी के शब्द भी कहीं कहीं आ पड़ते हैं और कुछ उसी के अनुगमन पर बने प्रयोग भी।

रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठीजी नूतन विषयों को प्रबंध के क्षेत्र में बड़े ही स्वाभाविक ढंग पर ले चले हैं। मिलन, पथिक और स्वप्न इन तीनों खंडकाव्यों में कल्पित कथा ली गई है और देशप्रेम तथा प्रणय के बीच नेता को स्थित करके अत्यंत रमणीय काव्यभूमि निर्मित की गई है। इन्होंने प्रणय को कर्म या कर्तव्य से शून्य नहीं दिखाया। ये प्रणय को एकांत उपासना की वृत्ति नहीं मानते, उसमें कर्म की रमणीयता भी छिटकाते हैं। इस प्रकार ये सच्ची स्वच्छंदता के अनुयायी दिखाई देते हैं। नई काव्यधारा के चलने पर नूतन विषयों का आरोप पौराणिक या ऐतिहासिक कथाखंडों पर ही करके ओजस्वी संवादों की योजना की जाती थी, कल्पित कथा द्वारा मार्मिक पथ का ग्रहण जो करते भी थे वे केवल पद्य-निबंध तक ही रह जाते थे, प्रबंध के क्षेत्र तक लाकर उसमें रसात्मकता उत्पन्न करनेवाले ये ही दिखाई देते हैं। प्रकृति के वर्णनों में देशगत विशेषता (लोकल कलर) अच्छी दिखाई है। चमत्कार से ये बचते रहे हैं, जहाँ चमत्कार आया भी है वहाँ प्रस्तुत का रूप निखारने के लिए अप्रस्तुत के रूप में। भाषा सरल और स्वच्छ है।

गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

इन्होंने 'नूरजहाँ' नामक प्रबंधकाव्य लिखा, जिसमें प्रबंधगत विशेषताओं का समन्वय बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। घटनाएँ भी हैं और वर्णन भी। प्रकृतिवर्णन स्थानगत विशेषता का रूप लिए हुए आया है। हिंदी में 'अनुज्झितार्थसंबंध' प्रबंध यह अच्छा है। कलापक्ष भी इसमें भरपूर है। आजकल की व्यापक विशेषता विरोध की प्रवृत्ति, इसमें स्थान स्थान पर दिखाई देती है। भाषा में मुहावरों की बंदिश पर्याप्त है। कवि ने 'वनश्री' में प्रकृति के वर्णनों तथा प्राकृतजनों के निरूपण में विशेष रुचि दिखाई है। सामान्य के वर्णन में व्यक्तिवैचित्र्य की प्रधानता न होने से इनके वर्णन बड़े ही मार्मिक हुए हैं।

जिन कवियों में चित्रमय भाषा, वक्रोक्ति के अतिरंजित रूप, वेदना की विवृति आदि के पूर्ण दर्शन हुए वे इन सबसे पृथक् दिखाई देते हैं। उनमें रहस्य के संकेत भी यथास्थान मिलते हैं। कोई कोई तो पक्के रहस्यवादी भी दिखाई देते हैं। उनमें से केवल चार प्रमुख कवियों की विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है—सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा।

सुमित्रानंदन पंत

आरंभ में इनका 'पल्लव' धूमधाम के साथ निकला। इसकी भूमिका में हिंदी के पुराने कवियों पर खूब छींटे उछाले गए और काव्य में अत्यधिक छूट (पोयटिक लाइसेंस) माँगी गई। 'वियोगी होगा पहला कवि आह से निकला होगा गान' के द्वारा करुणा और नैराश्य की ध्वनि उठाई गई। अँगरेजी की लाक्षणिकता भी भाषा में लदी। पर यह समझना भूल है कि पंतजी की सारी रचना रहस्यात्मक है। मतविधायिनी (डाग्मेटिक) कविता 'पल्लव' में इनी-गिनी ही है, जैसे 'मौन निमंत्रण'। पुराने कवियों की जिस प्रवृत्ति का अर्थात् ऊपरी लदाव और शृंगार का विरोध किया गया उससे कवि मुक्त नहीं रह सका। 'छाया' में अप्रस्तुतों का भार बहुत लद गया है। इसी बीच शुक्लजी का 'काव्य में रहस्यवाद' प्रकाशित हुआ' जिसमें भारतीय काव्य के प्रकृत स्वरूप की रूपरेखा बतलाई गई और भद्दी तड़क-भड़क तथा नैराश्यवाद एवम् कोरी रहस्यदर्शिता का खंडन किया गया। तब से पंतजी ने निश्चय ही मार्ग बदल दिया। 'गुंजन' में ये जीवन के वास्तविक रूप सुख-दुःख के समन्वय में प्रवृत्त हुए। पंतजी नवीन कवियों के अग्रणी हैं और इनकी रचना बहुत ही सधे हुए पथ पर से होकर चली है। रहस्य-संकेत जिज्ञासा की सीमा पार करके प्रायः सांप्रदायिक रूपरंग नहीं ग्रहण कर सके हैं। भाषा में भी व्यंजना की पद्धतियाँ उलझानेवाली नहीं हैं। जहाँ अँगरेजी वाक्य-खंडों का अनुगमन हुआ है वहीं कहीं कहीं कुछ उलझन आ गई है। नवीन कवियों में तो प्रकृति-क्षेत्र में स्वच्छंद विचरण करनेवाले ये ही दिखाई पड़ते हैं। इनकी वृत्ति वस्तुतः बहिर्मुखी है, 'प्रसाद' की भाँति अंतर्मुखी नहीं। इन्हें जगत् में बाहर आनंद या सौंदर्य की जो झलक दिखाई देती है उसी से मनस्तोष नहीं होता। पूर्ण या अधिकाधिक आनंद या सौंदर्य की लालसा बराबर जगी रहती है, जिसे कवि ढूँढ़ता फिरता है। 'प्रगति' की प्रवृत्ति अधिक जगने पर इन्होंने कुछ नीचे उतरने का यत्न किया। जीवन से हटने की भावना दूर हो गई, कवि जीवन के बीच अमर वाणी का प्रसार करने का अभिलाषी दिखाई पड़ा। यहाँ भी कवि ने जीवन का सर्वसामान्य पक्ष ही लिया और वह जीवन के सामान्य भावों में रमता दिखाई पड़ा। सांप्रदायिकता का भद्दा रूप इनमें कहीं भी नहीं है। अतः इन्हें सच्चा स्वच्छंदतावादी कहना ठीक ही है। ऐसी रचना 'युगांत' और 'युगवाणी' में मिलेगी।

अंतश्चेतनावाद को लेकर इन्होंने फिर पलटा खाया। स्वर्णकिरण और स्वर्णधूलि में इनकी इस प्रकार की रचना संगृहीत है।

जयशंकर 'प्रसाद'

प्रसादजी भी देखादेखी नवीनता की ओर बढ़े, इनकी आरंभिक रचना में नवीनता नहीं थी। 'झरना' (द्वितीय संस्करण)' में अनेक विलक्षणतापूर्ण रचनाओं का संग्रह है। इनकी 'आँसू' नामक रचना विरह-वेदना की घोर विवृति लिए हुए उसके अनंतर प्रकाशित हुई, जिसमें छंद भी नया व्यवहृत हुआ है। इस छंद में बहुत अधिक रचना होने लगी है और अच्छे अच्छे कवियों तक ने इसे अपनाया है। आरंभ में 'आँसू' विरही की वेदना के रूप में ही प्रवाहित हुआ है, पर उत्तरांश में लोक के दुःख की ओर भी कवि की दृष्टि गई है। सामान्य दुःखमयी रात्रि से कवि कालरात्रि तक पहुँचा है और चेतना की विश्रांति का उसे ही अंतिम आश्रय कहा है—

चेतना-लहर न उठेगी, जीवन-समुद्र थिर होगा।
संध्या हो सर्ग-प्रलय की, विच्छेद मिलन फिर होगा॥

परम प्रिय की प्राप्ति का यही परम साधन है। पर रहस्य-संकेत प्रस्तुत के बीच में आकर कहीं कहीं सूफी मत से प्रभावित होने के कारण लिंगव्यत्यय के कारण भी हो गए हैं; जैसे—

शशि-मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए॥

मदिरा के साथ प्याला भी कहीं कहीं दौर लगाने लगता है। छाले भी फूटते हैं। पर ऐसा होते हुए भी 'आँसू' में परंपराप्राप्त प्रतीकों की ही योजना अधिक है, अन्य कवियों में यह बात नहीं—चातक की चकित पुकारें, श्यामा की रसीली ध्वनि, मणिवाले फणी (केश) आदि की ही योजना है। प्रसादजी समन्वयवादी हैं, अतः सुख और दुःख दोनों को साथ मानकर चले हैं—

मानव-जीवन-वेदी पर, परिणय है विरह-मिलन का।
सुख-दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का॥

प्रसाद का नियतिवाद भी इसी के बीच झलक मारता है—

नचती है नियति नटी सी कंदुक-क्रीड़ा सी करती।
इस विपुल विश्व आँगन में, अपना अतृप्त मन भरती॥

प्रसादजी की वृत्ति अंतर्मुखी है, सौंदर्य की एक झलक से ही प्रेमी ऐसा व्यथित हो जाता है कि सुध नहीं रहती, और देखने का प्रयत्न

फिर कैसा! कल्याणी शीतल ज्वाला की अखंड ज्योति भी हृदय में जली है। बुद्धिवाद के अतिरेक से घबराकर कवि बेहोशी भी लाना चाहता है, जीवन में भी और जगत् में भी। वही उसे कल्याण का मार्ग समझ पड़ा है। यह बहुत रसीला वियोग-काव्य है, यदि प्रकीर्ण वर्णन या व्यंजना के विचार से देखा जाय। इसमें समन्वित प्रभाव (टोटल इंप्रेशन) का अभाव है। 'लहर' में और अनेक नए गीतों के बीच कवि अपने रोचक विषय अतीत भारत में भी प्रविष्ट हुआ है और उसकी बड़ी ही रमणीय झाँकियाँ कराई हैं। प्रकृति के इन्होंने मादक या मधुर रूपों के ही दर्शन किए कराए हैं। प्रकृति पात्र के भावों से ओत-प्रोत बराबर दिखाई पड़ती है।

इनका सबसे महान् प्रयत्न 'कामायनी' में लक्षित होता है, जिसमें प्रबंधकाव्य के पथ पर ये अपने वैलक्षण्य एवम् रहस्यात्मक वृत्ति को लिए हुए अग्रसर हुए। इसमें शैवतंत्रों (प्रत्यभिज्ञादर्शन) की समरसता का प्रतिपादन किया गया है। मनु एवम् उनकी पत्नी श्रद्धा (कामायनी) के ऐतिहासिक वृत्त के साथ मानवता के विकास का आदिम रूप प्रस्तुत करने का अच्छा संभार हुआ है। मनु अपनी सत्ता प्रजापति बनकर जमाना चाहते हैं, पर श्रद्धा इन्हें समरसता का सार्वभौम सिद्धांत समझाती है। श्रद्धा इसमें शक्तितंत्र (वाममार्ग) अथवा शैवतंत्र (दक्षिणमार्ग) के मध्य गृहीत परा शक्ति के रूप में दिखाई गई है। इच्छा, प्रयत्न और कर्म सब उसके अनुशासन में चलते हैं। 'संवेदन' को ही, जिसे 'स्पंदकारिका' आदि शैवतंत्र 'आद्यानुभव' मानते हैं, संसार के दुःखानुभव का मूल कहा गया है—

संवेदन और हृदय का यदि यह संघर्ष न हो सकता।
तो अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ बकता।

यद्यपि कवि ने कहा है कि मैंने इसे ऐतिहासिक रूप में ही रखा है, पर पुस्तक के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह मनोवृत्तियों के रूपक का लोभ त्याग नहीं सका है। अध्यवसान या रूपक के कारण बेचारे मनु का चारित्र्य विकृत हो गया है। मातृसत्ताक (मेट्रिआर्कल) या पितृसत्ताक (पेट्रिआर्कल) युग की दुहाई देकर इससे पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। मनु के साथ प्रजापति को जोड़ देने से ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। अर्धनारीश्वर या प्रकृति-पुरुष के वेश की बड़ी सुंदर झाँकी कराई गई है। कामायनी में घटनाएँ पर्याप्त नहीं हैं, जो हैं भी उनका विकास लोकसमन्वित भूमि पर नहीं है। शैवतंत्रों का

सांप्रदायिक रंग विशेष चढ़ जाने से रसात्मकता की अखंड धारा के साथ प्रबंधधारा भी विच्छिन्न हो गई है। अतः कामायनी भी वर्णन एवम् व्यंजना-प्रधान रचना ही है। उसमें रमानेवाली स्थितियाँ पृथक् पृथक् हैं, 'अनुज्झितार्थसंबंध' का अभाव स्वीकार करना पड़ता है। प्रसादजी भाषा की दृष्टि से प्रभावसाम्य को दूर तक ले जाकर गूढ़ व्यंजनाएँ भी करते हैं और दुहरे रूपक भी बाँधते हैं। इसमें गूढ़ता अधिक है। रूपकों की कुंजी कहीं कहीं ये छोड़ जाते हैं और कहीं कहीं वैसे शब्दों में भी लाक्षणिकता रहती है, जिससे पूरा रूपक तुरंत खुलता नहीं; जैसे—

श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा॥

यहाँ रूपक की कुंजी 'जीवन के उस पार' पद में है, जिसका अर्थ है 'आकाश में'। विरही कहता है कि श्यामा (रात्रि) का नखदान (द्वितीया का चंद्र) मोतियों (ताराओं) से युक्त था। संयोगिनी का वह शृंगार मुग्ध वियोगी की हँसी उड़ा रहा था। 'जीवन के उस पार' के भी लाक्षणिक होने से गृहीत रूपक (सस्टेंड मेटाफर) शीघ्र नहीं खुलता। इसके अतिरिक्त उर्दूवालों के ढंग पर प्रच्छन्न रूपक या मुद्रालंकार की योजना भी इन्होंने की है। यह योजना आधुनिक युग में रत्नाकरजी की रचना में बड़े कवित्वमय ढंग से की गई है। बादल का प्रच्छन्न रूपक देखिए—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई॥

'मेघाच्छन्ने हि दुर्दिनम्' को सामने रखकर देखने से इसका चमत्कार प्रकट होता है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

इनमें बहुमुखी प्रतिभा है। रहस्यदर्शी के रूप में भी ये सामने आते हैं और लोकमानस के रूप में भी। इन्होंने नादसौंदर्य को आधार मानकर छंदों का बंधन तोड़ डाला है। इनका पदविन्यास औरों से 'निराला' होता है। 'आखर थोरे' ही लाने के लिए ये शब्दों पर अर्थ का भार अधिक लादते हैं। 'अमित अरथ' के 'आखर थोरे' होते होते इतने रह जाते हैं कि साधारण रीति से अर्थ तक पहुँचना कहीं कहीं दुरूह हो जाता है। संक्षेप के प्रयास में क्रियापदों का सबसे अधिक

तिरस्कार किया गया। इनकी कल्पना विलक्षण है। 'तुम और मैं' में बड़े ही सुंदर ढंग से इन्होंने 'आत्म-परमात्म-संबंधों' की व्यंजना की है। 'अनेक नातों' की लड़ी बाँध दी है—रमणीय, अर्थगर्भ और प्रभविष्णु। 'तुलसीदास' में इन्होंने कल्पना को मुक्तक एवम् गीत से हटाकर कथाबद्ध भूमि पर ला खड़ा किया और कवि के मानस का प्रत्यक्षीकरण कराने में पूर्ण सहृदयता और उच्चाशयता का परिचय दिया। निरालाजी मनस्वी और तेजस्वी दोनों ही हैं। साहित्यकार की सत्ता सबसे पृथक् एवम् स्वच्छंद केवल मानकर रह जानेवाले नहीं, उसका आचरण भी करनेवाले हैं। निरालाजी के नाम से बहुतों के चौंकने का कारण यही है।

महादेवी वर्मा

नवीन कवियों में इनकी कृतियाँ रहस्य से आद्यंत रँगी हुई हैं। नई काव्यधारा में दो ही अधिक रहस्यवादी हैं—एक जयशंकर प्रसादजी, दूसरी महादेवीजी। प्रसादजी ने प्रबंध, निबंध, अतीत इतिवृत्त आदि का सहारा लिया है अतः रहस्यवाद उनमें आ नहीं सकता था, इसी से उनकी कृतियाँ सर्वात्मना उससे ओतप्रोत नहीं हुई, पर ये गीतपद्धति पर ही चलती रहीं इसलिए इनका रहस्य कहीं भी दब नहीं सका। अतः हिंदी में कोई पक्का रहस्यवादी है तो ये ही। प्रसाद में शैवों का सांप्रदायिक रहस्य है। इनका रहस्य भी सांप्रदायिक (डाग्मेटिक) ही है, पर किसी विशेष रहस्य-संप्रदाय से इनका संबंध नहीं रहा, इसी से इन पर अँगरेजी के रहस्यदर्शियों का ही अधिक प्रभाव समझना चाहिए। पश्चिम का रहस्यदर्शी संप्रदाय सूफी-रहस्य की शाखा ही है। परम प्रिय का शाश्वत विरह तो इनमें है, पर फारसी की प्रतीक-पद्धति से इन्होंने अपने को बचाया है, कवींद्र रवींद्र की भाँति भारतीय अद्वैत के मेल में रखकर रहस्य को अपना रूप देने का प्रयास किया है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ब्रह्मोसमाज के अनुयायियों में काव्य की जो रहस्यदर्शिता उद्भूत हुई वह विदेशी ही है। उसे देशी प्रमाणित करने का यत्न आत्मसत्ता की रक्षा का व्याज मात्र है। इनके सभी गीतों का स्वर एक सा है, पर उनके मार्ग भिन्न भिन्न हैं। लोक से अनेक रूपरंग की पीठिका लेकर अध्यात्म के आकाश में स्वच्छंद विचरण किया गया है। इनमें रसात्मकता की योजना करने का प्रयास तो है, पर प्रबंध या निबंध की पद्धति न होने से वह पूर्णतया आ नहीं पाती। वेदना की विवृति इनमें चरम सीमा

को पहुँची हुई है। काव्यकर्त्री ही नहीं कलाकर्त्री भी होने के कारण इनकी 'दीपशिखा' कलापूर्ण रीति से सचित्र प्रकाशित हुई है, जो अत्यंत मूल्यवती है। रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, यामा आदि नाम भी पर्याय अलंकार का खासा रूप लिए हुए हैं। इनकी भाषा नए कवियों में बहुत ही साफ-सुथरी, सरल मार्ग का अनुगमन करनेवाली और व्यंजकता की विधियों में भरी होती है।

स्वच्छंद धारा के बीच और भी कितने ही कवियों की रचना दिखाई देती है, जिनमें से बहुतों द्वारा नवीनता के लिए अपनेपन का बलिदान भी किया गया है। जीवन एवम् जगत् की रचना होती अवश्य है, पर मस्तानों की मंडली बढ़ती जा रही है। जो कवि विरोध का आघात सह चुके हैं उनमें लपक-झपक कम हो गई है, गंभीरता, रसात्मकता, लोकभावना आदि का समावेश हो चला है, पर जो अभी पथ में आए ही हैं वे बेतुकी ही नहीं बेसुरी भी अलाप रहे हैं। हरिवंशराय 'बच्चन' की वह रचना मार्मिक है जिसमें फारसी प्याला, मधुशाला की प्रतीकात्मकता नहीं है। इन उपलक्षणों को मुसलमानों के संसर्ग से हम सुनते बहुत दिनों से आ रहे हैं, पर इन्हें काव्य के भीतर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किसी ने नहीं किया। उधर 'दिनकर' की जोशीली रचना भी दिखाई दे रही है, जिसे 'नवीन' आदि के द्वारा हम पहले ही सुन चुके थे, पर इनमें कल्पना का रंग और कविता की रमणीयता अधिक घुल गई है।

काव्य के क्षेत्र में 'वाद' भी नए नए आते रहे हैं। छायावाद के अनंतर प्रगतिवाद आया जिसमें वाणी की साज-सज्जा प्रतिवर्तन के रूप में हटाई गई। इसका फिर प्रतिवर्तन हुआ और प्रयोगवाद चला जिसमें अंतःकरण की सीधी अभिव्यक्ति और साज-सज्जा पर फिर नए ढंग से जाने का प्रयास किया गया। कहते हैं कि प्रयोगवाद की त्रुटियों का परिहार अंतश्चेतनावाद के द्वारा किया जा रहा है। तत्त्व की बात इतनी ही है कि कवि कभी शब्दपरक वृत्ति ग्रहण करते हैं और कभी अर्थपरक। जब तक इस वृत्ति के मूल में रसवृत्ति न होगी तब तक प्रतिवर्तन का विकार शांत नहीं हो सकता।

भाषाविज्ञान

भाषाशास्त्र का इतिहास

भारतीय भाषाशास्त्र

संसार का सबसे प्राचीन प्राप्त ग्रंथ ऋग्वेद है। इसके पहले के किसी ग्रंथ का पता नहीं चलता। अतः भाषा के इतिहास में ऋग्वेद, उसी के समकालीन अन्य वेदों एवम् वैदिक वाङ्मय का विशेष महत्त्व है। ऐसी प्राचीन भाषा का इतिहास और उसकी ऐतिहासिक सामग्री का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पौरस्त्य और पाश्चात्य भाषाशास्त्र-संबंधी कुछ ग्रंथों का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। पौरस्त्य अर्थात् भारतीय भाषाशास्त्र का आरंभ वैदिक युग से हो जाता है। क्योंकि वेद को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने के लिए उसके उच्चारण में होनेवाली ध्वनियों का विभाजन आदि किया गया। वेदों के पद, संहिता, क्रम, जटा, घन आदि पाठों से स्पष्ट है कि एक एक अक्षर के सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई थी। प्रत्येक वेद की कई शाखाएँ भी थीं और उनके अनुसार शब्दों, अक्षरों आदि के उच्चारण में भेद भी पड़ता था। संभवतः इस प्रकार का भेद देशभेद के कारण होता था। इन भेदों का विस्तार के साथ वर्णन 'प्रातिशाख्यों' में किया गया है। वेदमंत्रों की व्याख्या ब्राह्मण-ग्रंथों में हुई है, जिनमें शब्दों और उनके अर्थों का विस्तार किया गया है।

आगे चलकर यास्क नाम के भाषाशास्त्रविद् ऋषि हुए जिन्होंने 'निरुक्त' नाम का ग्रंथ लिखा और भाषा का बहुत ही वैज्ञानिक विचार किया। यास्क के अनुसार सब प्रकार के शब्द धातुओं से बने हुए हैं। यद्यपि यह सिद्धांत पूर्णतया नहीं माना जाता तथापि यह मान लिया गया है कि अधिकांश शब्द धातुओं से ही निर्मित हुए हैं। निरुक्त का विचार ब्राह्मण-ग्रंथों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। इसका प्रमाण वेदों के 'अपाप' शब्द की व्याख्या से भली भाँति मिल जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'अपाप' का अर्थ 'अ-पाप' अर्थात् पापरहित किया गया है, किंतु निरुक्त में इसका अर्थ 'अप+अप' संधि-विच्छेद करके 'जलमय' किया गया है। केवल शब्दों की व्युत्पत्ति का ही विचार नहीं हुआ, कठिन और दुरूह शब्दों के कोश भी प्रस्तुत हुए, जिनका नाम 'निघंटु' है। धीरे धीरे व्याकरण की व्यवस्था भी की गई। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि का नाम तो सब लोग जानते हैं किंतु पाणिनि के पूर्व भी कई वैयाकरण हो चुके हैं। ऐंद्र, आपिशलि, काशकृत्स्न नाम से वैयाकरणों के कई संप्रदाय उनके पहले ही प्रचलित हो चुके थे।

पर पाणिनि का प्रभाव ऐसा छाया कि इनमें से कई संप्रदायों का लोप हो गया। केवल 'कातंत्र' नाम के संप्रदाय का ही थोड़ा-बहुत पता चलता है, जो ऐंद्र-संप्रदाय का अनुगामी माना जाता है।

पाणिनि की सबसे बड़ी विशेषता है शिवसूत्रों या प्रत्याहारों की कल्पना। इसके द्वारा व्याकरण की बड़ी से बड़ी व्यवस्था बहुत थोड़े में अर्थात् सूत्रपद्धति पर कही जा सकी। किंतु धीरे धीरे इस पद्धति पर लिखी गई उनकी 'अष्टाध्यायी' भी कठिन हो चली और उसके विवेचन की आवश्यकता प्रतीत हुई। कात्यायन ने वार्तिक और पतंजलि ने महाभाष्य लिखकर यह कठिनाई दूर की। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि संस्कृत-व्याकरण के 'मुनित्रय' कहलाते हैं। पाणिनि और उनके व्याख्याकार मुनियों की भी व्याख्या आगे चलकर विस्तार से हुई। काशिका (जयादित्य और वामन), प्रदीप (महाभाष्य की व्याख्या—कैयट), कौमुदी (भट्टोजी दीक्षित) और शेखर (नागोजी भट्ट) के प्रणयन से व्याकरण का बहुत विस्तृत और पृथक् वाङ्मय ही प्रस्तुत हो गया। पिछले काँटे नैयायिकों ने भी व्याकरण पर कृपा की जिसका आरंभ जगदीश तर्कालंकार की शब्दशक्तिप्रकाशिका से समझना चाहिए। संस्कृत के पिछले खेवे के दो प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचंद्र और बोपदेव हुए जिन्होंने क्रमशः शब्दानुशासन और मुग्धबोध लिखकर व्याकरण को और सरल किया। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के भी कई व्याकरण बने। इनमें से कच्चायन (कात्यायन), मार्कंडेय, हेमचंद्र आदि की कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

पश्चिमी भाषाशास्त्र

पाश्चात्य देशों में सबसे प्राचीन देश यवनान है। व्याकरण का विचार करनेवाले वहाँ अफलातूँ, अरस्तू आदि हुए। अँगरेजी के व्याकरणों में वाणी का जो विभाजन आज तक चला आता है वह अफलातूँ के समय का ही है। अक्षरों का वर्गीकरण भी उसी समय किया गया था, जो नीचे वृक्ष के रूप में दिखाया जाता है—
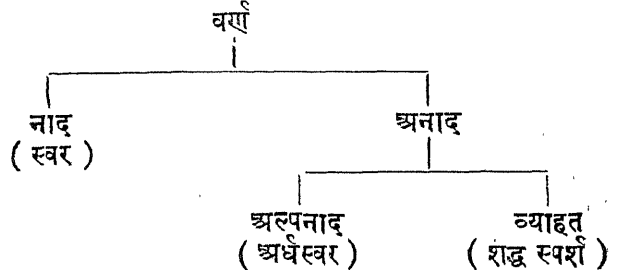
भाषाशास्त्र के विस्तृत और व्यापक विचार की रुचि पाश्चात्य-देशों में तब उत्पन्न हुई जब वहाँ संस्कृत-भाषा का प्रवेश हुआ। जब से विलियम जोंस ने शाकुंतल का अनुवाद प्रस्तुत किया तब से यह रुचि बढ़ती ही गई और धीरे धीरे वेदों तक की पूरी छानबीन कर डाली गई और कोलब्रुक, श्लेगल, बॉप, ग्रिम, मैक्समूलर आदि आधुनिक भाषाशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् दिखाई पड़े।

आज दिन भाषा के अध्ययन में केवल साहित्यिक भाषा का ही विचार नहीं होता, प्रचलित या अप्रचलित सभी प्रकार की भाषा का विचार किया जाता है। स्वरूप और अर्थ दोनों का विचार होता है। साम्य पर भी दृष्टि रखी जाती है और तुलनात्मक विचार भी किया जाता है। भाषाशास्त्र का नए ढंग का विवेचन भारत में स्वर्गीय रामकृष्ण भंडारकर से प्रारंभ होता है। इन्होंने 'विलसन फिलालाजिकल लेक्चर्स' द्वारा यह प्रमाणित किया कि 'संस्कृत' ही मूलभाषा है और उसी से भारत की तथा भारत के बाहर की अन्य आर्यभाषाएँ निकली हैं। भारत में भी अब देशी भाषाओं, साहित्यिक भाषाओं एवम् धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन तथा विदेशी प्रभाव की दृष्टि से वैज्ञानिक छानबीन की जा रही है।

भाषाओं का विभाजन—आकृतिमूलक वर्गीकरण

संसार भर की भाषाओं का विभाजन दो प्रणालियों पर किया जाता है—आकृतिमूलक या वाक्यमूलक तथा पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्ग। आकृतिमूलक वर्गीकरण में दो प्रकार की भाषा दिखाई पड़ी है—निरवयव या व्यासप्रधान और सावयव। 'निरवयव' का तात्पर्य यह है कि ऐसी भाषा में किसी शब्द का क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि के रूप में निर्धारण नहीं होता। एक ही शब्द कभी संज्ञा, कभी क्रिया या कभी विशेषण का काम देता है। चीनी इसी प्रकार की भाषा है। सावयव भाषाओं के तीन भेद किए गए हैं—समासप्रधान, प्रत्ययप्रधान और विभक्तिप्रधान। समासप्रधान भाषाओं के भी दो भेद माने जाते हैं—पूर्णतः और अंशतः। प्रत्ययप्रधान भाषा तुर्की है। प्रत्ययप्रधान भाषाओं के चार भेद किए जाते हैं—पूर्वसर्गप्रधान, परसर्गप्रधान, उभयसर्गप्रधान और अंशतः। विभक्तिप्रधान भाषाओं के दो भेद हैं—अंतर्मुखी और बहिर्मुखी। अंतर्मुख-विभक्तिप्रधान भाषाओं में सबसे मुख्य अरबी है. जिसका तीन अक्षरों का धातु आदि, मध्य या अंत में वर्णों के विनियोग से अनेक रूप धारण कर लेता है; जैसे

कृत्ब् व्यंजनों से बने धातु से किताब, कुतुब, कातिब, मक्तब आदि शब्द बन जाते हैं। बहिर्मुखी भाषाओं में संस्कृत आती है। विभक्तिप्रधान भाषाएँ संहिति से व्यवहिति की ओर जा रही हैं अर्थात् उनकी वाक्यरचना में विस्तार हो रहा है।

पारिवारिक वर्गीकरण

पारिवारिक विभाजन करने के लिए संसार के चार खंड माने गए हैं—दोनों अमेरिका, प्रशांत महासागर, अफ्रीका और यूरेशिया। अमेरिका की भाषाएँ समासप्रधान हैं। उनमें वाक्यपदी प्रवृत्ति विशेष दिखाई पड़ती है तथा भिन्न भिन्न शब्दों के अवयव मिलकर विलक्षण वाक्य बनाते हैं। जैसे यदि संस्कृत में कहना हो, 'पतङ्गाः प्रदीप्तं ज्वलनं पतन्ति' तो उसके स्थान पर कहा जायगा 'पतं दी ज्वल तंति'। मेक्सिको की भाषाओं में स्वतंत्र शब्द मिलते हैं। अमेरिका की भाषाओं का पूरा विभाजन इस प्रकार है—
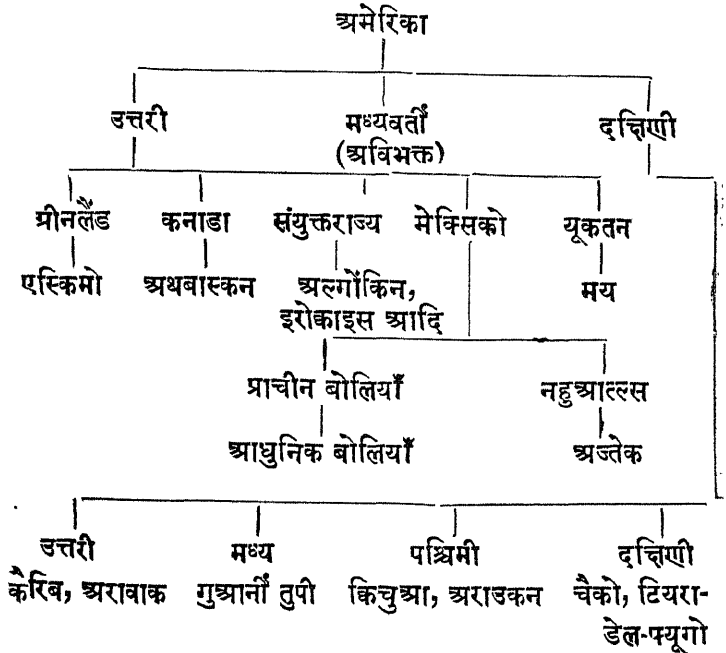
प्रशांत महासागर की भाषाएँ साहित्यिक नहीं हैं। केवल मलय-भाषा में ही कुछ साहित्य मिलता है। ये भाषाएँ प्रत्ययप्रधान हैं। इनके पाँच विभाग किए गए हैं—मलय, मेलानेसिया, पालीनेसिया,

पापुत्र्या और आस्ट्रेलिया की भाषाएँ। मलय-भाषाओं में शब्दों को दुहरा करने की विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है और इसके द्वारा सब प्रकार की वाक्यगत विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं; जैसे 'राजा' का अर्थ है 'शासक' तो 'राजा राजा' का अर्थ होगा 'राजाओं का समूह'। 'हयरे' का अर्थ है 'जाना', पर 'हयरे हयरे' का अर्थ है 'ऊपर नीचे जाना'। 'हुली' का अर्थ है 'खोज' और 'हुली हुली' का अर्थ है 'खोज पर खोज। 'नुई' का अर्थ है 'बड़ा' और 'नुई नुई' का अर्थ है 'सबसे बड़ा'। ये भाषाएँ अधिकतर प्रत्ययप्रधान हैं। मेलानेसिया आदि की भाषाओं में भी इस प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती हैं। केवल आस्ट्रेलिया की भाषाएँ कुछ दूसरे ढंग की हैं। वे परसर्गप्रधान हैं। कुछ विद्वानों का मंतव्य है कि यहाँ की भाषाएँ भारत की द्रविड़-भाषाओं से निकली हैं।

अफ्रीका महाद्वीप की भाषाओं की मुख्य विशेषता यह है कि इनमें मुहावरे बहुत अधिक हैं। यहाँ की भाषाएँ पाँच समूहों में विभाजित की गई हैं—बुश्मान, बांतू, सूडान, हैमितिक और सामी। बुश्मान-समूह की भाषाएँ प्राचीन हैं और इनमें विचित्र ध्वनियाँ पाई जाती हैं। लिंगभेद स्त्री और पुंस पर नहीं, सजीव और निर्जीव पर आश्रित है। बहुवचन अव्यवस्थित है और मलय-भाषाओं की तरह द्वित्व की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। बांतू-परिवार की भाषाएँ पूर्वसर्गप्रधान हैं। इनमें लिंगभेद है ही नहीं। यहाँ तक कि स्त्री और पुरुष के लिए अलग अलग सर्वनाम तक नहीं हैं। सूडान-परिवार की भाषाओं में रूप नहीं चलते, स्वराघात से अर्थभेद कर लिया जाता है। धातु अधिकतर एकाक्षर हैं। लिंगभेद इनमें भी नहीं है। बहुवचन बनाने के विचित्र नियम हैं। धातु वर्णनात्मक हैं; जैसे—'मैं नगर जाता हूँ' कहने के लिए कहना पड़ेगा कि 'मैं जाता हूँ, नगर पहुँचता हूँ, उसके भीतर प्रवेश करता हूँ।' हैमितिक भाषाएँ उत्तरी अफ्रीका की सामी (सेमितिक) भाषाओं से बहुत मिलती हैं। इनमें शब्द या धातु के रूप चलाने की अनेक विधियाँ हैं—परसर्ग लगाकर, कहीं पूर्वसर्ग लगाकर, कहीं द्वित्व से आदि आदि। कालबोधक क्रिया के रूप नहीं मिलते। लिंगभेद जाति (योनि) पर आश्रित है, व्याकरण पर नहीं। बहुवचन के भी अनेक प्रकार हैं। लिंगपरिवर्तन के विचित्र नियम हैं; जैसे बहुवचन में संज्ञाओं का लिंग बदल जाता है। सामी भाषाओं मे अरबी भाषा विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसका विस्तार उत्तरी अफ्रीका में तो है ही एशिया के दक्षिणी

पश्चिमी कोण में भी बहुत अधिक है। इसमें धार्मिक वाङ्मय बहुत अधिक है। सामी लिपि बहुत से देशों में प्रचलित हुई। बहुत से लोग हैमितिक और सामी भाषाओं को एक ही मूल से निकली मानते हैं। किंतु हैमितिक भाषाओं में सामी भाषाओं की तरह त्र्यक्षर-धातु नहीं हैं। फिर भी दोनों में समानता बहुत अधिक है। दोनों में क्रिया का कालभेद पूर्ण और अपूर्ण कार्य पर आश्रित है। बहुवचन के प्रत्यय दोनों में एक ही मूल से आए जान पड़ते हैं। स्त्रीलिंग का प्रत्यय दोनों में 'त्' है। दोनों के लिंगभेद व्याकरणगत हैं। सर्वनामों में एकरूपता है।

यूरेशिया में अनेक प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं। यहाँ की भाषाएँ अधिकतर साहित्यिक हैं और संसार में इनका बहुत बड़ा महत्त्व है। इनके विभाग निम्नलिखित हैं (१) यूराल-अल्ताई-परिवार, (२) एकाक्षर या चीनी-परिवार, (३) द्रविड़-परिवार, (४) काकेशियाई परिवार, (५) सामी परिवार, (६) आर्य-यूरोपीय परिवार और (७) फुटकल। **फुटकल** में दो विभाग किए गए हैं—प्राचीन भाषाएँ और नवीन भाषाएँ। प्राचीन भाषाओं में एट्रस्की, अक्केदियाई (सुमेरी) मुख्य हैं। आधुनिक भाषाओं में बास्क, जापानी, कोरियाई और हाइपरबोरी-समूह की गणना है। **यूराल-अल्ताई-परिवार** की भाषाओं में परसर्ग की प्रधानता दिखाई देती है। दूसरी विशेषता है अक्षरसमन्विति की। इसका अच्छा उदाहरण इस परिवार की प्रमुख भाषा तुर्की में दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'एव+लेर' पद ले लीजिए, जिसका अर्थ 'घरों' होता है। यहाँ पहले शब्द 'एव' के आरंभ में 'ए' है, इसलिए दूसरे शब्द 'लेर में भी 'ए' का प्रयोग हुआ है। किंतु 'अल + लर' पद में, जिसका अर्थ 'घोड़े' है, पहले शब्द 'अल' में 'अ' होने के कारण 'लेर' में 'ए' का प्रयोग न होकर 'अ' का हुआ है। इस परिवार की फिनी (फिनिश), मग्यार और तुर्की भाषाओं में अच्छा साहित्य है।

एकाक्षर-परिवार की भाषा बोलनेवाले आर्य-यूरोपीय परिवार की भाषाओं के अतिरिक्त सबसे अधिक हैं। इसमें स्वराघात के द्वारा शब्दों के अर्थ बदलते जाते हैं। इसमें अर्थात् चीनी भाषा में मूलशब्द ४२००० हैं। इसमें अधिकतर शब्द-युग्मक से काम लिया जाता है; जैसे—'आँख' कहने के लिए 'आँख-भौंह' कहेंगे। इसमें एक शब्द के लिए एक ही लिपिचिह्न भी है। इसमें व्याकरण के विधान का पूर्ण अभाव है, यहाँ तक कि 'व्याकरण' के लिए कोई शब्द तक नहीं है।

द्रविड़-परिवार की भाषाएँ भारतवर्ष के दक्षिणी भाग में फैली हुई हैं। कुछ लोग इन भाषाओं का संबंध आस्ट्रेलिया की भाषाओं से जोड़ते हैं। मोहेंजोदड़ो की खुदाई के कारण इनका संबंध सुमेरी भाषाओं से जोड़ा जाने लगा है। इनमें साहित्य का अभाव नहीं है। इनके चार भेद किए जाते हैं—द्राविड़, आंध्र, मध्यवर्ती और बहिर्वर्ती। ये भाषाएँ प्रत्ययप्रधान और अनेकाक्षर हैं। इनमें सजीव और निर्जीव का भेद किया जाता है। पुंलिंग और स्त्रीलिंग का भेद अन्यपुरुष में किया जाता है और विशेषण में भी उसके चिह्न लगते हैं। संज्ञाओं में नर-मादा लगाकर पुंलिंग-स्त्रीलिंग का भेद करते हैं। निर्जीव (नपुंसक) का बहुवचन में क्वचित् प्रयोग होता है। पूर्वसर्ग के स्थान पर परसर्ग लगाए जाते हैं। विशेषण-विशेष्य का समानाधिकरण्य नहीं है। कृदंत विशेषणों का व्यवहार होता है। उत्तमपुरुष के दो प्रकार के रूप चलते हैं—एक श्रोतासहित और दूसरा श्रोतारहित। इसमें कर्मवाच्य नहीं है। कर्मवाच्य सहायक क्रिया से व्यक्त किया जाता है। इनमें 'निषेधात्मक वाच्य' भी मिलता है, जिसका प्रयोग सामान्यभूत में होता है। समापिका क्रिया के स्थान पर कृदंतों का व्यवहार होता है। संबंधवाचक सर्वनाम से आरंभ होनेवाले उपवाक्यों के स्थान पर कृदंत संज्ञाओं का प्रयोग होता है।

काकेशियाई परिवार की भाषाएँ पहले विभक्तिप्रधान मानी जाती थीं, पर अब वे प्रत्ययप्रधान भाषाओं में गिनी जाती हैं। ये पूर्वसर्ग और परसर्गप्रधान दिखाई देती हैं। क्रियाओं में कर्म भी छिपा रहता है। कभी कभी तो धातु का पता लगाना कठिन होता है। अनेक प्रकार की विशेषताओं के मिश्रण का कारण यह है कि यहाँ यूरोप और एशिया की कई युद्धप्रिय जातियों से भयभीत होकर अनेक जातियों के लोग आ बसे थे। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण यहाँ अनेक प्रकार की बोलियाँ चल पड़ीं और इन बोलियों का विकास स्वच्छंद रूप से हुआ।

सामी परिवार की विशेषताएँ आर्य-यूरोपीय परिवार के साथ तुलनात्मक ढंग से दिखाने में सुभीता है। आर्य-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का सामी परिवार की भाषाओं से पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ है। हो सकता है कि इन दोनों परिवारों के मूलपुरुष एक ही रहे हों। इस प्रश्न पर अभी अधिक विचार नहीं किया गया है। हित्ती (हित्ताइत), पहलवी और उर्दू तीनों भाषाओं पर विचार करने

से यही जान पड़ता है। हित्ती में आर्य-यूरोपीय और सामी दोनों परिवारों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ कि इसे किस परिवार की भाषा माना जाय। पहलवी पर सामी प्रभाव इतना अधिक है कि पहले लोग इसे सामी भाषा ही मानते थे। उर्दू में सामी शब्दों का प्रयोग बहुत होता है, पर यह वस्तुतः आर्य-भाषा है। इन दोनों परिवारों के मुख्य भेदक लक्षण इस प्रकार हैं—

सामी में त्र्यक्षर धातुओं का व्यवहार होता है, आर्य-यूरोपीय में नहीं। पहली में अंतर्वर्ती विभक्ति चलती है, दूसरी में बहिर्वर्ती। पहली में वास्तविक समास नहीं हैं; केवल षष्ठी तत्पुरुष के से विलोम समास मिलते हैं, जैसे—बेनजामिन (यमिनः पुत्रः = जामिन का पुत्र), पर दूसरी में वास्तविक समास बहुत पाए जाते हैं। पहली में पूर्वसर्ग का व्यवहार नामधातु बनाने में किया जाता है और उससे वाक्यगत विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं, दूसरी में पूर्वसर्ग (उपसर्ग) का व्यवहार इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न करने के लिए नहीं होता।

आर्य-यूरोपीय परिवार— इस परिवार की भाषाओं की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(१) इनके अंत में प्रत्ययों का व्यवहार होता है, (२) ये संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जा रही हैं, (३) इनमें एकाक्षर धातु हैं, जिनमें कृत् और तद्धित प्रत्यय लगते हैं, (४) इनमें वाक्यगत विशेषताएँ उत्पन्न करनेवाले प्रत्ययों का अभाव है, (५) इनमें वास्तविक समास बनाने की शक्ति है, (६) इनमें अक्षराव-स्थिति (वावेल ग्रेडेशन) का व्यवहार बहुत है और (७) इनमें रूप बहुत अधिक चलते हैं।

इस प्रकार के दो मुख्य भेद किए गए हैं— एक का नाम 'केंतुम्-समूह' और दूसरे का नाम 'शतम्-समूह' है। इसका कारण है 'सौ' के लिए आनेवाले शब्दों में क-ध्वनि और श-ध्वनि का नियमित भेद; जैसे—

लातीनी (लैतिन)	केंतुम्
यवनानी (ग्रीक)	अक्तोम्
प्राचीन आयर् भाषा	केत्
गाथी (गाथिक)	खुंद
तुखारी	कध
संस्कृत	शतम्
अवेस्ता	सतम्

लिथुआनियाई	स्जिम्तस्
रूसी	स्तो

पहले माना जाता था कि केंतुम् पश्चिमी समूह है और शतम् पूर्वी। किंतु हित्ती और तुखारी भाषाओं का पता चलने से यह सीमा टूट गई है। इस परिवार के अंतर्गत निम्नलिखित भाषाएँ आती हैं—

केंतुम्-समूह

केल्ती (केल्तिक)
जर्मनी (त्यूतानिक)
इतलीय (इतैलिक)
यवनानी (ग्रीक या हेलेनिक)
हित्ती
तुखारी

शतम्-समूह

अल्बानियाई (अल्बानियन या इल्लीरियन)
लेतस्लावी (लेतोस्लाविक)
बाल्तस्लावी (बाल्तोस्लाविक)
आर्मेनियाई (आर्मेनियन)
आर्येरानी (आर्य-ईरानी) या भारतेरानी

आर्य-यूरोपीय भाषाओं का पारस्परिक संबंध बहुत ही संकुल और विविधतामय है। इन भाषाओं का बहुत संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

केल्ती — इस भाषा का प्रसारक्षेत्र इस समय यूरोप का पश्चिमी भाग है। किंतु पहले यह एशियाई कोचक तक फैली हुई थी। इस भाषा के दो भेद किए जाते हैं—क-ध्वनिमूलक और प-ध्वनिमूलक अर्थात् एक में जहाँ क-ध्वनि होती है दूसरी में वहाँ प-ध्वनि मिलती है; जैसे—आयर्-भाषा में 'काँइक' होता है और वेल्स-भाषा में 'पंप' (सं० पंच)। इतली की भाषाओं से इनका बहुत अधिक मेल मिलता है। जो संबंध भारतीय और ईरानी भाषाओं में है वही इतली और केल्त की भाषाओं में है।

जर्मनी या त्यूतानी— इस भाषा का प्रसार बहुत दूर तक है। इस परिवार की एक भाषा (अँगरेजी) विश्वभाषा के पथ तक पहुँच चुकी है। संहिति से व्यवहिति का नियम इसमें बहुत स्पष्ट है। इसमें

प्रथम अक्षर पर स्वराघात होता है। व्यंजन-ध्वनि का इन भाषाओं में पारस्परिक परिवर्तन बहुत देख पड़ता है। ध्वनिपरिवर्तन ऐसा स्पष्ट है कि 'अधो-जर्मनी' (लो-जर्मन) और 'उच्च-जर्मनी' (हाई-जर्मन) का स्पष्ट भेद हो गया है।

इतलीय — इसके दो भेद हैं—च-इतलीय और क-इतलीय; जैसे—ओस्कन में 'चंपेरियस' होता है और लातीनी (लैतिन) में क्विक्त्र। च-समूह के अंतर्गत इतली की प्राचीन भाषाएँ आती हैं। रोम-साम्राज्य के प्रसार के कारण क-समूह की प्रमुख भाषा लातीनी का विस्तार बहुत दूर तक हो गया और ईसाई मत के प्रचार के कारण यूरोप की अन्य भाषाएँ उससे विशेष प्रभावित हुई। यहाँ तक कि रोम की भाषा कभी राष्ट्रभाषा या सर्वसामान्य भाषा (लिंग्वा रोमाना) के पद को भी प्राप्त हो चुकी है। रोम-साम्राज्य के पतन के साथ ही उस पद से इसका स्खलन हुआ, किंतु अन्य भाषाओं के साथ साथ रोम की भाषाओं का फिर से उदय हुआ, जिनका भाषाविज्ञान में विशेष महत्त्व है। इसकी प्रमुख भाषा लातीनी शब्दरूपों में उतनी आढ्य नहीं है जितनी यवनानी (ग्रीक)। साहित्यारूढ़ लातीनी यवनानी के प्रभाव से प्रभावित है। क्योंकि यवन (ग्रीक) रोमियों के गुरु थे। यह संहिति से व्यवहिति की ओर जा रही है और इसमें स्वराघात का व्यवहार अधिक होता है।

यवनानी (ग्रीक या हेलेनिक)—संस्कृत-भाषा से इसका मेल बहुत मिलता है। इसमें भी उदात्त स्वर संस्कृत की ही भाँति पाया जाता है। संस्कृत की भाँति उतने अधिक तो नहीं, पर पर्याप्त संख्या में अव्यय या निपात पाए जाते हैं। सब कारकों के तो नहीं, पर करण और अधि-करण के रूप संस्कृत की भाँति मिलते हैं। दोनों में परस्मैपद और आत्मनेपद धातु पाए जाते हैं। यवनानी की अपेक्षा संस्कृत में लकार और गण अधिक हैं और संस्कृत की अपेक्षा इसमें कृदंत तथा क्रियार्थक संज्ञाएँ अधिक हैं। द्विवचन दोनों में है। दोनों में सामासिक प्रवृत्ति बहुत अधिक है, पर इसमें समास उस ढर्रे के मिलते हैं जैसे संस्कृत में पिछले काँटे बनने लगे थे। यवनानी भाषा के चार भेद किए जाते हैं—(१) प्राचीन या होमरीय, (२) साहित्यिक (क्लासिकल), (३) संक्रांतिकालीन और (४) आधुनिक।

हित्ती— इस भाषा का पता उस समय चला जब बोगाजकुई में बहुत से शिलालेख मिले। ये शिलालेख ईसवी पूर्व चौदहवीं या

पंद्रहवीं शती के हैं। संस्कृत की भाँति एकवचन में 'अन्' और बहुवचन में 'अंतस्' की प्रवृत्ति इस भाषा में भी मिलती है; जैसे—द्-अ-अन् (सं॰ गच्छन्) और द्-अं-ते-एस् (सं॰ गच्छन्तः)। इसमें केवल छह कारक मिलते हैं। इसमें सर्वनाम बहुत मिलते हैं। कुछ थोड़े से उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

हित्ती—उग (मैं)=लातीनी—एगो
तत् (वह) = ,, तत्
कुइस् (कौन) = ला॰ क्विस् (सं॰ कः)

क्रियाओं में भी समानता है; जैसे—

हित्ती-एकवचन-इ-इअ-मि (बनाता हूँ) = सं॰—यामि (जाता हूँ)
इ-इअ-सि यासि
इ-इअ-जि याति
बहुवचन—इ-इअ-उ-ए-नि यामः
इ-इअ-अत्-ते-नि याथ (याथन)
इ-इअ-अन्-जि यान्ति

इसमें निपात या अव्यय मिलते हैं। यह केंतुम्-समूह की भाषा जान पड़ती है।

तुखारी—इस शती के आरंभ में इसका पता चला। एक जर्मन मध्यएशिया की यात्रा करने गया था। उसे यह नई भाषा जान पड़ी। प्राचीन आर्यलिपि में बहुत से लेख भी मिले हैं। यह भाषा भी केंतुम्-समूह की है। इसका बहुत अधिक अध्ययन हुआ है और इसके संबंध में बहुत अधिक जानकारी भी हो गई है। इसमें स्वर और व्यंजन सरल हैं। संधियाँ तो हैं, पर संस्कृत की भाँति व्यवस्थित नहीं। शब्दों के रूप प्रत्ययप्रधान भाषाओं के ढंग पर चलते हैं; जैसे बहुवचन बनाना होगा तो प्रकृति-प्रत्यय का योग यों होगा—शब्द + बहुवचन का प्रत्यय + विभक्ति-प्रत्यय। इसमें कारक छह की जगह आठ हो गए हैं। दो नए कारक हैं—सहकारक और हेतुकारक। सर्वनाम आर्य-यूरोपीय ढंग के ही हैं। क्रियाचक्र विशेष संकुल है। कृदंत विशेष उन्नत दशा में दिखाई देते हैं।

अल्बानियाई—(अलबानियन या इल्लीरियन) इलीरियाई (इल्लीरियन) भाषा के समाप्त होने पर अल्बानियाई भाषा प्रकट हुई। इसमें कुछ शिलालेखों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस पर स्लावी और तुर्की भाषा का विशेष प्रभाव पड़ा है।

लेतस्लावी—प्राचीन प्रुशियाई, लिथुआनियाई और लेती (लेतिक) में से प्रुशियाई तो व्यवहार से उठ चुकी है, पर लिथुआनियाई का विशेष महत्त्व है। क्योंकि जीवित भाषाओं में से भाषाविज्ञानियों के विचार से इसमें सर्वाधिक प्राचीन रूप मिलते हैं। इसमें संस्कृत की भाँति उदात्त स्वर मिलता है। संस्कृत से यह बहुत मिलती-जुलती है। उदाहरण लीजिए—

लिथु०—एस्ति = सं—अस्ति
जीवस् = जीवः

आर्मेनियाई—इसमें २००० शुद्ध पारसी शब्द मिलते हैं। यह 'शतम्-समूह' की भाषा है। इस पर सामी भाषाओं का भी विशेष प्रभाव पड़ा है।

आर्येरानी स्कंध—हित्ती भाषा का विशेष अध्ययन होने पर बहुत संभव है कि इनके मूलभाषा से पृथक् होने का कुछ पता चले। क्योंकि बोगाजकुई में मिले हुए शिलालेखों में वरुण, इंद्र, नासत्या आदि प्राचीन वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। इन भाषाओं की विशेषता यह है कि काल्पनिक मूलभाषा के भाषाविज्ञानियों द्वारा स्वीकृत अ, ए, ओ (ह्रस्व या दीर्घ) इन भाषाओं में अ (ह्रस्व या दीर्घ) हो जाते हैं—

मूलभाषा	लातीनी	यवनानी	संस्कृत	अवेस्ता
१	२	३	४	५
अपो	×	अपो	अप (आपः)	अप
एक्वॉस	एकुअस	×	अश्वः	अस्पो
ओस्थ	ओस	ओस्तॅओड	अस्थि	अस्ति

अर्धमात्रिक 'अॅ' 'इ' हो जाता है—

१	२	३	४	५
पॅते	पेतर	×	पिता	पिता

र् और ल् (ऋ और लृ) में 'रलयोरभेदः' के अनुसार भिन्नता नहीं रही—

१	२	३	४	५
व्लृके	लुपुस	लुक	वृकः	वेह्र्को
लेइघ्मि	लिंगो	लइखो	रेह्मि (वेद)	×

मूलभाषा का 'स्' 'श्' हो जाता है, यदि इ, उ, य्, व्, स् या क् के बाद आए। संस्कृत में ष् हो जाता है—

१	२	३	४	५
स्थिस्थामि	सिस्तो	इस्तेमि	तिष्ठामि	हिश्तैति
जेडस्तर	जुस्तुस्	×	जोष्टृ	ज़ओशो

स्वरांत शब्द के षष्ठी के बहुवचन के रूप 'नाम्' से अंत होते हैं। आज्ञा या विधि (लोट्) के अन्यपुरुष एकवचन में 'तु' लगता है।

इस स्कंध के दो प्रमुख भेद हैं—**ईरानी शाखा** और **भारतीय शाखा**। ३२३ ईसवी पूर्व में अलक्षेंद्र (सिकंदर) के पारस्यपुर (परसीपोलिस) जला देने से ईरानी भाषा का बहुत सा साहित्य नष्ट हो गया। जो बच रहा वह भी अरबों की चढ़ाई से सातवीं शती में नष्ट हो गया। चमड़े की जिल्दों से बँधी हुई असंख्य पोथियों से संपन्न पुस्तकालय के जला देने से, कहा जाता है कि, महीनों तक चिरायँध उठती रही। केवल जेंदावेस्ता की पोथी बच गई, जिसे कोई पुरोहित नाव से ले भागा। इसका पुराना नाम जेंद है। कुछ शिलालेख भी मिले हैं। दारयवहु (डेरियस ५२२-४८६ ई० पू०) के लेख विशेष महत्त्व के हैं। ईरानी और भारतीय शाखा में इतनी अधिक समानता है कि ध्वनिपरिवर्तन से ही एक को दूसरी में परिवर्तित कर सकते हैं। केवल शब्द के रूप की ही नहीं, बहुत-कुछ अर्थ की भी रक्षा हो सकती है। देखिए—

संस्कृत	प्राचीन गाथा	अवेस्ता
अथ	अथा	अथ
पुत्रा (वैदिक द्विवचन)	पुथ्रा	पुथ्र

इसमें विशिष्ट 'ए' और 'ओ' ध्वनियाँ मिलती हैं। इस प्रकार की ध्वनियाँ प्राचीन पारसी में नहीं रह गई हैं—

संस्कृत	अवेस्ता	प्राचीन पारसी
सन्ति	हंति	हंतिय

संस्कृत के 'आस्' और 'आन्त्' के स्थान पर 'आ' और 'ओ' से मिश्रित स्वर आता है—

देवासः = दएवाओंघो
महान्तम् = मज़ओंतम्

इसमें संयुक्त स्वर बहुत आते हैं। संस्कृत के 'ए' के स्थान पर 'अए', 'ओ' के स्थान पर 'अओ', 'ऐ' के स्थान पर 'आइ' और 'औ' के स्थान पर 'आउ' आते हैं।

इसमें आदि और मध्य में स्वर के आगम की प्रवृत्ति विशेष है; जैसे—'ऋणक्ति' का 'इरिनख्ति', 'अश्वेभ्यः' का 'अस्पएइब्यो', 'भरति' का 'बरइति' आदि। 'ऋ' की स्थिति इसमें विशिष्ट होती है। वह अरे या अरे की सी होती है। प्राचीन पारसी में पहुँचकर स्वरचक्र सरल हो गया है क्योंकि लोगों ने सामी लिपि ग्रहण की, जिसमें स्वरों के इतने चिह्न ही नहीं थे।

(१) संस्कृत के क्, त्, प् यहाँ क्रमशः ख्, थ्, फ् हो जाते हैं; जैसे—क्रतुः का ख्रतुश, सत्यः का हैथ्यो, स्वप्नम् का ख्वफ्नम् आदि। (२) इसी प्रकार संस्कृत के घ्, ध्, भ् के क्रमशः ग्, द्, ब् हो जाते हैं; जैसे—जंघा का जंग, धारयत् का दारयत्, भूमि का बूमि आदि। (३) आरंभ में स् का ह् हो जाता है; जैसे—सिंधु का हिंदु, सर्व का हौर्व आदि। (४) अस् और आस् के योग में विचित्र ध्वनि 'ग्' मिलती है; जैसे—असु का अंग्हु (अंघु), मासम् का माओंग्हेम् (माओंघेम्) (५) अंत के 'अः' और 'आः' (वही 'अस्' और 'आस्') क्रमशः 'ओ' और 'आओ' हो जाते हैं; जैसे—असुरः का अहुरो, गाथाः का गाथाओ। (६) ज् की विशिष्ट ध्वनि ज़् ज़् अवेस्ता में मिलती है, जो संस्कृत में नहीं है। प्राचीन पारसी में वही ज़ द हो जाता है; जैसे—

संस्कृत	अवेस्ता	प्राचीन पारसी
हस्तः	ज़स्तो	दस्त
अहम्	अज़म्	अदं
अहिः	अजिश्	×

अवेस्ता में मूर्धन्य वर्ण नहीं हैं। तालव्य में केवल च् और ज् हैं। अनुनासिक वर्ण हैं तो पाँच ही, पर केवल ङ्, न्, म् संस्कृत से मिलते हैं। ल् नहीं है। यह वर्ण प्राचीन वेद में भी नहीं था। इसमें वैदिक स्वर नहीं मिलता। बल-स्वराघात मिलता है।

भारत की भाषाएँ

भारत में अनेक प्रकार की भाषाएँ पाई जाती हैं। इनके प्रमुख भेद नीचे दिए जाते हैं—

(५) फुटकल

आर्येतर भाषाएँ कई हैं किंतु उनमें से विशिष्ट भाषाएँ द्रविड़-परिवार की ही हैं। इनमें से कई में साहित्य का श्रीगणेश भी हो चुका है। **आग्नेय परिवार** का विस्तार भारत के दक्षिण-पूर्व में है। ऐतिहासिकों का मत है कि किसी समय **मॉनख्मेर** भारत और चीन के शासक थे। इसी लिए उनकी भाषा दोनों देशों में फैली हुई है। संभवतः इन भाषाओं का साहित्य भी रहा हो, पर अब नहीं मिलता। इन भाषाओं से मिलती हुई **'खासी भाषा'** ही भारत में बोली जाती है। इसका शब्दकोश और वाक्यविन्यास 'मॉन' भाषा की तरह है। **मुंडा या कोल** भाषा तुर्की की भाँति प्रत्ययप्रधान है। इसमें सजीव और निर्जीव के अनुसार पुंलिंग और स्त्रीलिंग का भेद होता है। इसमें द्विवचन भी पाया जाता है। उत्तमपुरुष के दो रूप होते हैं—श्रोतासहित और श्रोतारहित। वाक्यरचना ऐसी है कि शब्दभेद दुरूह है। 'मुंड' शब्द का व्यवहार पुराणों में हुआ है। वायुपुराण में यह नाम आया है और महाभारत में जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'शबर' शब्द इससे भी प्राचीन है, जो 'ऐतरेय ब्राह्मण' में पाया जाता है। इस भाषा को इसी जाति के नाम पर मुंडा, कोल या शबर कहते हैं। इस भाषा का प्रभाव भारत की कई बोलियों पर अत्यधिक पड़ा है। कहते हैं कि बिहारी भाषा में क्रियाओं की जटिल कालरचना मुंडा का

प्रभाव है। उत्तमपुरुष का द्विरूप, जैसा गुजराती में होता है और मध्यप्रदेश की बोलचाल में चलता है (हम गए थे, अपन गए थे) मुंडा का प्रभाव है। बीस के लिए कुड़ी या कोड़ी शब्द मुंडा का ही है।

श्याम-चीनी—'आहोम' नाम की जाति १२२८ में भारत के पूर्वी प्रदेश में आई। इसी के नाम पर उसका नाम आशान या आशाम पड़ा, क्योंकि आहोम का पुराना रूप 'आशाम' ही है। असमिया शब्द बुरानजी (पुराणजी ?) इतिहास के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह आहोमी शब्द माना जाता है। आहोमों के बाद खाम्ती आए, जिनकी भाषा अब चल रही है।

तिब्बत-ब्रह्मी— यह चीनी-परिवार की शाखा मात्र है। तिब्बती या भोटिया में अच्छा साहित्य है। दर्शन, बौद्धधर्म तथा अन्य विषयों के संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद इसमें मिलता है। इसका मूलस्थान यांगतीसीक्यांग की वेदिका है। ब्रह्मपुत्रा की गति के अनुसार इसकी तीन शाखाएँ हो गई हैं—एक तिब्बत को, दूसरी आसाम को और तीसरी ब्रह्मा को गई है।

तिब्बत-हिमालयी— इसमें सजीव-निर्जीव में भेद पाया जाता है। संख्या की गणना बीस से चलती है। पुरुषवाचक शब्दों में द्विवचन एवम् बहुवचन पाए जाते हैं। उत्तमपुरुष में श्रोतासहित और श्रोतारहित रूप मिलते हैं। क्रिया में ही कर्ता और कर्म का अंतर्भाव हो जाता है।* इसी अंतर्भाव के कारण इसके दो रूप माने गए हैं—सर्वनामाख्याती और असर्वनामाख्याती (हाजसन)। इनमें से पहला मध्य हिमालय में चलता है और दूसरा नेपाल, सिकिम और भूटान में। इनमें रोंग (लेप्चा) तथा सुन्वार मुख्य हैं। रोंग सिकिम की भाषा है। दार्जिलिंग में भोटिया भाषा सुनाई पड़ती है। सुन्वार सर्वनामाख्याती मानी जाती है।

आसाम-ब्रह्मी—इसके अंतर्गत बोडो और नागा मुख्य हैं। नागा में बराबर परिवर्तन होता रहा है, क्योंकि व्यवस्थासंपन्न आर्यभाषाएँ वहाँ तक नहीं पहुँच सकीं। इसमें साहित्य का अभाव ही है।

द्रविड़-भाषाएँ—इन भाषाओं की विशेषताएँ पहले बताई जा चुकी हैं। यहाँ पर इनके भेदों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। कुमारिल भट्ट ने इनके दो ही भेद माने हैं—द्राविड़ और आंध्र। पर आधुनिक

* मुंड जाति पहले हिमालय में रहती थी, ऐसा जान पड़ता है।

भाषाविज्ञानी इनके चार भेद करते हैं — द्राविड़, आंध्र, मध्यवर्ती और बहिर्वर्ती। अतः भेद-प्रभेदों का प्रस्तार इस प्रकार होगा—
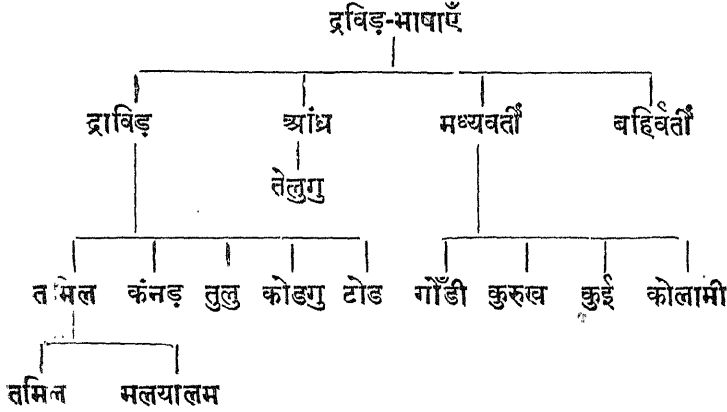
द्राविड़-समूह—इस समूह की भाषाओं में तमिल बहुत ही परिष्कृत और संपन्न है। इसमें प्राचीन काल से साहित्य पाया जाता है। संप्रति इसका साहित्य दिन दिन उन्नत होता जाता है। प्राचीन तमिल की वर्णमाला भी थी। यद्यपि तमिल की विभाषाओं में बहुत एकरूपता है तथापि इसके दो रूप पृथक् पृथक् स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। एक काव्यभाषा है जिसे 'शेन' (पूर्ण) कहते हैं और दूसरी लोकभाषा या बोली है जिसे 'कोडुन' (ग्राम्य) कहते हैं। मलयालम 'तमिल की बड़ी बेटी' कहलाती है। तमिल पर संस्कृत का प्रभाव कम पड़ा है, पर मलयालम उससे पूर्ण प्रभावित है। केवल मोपलों (मुसलमानों) की बोली संस्कृत से प्रभावित नहीं हुई है, अतः वह पुराने रूपों की रक्षा बहुत कुछ कर सकी है। मलयालम में अच्छा साहित्य है। त्रिवांकुर (ट्रावंकोर) और कोचीन राज्यों द्वारा इसके उत्थान में पूरी सहायता मिल रही है। कंनड़ मैसूर की भाषा है। इसमें भी अच्छा वाङ्मय है। यह ऐसी लिपि में लिखी जाती है जो तेलुगु-लिपि से संबद्ध है, पर भाषा का संबंध तमिल से ही है। शेष भाषाओं में से तुलु का व्यवहार-क्षेत्र परिमित है, पर यह भाषा पूर्ण परिष्कृत है। आश्चर्य है कि इसमें साहित्य का अभाव है। कोडगु कंनड़ और तुलु के बीच की भाषा है। टोड नीलगिरि के मूलनिवासियों की बोली है।

ईरानी
- पूर्वी ईरानी
  - अफगानी-बलोची समूह
    - बलोची
      - पश्चिमी (मकरानी)
      - पूर्वी
    - ओर्मुड़ी (बरगिस्ता)
    - अफगानी
      - पश्तो (दक्षिण-पश्चिमी)
      - पख्तो (उत्तर-पूर्वी)
  - गलचा (पामीरी समूह)
- पश्चिमी ईरानी
  - पारसी
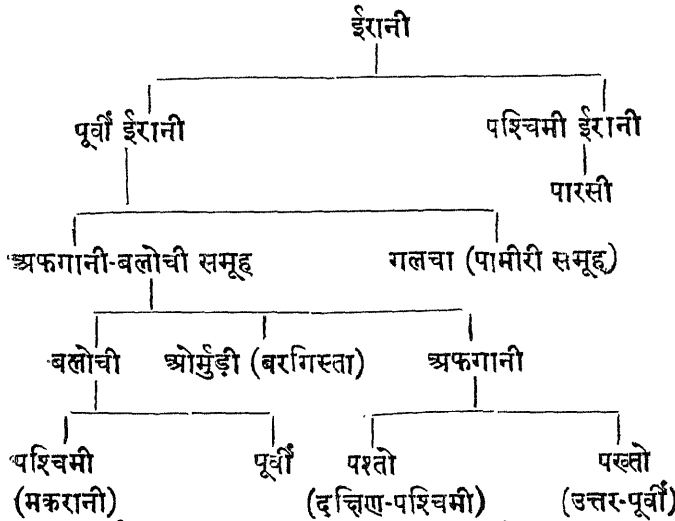
पश्चिमी ईरानी के अंतर्गत 'पारसी' आती है। पारसी कुछ शिलालेखों में मिलती है। शिलालेखों में सबसे पुराने पारस्यदेशीय हखामनी वंश के कुरु (कुरुश या साइरस, ५५८-५३० ई० पू०) के मिलते हैं। दूसरे शिलालेख दारयवहु प्रथम (दारा या डेरियस, ५२२-४८६ ई० पू०) के हैं जो बिहिस्तून (बैसितून) की शिलाओं पर उत्कीर्ण हैं। ये बड़े भी हैं और सुरक्षित भी। इन शिलालेखों की ही भाषा 'पुरानी पारसी' कही जाती है। 'पारसी' का द्वितीय उत्थान सासानी वंश के समय (ई० द्वितीय शती) में आगे चलकर हुआ, इसका 'पहलवी' * नाम उसी समय से प्रख्यात हुआ। इस मध्यकालीन पहलवी में जेंद अवेस्ता का भाष्य मिलता है। पारसी (फारसी) का तृतीय उत्थान

---

* 'पह्लव' शब्द संस्कृत ग्रंथों में पश्चिम की उन आदिम क्षत्रिय-जातियों की नामावली में आया है जो संस्कारभ्रष्ट होकर शूद्रत्व को प्राप्त हो गई थीं। मनुस्मृति (१०।४३, ४४) बताती है—

> शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
> वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
> पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
> पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥

प्राचीन काल में पारसी सरदारों को 'पहलवान' कहते थे, अतः 'पह्लव' शब्द 'पारस' के ही लिए आया जान पड़ता है। इस प्रकार 'पह्लवी' या पहलवी का अर्थ पारस की भाषा या 'पारसी' ही है।

फिरदौसी कवि के काव्यकाल (ई० दसवीं शती) में समझना चाहिए। उमर खैयाम की रुबाइयाँ इसी फारसी में उसके अनंतर (ई० ग्यारहवीं शती) बनीं।

जेंदावेस्ता में 'गाथ' और 'मंथ्र' वैसे ही मिलते हैं जैसे वेद में 'गाथा' और 'मंत्र'। 'गाथ' की भाषा सबसे पुरानी है, उसमें वैदिक रूप मिलते हैं। 'गाथ' अपोच्चरित वैदिक भाषा ही प्रतीत होती है, जिसे वैयाकरणों के शब्द में 'अपभ्रंश' या 'प्राकृत' कहना चाहिए। बहुत से मंत्र वैदिक मंत्रों से मिलते जुलते हैं। इसे कुछ लोग मद (मीडिया, मंद्र या उत्तर मद्र) की भाषा मानते हैं। इसका प्राचीन रूप अवेस्ता में मिलता है। यही पूर्वी ईरानी है।

पश्चिमी ईरानी की फारसी का प्रभाव भारतीय भाषाओं पर बहुत पड़ा है। उर्दू इससे पूर्ण प्रभावित है। अन्य देशी भाषाओं में भी फारसी के शब्द मुसलमानी राज्यकाल में मिल गए हैं। पर बोलचाल में भारत के पश्चिम में पूर्वी ईरानी भाषाएँ ही हैं। पूर्वी ईरानी की आधुनिक बोलियों में बलोची पश्चिमी सिंध और बलोचिस्तान में बोली जाती है। इसमें अनेक पुराने रूप अब तक सुरक्षित हैं। इसकी पूर्वी बोली सिंधी और लहँदा से प्रभावित हो गई है। इसमें फारसी और अरबी के शब्दों का बराबर प्रयोग होता है। अरबी के बहुत से शब्द मुखसुख के कारण बहुत विकृत हो गए हैं। इसमें ग्राम्य गीतों और कहानियों के अतिरिक्त और कोई विशेष महत्त्वपूर्ण वाङ्मय नहीं है। आर्मुड़ी या बरगिस्ता अफगानिस्तान के मध्य में बोली जाती है। इस पर पास-पड़ोस की भाषाओं का पूरा प्रभाव है। अफगानी बोलियाँ कई हैं पर इनके दो स्पष्ट भेद लक्षित होते हैं—पश्तो (दक्षिण-पश्चिमी) और पख्तो * (उत्तर-पूर्वी)। इन नामों से ही स्पष्ट हो जाता है कि भेद वस्तुतः उच्चारणगत है। अफगानी भाषाएँ व्यवहार में 'पश्तो' नाम से ही विख्यात हैं। इस भाषा की ध्वनि कर्कश है। इसकी उपमा एक भाषाविज्ञानी ने गधे के रेंकने से दी है। गांधार-लिपि के लिए व्यवहृत 'खरोष्ठी' नाम का यही कारण तो नहीं है? भारतीय भाषाओं के संपर्क के कारण इसके व्याकरण पर भारत की छाप भी है। गलचा (पामीरी) बोलियाँ उस स्थान की हैं जिसे प्राचीन काल में 'कंबोज'

* पश्तो या पख्तो के बोलनेवाले 'पख्तू' या 'पख्तान' कहे जाते हैं। प्राचीन काल के 'पक्त' या 'पक्थ' ये ही हैं, आजकल ये 'पठान' कहे जाते हैं।

कहते थे।* इनमें 'जाने' के अर्थ में, 'शू'† धातु का व्यवहार होता है—शोम=(मैं) जाता हूँ, शूएन=(हम) जाते हैं, शूए=(तू) जाता है; शूव=(तुम) जाते हो, शूअइ=(वह) जाता है, शूएन=वे जाते हैं। शद्=(मैं) गया, शुद्-एन=(हम) गए, शुद्-इ=(तू) गया, शुद्-अव्=(तुम) गए, शुद्=(वह) गया, शुद्-एन=(वे) गए। शू-आक्=जाना। वर्तमान और भविष्यत् काल के रूप एक से होते हैं। अतः 'शोम' का अर्थ '(मैं) जाऊँगा' भी हो सकता है, इसी प्रकार 'शूएन=जाएँगे' आदि।‡ ये भाषाएँ ईरानी और दरदी भाषाओं को जोड़नेवाली कड़ियाँ हैं। इनमें साहित्य का अभाव है।

ईरानी भाषाओं के अनंतर दरदी भाषाओं का क्रम आता है। पामीर और उत्तर-पश्चिमी पंजाब के बीच दरदिस्तान की दरदी बोलियाँ हैं। इन्हें कुछ भाषाविज्ञानियों ने 'पैशाची' कहा है, पर पैशाची भाषाओं का मूलप्रदेश मालवा जान पड़ता है। पैशाची का दूसरा नाम भूत-भाषा' है। राजशेखर ने इसके बोलनेवालों के प्रांत अवंती, पारियात्र और दशपुर माने हैं।+ दरदी भाषाओं की शाखा-प्रशाखाएँ इस प्रकार हैं—

---
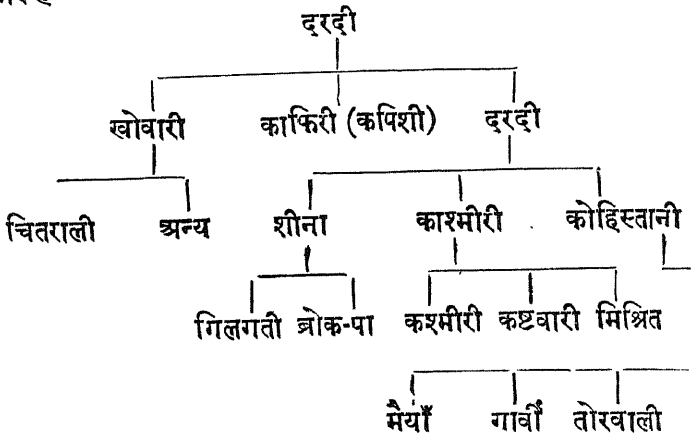
* भारतभूमि और उसके निवासी—श्रीजयचंद्र विद्यालंकार।

† शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते—निरुक्त।
शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति—महाभाष्य।

‡ देखिए 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया'।

+ आवन्त्या पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते—काव्यमीमांसा।

खोवारी-समूह की भाषाएँ गलचा से प्रभावित हैं और दरदी तथा ईरानी भाषाओं को मिलानेवाली शृंखला हैं। कफिरी या काफिरी भाषाएँ चितराल के पश्चिम में बोली जाती हैं। शिना या शीना मूल दरद-प्रदेश (गिलगित और सिंध की घाटी) की ठेठ भाषा है। केवल काश्मीरी में ही साहित्य है। श्रीमती लालदेद का शैवकाव्य इसका प्रमुख ग्रंथ है। पश्तो के प्रभाव के कारण कोहिस्तानी दबती जा रही है।

फुटकल—इन भाषाओं के अंतर्गत कुछ तो वे भाषाएँ हैं जो यायावर (खानाबदोश या जिप्सी) जातियों की बोलियाँ हैं और जो वस्तुतः भारत से लेकर यूरोप के पश्चिमी भाग तक फैली हैं। इन बोलियों में अनेक भाषाओं के शब्द मिल गए हैं। इनमें कुछ वे बोलियाँ भी हैं जो बात को गोप्य बनाने के लिए प्रचलित बोली के अक्षरों (सिलेबुलस) में स, म या र्स, र्म, र्फ जोड़कर बना ली जाती हैं, जिन्हें कहीं कहीं 'सस्सानी बोली' कहते हैं। कहीं प्रत्येक पद को विलोम रीति से पढ़कर गोप्य बोली बना लेते हैं।* इनके अतिरिक्त कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जो अविभक्त हैं; जैसे दरद-प्रांत की बुरुशास्की (खजुना) या अंदमान की अंदमानी।

भारतीय शाखा की भाषाएँ

भारतीय शाखा की भाषाओं पर विचार करने के पूर्व प्राचीन और अर्वाचीन मतों का भेद बतला देने की आवश्यकता है। भारत के वैयाकरण मानते हैं कि मूलभाषा संस्कृत ही है जिससे समस्त आर्य-भाषाओं का क्रमशः विकास हुआ। संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश, अपभ्रंश से देशभाषा क्रमशः उद्भूत हुई। नए भाषाविज्ञानियों का कहना है कि वैदिक संस्कृत स्वयम् किसी मूल आर्यभाषा से उद्भूत हुई है। एक ओर वैदिक वाङ्मय में परिष्कृत या संस्कृत भाषा चल रही थी और दूसरी ओर बोलचाल में अपरिष्कृत या प्राकृत भाषा अथवा बोली। दोनों एक ही मूल से निकली थीं। शिष्टों की बोलचाल की संस्कृत और जनता की बोलचाल की प्राकृत दोनों बहनें हैं। उस प्राकृत

---

* श्री ईरच जहाँगीर सोराबजी तारापूरवाला ने अपने ग्रंथ (एलिमेंट्स् आव् दि सायंस आव् लैंग्वेज) में इन सबके कुछ उदाहरण भी दिए हैं। पंडों, यात्रावालों तथा दलालों एवम् चोर-डाकुओं में ऐसी कई बोलियाँ स्थानभेद से चलती हैं।

का नाम इन्होंने 'आदिम प्राकृत' रखा है। इसी से आगे की प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ है। कुछ लोग मानते हैं कि आदिम प्राकृत से ही लौकिक या साहित्यिक (क्लासिकल) संस्कृत का भी विकास हुआ। पर वैदिक संस्कृत से ही सीधे क्रमशः ब्राह्मण, उपनिषद्, काव्य, गाथा और लौकिक संस्कृत का विकास नए भाषाविज्ञानियों के अंतर्गत भी कुछ लोग मानते हैं। प्रातिशाख्यों में भारतीय भाषाओं के जो विभाग किए गए हैं उन्हें वे आदिम प्राकृत के प्रादेशिक रूप मानते हैं—औदीच्या (उत्तरी), प्रतीच्या (पश्चिमी), दाक्षिणात्या (दक्षिणी) मध्यदेशीया (बिचली) और प्राच्या (पूर्वी)। स्वर्गीय डाक्टर भंडारकर ने प्राकृतों का विकास संस्कृत से ही माना है। उन्होंने वैदिक और लौकिक संस्कृत को एक में रखकर प्राकृतों का मूल संस्कृत को ही कहा है। इसे लोग पुराना मत कहकर त्याग देते हैं और नव्य मत के अनुसार आदिम प्राकृत को ही विकास का स्रोत मानते हैं।

ऐसी ही बात आर्यावास के संबंध में भी है। आर्यों का मूल स्थान यहाँ के लोग भारत को ही मानते आ रहे हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण आदि में कहीं भी आर्यों के बाहर से आकर भारत में बसने का उल्लेख नहीं है। पर पश्चिमी विद्वान् आर्यों का मूलावास मध्य-एशिया ही मानते हैं। वहीं से इनकी शाखाप्रशाखाएँ फैलीं। जो शाखा फूटकर यूरोप की ओर गई उसकी भाषा आर्य-यूरोपीय परिवार की है और जो ईरान की ओर धँसी उसकी भाषा आर्येरानी या भारतेरानी परिवार की है। भारत में भी आर्यों का आगमन कई बार करके माना जाता है। पहले जो आर्य आए वे अंतर्वेदी (गंगा-यमुना के द्वाबा) तक चले गए। पीछे आनेवाले आर्यों के कारण उन केंद्रस्थानी आर्यों को चारों ओर फैल जाना पड़ा। अतः केंद्रस्थान के चारों ओर छाए आर्यों की भाषाएँ, जो पहले आने के कारण कुछ भिन्न प्रकार की थीं, बहिर्वर्ती कही गई हैं। केवल इनमें गुजराती भाषा बाधक होती है जो वस्तुतः अंतर्वर्ती है, पर जिसे इस नियम के अनुसार होना चाहिए था बहिर्वर्ती। इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि शूरसेन या मथुरा के लोगों के आक्रमण और निवास के कारण वहाँ की अंतर्वर्ती भाषा के प्रभाव से गुजरात की भाषा भी अंतर्वर्ती हो गई। कुछ भारतीय ऐतिहासिक आर्यों का मूलावास भारत को ही मानते हैं जिसका तत्कालीन नाम सप्तसिंधु देश था।* उधर पश्चिमी ऐतिहासिकों

* देखिए अविनाशचंद्रदास कृत ऋग्वेदिक इंडिया।

का प्रयास आर्यों का मूलावास हरिवर्ष (यूरोप) के निकट ले जाना है। लिथुआनिया तक का नाम लिया जा चुका है। इस ऐतिहासिक झगड़े के भीतर पैठने का विचार नहीं, पर इतना तो अवश्य कहना पड़ता है कि इसके अनुसार ग्रियर्सन साहब ने जो अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती का विभाग किया है उसमें तत्त्व अधिक नहीं है। अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती का भेदक लक्षण इस प्रकार माना गया है—

(१) पहली में दंत्य 'स' का उच्चारण ठीक होता है पर दूसरी में वह तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' की भाँति होता है। (२) दंत्य 'स' को 'ह' में बदल देने की प्रवृत्ति दूसरी में पाई जाती है। (३) पहली वियोगावस्था में है और दूसरी संयोगावस्था में। (४) पहली में सामान्य भूत के रूप सभी पुरुषों में एक से रहते हैं और दूसरी में पुरुष और वचन अंतर्भुक्त होते हैं। इन भेदों में पहला उच्चारणसंबंधी है, जिसका कारण देशभेद है। तीसरा भेद भाषा के विकास से संबंध रखता है। अंतर्वर्ती भाषाओं में बहुत काल से साहित्य-परंपरा के चलते रहने से रूपों का परिवर्तन यदि न हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। अतः दो ही मुख्य भेद हैं जो इनकी भिन्नता के आधार बन सकते हैं। 'स' से 'ह' होने की प्रवृत्ति अंतर्वर्ती भाषाओं में भी ज्यों की त्यों है—शब्दरूपों में भी और क्रियारूपों में भी। संख्यावाचक शब्दों में 'श'='स' का 'ह' होता है—एकादश = ग्यारह, द्वादश = बारह, त्रयोदश = तेरह आदि, इसी प्रकार ऊनसप्तति = उनहत्तर, एकसप्तति = इकहत्तर, द्विसप्तति=बहत्तर आदि। व्रज में सर्वनामों में भी 'स' का 'ह' होकर लोप हो गया है—कस्य = कस्स = कास = काह = का। इसमें विभक्ति-चिह्न लगाकर काको, काहि आदि रूप बने। पर भविष्यत् के रूपों में अब भी 'ह' बना है—चलिष्यति = चलिस्सदि या चलिस्सइ= चलिहइ = चलिहै। इसी ढर्रे पर करिहै, होयहै, खायहै आदि, करिहौ, होयहौ, खायहौ आदि तथा करिहौं, होयहौं, खायहौं आदि सभी पुरुषों के रूप बने हैं। दूसरी ओर बहिर्वर्ती भाषाओं में 'स' का 'ह' क्रियाओं में कहीं कहीं नहीं भी होता, जैसे राजस्थानी (जयपुरी) में भविष्यत् के रूप जायसी, खायसी, पीसी, करसी आदि होते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी पंजाबी में भी करेसी आदि रूप भविष्यत् में चलते हैं। अतः यह भेद व्यर्थ है।

सामान्य भूत के रूपों का विचार करने से जान पड़ता है कि जिस विशेषता को आधार मानकर अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती का भेद किया

जाता है वह कर्तरि और कर्मणि प्रयोग से संबद्ध है और उसका पश्चिमी तथा पूर्वी भेद है, न कि अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती; जैसे—

पश्चिमी भाषाएँ (कर्मणि प्रयोग)	पूर्वी भाषाएँ (कर्तरि प्रयोग)
अंतर्वर्ती	मध्यवर्ती
पश्चिमी हिंदी—मैं ने पोथी पढ़ी।	पूर्वी हिंदी—मैं पोथी पढ़ेउँ।
गुजराती—मैं पोथी वाँची	बहिर्वर्ती
बहिर्वर्ती	भोजपुरिया—हम पोथी पढ़लीं।
मराठी—मीं पोथी वाँचिली।	मैथिली—हम पोथी पढ़लहुँ।
सिंधी—(मूँ) पोथी पढ़ी-में।	बँगला—आमि पुथी पोड़िलाम्।
लहँदा—(मैं) पोथी पढ़ी।	उड़िया—आंभे पोथि पोढ़िलुँ। *

यही दशा गम्य कर्म के सामान्य भूत को भी है—

	पश्चिमी				पूर्वी	
	मराठी	गुजराती	पंजाबी	पश्चिमी हिंदी (खड़ीबोली)	पूर्वी हिंदी (अवधी)	बँगला
उत्तमपुरुष	मीं लिहिलँ	मैं लख्युँ	मैं लिखिआ	मैं ने लिखा	मैं लिखेउँ	आमि लिखिलाम
	आम्हीं लिहिलँ	अमे लख्युँ	असाँ लिखिआ	हमने लिखा	हम लिखा	अमारा लिखिलाम
मध्यमपुरुष	तू लिहिलँ	तैं लख्युँ	तूँ लिखिआ	तूने लिखा	तैं लिखेसि	तुमि लिखिले
	तुम्हीं लिहिलँ	तमे लख्युँ	तुसाँ लिखिआ	तुमने लिखा	तुम लिखेउ	तोमरा लिखिले
अन्यपुरुष	त्याँने लिहिलँ	तेणे लख्युँ	उह लिखिआ	उसने लिखा	ऊ लिखेसि	तिनि लिखिलेन
	त्याँनीं लिहिलँ	तेओए लख्युँ	उन्हाँ लिखिआ	उन्होंने लिखा	उन लिखेन	ताँहारा लिखिलेन
	बहिर्वर्ती	अंतर्वर्ती	अंतर्वर्ती	अंतर्वर्ती	मध्यवर्ती	बहिर्वर्ती

* 'हिंदी-शब्दसागर' की भूमिका से उद्धृत।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत-वैयाकरणों ने शौरसेनी (महाराष्ट्री) और मागधी (अर्धमागधी) का विभाग करके पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं की जो सीमा बाँधी थी वही ठीक है, बहिर्वर्ती, अंतर्वर्ती और मध्यवर्ती भेद निरर्थक हैं। यही कारण है कि बँगला भाषा की उत्पत्ति और विकास का विवेचन करते हुए डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने प्रातिशाख्यों के ढर्रे पर भाषाओं के पूर्वी, पश्चिमी आदि भेद ही रखे हैं। यहाँ पर ग्रियर्सन साहब और चाटुर्ज्या महोदय दोनों के विभाग क्रमशः दिए जाते हैं—

ग्रियर्सन साहब का किया हुआ विभाग

बहिर्वर्ती		मध्यवर्ती	अंतर्वर्ती	
पश्चिमोत्तरी समूह	लहँदा, सिंधी	पूर्वी हिंदी	केंद्रीय	पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी, राजस्थानी
दक्षिणी	मराठी			
पूर्वी	बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी		पहाड़ी-समूह	पूर्वी पहाड़ी (नैपाली), केंद्रवर्ती पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी

चाटुर्ज्या महोदय का किया हुआ विभाग

(१) उदीच्य (उत्तरी) समूह
सिंधी, लहँदा, पंजाबी

(२) प्रतीच्य (पश्चिमी) समूह
गुजराती, राजस्थानी

(३) मध्यदेशीय (बिचला) समूह
पश्चिमी हिंदी

(४) प्राच्य (पूर्वी) समूह
पूर्वी हिंदी, बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी

(५) दाक्षिणात्य (दक्षिणी) समूह
मराठी

भीली गुजराती में और खानदेशी राजस्थानी में अंतर्भुक्त है। पहाड़ी बोलियों को इन्होंने राजस्थानी का ही परिवर्तित रूप कहा है। दोनों का वर्गीकरण देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि सुनीतिकुमारजी

ने पश्चिमी हिंदी को केंद्रस्थ मानकर विभाग किया है। यह भाषा प्राचीन काल के मध्यदेश* की भाषा है जहाँ की भाषा आदिकाल से राष्ट्रभाषा होती चली आ रही है और जिसे प्राचीन वैयाकरण प्रधान भाषा मानकर ही व्याकरण की रचना करते आए हैं। ग्रियर्सन साहब ने 'पूर्वी हिंदी' को मध्यवर्ती अर्थात् बहिर्वर्ती और अंतर्वर्ती दोनों की विशेषताओं से युक्त मानकर पश्चिमी हिंदी के साथ कई केंद्रीय भाषाएँ रख दीं। आगे चलकर इन्होंने अपने विभाजन में कुछ फेरफार किया, पर अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती का भेद त्यागा नहीं। वह विभाग यों है—

(क) मध्यदेशी भाषा
- हिंदी

(ख) अंतर्वर्ती भाषाएँ
- (१) मध्यदेशी भाषा से अधिक संबद्ध
  - पंजाबी
  - राजस्थानी ((खानदेशी)
  - गुजराती (भीली)
  - पहाड़ी भाषाएँ
- (२) वहिर्वर्ती भाषाओं से अधिक संबद्ध
  - पूर्वी हिंदी

(ग) बहिर्वर्ती भाषाएँ (जैसा विभाग ऊपर है)।

भारत की इन आधुनिक आर्यभाषाओं या देशभाषाओं पर और विचार करने के पूर्व भारत की प्राचीन भाषाओं का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

भारत की प्राचीन आर्यभाषाएँ

संस्कृत

भारत की आर्यभाषाओं का मूल वैदिक भाषा है। वैदिक और उसके अनंतर लौकिक संस्कृत, अर्थात् साहित्य या अन्य विषयों के ग्रंथों में प्रयुक्त होनेवाली संस्कृत, को यदि एक मान लें तो कहा जा सकता है कि भारत की आर्यभाषाओं का विकास क्रमशः होता चला आ रहा है। वैदिक भाषा में वैकल्पिक रूप लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक मिलते हैं—क्षुद्रक भी मिलता है और क्षुल्लक भी, युवाम् भी मिलता

* हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥—मनुस्मृति २।२

है और युवम् एवम् वाम् भी। इसी प्रकार पश्चात्-पश्चा, उच्चात्-उच्चा, युष्मात्-युष्मे, युष्मान्-युष्मा, देवाः-देवासः, देवैः-देवेभिः, श्रवणा-श्रोणा, अवद्योतयति-अवज्योतयति आदि आदि।* यही कारण है कि संस्कृत का व्याकरण लिखनेवाले प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने वैदिकी प्रक्रिया में 'बहुल' छंदसि, व्यवहिताश्च, चतुर्थ्यर्थे बहुलं छंदसि, लिङर्थे लेट्' आदि कितने ही सूत्र वैकल्पिक रूपों के कारण ही बनाए। अतः यह मानने में कोई बाधा नहीं कि वैदिक संस्कृत से ही लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत, फिर अपभ्रंश, तदनंतर देशी भाषाओं का क्रमशः विकास हुआ।

लौकिक संस्कृत बोलचाल की भाषा थी या नहीं इस पर बहुत अधिक वादविवाद हो चुका है। किंतु यह प्रमाणित हो चुका है कि वह बोलचाल की भाषा अवश्य थी। यहाँ 'बोलचाल की' कहने का तात्पर्य यही है कि शिष्ट लोग इसका व्यवहार करते थे। यह समाज के पढ़े-लिखे लोगों की भाषा थी; जैसे—आज दिन हिंदी या खड़ी बोली शिष्ट या पढ़े-लिखों की बोलचाल है। उस समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि में भिन्न भिन्न शब्द और प्रयोग चला करते थे। इन शब्दों या प्रयोगों का भी उल्लेख वैयाकरणों ने "विभाषा' कहकर अर्थात् वैकल्पिक रूप मानकर किया है। इस भाषा में जनसाधारण के काम में आनेवाले शब्दों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में मिलना भी इसे बोलचाल की भाषा ही प्रमाणित करता है।

प्राकृत

वैदिक भाषाओं की परंपरा तीन कालों में विभाजित हो सकती है—आदिकाल, मध्यकाल और उत्तरकाल। आदिकाल में वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का शिष्ट समाज में व्यवहार देखा जाता है। मध्यकाल में प्राकृत के साहित्य का निर्माण होने लगा था और उत्तरकाल में अपभ्रंशों तथा देशी भाषाओं के साहित्य की रचना होने लगी। प्राकृत के अंतर्गत यदि उत्तरकालीन अपभ्रंश को भी ले लें तो प्राकृत-भाषाओं का कालक्रम भी तीन भागों में बाँटा जा सकता है—प्राचीन प्राकृत, मध्य प्राकृत और उत्तर प्राकृत या अपभ्रंश। 'प्राकृत' शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ भी किए गए हैं—(१) प्रकृति अर्थात् साधारण जनता से संबंध रखनेवाली भाषा प्राकृत हुई। (२) प्राकृत और संस्कृत शब्दों को सामने रखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों भाषाएँ एक ही हैं। परिष्कृत

* देखिए 'हिंदी भाषा और साहित्य'।

रूप में जो संस्कृत भाषा थी वही अपरिष्कृत रूप में प्राकृत। अतः प्राकृत के वैयाकरण कहते हैं कि प्रकृति (मूल) अर्थात् संस्कृत के बनने के कारण यह प्राकृत हुई। (३) जैनों ने प्राकृत शब्द की व्याख्या 'प्राक्+कृत' खंड करके सबसे विलक्षण की है। उनके अनुसार सबसे प्राचीन भाषा प्राकृत (अर्धमागधी) ही है और उसी से सब भाषाओं का विकास हुआ है।

प्राचीन प्राकृत के अंतर्गत कुछ लोगों ने जिन प्राकृतों को रखा है उन्हें 'पाली' नाम से अभिहित किया है, किंतु पाली के अतिरिक्त अन्य प्रकार की प्राचीन प्राकृतें भी मिलती हैं। अतः उसके अंतर्गत अशोक के शिलालेखों, बौद्धों की हीनयान शाखा के ग्रंथ त्रिपिटक, महावंश, जातक आदि, प्राचीन जैनसूत्रों और प्राचीन नाटकों की प्राकृतें मानी जाती हैं। अशोक के शिलालेखों और हीनयान के ग्रंथों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है उसका नाम 'पाली' पड़ गया है। 'पाली' शब्द की उत्पत्ति 'पंक्ति' शब्द से मानी जा सकती है। पंक्ति से पत्ती (धेनुपत्ती = गायों की पंक्ति), पट्टी, पाटी, पाली हुआ।* 'पाली' शब्द की व्युत्पत्ति लोगों ने अनेक प्रकार से की है, पर यह विशेष उपयुक्त और ठीक जान पड़ती है। धर्मग्रंथों की भाषा को तो बौद्ध लोग 'मागधी' भाषा ही मानते हैं। क्योंकि वे लिखते हैं—

सा मागधी मूलभासा नरा या यादिकप्पिका।
ब्राह्मणो चस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासिरे॥

अशोक के शिलालेखों में जो भाषा मिलती है उसके स्थानभेद से विभिन्न रूप पाए जाते हैं। इससे जान पड़ता है कि उत्कीर्ण कराते समय उस उस देश की भाषा के अनुकूल धर्माभिलेख लिखवाए गए हैं। इनमें कम से कम दो स्पष्ट भेद अवश्य दिखाई पड़ते हैं। भगवान् बुद्ध का उद्भव मगध में हुआ था और उन्होंने लोकभाषा में अपने उपदेश दिए थे। इससे जान तो यही पड़ता है कि वह भाषा 'मागधी' रही होगी, किंतु विचार करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने मागधी का आश्रय न लेकर सर्वसामान्य प्राकृत का आश्रय लिया था। क्योंकि बौद्धधर्म के ग्रंथों में आगे चलकर मागधी प्राकृत में दिखाई देनेवाली विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित नहीं होतीं। इसलिए महाराष्ट्र अर्थात् समस्त देश में प्रचलित महाराष्ट्री या मध्यदेशी अर्थात् मूलस्थानीय शौरसेनी प्राकृत की पूर्वजा पछाहीं भाषा में ही उन्होंने उपदेश दिए थे। अशोक

* देखिए डाक्टर श्यामसुंदरदास कृत 'हिंदी भाषा और साहित्य'।

ने भी मुख्य आधार उसी भाषा को माना। प्राचीन जैनसूत्रों की भाषा 'अर्धमागधी' कही जाती है। 'अर्धमागधी' शब्द का अर्थ यही करना चाहिए कि उस भाषा में शौरसेनी और मागधी दोनों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन मध्यदेश की ही भाषा प्राकृतों के विकास का आधार थी।

मध्य प्राकृत के अंतर्गत महाराष्ट्री प्राकृत, नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत, जैनों के उत्तरकालीन ग्रंथों की प्राकृत और पैशाची (बृहत्कथा की भाषा) मानी जाती है। जिन प्राकृतों का वाङ्मय अधिक परिमाण में मिलता है वे ये ही हैं। नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत को विद्वान् लोग साहित्यिक प्राकृत अथवा कृत्रिम प्राकृत मानते हैं। उनका कहना है कि प्राकृत के व्याकरण-ग्रंथों के अनुसार ये प्राकृतें गढ़कर रखी गई हैं। इसमें संदेह नहीं कि महाराष्ट्री प्राकृत में संस्कृत के विभिन्न शब्दों की जैसी एकरूपता दिखाई देती है वह बोलचाल की भाषा के अनुकूल नहीं है। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राकृत के ग्रंथों, नाटकों आदि में प्रयुक्त प्राकृतें कृत्रिम हैं। बोलचाल की भाषा के आधार पर जो प्राचीन व्याकरण प्रस्तुत हुए उनके सहारे आगे चलकर उनका निर्माण अवश्य हुआ है, किंतु संस्कृत-भाषा का सर्वत्र प्रसार होने के कारण मानना पड़ता है कि उसका ठीक ठीक उच्चारण न कर सकनेवाले विकृत रूप में ही उसका प्रयोग किया करते थे। विकार के ये ही नियम व्याकरणों में बाँधे गए हैं। प्राकृतों में संस्कृत के शब्दों के परिवर्तन के जिन नियमों से काम लिया गया है वे प्राचीन हैं। वेदों में भी इस प्रकार के नियम चलते दिखाई देते हैं। जिनके कुछ उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। वहाँ प्राकृत की भाँति संयुक्त वर्णों में से एक का लोप भी देखा जाता है; जैसे—दुर्दभ का दुडभ, दुर्णाश का दुनाश। स्वरभक्ति भी मिलती है; जैसे—स्व का सु, स्वर्गः का सुवर्गः, रात्र्या का रात्रिया आदि। वर्णलोप भी पाया जाता है; जैसे—पशवे-पश्वे, शतक्रतवः-शतक्रत्वः। ओकार की प्रवृत्ति भी है; जैसे—देवः-देवो, सः-सो, संवत्सरः अजायत-संवत्सरो अजायत। *

जब जनता में प्राकृत भाषा का विशेष प्रसार हो गया और संस्कृत की कठिनाई के कारण वह उससे दूर होने लगी तो प्राकृतसाहित्य का निर्माण आरंभ हुआ। मध्य प्राकृत में जैसे साहित्य का निर्माण हुआ

---

* देखिए 'हिंदी भाषा और साहित्य'।

इससे सिद्ध होता है कि प्राकृत भाषा लोकप्रिय हो गई थी। कवियों ने प्राकृत की प्रशंसा यों की—

अमियं पाउअकव्वं पढ़िउं सोउं अ जे ण आणंति।
कामस्स तत्ततंतिं कुणंति ते कह ण लज्जंति॥—हाल।
परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणम्॥—राजशेखर।

प्राकृतों में से महाराष्ट्री का विशेष मान हुआ। यद्यपि शौरसेनी एवम् मागधी नाम देश के आधार पर निर्मित हुए हैं और महाराष्ट्र देश से महाराष्ट्री नाम उसी प्रकार व्युत्पन्न हो सकता है, तथापि 'महाराष्ट्री' शब्द का अर्थ महा (विशाल, विस्तृत) राष्ट्र भर में फैली हुई भाषा ही लेना चाहिए। दंडी लिखते हैं—

'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।'

इस महाराष्ट्री में कई काव्य लिखे गए—सेतुबंध या दहमुहवहो (दशमुखवधः), गौडवहो (गौडवधः) बप्पइराअ (वाक्पतिराज) की रचना महुमअविअअ (मधुमतविजय), हाल की सप्तशती, राजशेखर की कर्पूरमंजरी आदि।

प्राकृत में संस्कृत की अपेक्षा व्याकरण-संबंधी जो विशेषाधिकार प्राप्त किए गए वे निम्नलिखित हैं—संज्ञा-शब्दों में अकारांत पुंलिंग के से रूप अधिक चलने लगे। क्रियाओं में परस्मैपद भ्वादि गण के रूपों की अधिकता हुई। चतुर्थी विभक्ति का एक प्रकार से लोप हो गया, षष्ठी ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। कर्ता और कर्म में बहुवचन के रूप नपुंसक शब्द की तरह एक से होने लगे। दुहरे रूपों का लोप हो गया। द्विवचन उठ गया। आत्मनेपद अप्रचलित हो गया। ठीक इसी प्रकार ध्वनि में भी परिवर्तन हुआ। संयुक्ताक्षर की जगह द्वित्व की प्रवृत्ति बढ़ी; जैसे—रक्त का रत्त सप्त का सत्त। ऋ, ऐ और औ (मागधी और शौरसेनी की श्रुति के अतिरिक्त) लुप्त हो गए। ष, श के स्थान पर स (मागधी में श) हो गया। ह्रस्व ए और ओ दिखाई पड़ने लगे। शब्दों के अंतिम व्यंजन हटा दिए गए। किसी ह्रस्व स्वर के बाद दो व्यंजन से अधिक नहीं रह सके और दीर्घ स्वर के बाद एक व्यंजन से अधिक नहीं। परिणाम यह हुआ कि शब्दों का पहचानना कठिन हो गया। 'बप्पइराअ' 'वाक्पतिराज' से और 'ओइएण' 'अवतीर्ण' से निकला, कौन कह सकता था। फिर भी लोग प्राकृत समझते थे।

संस्कृत-शब्दों के परिवर्तन का मुख्य रूप साहित्यिक प्राकृतों में जैसा दिखाई पड़ता है उसका संक्षेप में नीचे उल्लेख किया जाता है—(१) न, य, श, ष को छोड़ अन्य अक्षर शब्द के आरंभ में नहीं बदलते—नदी का णई, यथा का जधा, षष्ठ का छट्ठ आदि। (२) आदि को छोड़कर अन्यत्र क, ग, च, ज, त, द, प, य और व का प्रायः लोप हो जाता है; जैसे—लोक का लोअ, नगर का णअर, प्रचुर का पउर, भोजन का भोअण, रसातल का रसाअल, हृदय का हिअअ, रूप का रूअ, प्रिय का पिअ, दिवस का दिअह। (३) आदि के अतिरिक्त अन्यत्र ख, घ, थ, ध, भ और फ का भी ह हो जाता है—मुख का मुह, मेघ का मेह, यूथ का जूह, रुधिर का रुहिर, नभ का णह, शफर का सहर (पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे—तुलसीदास, कवित्तावली) (४) ऋ स्वर विभिन्न देशों के उच्चारण के अनुसार अ, इ और उ मे बदल गया—वृषभ का वसह (बर बौराह बसह असवारा—'मानस'), वृश्चिक का बिच्छुओ, वृक्ष का रूख। ये विशेषताएँ सर्वसामान्य हैं।

अन्य प्राकृतों की जो स्वगत विशेषताएँ हैं उनका अलग उल्लेख किया जाता है। शौरसेनी में थ के स्थान पर ध और त के स्थान पर द होता है, ह या अ नहीं—जैसे अथ का अध, लता का लदा। मागधी में दंत्य 'स' का तालव्य 'श' हो जाता है—सामवेद का शामवेद। र का ल हो जाता है; जैसे—पुरुष का पुलिशे। ज का य हो जाता है—जनपद का यणपद। अकारांत शब्दों के प्रथमा एकवचन के एकारांत रूप होते हैं। अर्धमागधी में आर्ष प्रयोग की अधिकता तथा शौरसेनी और मागधी दोनों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इसे वैयाकरणों ने स्पष्ट स्वीकार किया है—

आरिषवयणे सिद्धं देवानं अद्धमागहा वाणी।

शौरसेन्या अदूरत्वात् इयमेवार्द्धमागधी।।—मार्कंडेय।

महाराष्ट्रीमिश्रा अर्द्धमागधी—क्रमदीश्वर।

पैशाची में वर्ग के तृतीय और चतुर्थ अक्षर मध्य में आने पर प्रथम और द्वितीय में परिणत हो जाते हैं; जैसे—गगनम् का गकनम्, राजा का राचा। आदि में भी कहीं कहीं ऐसा होता है—दामोदर का तामोतर। ण का न हो जाता है—तरुणी का तरुनी। संयुक्त अक्षर अलग हो जाते हैं—कष्ट का कसट, स्नान का सनान, पत्नी का पतनी। पिशाच देश का निर्णय इस उद्धरण में किया गया है—

पाण्ड्य, केकय, बाह्लीक, सिंह, नेपाल, कुन्तलाः।
सुदेष्ण, बोट, गान्धार, हैव, कन्नौजनास्तथा।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत् ॥—लक्ष्मीधर।

राजशेखर ने यह बात नहीं लिखी। उन्होंने 'भूतभाषा' या पैशाची का स्थान मालवा प्रांत माना है, जिसका विचार पहले किया जा चुका है। लक्ष्मीधर ने जो प्राचीन उक्ति उद्धृत की है उसे राजशेखर की उक्ति से मिलाने पर यही मानना पड़ता है कि या तो मूलतः पैशाची भाषा उत्तर की ही थी और वहाँ से मालवा में फैली या वस्तुतः यह मालवा की ही भाषा थी और वहाँ से पश्चिमोत्तर प्रदेश में गई। पैशाची में बड्डकहा लिखनेवाले गुणाढ्य मध्यदेश के रहनेवाले थे ऐसा परंपरा में प्रसिद्ध है। इधर उनके ग्रंथ के संस्कृतानुवाद कश्मीरी पंडितों ने किए हैं।

अपभ्रंश

प्राकृतों के बाद अपभ्रंशों का उद्भव हुआ। अपभ्रंशों का रूप उन्हीं प्राकृतों के अनुसार स्थानभेद से भिन्न भिन्न रहा होगा, किंतु ये सब अपभ्रंश मिलते नहीं। 'विक्रमोर्वशी' नाटक में अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है, किंतु पश्चिमी लोग उसे अपभ्रंश नहीं मानते। शब्दों का अपभ्रष्ट रूप तो महर्षि पतंजलि के समय से ही प्रचलित हो गया था। वे महाभाष्य में लिखते हैं—भूयांसो ह्यपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः, एकैकस्य शब्दस्य बहवः अपभ्रंशाः, यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेति एवमादयोऽपभ्रंशाः।' भाष्यकार ने 'गौ' शब्द के लिए गावीः गोणी, गोता और गोपोतलिका चार अपभ्रंश दिए हैं। इनमें से 'गावी' (गाही) बँगला में पाया जाता है। 'गोणी' का प्रयोग पाली में हुआ है * और सिंधी में मिलता है। वैयाकरणों ने अपभ्रंश के नागर और व्राचड़ दो भेद किए हैं। नागर अपभ्रंश से गुजराती, राजस्थानी, व्रजी आदि का उद्भव हुआ है। व्राचड़ का संबंध सिंधी से है। अपभ्रंश भाषा का इधर अधिक साहित्य प्रकाशित हुआ है। जैन अपभ्रंश के कई ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। मिच्छ देश के अद्दहमान (अब्दुर्रहमान) का संदेशरासक भी प्रकाशित हुआ है। हेमचंद्र के व्याकरण तथा कुमारपालचरित में और मेरुतुंगाचार्य के

* कच्चायन के पाली-व्याकरण के वार्तिक में 'गोण गु गवयादेसो होति' तथा 'गोणनम्हि वा' सूत्र मिलते हैं।

प्रबंधचिंतामणि में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं। जैसा कहा जा चुका है देशभेद के अनुसार इसके रूप में भेद अवश्य होता था। रुद्रट लिखते हैं—'भूरिभेदात् देशविशेषात् अपभ्रंशाः।' इसका प्रमाण विद्यापति की कीर्तिलता से भी मिलता है। कीर्तिलता में शब्दों के प्रयोग प्रचलित पश्चिमी शौरसेनी या नागर अपभ्रंश के अनुसार तो हैं ही, कुछ पूर्वी प्रयोग भी पाए जाते हैं। इसलिए उसे पूर्वी या मागध अपभ्रंश का उदाहरण समझना चाहिए।

कुछ लोग अपभ्रंश के अनंतर 'अवहट्ट' या 'अवहट्ठ' अवस्था भी मानते हैं। विद्यापति ने 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश के लिए किया है। वहाँ 'अवहट्ठ' शब्द 'अपभ्रष्ट' का अपभ्रंश-रूप है। जिस प्रकार उन्होंने अपना नाम 'विद्यापति' से 'बिज्जावइ' अपभ्रंश बनाया उसी प्रकार 'अपभ्रष्ट' से 'अवहट्ठ' भी। 'अपभ्रंश' के लिए 'प्राकृत' शब्द का जिस प्रकार प्रचुर व्यवहार मिलता है उसी प्रकार विरल व्यवहार 'अवहट्ठ' या 'अवहट्ट' का भी। 'प्राकृतपैंगलम्' के भाष्यकार वंशीधर ने अपने 'पिंगल-प्रकाश' नामक भाष्य में इसे 'अवहट' ही कहा है—"प्रथमो भाषातरण्डः प्रथम आद्यः भाषा 'अवहट्' भाषा यया भाषया अयं ग्रन्थो रचितः सा अवहट् भाषा तस्या इत्यर्थः।

अपभ्रंश के कालभेद से दो रूप माने जा सकते हैं। पूर्वकालिक और उत्तरकालिक। उत्तरकालिक का नाम अवहट्ठ माना जा सकता है। जो अपभ्रंश देशी भाषा के शब्दरूपों से अधिक निकट हो वह उत्तरकालिक है।

अपभ्रंश की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं। प्राकृतिक भाषाओं की अपेक्षा अपभ्रंश और अधिक स्वच्छंद होकर चलने लगे। केवल परस्मैपद रूप में ही धातुओं का व्यवहार होने लगा। वर्तमान काल का प्रयोग मुख्य हुआ। विभक्ति-चिह्नों का प्रायः लोप होने लगा। 'म्' अनुस्वार के रूप में परिणत हो गया। लिंग अतंत्र हो गया अर्थात् शब्दों का मनमाने लिंग में प्रयोग होने लगा। अनुस्वार वैकल्पिक हो गया अर्थात् सभी स्थानों में उसका प्रयोग होने लगा। जिन शब्दों में अनुस्वार की प्राप्ति किसी प्रकार भी नहीं होती थी वहाँ भी वह वैकल्पिक रूप में आ लगा।

भारत की आधुनिक देशभाषाएँ

अपभ्रंश के अनंतर आधुनिक देशभाषाओं का उद्भव हुआ। देशी भाषाओं की पद्य-रचना कब से होने लगी यह निश्चित रूप से तो नहीं

कहा जा सकता किंतु उत्तरकालिक अपभ्रंशों के देखने से स्पष्ट है कि आधुनिक देशी भाषाओं के शब्दरूप उनमें दिखाई पड़ने लगे थे। इससे देशभाषाओं के उद्भव का समय विक्रम की दसवीं-ग्यारहवीं शती समझना चाहिए।

इन भाषाओं के भेदोपभेद का वर्णन पहले किया जा चुका है। इनका कुछ परिचय यहाँ दिया जाता है—

सिंधी—सिंधी में कुछ साहित्य है, पर सूफी शैली का। यह अरबी-फारसी से दिन दिन लदती जा रही है। इसकी वर्णमाला भी अरबी-फारसी के वर्णों से बनाई गई है। इसमें मुख्यतः दो लिपियों 'लंडा' और 'गुरुमुखी' का व्यवहार होता है। कभी कभी नागरी भी काम में लाई जाती है। आधुनिक सिंधी के लेखक अधिकतर मुसलमान हैं। इसकी उपभाषाएँ ये हैं—विचोली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली (राजस्थानी से प्रभावित) और कच्छी (गुजराती से प्रभावित)।

लहँदा—'पंजाबी' भाषा के पूर्वी-पश्चिमी के विचार से दो भेद हैं। पूर्वी पंजाबी को केवल 'पंजाबी' कहते हैं और पश्चिमी पंजाबी को 'लहँदा'। लहँदा का अर्थ पंजाब में 'पश्चिम' होता है। इसमें गीतों और चारणकाव्य के अतिरिक्त और कोई साहित्य नहीं है। इसकी लिपि 'लंडा' है। इसके अंतर्गत ये बोलियाँ हैं—
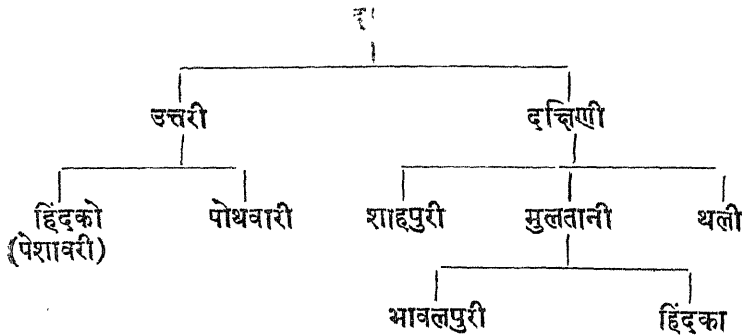
मुलतानी पर सिंधी का पूरा प्रभाव है।

पंजाबी—इस पर पैशाची प्राकृत का पूरा प्रभाव है। 'युक्तविकर्ष' के उदाहरण इसमें पर्याप्त मिलते हैं—पत्नी = पतनी, स्पर्श = परस, कष्ट = कसट, स्कूल = सकूल। महाप्राण वर्ण के स्थान पर वर्ग के अल्पप्राण का व्यवहार भी है—अध्यापक = हत्तापक, भाईजी = पाईजी।

ध्यान देने की बात है कि इसमें न तो संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता हुई और न अरबी-फारसी के शब्द घुसे। इसमें सिख-गुरुओं की रचनाएँ मिलती हैं। पश्चिमी हिंदी पर इसका प्रभाव पड़ा है। इसकी लिपि गुरुमुखी है। इसमें अमृतसरी और डोगरी दो बोलियाँ हैं।

गुजराती—जैनों के धर्मग्रंथ प्राचीन गुजराती में हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचंद्र गुजरात के ही थे। काठियावाड़ी में चारण-काव्य की प्रचुरता है। जिसमें से अधिकांश अप्रकाशित है। गुजराती बहुत अधिक उन्नति कर रही है। इसमें भी संस्कृत का प्रभाव अन्य देश-भाषाओं की भाँति पूरा पड़ रहा है। इसकी अपनी लिपि भी है जिसमें शिरोरेखा का अभाव है। बीच बीच में 'नागरी' लिपि का भी व्यवहार देख पड़ता है। इसकी उत्पत्ति नागर अपभ्रंश से है। यह राजस्थानी से प्रभावित है। इसी से गुजरातवाले मीराबाई को, जिनकी रचना राजस्थानी-मिली हिंदी में है, अपनी कवयित्री मानते हैं। इसके दो रूप हैं—साहित्यिक और बोलचाल का रूप। साहित्यिक रूप का व्यवहार पारसी (बंबई) और हिंदू (अहमदाबाद) दोनों के द्वारा होता है और दोनों में भेद लक्षित होता है। बोलचाल में अहमदाबादी प्रधान है। देशभेद से इसकी बंबइया, सूरती, काठियावाड़ी आदि अन्य बोलियाँ भी हैं।

राजस्थानी—राजपूताने में 'राजस्थानी' भाषा बोली जाती है। इसका एक ओर ब्रजी से और दूसरी ओर गुजराती से लगाव है। प्राकृत-काल के बहुत से शब्द और प्रयोग इसमें अब तक चल रहे हैं। इसके आधार पर चारणों ने ठेठरूप-प्रधान एक पृथक् शैली बना ली है जिसे 'डिंगल' कहते हैं। राजस्थानी लोग ब्रजी का सामान्य रूप लिए हुए जिस भाषा का व्यवहार करते हैं उसे 'पिंगल' नाम से पुकारते हैं। स्थूल रूप से ब्रजी को 'पिंगल' और चारणप्रयुक्त राजस्थानी को 'डिंगल' तथा जनप्रचलित रूप को राजस्थानी कहते हैं। ब्रजी को 'पिंगल' कहने से साहित्य में प्रयुक्त ठेठ राजस्थानी 'डिंगल' नाम से ध्वनिसाम्य के आधार पर प्रसिद्ध हुई। यद्यपि इस शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से करते हैं पर जान पड़ता है कि यह शब्द संस्कृत के 'डिंगर' से बना है। संस्कृत में मोटे-मुसंड अपरिष्कृत रुचिवाले व्यक्ति को 'डिंगर' कहते हैं। अतः ज्ञात होता है कि ब्रजी या पिंगल की परिष्कृत साहित्यिक शैली के प्रतिपक्ष में राजस्थान की देशी काव्यपद्धति 'डिंगर' या 'डिंगल' कहलाने लगी। 'डिंगल' में चारणों के अनेक काव्यग्रंथ हैं। राजस्थानी

के अंतर्गत जंगली बोलियाँ भी समझनी चाहिए। भीली को ग्रियर्सन साहब ने गुजराती के अंतर्गत रखा है, पर है वस्तुतः वह राजस्थानी ही बोली। इस प्रकार राजस्थानी की बोलियों का प्रस्तार इस प्रकार होगा—
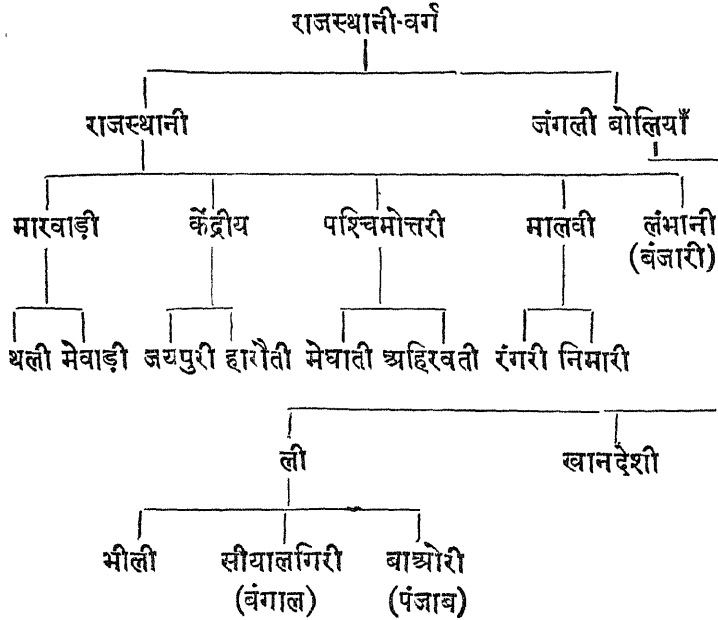
पहाड़ी बोलियाँ—ये बोलियाँ चाटुर्ज्या महोदय ने राजस्थानी के ही अंतर्गत मानी हैं। कुछ लोग पहाड़ी वर्ग को पृथक् वर्ग में रखते हैं पर इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। पहाड़ी बोलियाँ दरदी से भी प्रभावित हैं और तिब्बत-हिमालयी से भी। इसके तीन भेद माने गए हैं—पूर्वी, मध्यवर्ती और पश्चिमी। पूर्वी पहाड़ी में नेपाली आती है। इसमें थोड़ा सा आधुनिक वाङ्मय है, जो प्रायः धार्मिक बातों या किस्से-कहानियों से ही संबद्ध है। इसका नाम परबतिया (गोरखाली) या खसकुरा भी है। इसकी लिपि नागरी है। इसके अंतर्गत पल्पा तथा अन्य बोलियाँ हैं। मध्य पहाड़ी में भी कुछ साहित्य इधर लिखा गया है, पर साधारण कोटि का। इसमें भी नागरी लिपि प्रयुक्त होती है। इसमें दो बोलियाँ हैं—कुमाउनी और गढ़वाली। पश्चिमी पहाड़ी में जौनसार से चंबा तक की बोलियाँ मानी जाती हैं। इनमें तक्करी लिपि चलती है। ग्राम-गीतों के अतिरिक्त इनमें और कोई साहित्य नहीं।

मराठी—इसमें देशी शब्दों की अधिकता है। इसकी बोलियों में अंतर बहुत कम है यहाँ तक कि शिष्ट भाषा और साधारण बोली में भी विशेष अंतर नहीं है। मराठी में बहुत ही संपन्न वाङ्मय है। संत ज्ञानेश्वर की श्रीमद्भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका पुरानी मराठी में है। नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि संतों के अभंग और पद भी इसकी प्राचीन संपत्ति हैं। आधुनिक काल में भी मराठी की सब प्रकार से उन्नति हो रही है। महाराष्ट्री प्राकृत से इसका पूरा मेल नहीं है। उसकी दक्षिणी शाखा से इसका उद्भव हो सकता है, क्योंकि कुछ विशेषताएँ मिल जाती हैं। इसमें तद्धित और नामधातु का अधिक प्रयोग होता है। इसमें 'ळ' का विशिष्ट वैदिक उच्चारण सुरक्षित है। मराठी की मुख्य तीन बोलियाँ हैं—देशी, बरारी और कोंकणी। देशी ही वस्तुतः मुख्य भाषा है। यह पूना और बरहाड़ (अमरावती) में चलती है। बरारी में बरहाड़ी, नागपुरी और हल्बी बोलियाँ हैं। नागपुरी पूर्वी हिंदी से और हल्बी उड़िया से प्रभावित है। कोंकणी के अंतर्गत गोआई, घाटी तथा अन्य बोलियाँ हैं।

दक्षिणी वर्ग में ही 'सिंहली' भी आती है। इसका विकास 'पाली' प्राकृत से माना जाता है। 'सिंहली' 'एलु'* से होकर 'पाली' से उद्भूत हुई है। 'एलु' शब्द 'सीहलु' (सिंहल) से बना है—'सीहलु' से 'हैलु', 'हैलु' से 'हेलु' और 'हेलु' से 'एलु'। सिंहली में अपनी लिपि भी चलती है। इसमें आधुनिक वाङ्मय के अतिरिक्त बौद्धधर्म की हीनयान शाखा के भी ग्रंथ मिलते हैं।

उड़िया—पूर्वी समूह की सभी भाषाएँ 'मागधी' से विकसित हुई हैं। उड़िया में मिश्रित शब्दों का व्यवहार होता है। इसमें कुछ साहित्य भी है। इसकी अपनी लिपि भी है, जिसके अक्षरों पर शिरोरेखा के स्थान पर वृत्त सा बनाया जाता है, क्योंकि ताड़पत्र पर लिखने के लिए यही विधि अनुकूल थी। इसमें कुछ बोलियाँ उत्तर की हैं जो बँगला से प्रभावित हैं; भत्री नाम की बोली दूसरी ओर मराठी से प्रभावित है।

बिहारी—बिहारी के वस्तुतः दो वर्ग हैं—मैथिली और भोजपुरिया। भोजपुरिया पश्चिमी वर्ग है और मैथिली पूर्वी। भोजपुरिया मैथिली से बहुत भिन्न है। इसी से चाटुर्ज्या महोदय इसे पृथक् ही

* 'ळ' मराठी अक्षर है जिसकी ध्वनि हिंदी के 'ल' और 'ड़' की मिश्रित ध्वनि की तरह होती है। इस ध्वनि का स्थान हिंदी का 'ल' ही प्रायः ग्रहण करता है अतः 'एळु' को 'एलु' लिख सकते हैं।

रखने के पक्ष में हैं। भोजपुरिया उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग गोरखपुर-बनारस कमिश्नरियों और बिहार के पश्चिमी भाग शाहाबाद, चंपारन, सारन जिलों की बोली है। इसमें ग्रामगीतों के सिवा और कोई साहित्य नहीं। इसके अंतर्गत भोजपुरी, पूरबी और नागपुरिया बोलियाँ हैं। मैथिली में तिरहुतिया और मगही दो बोलियाँ हैं। तिरहुतिया ही मुख्य मैथिली है, जो बँगला से कुछ प्रभावित है। दरभंगे की बोली यही है। विद्यापति ने इसी भाषा (हिंदी मिश्रित) में रचना की है। इसमें कुछ वैष्णव वाङ्मय है। इसमें मैथिली लिपि का भी व्यवहार होता है। 'मगही' पटना और गया में प्रचलित है। इसमें कैथी लिपि का भी व्यवहार होता है। बिहार में अदालतों में कैथी और ग्रंथों में नागरी चलती है।

बँगला—यह भाषा भारत की वर्तमान आर्यभाषाओं में सबसे अधिक संस्कृत की ओर झुकी हुई है। बंगालियों की यह रूढ़ि ही जान पड़ती है। राजशेखर ने लिखा है कि गौड़ अर्थात् बंगाली संस्कृत का व्यवहार अधिक करते हैं।* इसका साहित्य इस समय बहुत समृद्ध है। विदेशी प्रवृत्तियाँ भी इसके साहित्य में घुस पड़ी हैं। भारतीचंद्र, कृत्तिवास आदि की पुरानी रचनाएँ और माइकेल मधुसूदनदत्त, द्विजेंद्रलाल राय, बंकिमचंद्र, रवींद्रनाथ ठाकुर आदि की आधुनिक रचनाएँ इसके भांडार की महिमा बतानेवाली हैं। इसमें अपनी लिपि का व्यवहार होता है, संस्कृत-ग्रंथों के लिए नागरी लिपि भी चलती है। इसकी पश्चिमी बोली 'राढ़' है जो कलकत्ता, पुर्निया, मिदनापुर आदि में बोली जाती है और जिसमें स्थानभेद से बिहारी उड़िया, संथाली आदि का प्रभाव वर्तमान है। उत्तर ओर 'वारेंद्र' बोली चलती है। पूर्व में वंग और कामरूपी बोलियाँ हैं। ढाका में वंग की ढाकी बोली चलती है। 'हैजोंग' और 'चकमा' 'वंग' के ही अंतर्गत विदेशी भाषाओं से प्रभावित बोलियाँ हैं जो अन्यत्र चलती हैं। इनके अतिरिक्त ग्रांथिक या साहित्यिक बँगला है जो ग्रंथों और शिष्ट व्यवहार में चलती है।

आसामी—इसका बँगला से घनिष्ठ संबंध है। मुख्य भेद उच्चारण का है। इसमें दंत्य स का उच्चारण 'च' से मिला हुआ होता है।

---

* गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ॥—काव्यमीमांसा।

इसमें पर्याप्त ऐतिहासिक वाङ्मय है। यहाँ कुछ परिवर्तित बँगला लिपि चलती है। इसके अंतर्गत मयांग और भरेवा बोलियाँ हैं।

यहाँ तक हिंदी से इतर आधुनिक आर्यभाषाओं का विचार किया गया। अब पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी का भेदोपभेदसहित कुछ विस्तार से विचार किया जायगा। हिंदी के अंतर्गत जो साहित्यिक और लौकिक बोलियाँ आती हैं उनका प्रस्तार इस प्रकार है—
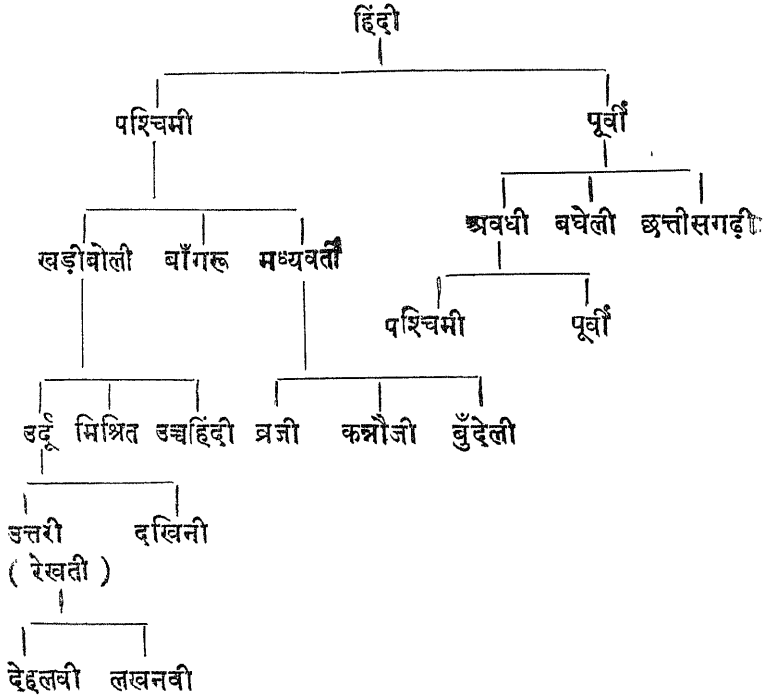
हिंदी भाषा

देशी भाषाओं में से हिंदी का उद्भव सबसे पहले हुआ। हिंदी जिस परंपरा को लेकर चल रही है वह शौरसेनी की है, लेकिन इसके साथ ही इसका मागधी या अर्धमागधी से भी पूरा लगाव है। यही कारण है कि संस्कृत तथा प्राकृत से संबंध रखनेवाली अन्य देशी भाषाओं के प्राचीन साहित्य का लगाव इसी से है अर्थात् गुजराती, मराठी, बँगला आदि के प्राचीन साहित्य का। पुरानी रचना की परंपरा हिंदी की ही है अर्थात् हिंदी इन देशी भाषाओं की बड़ी बहन है।

'हिंदी' शब्द के अर्थ

'हिंदी' शब्द का प्रयोग पुराना है। किंतु बहुत दिनों तक इसे 'भाषा' ही कहते रहे और पुराने ढँड़ेवाले इसे अब भी 'भाखा' कहते हैं। कहते हैं कि जिस प्रकार 'हिंदू' शब्द विदेशियों का दिया हुआ है उसी प्रकार 'हिंदी' भी और इसमें 'ई' प्रत्यय 'याये निस्बती' है। इस मत के विरोधी भी हैं। इनके अनुसार जब गुजरात से गुजराती, बंगाल से बंगाली आदि सैकड़ों प्रयोग होते हैं और केकय से केकयी, दिनकर से दिनकरी (टीका) आदि पुराने प्रयोग भी मिलते हैं तो 'हिंदी' में 'ई' को 'याये निस्बती' कैसे कहा जाय। 'पाली' में 'ई' का प्रयोग संबंध के अर्थ में बराबर मिलता है; जैसे—

अप्पमत्तो अयं गंधो यायं तगरचंदनी—धम्मपद ।*

'हिंदी' शब्द मुसलमानों का दिया हुआ है। 'याये निस्बती' की भाँति संबंध में 'ई' प्रत्यय यहाँ भी है। पर 'हिंद' और 'हिन्दुस्तान' शब्द जैसे विदेशियों के दिए हुए हैं वैसे ही 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' नाम भी। आर्यसमाजी आंदोलन के समय इसे 'आर्यभाषा' इसी लिए कहने लगे थे। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा का हिंदी-पुस्तकालय 'आर्यभाषा-पुस्तकालय' अब तक कहलाता है। स्वभावतः इसे 'भारती' कहना चाहिए।

'हिंदी' शब्द का व्यवहार कई अर्थों में होता है। हिंदी शब्द केवल भाषा का ही बोधक नहीं, साहित्य का भी बोधक है। हिंदी में अलंकार शास्त्र संस्कृत के सहारे चलता है' वाक्य में 'हिंदी' शब्द 'हिंदी साहित्य' के लिए आया है। हिंदी' का व्यवहार वर्तमान भाषा अर्थात् 'खड़ी' के लिए भी होता है और पुरानी कई भाषाओं या इनके समूह के लिए भी।

'खड़ी बोली', 'रेखता', 'नागरी' और 'उच्च हिंदी'

हिंदी में संप्रति गद्य और पद्य दोनों में जिस भाषा का व्यवहार हो रहा है उसका नाम है 'खड़ी बोली'। इस शब्द के मूल अर्थ के संबंध में कई प्रकार के अनुमान लगाए जाते हैं। किसी का कहना है कि बाजारों में जिस भाषा का व्यवहार होता था वह भाषा व्यवहृत भाषा के आधार पर खड़ी हुई थी। इसलिए उसका नाम 'खड़ी बोली' हुआ। इसके प्रमाण में 'रेखती' शब्द प्रस्तुत किया जाता है। 'रेखता' के गानों में जिस भाषा का व्यवहार हुआ है वह खड़ी बोली है।

---

* देखिए 'हिंदी भाषा और साहित्य'।

अतः इस 'रेखता' शब्द पर ही पहले विचार कर लेना चाहिए। 'रेखता' शब्द फारसी के 'रेखतन्' धातु से बना हुआ है। इस धातु के दो मुख्य अर्थ हैं—डालना और बैठना। अतः 'रेखता' का अर्थ हुआ 'डाली हुई' या 'बैठी हुई'। किसी ने पहला अर्थ लेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जो भाषा पहले डाली हुई, फेंकी हुई अर्थात् पड़ी हुई थी वही जन-समाज से उठाकर साहित्य-क्षेत्र में जब खड़ी की गई या खड़ी हुई तब खड़ी बोली कहलाई। ऐसे मत-वालों के अनुसार बोलचाल की अपरिष्कृत भाषा पृथक् थी और साहित्य की पृथक्। किंतु स्थिति ऐसी नहीं है। हिंदी भाषा में अरबी-फारसी शब्दों के मिश्रण से एक शैली बनी, जिसमें मुसलमानी जमाने में गजलें या गान लिखे जाते थे। वही शैली 'रेखता' कहलाती थी और उन गानों को भी 'रेखता' कहते थे। आगे चलकर रेखता नाम त्याग दिया गया और वह उर्दू कहलाने लगी। 'उर्दू' से भेद करने के लिए देशी भाषा का नाम, जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों का धड़ल्ले के साथ प्रयोग नहीं होता था, 'हिंदी', 'भाखा' या 'खड़ी बोली' पड़ गया। यदि रेखता का अर्थ 'बैठी हुई' या 'जमी हुई' अर्थात् 'पुष्ट' लिया जाय तो 'रेखता' और 'खड़ी बोली' शब्दों का समन्वय स्थापित हो सकता है।

'खड़ी' या 'हिंदी' के लिए एक शब्द और प्रयुक्त होता है, वह है 'नागरी'। पश्चिम में अर्थात् मुरादाबाद, मेरठ आदि मंडलों में शिष्ट भाषा के लिए 'नागरी' शब्द का व्यवहार होता है—केवल लिपि के लिए नहीं, भाषा के लिए भी। इसका भी अर्थ है—'नगर की भाषा' या 'शिष्ट समाज की भाषा'। बहुत संभव है कि 'नागर' अपभ्रंश से उद्भूत होने के कारण ही 'नागरी' नाम चलता हो। शिष्ट भाषा के लिए 'नागरी' शब्द का प्रयोग भी बतलाता है कि 'खड़ी बोली' में 'खड़ी' शब्द 'खरी' (परिष्कृत) का बदला हुआ रूप है।

आजकल एक शब्द भाषाविज्ञान के भीतर और चल पड़ा है। वह है **उच्चहिंदी या परिष्कृत हिंदी (हाई-हिंदी)**। ग्रंथों में व्यवहृत होनेवाली और संस्कृत का कुछ अधिक सहारा लेनेवाली भाषा को परिष्कृत हिंदी या ग्रांथिक भाषा मानते हैं। ग्रंथों में व्यवहृत भाषा व्यावहारिक भाषा से सर्वत्र भिन्न या परिष्कृत ही होती हो ऐसा नहीं। अँगरेजी, बँगला, गुजराती सभी भाषाओं में एक सी स्थिति है। हिंदी में अभी इस प्रकार का भेद नहीं आया है कि ग्रंथों और व्यवहार की भाषा को पृथक् पृथक् घोषित कर दिया जाय अतः यह भेद व्यर्थ जान पड़ता है।

उर्दू

'उर्दू' शब्द का अर्थ है 'सैनिक हाट'। शाही सैनिक हाट में जिस भाषा का व्यवहार होता था उसे 'उर्दू बोली' कहते थे। धीरे धीरे विदेशियों में यह बोली फैली और आगे चलकर इसमें रचना भी होने लगी और इसका नाम 'उर्दू' पड़ गया। इससे स्पष्ट है कि मूल में यह हिंदी ही है। उर्दू के आरंभिक कवियों ने इसे हिंदी, हिंदवी या हिंदुई वचन आदि कहा भी है। कहीं कहीं इसे 'भाखा' भी कहा गया है। आगे चलकर इसमें अरबी-फारसी के विदेशी शब्द भी अधिक मात्रा में रखे जाने लगे और इसमें होनेवाली रचना विदेशी रंग-ढंग पकड़ने लगी। धीरे धीरे यह विदेशी शब्दों, प्रयोगों और शैलियों से ऐसी बँधी कि हिंदी के प्रवाह से अलग होकर पृथक् ही अस्तित्व बना बैठी। उर्दू मूल में हिंदी ही है, हिंदी की शैली मात्र है ऐसा इसके क्रियापदों और कुछ प्रत्ययों से प्रमाणित है। इसे अरबी-फारसी रंग-ढंग से छाने-छोपने का काम किस प्रकार समय समय पर हुआ इसे हिंदी के विद्वान् दिखला चुके हैं। * हैदराबाद (दक्षिण) से निकलनेवाले पुरानी उर्दू-कविता के संग्रहों से, जो 'शहपारे' नाम से प्रकाशित हो रहे हैं, सिद्ध होता है कि पहले इस रचना में किस प्रकार प्राकृत, अपभ्रंश आदि के शब्दों का ठीक उसी प्रकार व्यवहार होता था जिस प्रकार हिंदी-कविता में। पुराने हिंदी-शब्दों से परिचित न होने के कारण संग्रहकर्ता गोते खा गए हैं।

यों तो उर्दू-साहित्य के धनी-धोरी उर्दू का आरंभ उसी समय से मानते हैं जब दारयवहु का सिंध पर आक्रमण हुआ, पर कोई ऐतिहासिक या भाषाविज्ञानी इसे नहीं मानता। उर्दू का उद्भव शाही हाटों में हुआ और शैशव का पोषण दक्षिण में। दक्षिण में मुसलमानी बादशाहों ने जब राज्य स्थापित कर लिए तब इन्हीं राज्यों की छत्रछाया में उर्दू का विकास हुआ। दक्षिण में जो भाषा ले गए थे वह दिल्ली प्रांत की ही भाषा अर्थात् हिंदी या खड़ी बोली थी। जिन 'हिंदवी वचनों' में अमीर खुसरो अपनी चलती रचना कर चुके थे वे दक्खिन में जाकर विकसित हुए। आरंभ में इसका स्वरूप बोलचाल की ठेठ हिंदी के निकट था, पर आगे चलकर अरबी-फारसी के शब्द लादे जाने लगे। बात यह थी

---

* देखिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल का फैजाबाद हिंदी-साहित्य-संमेलन वाला भाषण—हिंदी और हिंदुस्तानी।

कि वहाँ मुसलमानों के साथ जो हिंदी गई वह चारों ओर द्राविड़ या हिंदी से इतर आर्यभाषाओं से घिरी हुई थी। सामी संस्कृति के हामी मुसलमानों को, बोलचाल की चलती हिंदी से उसके विच्छिन्न हो जाने के कारण, अरबी-फारसी ही अनुकूल प्रतीत हुई, जिस पर धर्म ने भी रंग चढ़ाया। दक्षिण भारत की यही उर्दू 'दखिनी' कहलाती है। यों तो इसमें भाषा-संबंधी भेद बहुत दिखाई पड़ता है, पर इसमें कर्ता के 'ने' चिह्न का प्रयोग सकर्मक क्रिया के सामान्य-भूतकाल में नहीं होता इसका कारण पूर्वी हिंदी का प्रभाव हो सकता है।

'वली', जिनका पूरा नाम शम्सवली उल्ला था, विक्रमीय अठारहवीं शती के मध्य में दिल्ली आए और 'उर्दू' का रंग दिल्ली में जमने लगा। आरंभ में 'वली' की रचना 'दखिनी' का पुराना रूप लेकर बहुत कुछ स्वाभाविक शैली पर चलती रही, पर आगे चलकर इन्होंने भी रंग-ढंग बदल दिया और अरबी-फारसी के विदेशी शब्द अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में लाद दिए। कोई कोई इन्हें ही उर्दू का जन्मदाता कहते हैं। दिल्ली की उर्दू 'देहलवी' कहलाती है। मुगल-साम्राज्य के पतन से और विदेशी आक्रमणों से दिल्ली का रंग उखड़ गया, इसलिए उर्दू का अखाड़ा लखनऊ में खुला। यहाँ नवाबों के आश्रय में यह अखाड़ा खूब जमा। 'दखिनी' में जो प्रकृत प्रभाव था वह दिल्ली में आकर बदल चुका था, लखनऊ में पहुँचकर उसने पूरी उलटी गति पकड़ी। अरबी-फारसी के शब्द इतने अधिक लदे कि उर्दू हिंदी से बहुत दूर जा पड़ी। दिखावट, सजावट, कारीगरी आदि की अधिकता से भाषा में बनावटीपन बहुत आ गया। दिल्ली और लखनऊ के संप्रदायों में शब्द, प्रयोग, मुहावरों और लिंगभेद के झगड़े प्रायः होने लगे और होते रहते हैं। दिल्ली-संप्रदाय में जिस प्रकार परिष्कृत भाषा किले के भीतर की ही समझी जाती थी उसी प्रकार लखनऊ-संप्रदाय में नवाबों के इर्दगिर्द की। नवाबी सल्तनत की समाप्ति के बाद लखनऊ का समाज भी विच्छिन्न हो गया और उर्दू के शायरों का कोई अच्छा आश्रयस्थान नहीं रह गया। बाद में मुर्शिदाबाद आदि इनके छोटे छोटे कई केंद्र बने। अब उर्दू विदेशी रंग-ढंग से भरा साहित्य लिए हिंदी ही क्या, भारत की समस्त समृद्ध आर्य-भाषाओं से पृथक् हो गई है। इसमें विदेशी संस्कृति इतनी समा गई है कि यह साहित्य ही नहीं भाषा की शैली भी भारतीयों के लिए अजनबी बना बैठी। साहित्य में बुलबुल, चमन, नरगिस, कोहकाफ,

दजला, फरात आदि विदेशी प्रतीक या वर्ण्य विषय ही अधिक चलते हैं, कोयल, चातक, रमणीय वनस्थली, कमल, चंपा, चमेली, मालती, हिमालय, विंध्य, गंगा, यमुना आदि के दर्शन दुर्लभ ही नहीं, असंभव भी हो गए हैं। भाषा में शब्दों के बहुवचन, विभक्तिचिह्न, पदावली आदि विदेशी ही बढ़ रहे हैं। शायर, मकान, अखबार आदि के बहुवचन शुअरा, मकानात, अखबारात होंगे, शायरों, मकानों, अखबारों नहीं। 'असल में' बनारस से' आदि के स्थान पर 'दर असल', 'अज़ बनारस' ही लिखेंगे। संप्रति सभी भारतीय भाषाओं की प्रवृत्ति संस्कृत से शब्द लेने की है, ऐसा करना तो दूर रहा हिंदी के जो तद्भव या ठेठ शब्द थे वे भी उर्दू से बहुत कुछ निकाल डाले गए और जो हैं वे भी धीरे धीरे हटाए जा रहे हैं। अतः उर्दू एक तरह की किताबी भाषा रह गई है।

मिश्रित या हिंदुस्तानी

अँगरेजों के भारत पर अधिकार कर लेने के अनंतर देश की वास्तविक भाषा का प्रश्न उठा। मुसलमानों के प्रयत्न से फारसी के साथ साथ अदालतों में उर्दू का प्रवेश हो गया। इसके बहुत पहले अँगरेजों ने हिंदी और उर्दू दोनों को व्यवहृत भाषा के रूप में ग्रहण कर लिया था। ईसाई मिशनरियों के बाइबिल के अनुवाद पहले हिंदी में फिर उर्दू में प्रकाशित हुए थे। आगे चलकर शासन-कार्य में काम देने योग्य व्यावहारिक भाषा की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई जिसमे सब प्रकार के शब्द मिश्रित होते थे। उसका नाम अँगरेजों ने 'हिंदुस्तानी' रखा।

राजनीतिक दृष्टि से उर्दू-हिंदी का झगड़ा खड़ा किया गया। इसमें राजनीति का दंभ भरनेवाले भी संलग्न हुए। उर्दूवालों की ओर से कहा जाने लगा कि देश की लोकभाषा वस्तुतः उर्दू है, यद्यपि अपने गुणों के कारण कठिन अरबी-फारसी शब्दों से रहित हिंदी स्वतः और बहुत पहले ही लोकभाषा के रूप में गृहीत हो चुकी है। राजनीतिक क्षेत्र में मेल-मिलाप के यत्न में लगे रहनेवाले नेता इस उद्योग में लगे कि हिंदी और उर्दू नाम हटकर 'हिंदुस्तानी' नाम से एक ऐसी भाषा प्रचलित हो जिसमें दोनों भाषाओं के शब्दों का ग्रहण हो।

उर्दू जिस प्रकार अरबी-फारसी के शब्दों को अपनाती है उसी प्रकार अरबी अर्थात् सामी संस्कृति को भी और हिंदी जिस प्रकार

'भारती' (संस्कृत) के शब्दों की ओर आवश्यकता-वश झुकती है उसी प्रकार इसका साहित्य भी भारतीय संस्कृति का अवलंबन करता है। फल यह हुआ है कि इन दोनों में एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त होनेवाले शब्दों में भी स्पष्ट भेद दिखाई देता है। 'प्रणाम' और 'सलाम' का एक ही अर्थ नहीं है। 'पाणिग्रहण' (बिहारी का 'हथलेवा') या 'गँठबंधन' और 'निकाह' से एक ही स्थिति का बोध नहीं होता। 'धर्म' और 'मजहब' में 'जमीन-आसमान' का ही नहीं 'आकाश-पाताल' का अंतर है। देशप्रेम की झोंक में 'हिंदुस्तानी' के नाम पर जिस प्रकार की भाषा राजनीतिक क्षेत्र में व्यवहृत हुई उसमें जान-बूझकर उर्दू से चुराए हुए अरबी-फारसी के शब्दों का अत्यधिक व्यवहार किया गया। उधर अँगरेजी के कोशों में 'हिंदुस्तानी' का भाषागत अर्थ उर्दू किया गया और उसे भारत के विजेता मुसलमानों की भाषा कहा गया। एक ओर तो तुर्कों ने 'तुर्की भाषा' से अरबी-फारसी का एक एक शब्द निकाल बाहर किया तथा ईरानियों ने देश की फारसी से विदेशी 'अरबी' शब्दों को देश-निकाला दे दिया और दूसरी ओर उर्दू से अरबी-फारसी के विदेशी शब्दों को निकालने का प्रयत्न न करके उलटे भारत की लोकभाषा 'हिंदी' में 'हिंदुस्तानी' नाम की आड़ में जान-बूझकर विदेशी शब्दों का आह्वान किया गया। इसी से इस प्रवृत्ति को कुछ लोगों ने 'देशद्रोह' कहा।

बाँगरू

पंजाब का दक्षिण-पूर्वी भाग 'बाँगर' कहलाता है। इस स्थान की भाषा 'बाँगरू' नाम से प्रसिद्ध है। इस भाषा में व्रजी, राजस्थानी और पंजाबी का मिश्रण पाया जाता है। इसी का नाम 'जाटू' भी है, बाँगरू की कुछ प्रवृत्तियाँ खड़ी बोली में भी मिलती हैं।

व्रजी

व्रजी का हिंदी में बहुत महत्त्व है। हिंदी का अधिकांश प्राचीन वाङ्मय व्रजी में है। पर व्रज की बोली से काव्य की भाषा कुछ भिन्न है। सामान्य काव्यभाषा के रूप में ही नहीं, शब्दसंग्रह में भी भेद हो गया है। काव्यभाषा में व्रज के ठेठ शब्द बहुत अधिक नहीं हैं; प्रत्युत अन्य प्रांतों के शब्दों का भी स्वतंत्रतापूर्वक ग्रहण होता है, शब्द ही नहीं प्रयोगों का भी। इसी से 'दास' ने कहा कि व्रजभाषा (काव्य-भाषा) का ज्ञान केवल व्रजवास से ही नहीं होता उसमें रचना करने-

वाले कवियों की रचना से भी होता है। प्रस्तुत प्रसंग में व्रजी से तात्पर्य 'बोली' से है, साहित्य की भाषा से नहीं। इसका विकास शौरसेनी प्राकृत और नागर अपभ्रंश से हुआ है।

कन्नौजी और बुँदेली

कन्नौजी भाषा इटावा से प्रयाग तक फैली है। इसमें गीतों तथा कुछ अन्य कविता का थोड़ा ही साहित्य है। यह व्रजी से बहुत मिलती-जुलती है। बुँदेली बुँदेलखंड तथा उसके आसपास की भाषा है। बुँदेली में कुछ साहित्य भी है। केशवदासजी ने वैसे ही बुँदेली-मिश्रित व्रजी में कविता की जैसे आगे चलकर कवियों ने अवधी-मिश्रित व्रजी में रचना की। केशवदास ने बुँदेली-मिश्रित व्रजी का आरंभ ही में ग्रहण किया। उनके पहले भी साहित्यनिर्माण के केंद्र बुँदेलखंड में कई राज्य थे। इसलिए बुँदेली के कुछ प्रयोग सामान्य काव्यभाषा के नाते अन्यत्र भी फैल गए। 'छूना' को बुँदेली में 'छीना' बोलते हैं। * कुछ शब्दों में 'उ' के स्थान पर 'इ' की यह प्रवृत्ति इसका भेदक लक्षण है; जैसे भूमना का भीमना। आयबी, जायबी, खायबी इत्यादि में 'बी' से अंत होनेवाला भविष्यत् का रूप इसमें चलता है, जो व्रजी ही क्या, तुलसीदास द्वारा अवधी में भी प्रयुक्त हुआ है।† 'सहित' के अर्थ में 'स्यों', जो केशव में बहुत मिलता है, इसी बोली का है और व्रजी में अन्य कवियों द्वारा भी समय समय पर व्यवहृत हुआ है।

पूर्वी हिंदी

पूर्वी हिंदी का विकास अर्धमागधी प्राकृत से हुआ। अर्धमागधी में शौरसेनी और मागधी दोनों की कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। पूर्वी हिंदी में व्रजी और बिहारी की भी विशेषताओं का समावेश है। इस पर ध्यान न रखने से कैसा भ्रम होता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण अभी थोड़े दिन हुए मिला था। जायसी की 'पद्मावत' और तुलसीदास का 'मानस' दोनों ही पूर्वी हिंदी अर्थात् अवधी में लिखे गए हैं। पश्चिमी और पूर्वी दोनों प्राकृतों की विशेषताओं से युक्त होने के कारण इनकी भाषा में व्रजी की भी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इससे धोखा खाकर हिंदी के एक पुराने वैयाकरण ने घोषणा की कि जिसे 'अवधी'

---

* घनआनँद कैसे सुजान हौ जू जेहि सूखत सीँ चि न छाँह छियो।

† ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई।

कहते हैं वह वस्तुतः 'व्रजी' ही है। इसके लिए उन्होंने उक्त ग्रंथों से व्रजी की विशेषताएँ छाँटकर दिखाई हैं। पर दोनों में सबसे स्पष्ट अंतर यह है कि 'ने' चिह्न का प्रयोग पूर्वी में होता ही नहीं, पश्चिमी अर्थात् व्रजी में होता है और कभी-कभी नहीं भी होता, खड़ी में अवश्य होता है।

पूर्वी हिंदी की अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी तीन शाखाएँ हैं। अवधी के भी दो भेद हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी अवधी ही मूल अवधी है, जो गोंडा फैजाबाद आदि पूर्वी प्रदेशों की बोलचाल है। पश्चिमी अवधी बैसवाड़े आदि पश्चिमी प्रदेशों में चलती है। यह व्रजी से पूर्वी की अपेक्षा अधिक प्रभावित है। तुलसीदास का 'मानस' पश्चिमी अवधी का रूप अधिक लिए हुए है। उनके रामललानहछू, जानकीमंगल और पार्वतीमंगल में पूर्वी का प्रयोग है। जायसी की 'पद्मावत' में पूर्वी का आधार विशेष है। यह भेद सर्वनाम के रूपों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पश्चिमी अवधी में शौरसेनी के अनुकूल ओकारांत रूप सो, जो, को चलते हैं, पर पूर्वी में मागधी के अनुकूल एकारांत रूप ते (से), जे, के। 'बघेली' अवधी ही है, थोड़ा उच्चारण का ही भेद दिखाई देता है। स्पष्ट अंतर केवल दो स्थानों में दिखाई पड़ता है। भूतकाल में बघेली में 'ते' का योग भी दिखाई पड़ता है, जैसे—तयँ या तैं रहे या रहते। भविष्यत् में 'ब' के स्थान पर 'ह' की प्रवृत्ति है; जैसे अवधी 'देखबौं' के स्थान पर बघेली 'देखिहौं'। इस प्रकार बघेली पश्चिमी अवधी के निकट है। 'छत्तीसगढ़ी' पर भी पास-पड़ोस की भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। अवधी के कुछ पुराने शब्द इसमें तो बने हैं, किंतु अवधी में सुनने को भी नहीं मिलते। एक उदाहरण लीजिए। जायसी ने 'पद्मावत' में चींटे-चींटी के अर्थ में 'चाँटा'-'चाँटी' का व्यवहार किया है—

नियरे दूर फूल जस काँटा। दूरि जो नियरे, जस गुड़ चाँटा॥

छत्तीसगढ़ी में 'चाँटा' 'चींटे' ही नहीं, 'चींटी' के लिए भी चलता है।

हिंदी की उपभाषाओं में भिन्नता

हिंदी के अंतर्गत जिन जिन भाषाओं का ग्रहण होता है उनका भेद समझ लेना चाहिए। सबसे पहले उर्दू और आधुनिक हिंदी (खड़ी बोली) को लीजिए। इन दोनों में संप्रति भेद यह है कि पहली विदेशी अरबी-फारसी लिपि में लिखी जाती है और दूसरी नागरी लिपि में। पहली में जिस प्रकार अरबी-फारसी के शब्दों का ग्रहण अधिक होता

है उसी प्रकार व्याकरण का बंधन भी विदेशी ही होता जा रहा है। दूसरी में स्वभावतः संस्कृत-शब्दों का ग्रहण अधिक हो रहा है, पर संस्कृत-व्याकरण का उतना प्रभाव नहीं पड़ रहा है। इसका कारण यह है कि उर्दू और हिंदी का मूल एक होते हुए भी, उर्दू ऐसों के बीच पलती रही जिनका अधिक संबंध अरबी-फ़ारसी से था और हिंदी उनके हाथों से सँवरती रही जिनका अधिक संबंध संस्कृत से। फल यह हुआ कि उर्दू में साहित्य का निर्माण अधिकांश क्या, पूर्णांश विदेशी संस्कृति से लद गया और हिंदी में संस्कृत लदते लदते भी लद तो न सकी, पर उसने भारतीय संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व हिंदी को अवश्य दे दिया। हिंदी में तो अरबी-फ़ारसी शब्दों का ग्रहण अब भी है, पर उर्दू से संस्कृत के शब्द चुन चुनकर निकाले गए और निकाले जा रहे हैं। प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में जैसी भाषा दिखाई पड़ी, हिंदीवालों ने उसका कभी विरोध नहीं किया, पर प्रेमचंद की जो रचना उर्दू में हुई उसमें संस्कृत के शब्दों का उसी अनुपात में क्या, एकदम व्यवहार नहीं है। हिंदी में संस्कृत से बने हुए अव्यय इधर अवश्य लिए गए; जैसे, येन केन प्रकारेण, अगत्या, फलतः, सर्वशः, किं बहुना आदि, किंतु संस्कृत के विभक्ति-चिह्न, उपसर्ग एवम् प्रत्यय की अधिकता नहीं हुई। उधर उर्दू में 'से' की जगह 'अज़' ने दखल जमाया। 'में' की जगह 'दर' या 'फ़ल' ने कदम रखे। 'का की के' आदि संबंधबोधक विभक्तियों की जगह 'ए' ने छीनी। इस प्रकार 'बनारस से', 'लखनऊ से' के बदले 'अज़ बनारस', 'अज़ लखनऊ' का शोर बढ़ा। 'असल में' को 'दर असल' होना पड़ा। इसे हिंदी की बोलचाल में अविभक्तिक समझकर लोग फिर से चिह्न लगाते और 'दर असल में' बोलते हैं। 'मकान-मालिक' या 'मकान का मालिक' 'मालिके मकान' बन बैठा। शब्दों का बहुवचन भी विदेशी रंगत में रँगा गया। 'खबर' का बहुवचन 'अखबार' हुआ और 'समाचार-पत्र' के अर्थ में चला, इसे हिंदी ने ग्रहण कर लिया, पर इसका बहुवचन उर्दू 'अखबारात' बनाती है और हिंदी 'अखबारों'। दोनों का वाक्य-विन्यास भी पृथक् पृथक हो गया है। मियाँ इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखते हुए यह प्रतिज्ञा की थी कि इसमें 'हिंदवी छुट और किसी बोली की पुट' न आने देंगे, पर फ़ारसी ढंग का वाक्य-विन्यास उनकी रचना में आ ही गया। उर्दू में विदेशी वाक्य-विन्यास बहुत चलता है। यह दो बातों में दिखाई पड़ता है; एक तो विशेषण या विशेषणवत प्रयुक्त वाक्य-खंड का न्यास

पीछे करने में, दूसरे वाक्य में कर्ता को क्रिया के पास बिठाने में। हिंदी में कहेंगे—'काशी में हिंदी की तीन पाठशालाएँ चल रही हैं'। उर्दू में यों भी बोलेंगे—'काशी में तीन पाठशाले (उर्दूवाले 'पाठशाला' को पुंलिंग ही बोलते या लिखते हैं) हिंदी के चल रहे हैं।' इसी प्रकार हिंदी में कहेंगे—'मैं ने आपके यहाँ से लाई हुई दोनों पुस्तकें पढ़ लीं' उर्दू में यों भी बोलेंगे—'दोनों किताबें, आपके यहाँ से लाई हुई, मैं ने पढ़ लीं।'

अब खड़ी बोली और व्रजी का भेद देखिए। ये दोनों ही पश्चिमी भाषाएँ हैं, अतः दोनों में बहुत अधिक समानता है। इन दोनों में 'ने' चिह्न चलता है। खड़ी बोली में तो अब 'ने' चिह्न अनिवार्य हो गया है, पर व्रजी में यह लुप्त भी रहता है। किंतु इसके अनुसार सकर्मक क्रिया के सामान्यभूत का रूप अर्थात् 'कर्मणि प्रयोग' ज्यों का त्यों रहता है; जैसे, 'उसने मिठाई खाई' (खड़ी), 'वाने मिठाई खाई' (व्रज); 'उसने देखा' (खड़ी), 'वाने देख्यो' या 'वा देख्यो' (व्रजी)। इन दोनों में शब्दों को दीर्घांत रखने की प्रवृत्ति है। भेद यही है कि खड़ी में आकारांत रूप होते हैं तो व्रज में ओकारांत। यह बात पुंलिंग संज्ञाओं, विशेषणों, सर्वनामों (संबंधकारक), साधारण क्रियाओं और भूत कृदंतों में स्पष्ट दिखाई देती है। जैसे—झगड़ा-झगड़ो, प्यारा-प्यारो, मेरा-मेरो, देना-देनो, खाया-खायो, जायगा-जायगो इत्यादि। इसी प्रकार 'इ' या 'उ' के अनंतर 'आ' का उच्चारण दोनों को सह्य नहीं—शृगाल = सियार = स्यार; केदार = किआर = कियार = कियारी (स्त्रीलिंग) = क्यारी; कुमार = कुवाँर = क्वारा। खड़ी के कालवाचक क्रिया-पद भूत या वर्तमान कालबोधक कृदंत के रूप हैं, अतः विशेषण हैं। केवल वास्तविक क्रिया 'है' होती है। इसी से उनमें लिंग-वचन के अनुसार रूप बदलते हैं—चलता, चलती, चलते अथवा गया, गई, गए। पर व्रजी में 'चलै, चलौ, चलौं' ऐसे तिङंत रूप भी होते हैं। खड़ी में केवल आज्ञा और विधि में ऐसे रूप दिखाई पड़ते हैं—चले, चलो, चलूँ, वर्तमानकाल में नहीं। सविभक्तिक बहुवचन में खड़ी 'ओं' प्रत्यय लगाती है और व्रजी 'न'; जैसे, घोड़ों को (खड़ी), घोड़ान को या घोड़न को (व्रजी)। करण या हेतुकारक में सविभक्तिक रूप खड़ी में साधारण क्रिया से बनता है—चलने से, पर व्रजी में भूतकालिक रूप से—'चलेतें'। साधारण क्रिया का रूप खड़ी में 'ना' से ही अंत होनेवाला (आना) होता है, पर व्रजी में—आवनो, आवन और आयबो तीन रूप होते हैं।

व्रजी का स्पष्ट भेदक लक्षण खड़ी की आकारांत पुंलिंग संज्ञाओं और विशेषणों का ओकारांत रूप है। पर आकारांत रूप भी अपवाद-स्वरूप मिलते हैं। वस्तुतः ये शब्द स्वार्थ में आकारांत प्रत्यय लगने से बने हैं। कारकचिह्न लगने से इनके रूप बदलते नहीं और न कभी ये ओकारांत ही होते हैं। वे प्रत्यय हैं 'रा' (खड़ी में 'ड़ा') और 'आ'। रा—हियरा, जियरा। आ—हरा, लला, भैया। क्रिया के विचार से खड़ी में लीजिए, दीजिए आदि रूप आज्ञा और विधि में ही आते हैं, पर व्रजी में ऐसे रूपों का व्यवहार वर्तमान और भविष्यत् में भी होता है। कारण यही है कि प्राकृत की परंपरा व्रजी में सुरक्षित है। प्राकृत में 'ज्ज' या 'ज्जा' से अंत होनेवाले क्रियापदों का व्यवहार विधि, वर्तमान और भविष्यत् तीनों में होता रहा है, कुछ वैयाकरण तो इस प्रत्यय का व्यवहार भूतकाल में भी मानते हैं अर्थात् एक प्रकार से वे सभी लकारों में इसका प्रयोग विहित ठहराते हैं।* व्रजी में 'जै' या 'ए' से अंत होने-वाले रूप तो मिलते ही हैं (शोभिजै, घोरिए आदि), 'यत' से अंत होनेवाले रूप भी मिलते हैं (मानियत, जानियत आदि), जिनमें 'त' वर्तमान का ही प्रत्यय है। व्रज में खड़ी के 'हो' धातु के भूतकाल के रूप ध्यान देने योग्य हैं। हुतो, हतो रूप तो चलते ही हैं, इनका घिसा रूप 'हो' भी चलता है, जो स्त्रीलिंग में 'ही' और बहुवचन में 'हे' हो जाता है। संयुक्त क्रिया के रूप में यह बुँदेली में 'तो, ते, ती, तीं' हो जाता है, 'ह' निकल जाता है। व्रजीकाव्य में इनका प्रयोग बुँदेली से ही आया है, ठीक वैसे ही जैसे उसके 'स्यों' (सहित के अर्थ में) और 'आयबी' 'जायबी' आदि भविष्यत्काल के 'बी' से अंत होनेवाले प्रयोग आए हैं।

अवधी के संबंध में कहा जा चुका है कि इसके पूरब-पछाहँ के विचार से दो भेद होते हैं और पछाहीं रूप व्रजी के निकट पड़ते हैं। पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं का स्पष्ट भेदक लक्षण सर्वनामों में दिखाई देता है, जिसे प्राकृत के वैयाकरणों ने भी निर्दिष्ट किया है। पश्चिमी भाषा में जहाँ एकवचन के रूप सो, जो, को आदि होते हैं वहाँ पूर्वी में

---

* वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा। वर्तमानाया भविष्यन्त्याश्च विध्यादिषु च विहितस्य प्रत्ययस्य स्थाने ज्ज ज्जा इत्येतावादेशौ भवतः। अन्ये त्वन्यासामपीच्छन्ति। होज्ज। भवति। भवेत्। भवतु। अभवत्। अभूत्। बभूव। भूयात्। भविता। भविष्यति। अभविष्यत् वेत्यर्थः।—हेमचंद्र।

से (ते), जे, के आदि। पश्चिमी अवधी पश्चिमी रूपों को भी ग्रहण करती है। कारकचिह्न लगने पर इसमें भी व्रजी की भाँति ताकर, जाकर, काकर रूप होते हैं। पर 'केर' चिह्न लगने पर पूर्वी अवधी की भाँति तेहिकेर, जेहिकेर, केहिकेर रूप होते हैं। यहाँ 'हि' विभक्ति लगने पर भी ते, जे, के ज्यों के त्यों हैं। कविता में 'तिहि, जिहि, किहि' रूप कवियों की कृपा है। पश्चिमी अवधी में व्रजी या खड़ी की भाँति 'न' से अंत होनेवाले साधारण क्रिया के रूप चलते हैं; जैसे, उठन, बैठन आदि, पर पूर्वी में 'ब' से अंत होनेवाले रूप उठब, बैठब इत्यादि हैं। कारकचिह्न या दूसरी क्रिया जुड़ने पर पश्चिमी अवधी में 'नांत' रूप बना रहता है; जैसे उठन काँ, बैठन माँ, चलन लाग, उड़न चहौ इत्यादि, पर पूर्वी में वर्तमानकाल का तिङंत रूप होता है; जैसे, उठै काँ, बैठै माँ, चलै लाग, उड़ै चहौ इत्यादि। पश्चिमी अवधी में अन्यपुरुष एकवचन की भविष्यत् क्रिया 'है' से अंत होती है; जैसे, उठिहै बैठिहै, चलिहै इत्यादि, पर पूर्वी में 'हि' से; जैसे, उठिहि, बैठिहि, चलिहि इत्यादि; इन्हीं के घिसे रूप 'उठी, बैठी, चली' हैं। 'ह' के हटने से बची हुई 'इ' से दीर्घ संधि हो गई है।

भूतकालिक क्रिया का आकारांत रूप अवधी की बोलचाल में दो स्थानों पर मिलता है एक तो उत्तमपुरुष बहुवचन (सकर्मक) में; जैसे हम खावा, हम दिहा इत्यादि और दूसरे अन्य पुरुष एकवचन (अकर्मक) पुंलिंग में; जैसे ऊ गवा, ऊ आवा इत्यादि। कविता में पुरुषभेदमुक्त रूप भी मिलते हैं; जैसे, मैं जो कहा रघुबीर कृपाला (उत्तमपुरुष), जो तुम कहा सो मृषा न होई (मध्यमपुरुष), कहा बालि सुनु भीरु पिय (अन्यपुरुष)। शुद्ध अवधी में क्रिया कर्ता के अनुसार ही चलती है। यहाँ तक कि लिंग और वचन भी उसी के अनुसार होते हैं। तुलसीदास और जायसी दोनों ने भूतकालिक क्रिया के कर्ता के लिए अकर्मक में तो पश्चिमी अवधी के जो, सो, को रखे हैं, पर सकर्मक क्रिया में एकवचन जेहि, तेहि, केहि और बहुवचन जिन, तिन, किन। एक एक उदाहरण लीजिए। तुलसीदास—(१) सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा, (२) तेहि तब कहा करहु जलपाना। जायसी—(१) जो जाकर सो ताकर भयऊ, (२) केइ यह बसत बसंत उजारा। कर्मणि प्रयोग के रूप में ही इनका ग्रहण समझना चाहिए। तेहि आदि के ये रूप वस्तुतः पूर्वी अवधी के न होकर अपभ्रंश के हैं और तृतीया की विभक्ति के साथ प्रयुक्त हैं। पछाहीं 'सो' आदि के बदले इनका

ग्रहण अवधी के मेल में अधिक दिखाई पड़ने के ही कारण किया गया जान पड़ता है। तुलसीदास और जायसी दोनों के ग्रंथों में कर्मणि प्रयोग के रूप देखकर ही एक प्रसिद्ध वैयाकरण ने अवधी को भी व्रजी ही मान लेने की घोषणा की थी और 'अवधी' नाम तक को व्यर्थ बतलाया था। बात यह है कि व्रजी बहुत दिनों से काव्यभाषा रही और हिंदी के कवि के लिए व्रजी के काव्य का अवलोकन सदा अपेक्षित रहा, अवधी में रचना करते समय इसी से व्रजी के प्रयोग भी वैसे ही आपसे आप या सुभीते के लिए गृहीत हो गए जैसे व्रजी में अवधी के प्रयोग सुभीते के लिए आगे चलकर गृहीत हुए। घनआनंद 'व्रजभाषा-प्रवीण' थे, पर अवधी के शब्द या क्रियापद उनकी रचना तक में जहाँ तहाँ मिलते ही हैं—'मोहिं तुम एक तुम्हैं मो सम अनेक आहिं'। बिहारी की भाषा बहुत साफ समझी जाती है पर उसमें आहि, जेहि, तेहि, जिमि, तिमि इत्यादि पूर्वी रूप तो मिलते ही हैं, 'चितई' का विलक्षण प्रयोग भी दिखाई पड़ता है—'चितई लल-चौहैं चखनि'। अब 'चितई' को या तो अकर्मक क्रिया का प्रयोग मानिए, या 'कहा' के स्थान पर 'कही' का जैसा स्त्रीलिंग प्रयोग व्रजी की बोलचाल में चलता है वैसा ही 'चितई' का भी समझिए अथवा यह कहिए कि यह पूर्वी है। उन्होंने 'लखना' क्रिया का भी ऐसा ही प्रयोग किया है—'पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसकाय'। पिछले काँटे 'रत्नाकर' जी ने सरस्वती से अपने को 'घनआनंद, बिहारी' बनाने की प्रार्थना ही नहीं की, बहुत कुछ वैसा ही बना भी डाला, पर उनकी रचना में पूर्वी प्रयोग भरे पड़े हैं। अवधी में व्रजी या खड़ी के भी जो प्रयोग मिलते हैं उनका कारण कवियों की स्वच्छंदता है। इतना अवश्य कहना पड़ता है कि तुलसीदास ने जितने पश्चिमी प्रयोग 'मानस' में रखे हैं जायसी ने 'पद्मावत' में उतने नहीं। जायसी ने अपने को कर्मणि प्रयोग से प्रायः बचाया है। तात्पर्य यह है कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन काव्यग्रंथों को हाथ में लेते समय सावधानी की आवश्यकता है।

खड़ी की भूतकालिक क्रिया में जहाँ य-श्रुति होती है वहाँ अवधी में व-श्रुति। इसी से खड़ी के पाया, आया, खाया का इसमें क्रमशः पावा, आवा, खावा होता है, कहीं कहीं ('जाना', 'होना' में) व-श्रुति भी नहीं होती, अतः गा, भा रूप भी हो जाते

हैं। * अवधी के भूतकालिक लध्वंत रूपों में पुरुष, लिंग, वचन से विकार नहीं होते—कीन्ह, दीन्ह, बैठ इत्यादि। कविता में कभी कभी लध्वंत रूप प्रत्यय नोचकर वर्तमान में भी रख दिया जाता है; जैसे, कइ दसकंध कौन तैं बन्दर। अवधी में ओकारांत रूप नहीं होते, इसलिए दीन्हेउ, गयउ इत्यादि रूप व्रजी के ही हैं, जिनका व्रजी के अनुकूल खिंचा रूप दीन्ह्यो, गयो इत्यादि होता है। जहाँ सकर्मक भूतकाल के पश्चिमी रूप लिए भी गए हैं वहाँ ओकारांत के स्थान पर आकारांत रूप ही रखे गए हैं; जैसे, फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा।

अवधी में संबंध के चिह्न ध्यान देने योग्य हैं। ये तीन हैं—कै, कर और केर। तुलसीदास ने कै या कइ का प्रयोग स्त्रीलिंग में करके इनमें लिंगभेद भी किया है। 'कर' का प्रयोग वस्तुतः सर्वनामों में होता है—जेकर, तेकर या जेहिकर, तेहिकर इत्यादि। पश्चिमी अवधी में 'केर' चलता है और उसमें स्पष्ट लिंगभेद है। बैसवाड़ी का य-श्रुति-युक्त रूप 'क्यार' इसी से बना है। इसके लध्वंत रूप ही अवधी के हैं। व्रजी का ओकारांत रूप 'केरो' बोलचाल में नहीं है, कविता में कहीं कहीं दिखाई पड़ता है। इसमें लिंगभेद प्राकृतकाल से ही होता आया है और यह संस्कृत 'कृत' या 'कृते से उद्भूत माना जाता है। काव्यग्रंथों में 'हि' या 'हिं' से युक्त रूप प्राकृत-अपभ्रंश की परंपरा के कारण मिलते हैं। हि, हिं या ह अपभ्रंश में षष्ठी की विभक्ति है जो सभी कारकों में आती है। यह 'ह' संज्ञाशब्दों से तो छूट गया, पर सर्वनामों में अभी तक चिपका है—अवधी, व्रजी, खड़ी तीनों में; जैसे, तेहिसन, इन्हें, उन्हें इत्यादि। यही बात क्रियाओं के 'हि' या 'हु' प्रत्यय की भी समझनी चाहिए। करिहहिं, करहु इत्यादि में पुराने रूपों की रक्षामात्र है, इनके बोलचाल के रूप करिहै, करौ इत्यादि ही होते थे। इन्हें करिहइ या करउ लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अवधी

---

* इधर खड़ी के गद्य में जाएँगे, आएगा, खाएगी इत्यादि के लिए जावेंगे आवेगा, खावेगी इत्यादि रूप अवधी के ही प्रभाव से चल पड़े हैं—शुद्ध खड़ी में पहले ही रूप चलते हैं। य-श्रुति के विशेष आग्रही और व्याकरण की एकरूपता के अत्यधिक पक्षपाती इन्हें जायँगे, आयेगा, खायेगी लिखेंगे। ऐसे रूप विधि और आज्ञा तथा भविष्यत् में ही चलते हैं जो अवधी के वर्तमान तिङंत के रूप हैं। खड़ी में भविष्यत् के 'गा' को हटाने से जो रूप बचता है वह वर्तमान का ही है।

में ऐ और औ का उच्चारण 'अइ' और 'अउ' ही होता है। पश्चिमी हिंदी की भाँति 'अय या अव' सा नहीं। पश्चिमी हिंदी (खड़ी और व्रजी) में केवल 'य' और 'व' के पहले इन संयुक्त स्वरों का मूल उच्चारण अब भी सुरक्षित है, पर पुस्तक पढ़कर भाषा का उच्चारण करनेवाले ऐसे स्थलों पर भी 'य' या 'व' श्रुतियुक्त ही उच्चारण करते हैं, जो बड़ा ही कर्णकटु होता है; जैसे, गैया या कन्हैया का उच्चारण गइया या कन्हइया न करके गयया या कन्हयया का सा करना अथवा कौवा या हौवा का उच्चारण कउवा या हउवा न करके कववा या हववा का सा करना। खिंचा उच्चारण करने से ही इनका 'व' हटकर 'अ' हो गया है। अब कौवा, हौवा ने वेश बदलकर कौआ, हौआ रूप धर लिया है क्योंकि दो 'व' के एक साथ उच्चरित करने में मुँह बनाना पड़ता है। पुस्तकी ज्ञानवाले तो 'गैया' या 'भैया' को भी गयआ या भयआ ही बोलने लगते हैं, पर लिखने में इन रूपों का चलन नहीं हुआ है। तुलसीदास ने इस उच्चारणभेद को प्रकट करने के लिए दोहे के तुकांत में गुरु-लघु का नियम तोड़कर 'बयन' 'नयन' रूप लिखे हैं। वहाँ 'य' 'ऐ' के य-श्रुति उच्चारण को व्यक्त करने के लिए है।*

शब्दरूप अवधी में प्रायः लध्वंत ही होते हैं और शब्द के मध्य में भी फैले रूप ही पाए जाते हैं, पश्चिमी की भाँति खिंचे नहीं। पश्चिमी का 'व्याह' अवधी में 'बियाह' हो जाता है (करिय बियाह सुता-अनुरूपा)। इसी प्रकार पश्चिमी में 'य' और 'व' की प्रवृत्ति है और पूर्वी में 'इ' और 'उ' की। खिंचाव और 'य' और 'व' की रुचि के कारण पश्चिमी में तो ह्याँ, ह्वाँ (यहाँ, वहाँ) रूप होते हैं और ढिलाव तथा 'इ' और 'उ' के अपनाव के कारण पूर्वी (अवधी) में इहाँ, उहाँ रूप चलते हैं। बिहारी ने तो एक ही पंक्ति में दोनों प्रकार के रूप रख दिए हैं—ह्याँ तें ह्वाँ ह्वाँ तें इहाँ नेकौ धरति न धीर। पश्चिमी के अनुसार 'ह्याँ' नहीं तो 'इहाँ' को यहाँ तो लिखना ही चाहिए। यही स्थिति क्रियापदों की है। व्रजी में 'य' और अवधी 'इ' ही चलता है; जैसे, व्रजी में आय, जाय; आयहै, जायहै (अथवा ऐहै, जैहै; उच्चरित रूप अयहै, जयहै) और अवधी में आइ, जाइ; आइहै, जाइहै (अथवा ऐहै, जैहै; उच्चरित रूप अइहै, जइहै)। व्रजी के काव्य मे भी जो 'इ' वाले रूप मिलते हैं उनका कारण पुरानी कविता में तो

---

* एहि बिधि पूँछहिं प्रेम बस पुलक गात जल नयन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहि कहि बिनीत मृदु बयन॥ मानस, २।११२

व्यक्त ध्वनियों से भी उस क्रिया में सहायता मिली और अंत में लिखित भाषा का उद्भव हुआ। भाषा का आरंभ शब्दों से नहीं हुआ, वाक्यों से हुआ। भाषा की युति (यूनिट) वाक्य ही है। शब्द, प्रत्यय, अक्षर आदि रूपों में उसके भेद सुभीते के लिए कर लिए गए हैं। जहाँ एक 'शब्द' ही प्रयुक्त होता है और किसी भाव या विचार को वहन करता है वहाँ वह वाक्य ही होता है, बिना भाव या विचार के वह कोई प्रयोजनीय अर्थ नहीं रख सकता। बच्चा जिस समय पूरा अर्थबोधक वाक्य न कहकर केवल एक शब्द ही कहता है उस समय वह पूरे वाक्य के प्रतिनिधि के रूप में ही उस शब्द का उच्चारण करता है। 'पानी' मात्र कहने से उसका तात्पर्य 'पानी पिलाओ' ही होता है। 'म्याऊँ' कहकर वह यह बताता है कि 'बिल्ली म्याँव म्याँव कर रही है'।

ईश्वर ने वाणी की अद्भुत और अमोघ शक्ति मनुष्य को दी है और उसने उसका विस्तार करके यह प्रमाणित कर दिया है कि ज्ञानवान् मनुष्य ने उसके दान का समुचित सदुपयोग किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बोलने की शक्ति ईश्वरप्रदत्त है और भाषा का निर्माण मनुष्य-समाज ने किया है। पर धार्मिक दृष्टि से अनेक धर्मवाले भाषा को भी ईश्वर की देन समझते आते हैं। भाषा-विज्ञानी ऐसा नहीं मानते। वे यही मानते हैं कि भाषा क्रमशः चेष्टा और ध्वनि के अनंतर विकसित हुई है। यह आज संसर्ग से अर्जित की जाती है। भाषा का व्यवहार करनेवालों के बीच से हटाकर यदि कोई बच्चा जंगल में रख दिया जाय तो बड़ा होने पर भी वह या तो कुछ बोल ही न सकेगा और यदि बोलेगा भी तो प्रत्येक पदार्थ या विषय के लिए वह नई संकेत-ध्वनि बनाएगा। बच्चा अनुकरण से ही भाषा सीखता है। वह किस प्रकार संकेतग्रह करता है और किस प्रकार प्रत्येक पदार्थ (व्यक्ति) और क्रिया का पृथक् पृथक् बोध करता रहता है इस पर संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों में बहुत अधिक शास्त्रार्थ हुआ है। ठीक इसी प्रकार इस पर भी विचार किया गया है कि शब्द को अर्थ की प्राप्ति किस प्रकार होती है, शब्द नित्य है या अनित्य आदि। स्फोटवाद का व्याकरण में विशेष महत्त्व माना गया है, जिसके अनुसार शब्द नित्य है और शब्द का अर्थ से नित्य संबंध है। किसी भी शब्द (ध्वनि) से कोई भी अर्थ लिया जा सकता है। यह व्यवहार करनेवाले और समझनेवाले की स्वीकृति पर आश्रित है।

जो शब्दसंपत्ति भाषा के रूप में पूर्वजों द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है या होती है उसमें शब्दों का संचय और किसी विशेष ध्वनि से किसी अर्थ का संबंध किस प्रकार आरंभ में स्थापित हुआ इस पर यास्क ने विचार करके बताया कि शब्दों के मूल में धातु हैं और इन्हीं धातुओं से क्रमशः शब्दराशि एकत्र हुई है। जिस प्रक्रिया से धातु का आदिम उद्भव समझाया जाता है उससे सभी बातों का उत्तर आधुनिक भाषाविज्ञानी को नहीं मिलता। अतः उनके लिए वह अन्य कारणों की खोज करता है। मोक्षमूलर ने शब्दों की आदि-निर्मिति के लिए कई प्रकार की प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। ये मुख्यतः चार हैं—(१) अनुध्वनिमूलक या 'बाउ-बाउ' का सिद्धांत; जैसे 'कौवा' बोला होगा 'का का' और उसका नाम रख लिया गया होगा 'काक'। (२) मनोवेगमूलक या 'पूह् पूह्' का सिद्धांत; इसके अनुसार धिक् धिक् या छी छी, ओ हो आदि मनोभावव्यंजक शब्दों की उत्पत्ति हुई। (३) प्रभावमूलक या 'डिंग-डैंग' का सिद्धांत; आरंभ में कुछ पदार्थों या स्थितियों ने मनुष्य पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह सहसा कुछ ध्वनि कर बैठा, चमचम, दमदम आदि शब्द इसी कोटि के हैं। (४) श्वास-प्रश्वासमूलक या 'यो-हे-हो' का सिद्धांत; कोई भारी वस्तु उठाते हुए श्रमजीवी श्रम को हलका करने के लिए कुछ ध्वनियाँ किया करते हैं; जैसे, पत्थर ढोनेवाले कहते हैं 'छमाना छे'। इस ढर्रे पर भी बहुत से शब्दों का निर्माण हुआ होगा। स्वीट महोदय ने इसी आधार पर अनुकरण, भावाभिव्यंजन और संकेत या निर्देश तीन को शब्दों का उत्पादक माना है।

विकास-क्रम से जब भाषा बन जाती है और लोक उसका शासन भली भाँति करने लगता है तब व्याकरण से उसकी व्यवस्था होती है। व्याकरण उसका अनुशासन करता है। शब्दभेद आदि का निरूपण व्याकरण द्वारा होता है। वह केवल भाषा का साधु प्रयोग बताता है। वह यह नहीं बताता कि ऐसे रूप क्यों होते हैं, इनके बनने का कारण क्या है आदि आदि। निर्वचन या निरुक्त में शब्दों के मूल, उनके अर्थ, अर्थांतर, कारण आदि का भी विचार होता है। अतः एक प्रकार से आधुनिक भाषाविज्ञान में निरुक्त की ही विकसित प्रक्रिया दिखाई देती है। यह कहा जा चुका है कि निरुक्त में भारतीय आचार्य यास्क ने धातु को ही मूल माना है। उसमें शब्द के रूप और अर्थ दो बातों का विचार किया है। रूप के विचार में बताया गया

है कि धातु से शब्द किस प्रकार बनते हैं और उन्हें किस विधि से कोई रूप मिलता है। जहाँ किसी धातु से शब्दरूप न मिले वहाँ वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार और वर्णनाश के अनुसार विचार करना चाहिए और धातु के मूल अर्थ से दूसरे अर्थ में शब्द मिले तो उस धातु में अर्थातिशय का योग मानना चाहिए। इस प्रकार निरुक्त पाँच प्रकार का माना गया है।*

शब्द में एक तो उसका अर्थ होता है और दूसरे उसकी ध्वनि। अतः आधुनिक भाषाशास्त्र के अर्थविचार और ध्वनिविचार दो प्रधान अंग हैं। ध्वनि से ही शब्द के रूप का भी संबंध है। अतः शब्द का रूपविचार भी उसका एक अंग है। शब्द के रूपों का संघटन वाक्य में होता है और उससे भाषा की पूर्णता का आभास मिलता है। इससे वाक्यविन्यास भी भाषा का प्रयोजनीय अंग हुआ, अतः इसका एक अंग वाक्यविचार भी है। शब्दों के निर्माण के भीतर प्राचीन इतिहास की सामग्री भी पड़ी है, इस पर भी भाषाविज्ञानी विचार करते हैं, अतः प्राचीन शोध भी भाषाविज्ञान का एक अंग है। इस प्रकार संप्रति भाषाविज्ञान के पाँच अंग माने जाते हैं—अर्थविचार, ध्वनिविचार, रूपविचार, वाक्यविचार और प्राचीन-शोधविचार।

अर्थविचार

भाषा में एक तो कुछ ध्वनियाँ होती हैं जिनका उच्चारण किया जाता है और दूसरे उनमें कुछ अर्थ रहता है जिससे वक्ता का प्रयोजन होता है। उच्चारण और अर्थ इन दोनों में से उच्चारण का संबंध शरीर या मुख्यतः जीभ से है और शब्द जिन अर्थों का बोध कराते हैं उनका संबंध मन या मस्तिष्क से है। ध्वनियों का परिवर्तन देश की स्थिति से संबंध रखता है, अर्थात् वह बहुत कुछ भौगोलिक है। किंतु अर्थ का संबंध मन से है इसलिए वह मानसिक है। ध्वनिपरिवर्तन का मूल कारण इस प्रकार शारीरिक और भौगोलिक ठहरता है और

---

* वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥
वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः।
षोडशादौ विकारः स्याद्वर्णनाशः पृषोदरे॥
वर्णविकारनाशाभ्यां धातोरतिशयेन यः।
योगः स उच्यते प्राज्ञैर्मयूरभ्रमरादिषु॥

अर्थपरिवर्तन का मूल कारण मानसिक और वैयक्तिक। मस्तिष्क में जितने संस्कारों की छाप पड़ी रहती है वे एक-दूसरे से संलग्न होकर अर्थभेद उत्पन्न करते हैं। मनुष्यों का समूह इस प्रकार के परिवर्तनों को स्वीकृत करता चलता है इसलिए ये बने रहते हैं। बहुत से शब्द विशेष समय या घटनाओं के द्योतक होते हैं और चल पड़ा करते हैं। 'टंक' और 'छतरी-सेना' ऐसे शब्द आधुनिक युद्ध के कारण प्रचलित हो गए हैं।

बौद्धिक नियम

अर्थपरिवर्तन में बुद्धिव्यापार किस प्रकार प्रवर्तित होता है, अर्थात् उसके नियम क्या हैं, इस पर विचार करने की आवश्यकता है। परिवर्तन में बहुत बड़ा प्रभाव साम्य का दिखाई देता है। पहले इसके लिए 'मिथ्या साम्य' शब्द का व्यवहार होता था, परंतु अब 'मिथ्या' शब्द फालतू समझा जाता है। संस्कृत का द्विवचन साम्य के कारण व्यापक होते होते, अंत में उठ ही गया। आरंभ में एक प्रकार के या परस्पर विरोधी जोड़ों के लिए इसका व्यवहार होता था; जैसे नेत्रे, कर्णौ, हस्तौ, पादौ, पितरौ, भ्रातरौ, रामलक्ष्मणौ, सुखदुःखे, लाभालाभौ, जयाजयौ* आदि। आगे चलकर सिंहशृगालौ, वराहमहिषौ, शुकपिकौ, काककूर्मौ की नौबत पहुँची। फिर यह किन्हीं दो के लिए प्रयुक्त होने लगा। प्राकृत आदि में यह व्यर्थ समझा जाकर छोड़ दिया गया, बहुवचन से ही काम चलने लगा। साम्य से कैसे कैसे शब्द बन जाते हैं, इसके उदाहरण लीजिए। संस्कृत में रक्त से रक्तिमा, नील से नीलिमा आदि शब्द चलते हैं, जिनमें 'इमा' (इमनिच्) प्रत्यय लगा है। हिंदीवालों ने 'लाल' (फारसी) से 'लालिमा' ही नहीं, हरित से 'हरीतिमा' भी बना ली। 'हरित' 'हरीत' हुआ और फिर उसमें 'इमा' प्रत्यय लगाया गया। इसका ठीक रूप हरिमा है जिसका अर्थ हरा और पीला दोनों है। मुखसुख और मनसुख के कारण संकरता उत्पन्न होती है। 'मानस-सरोवर' का 'मानसरोवर' इसी प्रकार हुआ है। मिलती-जुलती ध्वनिवाले शब्दों में प्रायः भ्रम हो जाता है। 'विकास' ('वृद्धि' या 'फैलाव' अर्थ) के लिए 'विकाश' ('प्रकाश' के भाई) का प्रयोग हिंदी में प्रायः होता है। 'बाह्य' (बाहरी) के लिए वाह्य (ढोने योग्य) खूब चलता है। संस्कृत में इस पर एक श्लोक ही

* सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।—गीता।

है।* इसमें बताया गया है कि तालव्य 'श' और दंत्य 'स' के भेद से एक ही आकार-प्रकार के शब्दों में बहुत बड़ा अंतर हो जाता है। जैसे 'स्वजन' का अर्थ है 'अपना व्यक्ति', 'पति' या 'कुटुंबी' (इसी से हिंदी का 'सजन' या 'साजन' बना), पर 'श्वजन' का अर्थ है 'चांडाल'; इसी प्रकार 'सकल' (सब) और 'शकल' (टुकड़ा), 'सकृत्' (एक बार) और शकृत् (पुरीष, मल)। वाक्यों में भी ऐसा व्यतिक्रम होता है; जैसे, 'मोहन, तुम और कृष्ण जाओ'। यहाँ 'जाओ' का संबंध 'तुम' से है, मोहन और कृष्ण से नहीं। शब्दों के अर्थ (लिंग आदि) में विकार या परिवर्तन पहले किसी एक ही व्यक्ति से होता है किंतु अधिक या बड़े लोग जिसका व्यवहार करने लगते हैं वह मान्य हो जाता है। हिंदी में संस्कृत-शब्दों का लिंग-परिवर्तन इसी प्रकार मान्य हो गया है। 'सुंदर' से बना 'सौंदर्य' तो पुंलिंग है पर 'समर्थ' से बना 'सामर्थ्य' स्त्रीलिंग में ही चलता है। जन या लोग अर्थ में 'व्यक्ति' को पुंलिंग हुए अभी कुछ वर्ष ही हुए हैं। संस्कृत में यह स्त्रीलिंग है, 'अभि-व्यक्ति' का प्रयोग 'अभि' की अगाड़ी के साथ स्त्रीलिंग में बना ही है। 'आत्मा' 'अग्नि', 'वायु' संस्कृत में पुंलिंग हैं। मुसलमानों के संसर्ग से रूह, आतिश और हवा के मेल में आकर ये बहुत पहले स्त्रीलिंग हो गए। कुछ लोगों ने इन्हें पुंलिंग करने की वीरता भी दिखाई, पर अब तक ये स्त्रीलिंग ही हैं।

इस प्रकार यह व्यक्तिगत जान पड़ता है, पर व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य स्थितियाँ भी परिवर्तन में सहायता करती हैं। जब कोई शब्द एक भाषा से दूसरी भाषा में पहुँचता है तब भी अर्थ में परिवर्तन हो जाया करता है। अरबी में 'किवाम' शहद की तरह गाढ़ी मीठी चटनी को कहते हैं, हिंदी में 'किमाम' सुरती का ही होता है। अरबी में 'जुर्राफ' एक पशु होता है पर व्रजभाषा के कवि उसको पक्षी ही मानते रहे हैं।† तुरकी में 'उजबक' तातारी को कहते हैं, पर हिंदी में

---

* यद्यपि बहु नाधीषे पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलः शकलः सकृच्छकृत्॥

† मिलि बिहरत बिछुरत मरत दंपति अति रसलीन।
नूतन बिधि हेमंत की जगत जुराफा कीन॥—बिहारी।
जगत जुराफा ह्वै जियत तज्यो तेज निज भानु।
रूसि रहे तुम पूस में यह धौं कौन सयानु॥—पद्माकर।

उसका अर्थ है 'उजड्ड'। फारसी में 'शेर' 'सिंह' के लिए आता है, हिंदी में 'बाघ' के लिए। अँगरेजी में 'रेल' 'पटरी' को कहते हैं, हिंदी में 'गाड़ी' को। विजातीय ही नहीं सजातीय भाषाओं में भी यदि कोई शब्द यात्रा करता है तो भी अर्थांतर हो जाया करता है। संस्कृत का 'बाटिका' शब्द हिंदी के 'बाड़ी (फुलवाड़ी) या 'बारी' (आम की बारी) में मूल अर्थ को बनाए हुए है। पर बँगला में 'बाड़ी' का अर्थ है 'घर' और मराठी में 'बाड़ा' का अर्थ है 'मुहल्ला'; 'आश्रयस्थान' या 'धर्मशाला'। हिंदी में 'बाड़ा' पशुओं का होता है। हिंदी में 'बेटा' प्यार की बोली है। पर वय में छोटे बंगाली को भी यदि 'बेटा' कहकर पुकारिए तो आपका सिर तोड़ देगा। वृक्षों और पशुओं के नाम में विशेष परिवर्तन हुआ करता है। यही अवस्था रंग और स्वाद की भी है। 'नील' का अर्थ हिंदी-कविता में 'काला' भी लिया जाता है। * संस्कृत 'कटु' से हिंदी का 'कडुवा' या 'कडुआ' (कड़वा) बना। पर हिंदी में 'कडुआ' (कड़वा) का अर्थ वही है जो संस्कृत में 'तिक्त' का। हिंदी का 'तीता' 'तिक्त' से बना, पर इसका अर्थ वही है जो संस्कृत के 'कटु' का। परिस्थिति के कारण भी अर्थांतर हुआ करता है। 'पत्ता' शब्द 'पान' के खेल में जो अर्थ व्यक्त करता है वही 'पान-पत्ता' कहने पर नहीं।

शब्दशक्ति

भारतीय शास्त्र में 'शब्दशक्ति' के नाम से 'अर्थप्रक्रिया' का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। उसमे अर्थ का विस्तार करते हुए बताया गया है कि शब्द से अर्थ का कई प्रकार का संबंध होता है। एक तो शब्द और अर्थ का साक्षात् संबंध होता है। किसी शब्द के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है उस अर्थ (वस्तु) के किसी के द्वारा प्रत्यक्ष दिखाए जाने पर दोनों का संबंध जान लेते हैं। आगे चलकर कोश-व्याकरणादि की सहायता से भी जिस अर्थ का ज्ञान किसी विशेष शब्द के लिए होता है वह भी साक्षात् संकेतित ही होता है। यही किसी शब्द का 'मुख्यार्थ' कहलाता है। इसका ज्ञान जिस शक्ति के

* वस्तुतः कृष्ण और नील की एकता के कारण कवि लोग हैं। कवि-समय में अन्य वर्णों की भी एकता मानी गई है—कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शक्लगौरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कविसमयः।—राजशेखर।

द्वारा होता है उसे 'अभिधा' नाम दिया गया है। मुख्यार्थ का दूसरा नाम इसी शब्द के आधार पर 'अभिधेयार्थ' भी है। उसका तीसरा नाम 'वाच्यार्थ' भी रखा गया है। जिस शब्द के द्वारा इस अर्थ का बोध होता है वह 'वाचक' कहलाता है। पर बहुत से ऐसे शब्द भी होते हैं जिनका आकार-प्रकार एक होता है, पर अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं। ऐसे शब्दों के प्रसंगप्राप्त अर्थ के ज्ञान में अभिधा सहायक होती है। पर किसी विशेष अर्थ का बोध अनेक विधियों से होता है; जैसे, ऊपर 'पत्ता' शब्द भिन्न भिन्न प्रसंगों या प्रकरणों में भिन्न भिन्न अर्थ का बोध कराता है। ये विधियाँ अनेक मानी गई हैं—संयोग विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यशब्दसंनिधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि।* उदाहरण लीजिए—यदि कहा जाय कि 'शंख चक्र पद्म गदा धारी हरि दिखाई पड़े' तो 'हरि' शब्द का इस वाक्य में 'शंख चक्र' आदि के संयोग से 'विष्णु' ही अर्थ किया जायगा। 'हरि' शब्द के 'बंदर' आदि जो अन्य अनेक अर्थ होते हैं वे यहाँ न लगेंगे। अतः अनेक अर्थ रखनेवाला 'हरि' शब्द यहाँ 'संयोग' के द्वारा 'विष्णु' अर्थ में नियंत्रित हो गया। यदि कहा जाय कि 'ये शंख चक्र आदि से हीन हरि हैं' तो 'हरि' शब्द का अर्थ 'शंख चक्र' के विप्रयोग या वियोग से 'इंद्र' होगा। 'राम और कृष्ण का कुशल-समाचार पाकर लोग सुखी हुए' कहने पर 'राम' शब्द का अर्थ 'बलराम' करना पड़ेगा। 'कृष्ण' के साहचर्य से यहाँ 'राम' का अर्थ 'परशराम' या 'दशरथपुत्र राम' नहीं हो सकता। 'रामरावण में प्रचंड युद्ध हुआ' कहने से 'राम' शब्द का अर्थ, 'रावण' के साथ प्रसिद्ध विरोध होने से, 'दशरथपुत्र राम' ही करना होगा। 'अर्थ' का अर्थ है 'प्रयोजन'। 'मोक्ष के लिए हरि की स्तुति करनी चाहिए' कहने से 'हरि' शब्द का अर्थ 'विष्णु' लेना होगा। यहाँ 'मोक्ष' 'प्रयोजन' के कारण 'हरि' का यही अर्थ लगाना पड़ता है। किंतु 'हरि हितसहित राम जब जोहे। रमासमेत रमापति मोहे—(मानस)' कहने पर 'हरि' शब्द का अर्थ 'प्रकरण' के कारण 'घोड़ा' करना होगा। क्योंकि

---

* संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥—भर्तृहरि।

राम 'विवाह' करने के लिए जा रहे हैं और अन्य राजकुमार भी घोड़े पर सवार हैं। इस 'विवाह-प्रकरण' से यही अर्थ नियंत्रित होता है। 'मकरध्वज कुपित हो गया' कहने से 'मकरध्वज' का अर्थ 'कामदेव' करना पड़ता है, 'समुद्र' नहीं। क्योंकि 'कोप' काम का 'लिंग' अर्थात् 'चिह्न' है, समुद्र का नहीं हो सकता। 'करि-कर सरिस सुभग भुजदंडा' में 'कर' शब्द का अर्थ 'करि' की समीपता (अन्यशब्दसंनिधि) से 'सूँड़' ही करना पड़ता है। 'मधु से कोकिल मतवाला हो गया' में 'मधु' शब्द का अर्थ 'वसंत' है। क्योंकि वसंत में ही कोकिल को मतवाला करने की सामर्थ्य है। 'बिनु हरि-भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल' में हरि शब्द का अर्थ 'भव से तारने' के 'औचित्य' से 'विष्णु' ('राम') ही होगा। 'आकाश में घनश्याम की छाई छटा' में 'घनश्याम' शब्द का अर्थ आकाश 'देश' के कारण 'बादल' ही होगा। 'प्रलय में हरि ही बचते हैं' कहने से 'हरि' का अर्थ प्रलय 'काल' के निर्देश से 'विष्णु' ही होगा। 'हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखैं ते राँड़े' में 'पति' शब्द स्त्रीलिंग होने से 'प्रतिष्ठा' ही अर्थ देगा। 'व्यक्ति' का अर्थ 'लिंग' (स्त्रीलिंग, पुंलिंग) है। 'स्वर' का प्रयोग वेदों में होता है।* 'आदि' के अंतर्गत 'अभिनय' और 'उपदेश' का ग्रहण किया गया है। किसी बात को कहते समय हाथ, मुख आदि की चेष्टाओं से भी किसी अर्थ का निर्णय होता है। यही 'अभिनय' है। 'इती बड़ी है देहरी इते बड़े हैं द्वार' कहते समय 'देहली' की छुटाई व्यक्त करने के लिए हाथ की पाँचों उँगलियों को एकत्र करने की मुद्रा दिखाना और 'इते बड़े' पद के साथ उँगलियों को फैलाकर 'द्वार' का बड़ा होना बताना देखा जाता है।† कोई वस्तु लेकर उसे दिखाते हुए किसी अर्थ का बोध कराना 'उपदेश' है।

---

* संस्कृत में 'इन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' का आख्यान प्रसिद्ध है। 'इंद्रशत्रु' के स्वरभेद से दो अर्थ होते हैं—'इंद्ररूपी शत्रु' और 'इंद्र है शत्रु जिसका'। वृत्र के पुरोहित ने स्वर बदल दिया जिससे दूसरा अर्थ हो गया और वह मारा गया। बनारसी बोली में स्वरफेर से अर्थभेद होता है। 'उठ्' कहने से संबोधित व्यक्ति के प्रति अनादर या छुटाई का भाव प्रकट होता है, पर 'उठ' कहने से आदर, प्रेम या बड़प्पन का भाव।

† मिलाइए 'बहवोऽर्था गम्यन्ते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च'।

—महाभाष्य।

जहाँ मुख्यार्थ इन नियामकों के द्वारा भी प्रसंगानुकूल नहीं होता वहाँ दूसरी ओर शक्ति द्वारा शक्य संबंध से अभिप्रेत (संभावित) अर्थ का ग्रहण होता है। इस शक्ति का नाम 'लक्षणा' है, इससे निकलनेवाला अर्थ 'लक्ष्य' होता है और जिस शब्द से यह अर्थ निकलता है उसे 'लक्षक' कहते हैं। लक्षणा के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं (१) मुख्यार्थ का बाध, (२) दूसरे अर्थ का मुख्यार्थ से योग (जुड़ा होना) और (३) पारंपरिक रूढ़ि या किसी विशेष प्रयोजन के कारण उस अर्थ का निकलना। वस्तुतः तीसरी शर्त 'प्रयोजन' ही है। कुछ स्थानों पर प्रयोजन तक जाने की आवश्यकता नहीं रहती, इसका कारण यही होता है कि बहुत दिनों से वैसा प्रयोग होते होते 'रूढ़ि' बँध जाती है और वैसे प्रयोगों से तुरंत संभावित अर्थ निकल आता है; जैसे 'बनारस धार्मिक है', 'कानपुर व्यापारी है', 'लखनऊ चिकनिया है।' आदि प्रयोगों में 'नगरों' का व्यवहार 'नगरवासियों' के अर्थ में किया गया है। ऐसा प्रयोग करने की रूढ़ि पड़ गई है। यहाँ 'नगरवासियों' के लिए 'नगरों' का प्रयोग वस्तुतः 'समस्तता' को व्यक्त करने के प्रयोजन से होता है, पर यह प्रयोजन रूढ़ि के कारण दब गया है। प्रयोग की बहुलता से नौबत यहाँ तक पहुँचती है कि लक्ष्यार्थ को लेकर लक्षक रूप में जिन शब्दों का व्यवहार कभी चला था वे वाचक का ही काम देने लगते हैं; जैसे, 'कुशल' शब्द का प्रयोग पहले ऐसे व्यक्ति के लिए होता था जो कुशों को काट लाता था। कुशों में इतना चोखापन होता है कि चूकते ही उँगली चिर जाती है। अतः काटते समय सावधानी अपेक्षित होती है। इसी लिए 'कुशल' शब्द का प्रयोग 'चतुर' के लिए भी होने लगा। अब 'कुशल' शब्द कहते ही 'चतुर' अर्थ वाच्य के रूप निकल आता है। ऐसे शब्दों को 'लक्षक' कहना और इनमें 'रूढ़ि' को लक्षणा का हेतु मानना इसी से कोई कोई ठीक नहीं मानते। उनके अनुसार प्रयुक्त शब्द में यह जानने की आवश्यकता होती है कि उसके किसी अर्थ में प्रयोग करने का हेतु कोई है या नहीं। प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त दूसरा होता है और प्रवृत्ति का निमित्त दूसरा। यदि शब्द किस प्रकार बना है इसे सोचकर उसके प्रयोग में गृहीत अर्थ का विचार करने लगेंगे तो बड़ी कठिनाई होगी। * 'दुहिता' शब्द पुत्री के लिए आता है। जो गृहस्थी में दुहने का काम करती थी उसे 'दुहिता' कहते थे। अब

* देखिए 'साहित्यदर्पण'।

यदि 'जलपान' लानेवाली पुत्री को कोई 'दुहिता' कहे तो यहाँ 'लक्षणा' नहीं हो सकती। क्योंकि 'दुहिता' शब्द का अर्थ (मुख्यार्थ) 'पुत्री' हो गया। इसलिए 'कुशल' की भाँति 'प्रवीण', 'उदार', 'द्विरेफ' आदि शब्दों में लक्षणा न होगी।

कहीं तो मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ के साथ लगा रहता है और कहीं नहीं। पहले प्रकार को अजहत्स्वार्था या अजहल्लक्षणा कहते हैं और दूसरे प्रकार को जहत्स्वार्था या जहल्लक्षणा। 'जहत्' का अर्थ है 'त्यागना'। इन्हीं का नाम क्रमशः उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा है। 'जब से ये चरण आए तब से यहाँ का महत्त्व बढ़ गया' में 'चरण' का अर्थ 'पैर' है, किंतु 'चरण में 'महत्त्व' लाने की शक्ति नहीं, अतः मुख्यार्थ का बाध हुआ। फिर 'चरण' का अर्थ 'चरणवाला' करने से अर्थ संगत निकल आया। 'चरण' और 'चरणवाले' में अवयवावयवी-संबंध है। 'चरणवाले' के स्थान पर 'चरण' कहने में उसका बड़प्पन बतलाना प्रयोजन है। 'चरणवाला' अर्थ निकलने पर 'चरण' का अर्थ भी उसमें चिपका हुआ है। अतः लक्ष्यार्थ में मुख्यार्थ का भी 'उपादान' होने से यहाँ उपादान-लक्षणा हुई। 'बीच बास करि जमुनहिं आए' में 'जमुनहिं' का अर्थ 'यमुना नदी की धारा में' होता है। पर धारा में जा खड़ा होना संगत नहीं, अतः 'जमुना' का अर्थ 'यमुनातट' करना पड़ता है। यह अर्थ सामीप्य-संबंध से होता है। यहाँ 'जमुना' (धारा) ने अपना अर्थ एकदम त्याग दिया। धारा 'तट' लक्ष्यार्थ का उपलक्षण मात्र है। ऐसा कहने का प्रयोजन 'ठंढी वायु में पहुँचना' आदि है। 'उपलक्षण' के कारण इसे 'लक्षण-लक्षणा' कहते हैं। 'कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परतिय चोरी' में 'धर्मशीलता' का अर्थ 'अधर्मशीलता' है, क्योंकि 'धर्मशीलता' और 'पराई स्त्री चुराना' में समन्वय नहीं होता। यहाँ 'विपरीतता' के संबंध से ऐसा अर्थ किया गया है और अधर्मशीलता की 'अधिकता' बताना प्रयोजन है। 'धर्मशीलता' शब्द 'अधर्मशीलता' का उपलक्षण है, अतः यहाँ भी लक्षण-लक्षणा ही है। 'विपरीत' संबंध से लक्ष्यार्थ का बोध होने के कारण इसे 'विपरीत-लक्षणा' भी कहते हैं।

कहीं तो सादृश्य के कारण मुख्यार्थ के लिए लक्ष्यार्थ गृहीत होता है और कहीं सादृश्य के अतिरिक्त अन्य कारण से भी। पहली विधि को 'गौणी' और दूसरी को 'शुद्धा' कहते हैं। 'मुखकमल समीप सजे थे दो किसलय से पुरइन के' में 'मुख' को 'कमल' कहा गया है। 'मुख'

'कमल' नहीं हो सकता, पर प्रफुल्लता आदि गुणों के कारण 'मुख' को 'कमल' कहा गया है। यहाँ 'कमल' का मुख्यार्थ है 'पुष्प विशेष', पर लक्ष्यार्थ है प्रफुल्लता, कोमलतादि गुणयुक्त वस्तु। सादृश्य-संबंध से ही ऐसा अर्थ किया जाता है। आह्लादजनक होना प्रयोजन है। अतः यहाँ गौणी लक्षणा हुई। कई साम्यमूलक अलंकारों में यही लक्षणा आधार होती है। जब कोई बड़ा छोटे से प्रसन्न होकर पीठ ठोंकता है—'तुम सिंह हो' या अप्रसन्न होकर डाँटता है—'तुम बैल हो' तो यही लक्षणा होती है। जब कहते हैं कि 'विद्या ही धन है' तो यहाँ 'विद्या' को 'धन' कहने में 'सादृश्य-संबंध' नहीं होता। 'विद्या' से 'धन' की प्राप्ति होती है। 'विद्या' कारण है और 'धन' कार्य। अतः कार्य-कारण-संबंध होने से यहाँ 'शुद्धा' लक्षणा होगी। अभिधेय के साथ लक्ष्य का अनेक प्रकार का संबंध हो सकता है—अंगांगी भाव, कार्य-कारण, तात्कर्म्य, सामीप्य, सादृश्य, समवाय आदि।* इनमें से सादृश्य के अतिरिक्त अन्य संबंधों से शुद्धा ही होगी। यदि सादृश्येतर सब संबंधों के अनुसार शुद्धा लक्षणा के भेद रखे जायँ तो न जाने कितने भेदों की कल्पना की जा सकती है।

आरोप और अध्यवसान के विचार से भी दो प्रकार की लक्षणाएँ कही गई हैं। जहाँ आरोप-विषय और आरोप्यमाण अर्थात् स्थूल रूप में उपमेय और उपमान का शब्द द्वारा कथन करके लक्षणा की जाती है वहाँ सरोपा और जहाँ केवल उपमान का ही कथन होता है, उपमेय उसी में छिपा रहता है, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। पहली 'रूपक' अलंकार का और दूसरी रूपकातिशयोक्ति का मूलाधार होती है। उदाहरण लीजिए—

लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा !
व्योम-सिंधु सखि, देख, तारक-बुद्बुद दे रहा !

'व्योम' को 'सिंधु' कहने में मुख्यार्थ का बाध है, पर तद्रूपता के कारण 'व्योम' पर 'सिंधु' का आरोप किया गया है। 'व्योम' की गहनता, विस्तार आदि का सम्यक् बोध कराने के प्रयोजन से ही उसे 'सिंधु' कहा गया है। 'व्योम' और 'सिंधु' दोनों को शब्द द्वारा कह देने से सारोपा लक्षणा हुई। पर 'आयो घोष बड़ो व्यापारी' में 'उद्धव'

* लक्षणा के पाँच प्रकार इन संबंधों के विचार से भी कहे गए हैं—
अभिधेयेन संबंधात्सादृश्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥—भर्तृमित्र।

का शब्द द्वारा कथन न होने से और 'व्यापारी' (उपमान) का ही उल्लेख करने से साध्यवसाना है। 'उद्धव' को 'व्यापारी' कहने से मुख्यार्थ का बाध है, पर तात्कर्म्य के कारण उन्हें ऐसा कहा गया है। उनमें पाखंड आदि की स्थापना ही प्रयोजन है।

लक्षणा में जो प्रयोजन रहता है वह व्यंजना वृत्ति के अंतर्गत है। ऐसा कहने से यह प्रश्न हो सकता है कि लक्षणा की प्राप्ति पहले होती है या व्यंजना की। उत्तर होगा—लक्षणा की ही। प्रयोजन का सम्यक् बोध भले ही बाद में व्यंजना द्वारा हो, पर उसका स्थूल आभास पहले ही मिल जाता है। रूढ़ि के संबंध में पहले ही कहा गया है कि उसमें भी प्रयोजन रहता है, पर वह प्रत्यक्ष नहीं रहता, व्यवहार की बहुलता से दब जाता है।* ध्यान देने पर उसका भी बोध होता है। अतः 'व्यंजना' पृथक् ही वृत्ति मानी जाती है। इससे निकलनेवाला अर्थ 'व्यंग्यार्थ' होता है और इसे व्यक्त करनेवाला शब्द 'व्यंजक' कहा जाता है। शब्द और अर्थ के आधार पर होने के कारण व्यंजना के दो मुख्य भेद होते हैं—शाब्दी और आर्थी। इनमें से शाब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला। इनका विचार पहले (पृष्ठ ९५) किया जा चुका है। आर्थी व्यंजना की प्रतीति के साधक वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसंनिधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टा आदि हैं। इनकी विशेषता से आर्थी व्यंजना होती है। एक उदाहरण लीजिए—

> दृग लखिहैं मधुचंद्रिका, सुनिहैं कल धुनि कान।
> रहिहैं मेरे प्रान घट, प्रीतम करौ पयान॥

यहाँ 'काकु' (विशिष्ट कंठध्वनि) से प्रिय का प्रयाण वर्जित किया गया है। 'विपरीत-लक्षणा' द्वारा जहाँ लक्षणामूला व्यंजना होती है वहाँ वाक्यगत शब्दों से मुख्यार्थ का बाध होता है, जैसा पहले दिखाया जा चुका है, पर यहाँ मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने का अवसर ही नहीं आता। सीधे अर्थ से ही व्यंग्यार्थ निकल आता है। इसी से इस आर्थी व्यंजना के शब्दों का परिवर्तन पर्यायवाची शब्दों से हो सकता

---

* तेन प्रयोजनस्यापि द्वैविध्यम्। किंचिद्धि सान्तरार्थपरिग्रहे प्रयोजनमनादिवृद्धव्यवहारप्रसिद्ध्यनुसरणात्मकत्वात् रूढ्यनुवृत्तिस्वभावम्। अपरं तु रूढ्यनुसरणात्मकं यत्प्रयोजनमुक्तं तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरगतस्य संविज्ञानपदस्य रूपविशेषस्य प्रतिपादनं नाम।—अभिधावृत्तिमातृका।

है। शाब्दी व्यंजना में शब्द-परिवृत्ति नहीं हो सकती। इसी से उसे शाब्दी कहते हैं।

इस अत्यंत संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि अर्थांतर या अर्थ-परिवर्तन पर भारत में विस्तार से विचार किया गया है। तीनों शब्द-शक्तियों* में से अर्थपरिवर्तन का विशेष संबंध लक्षणा से है।

अर्थपरिवर्तन के प्रकार

अर्थपरिवर्तन में तीन स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं—(१) अर्थ का विस्तार, (२) अर्थ का संकोच और (३) अर्थ का अंतर। अर्थ-संकोच के उदाहरण अधिक होते हैं, अर्थविस्तार के कम। जब विशेष का प्रयोग सामान्य के लिए हो तब अर्थ का विस्तार समझना चाहिए, इसके विरुद्ध अर्थ का संकोच। संस्कृत में 'परश्वः' बीते हुए (भूतकाल) दिन के लिए आता था, पर हिंदी में उसी से बने 'परसों' का प्रयोग आनेवाले दिन के लिए भी होता है। मराठी में 'गंगा' शब्द का व्यवहार 'नदी' के अर्थ में भी होता है। 'तैल' पहले 'तिल की चिकनाई' के लिए चला था, पर अब अलसी आदि अन्य तेलहनों से निकली हुई चिकनाई के लिए भी चलता है। 'अमुक बड़ा रुपये-पैसेवाला है' कहने में 'रुपया' और 'पैसा' 'धन' के लिए प्रयुक्त हैं। अर्थसंकोच के उदाहरण लीजिए—संस्कृत में पहले 'मृग' का अर्थ 'पशु' था। 'मृगपति' और 'मृगराज' शब्द 'सिंह' के लिए इसी से आते हैं कि वह 'पशुओं का राजा' है। पर पीछे से इसका अर्थ 'हरिण' भी हो गया। मृगचर्म या मृगछाला, मृगमरीचिका, मृगमद (कस्तूरी), मृगांक आदि शब्दों में 'मृग' का अर्थ 'हिरन' ही है। हिंदी की पुरानी कविता में 'मृग' का 'पशु' अर्थ में प्रयोग काव्य-परंपरा के ही कारण है (चित्रकूट के बिहँग मृग बेलि बिटप तृन-जाति—मानस)। हिंदी में 'मृग' शब्द स्वच्छंद रूप में 'हिरन' के ही लिए आता है। 'धान्य' पहले 'अनाज' को कहते थे, पीछे 'चावल' को कहने लगे। हिंदी में 'धान' का अर्थ भूसीयुक्त चावल है।† फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ केवल 'पक्षी'

---

* 'तात्पर्य' नाम की एक वृत्ति नैयायिकों एवम् मीमांसकों ने और मानी है, जिसे साहित्यज्ञों ने भी स्वीकृत किया है। अभिधा में ही उसका भी अंतर्भाव करते हैं। वह वाक्यगत अभिधा ही है।

† शस्यं क्षेत्रगतं प्रोक्तं सतुषं धान्यमुच्यते।
निस्तुषस्तंडुलः प्रोक्तः स्विन्नमन्नमुदाहृतम्॥

है,* पर हिंदी में 'कुक्कुट' को ही 'मुर्गा' कहते हैं। 'अरबी' में 'खसम' का अर्थ था प्रतिद्वंद्वी या शत्रु, पर उर्दू और हिंदी में 'खसम' पति के लिए आता है। पुरानी रचना में यह 'स्वामी' या 'प्रभु' के अर्थ में भी आया है; 'लसम के खसम तु ही पै दसरत्थ के'—कबित्तावली। 'शत्रु' का यह कैसा 'प्रभुत्व'! 'तार' पहले लोहे आदि धातु का ही हुआ करता था, पर अब 'टेलिग्राम' को भी 'तार' कहते हैं और 'बिजली' का भी 'तार' होता है। अर्थपरिवर्तन के दृष्टांत लीजिए—'गँवार' का मूल अर्थ है 'गाँव का रहनेवाला', पर अब इसका अर्थ 'मूढ़' या 'मूर्ख' हो गया है। इसे बहुत बड़ी गाली समझते हैं।‡ 'नागर का अर्थ था 'नगर का रहनेवाला' पर अब इसका अर्थ है 'चतुर'। एक जाति के लिए भी इसका व्यवहार होता है। 'प्रवीण' का अर्थ पहले था मधुर वीणा बजानेवाला, अब इसका अर्थ होता है 'चतुर'। 'कुशल' का अर्थ पहले 'कुश काटनेवाला था' अब यह 'चतुर' का पर्यायवाची है। शिष्ट और अशिष्ट प्रयोगों के कारण भी अर्थांतर होता है; जैसे, 'गर्भिणी' और 'गाभिन' (केवल पशुओं के लिए); 'स्थान', 'थान' (देवी का थान या घोड़े का थान) और थाना (पुलिस का)।

अर्थपरिवर्तन के निम्नलिखित कारण होते हैं—(१) आलंकारिता, (२) परिस्थिति-भेद (भौगोलिक, सामाजिक या वस्तुगत), (३) शिष्टता, (४) अमंगलवारण, (५) वक्रता, (६) भावावेश, (७) प्रचलन, (८) अशुद्ध प्रयोग, (९) अर्थ का अनिश्चय, (१०) धारणागत भेद, (११) शब्दगत विशेष तत्त्व की प्रधानता, (१२) गौण अर्थ का आगमन आदि।

(१) सरलता लाने के लिए वाणी में अलंकारों का प्रयोग करना पड़ता है। आलंकारिक प्रयोगों के कारण अनेक शब्द अपना मुख्य अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ भी ग्रहण कर लेते हैं। शास्त्रों के अनुसार ऐसा अर्थ 'लक्षणा' शक्ति द्वारा संपन्न होता है; जैसे, मुख की मधुरता, रूप

---

* उर्दूवाले फारसी अर्थ में 'मुर्ग' का व्यवहार बराबर करते हैं—

क्या कम है मुर्गेकिब्लनुमा से य' मुर्गेदिल।
सिजदा उधर ही कीजिए जिधर य' मुँह करे॥
—मीरदर्द।

‡ उत 'गँ'कार मुहँ तेँ कढ़ी इत निकसी जमधार।
'वार' कहन पायो नहीं, भई करेजे पार॥

का लावण्य, दाँत खट्टा होना आदि। मुहावरों में इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। (२) अर्थ में परिवर्तन परिस्थितिवश भी होता है। इसे तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(क) भौगोलिक, (ख) सामाजिक और (ग) पदार्थगत। (क) जैसे वेद में 'उष्ट्र' शब्द का व्यवहार 'जंगली बैल' के लिए होता था, किंतु आगे चलकर इसका अर्थ 'ऊँट' हो गया। इससे पता चलता है कि जहाँ इसका अर्थ परिवर्तित हुआ वहाँ के लोग किसी ऐसे स्थान पर थे जहाँ ऊँट अधिक पाए जाते थे। (ख) 'वर' शब्द का अर्थ है 'जिसका वरण किया जाय', किंतु आज वरण करने की प्रथा नहीं है, फिर भी यह शब्द 'दूल्हे' के लिए चलता है। 'ननंद' या 'ननांद्' का प्राचीन अर्थ भाभी को सतानेवाली है, अब 'ननद' चाहे लाड़ लड़ाए 'ननद' ही कहलाती है। 'दुहिता' पहले गाय दुहनेवाली (बेटी) को कहते थे। पर 'धीया' या 'धी' (दुहिता, धीआ, धीया, धिय, धी) से वह काम अब प्रायः नहीं लेते। (ग) 'ग्रंथ' शब्द का अर्थ है 'जिसमें गाँठ लगी हुई हो'। प्राचीन समय में लिखे हुए पत्रों को डोर में पिरोकर गाँठ बाँध दी जाती थी। इसी से इस प्रकार की पोथियाँ 'ग्रंथ' कहलाती थीं। आज वह बात नहीं है, किंतु यह शब्द चलता है। पहले 'भोजपत्र' या 'तालपर्ण' पर लिखते थे, अतः 'पत्र' और 'पर्ण' इनके लिए ठीक था, पर अब 'कागज' पर लिखते हैं, किंतु 'पत्र' (चिट्ठी), 'पत्रा' (पंचांग), 'समाचार-पत्र', 'पोथी के पन्ने' आदि प्रयोग चलते ही हैं। (३) शिष्टता के कारण भी अर्थ में परिवर्तन होता है। तहजीब या अदब का ध्यान रखनेवाले उर्दूदाँ से यदि पूछा जाय कि 'आप कहाँ रहते हैं' तो वह छूटते ही कहेगा कि 'मेरा गरीबखाना लखनऊ है' और प्रश्न करेगा— 'हुजूर का दौलतखाना ?'। 'आदरार्थे बहुवचनम्' का प्रयोग इसी नियम से होता है। हिंदी में 'आप' और दर्शन' शब्द बहुवचन में चलते हैं। (४) अमंगलवारण के लिए भी अर्थांतर होता है अर्थात् जिन शब्दों का साहचर्य अमांगलिक प्रसंगों से हो उनके स्थान पर दूसरे मांगलिक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। 'नमक' का नाम लेना बुरा समझा जाता है, इसलिए उसे 'रामरस' कहते हैं। भंगी 'मेहतर' (महत्तर=बड़ा) कहलाता है।* धोबी को 'बरेठा' (वरिष्ठ=श्रेष्ठ) कहते हैं। वैष्णवों के यहाँ मुसलमान 'बड़ी जात के' कहलाते हैं। 'मृत्यु' के स्थान पर 'देहावसान', 'कैलासवास' आदि का प्रयोग इसी से होता

* फारसी में मेहतर का अर्थ वही है जो संस्कृत में महत्तर का। मेह=बड़ा, तर=प्रत्यय।

है। (५) वक्रता (आयरनी) लाने के लिए भी शब्दों का विशिष्ट अर्थ लेना पड़ता है; जैसे 'द्विरेफ', जिसका मूल अर्थ है 'दो रेफ (`)', किंतु यह प्रयुक्त होता है 'भ्रमर' के लिए, क्योंकि इसका आकार दो रेफों की तरह हुआ करता है। अष्टावक्र, शुनःपुच्छ (कुत्ते की दुम, नाम), शुनःलांगूल (नाम) आदि ऐसे ही शब्द हैं। (६) भावावेश व्यक्त करने के लिए भी अर्थ में परिवर्तन होता है; जैसे, भयंकर' शब्द। इसका अर्थ है 'भय उत्पन्न करनेवाला', किंतु कभी कभी 'बड़े भारी' के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है; जैसे, 'भयंकर डील-डौल'। 'वह हत्यारा है', 'वह तो देवता है', दिग्गज पंडित', 'धुरंधर विद्वान्' आदि प्रयोग इसी कारण चलते हैं। (७) समूह में से एक का प्रचलन हो जाने से भी विलक्षण प्रयोग होने लगते हैं; जैसे, 'स्याही' का अर्थ है 'काली', लिखने की तरल वस्तु अर्थात् मसि या रोशनाई। इसलिए नियमतः इसका प्रयोग केवल 'काली' के ही लिए होना चाहिए, किंतु लाल स्याही, हरी स्याही आदि प्रयोग बराबर होते हैं। (८) अज्ञानवश अशुद्ध प्रयोग भी चल पड़ते हैं। देवता पहले 'असुर' कहलाते थे, जिसका अर्थ है 'प्राणवाला'* पर आगे चलकर 'असुर' शब्द में 'अ' विपरीतार्थक उपसर्ग मान लिया गया और इसका अर्थ हो गया दैत्य, क्योंकि 'सुर' का अर्थ देवता किया गया। (९) शब्दगत अर्थ के अनिश्चय से भी बहुत से शब्द मूल अर्थ त्याग कर दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। त्रिवेदी, वाजपेयी, अग्निहोत्री, त्रिपाठी आदि शब्द केवल आस्पद बतलाते हैं। (१०) शब्दसंबंधी व्यक्तिगत धारणा में भिन्नता होने से ही अर्थ में परिवर्तन हो जाता है; जैसे, 'धर्म' शब्द का अब कोई निश्चित अर्थ नहीं रह गया है। (११) शब्द में किसी तत्त्व की प्रधानता होने से भी अर्थ बदल जाता है; जैसे, 'गंध' शब्द का अर्थ है 'वास' किंतु इसका प्रयोग 'बदबू' के अर्थ में होने लगा है। 'बू' की भी यही दशा है और 'वास' शब्द भी उस अर्थ में प्रयुक्त होता है। (१२) गौण अर्थ का अनजान में आगमन होने से भी अर्थ बदल जाता है। प्राचीन समय में 'घोड़े' सिंधु देश से आते थे, इसलिए वे 'सैंधव' कहलाने लगे। व्रजी की पुरानी कविता में 'तुर्की' शब्द इसी नियम के अनुसार 'घोड़े' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'सैंधव' (सेंधा) 'नमक' के लिए भी चलता है। 'साँभर' नाम इस नाम की झील से संबद्ध होने से दूसरे प्रकार के नमक का है।

* असुः प्राणः स्मृतो विप्रैः तज्जन्मानस्ततोऽसुरः।—वायुपुराण ९।५।

अर्थविचार के नियमों का वर्गीकरण कठिन है। इसीलिए प्रत्येक शब्द के अर्थांतर के प्रकार में मिश्रित पद्धतियाँ पाई जाती हैं। इसका विवेचन भी विभिन्न विधियों से करते हैं।* पहले कहा जा चुका है कि अर्थांतर की विधियाँ लक्षणा के दायरे में आती हैं, इनमें से अधिकांश 'उपचार'† (साम्य) के अंतर्गत हैं। अतः आधुनिक भाषाविज्ञानियों के लिए वह विशेष ध्यान देने योग्य है।

ध्वनिविचार

भाषाविज्ञान में ध्वनि का विचार थोड़े दिनों से ही होने लगा है, किंतु इस अंग का इतने दिनों में ही बहुत विस्तार हो गया है। ध्वनि का विचार प्रयोगों द्वारा डेनियल जोंस नामक विद्वान् ने किया है, जिन्होंने इसके लिए बाजे के तवे (रेकार्ड) भी बनवाए हैं। विभिन्न देशों की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए रोमी लिपि की मध्यस्थता से अब सार्वभौम लिपि भी बना ली गई है।

पशु-पक्षियों की अपेक्षा मनुष्य का वाक्करण तथा वाणी विशिष्ट होती है। इसका कारण है मुख में जिह्वा की विलक्षण स्थिति। मनुष्य के कंठ के भीतर टेँटुए की सीध में एक अंडाकार पेटी होती है, इसे 'कंठपिटक' (लारिंग्स) कहते हैं। इसमें दो पतली पतली स्वरतंत्रियाँ या घोषतंत्रियाँ (वोकल कार्ड्स) होती हैं, जो आगे की ओर जुड़ी होती हैं पर पीछे की ओर नहीं। ये फीते की भाँति पतली और स्थितिस्थापक (इलैस्टिक) होती हैं। सामान्य दशा में साँस लेते समय ये खुली रहती हैं। पीछे की ओर ये इस प्रकार मिल जाती हैं कि साँस एकदम न निकल सके। इनमें जो अवकाश होता है उसे 'काकल' कहते हैं। जब काकल पर्याप्त सिकुड़ा नहीं रहता तो बाहर आनेवाली साँस तंत्रियों को छूती हुई निकल आती है। इस प्रकार जो ध्वनि होती है उसे 'श्वास' कहते हैं। पर जब काकल सिकुड़ा रहता है तो बाहर आनेवाली साँस इन तंत्रियों से घर्षित होती है और इनमें कंपन होता है। इस प्रकार जो ध्वनि होती है उसे 'नाद' या 'घोष' कहते हैं। 'घोष' का स्पष्ट पता गले के बाहर टेँटुए पर हाथ रखने से लग जाता है।

'श्वासमार्ग' के ठीक पीछे 'गल' है, जो अन्नमार्ग है। 'गल' में 'जिह्वा' के पीछे की ओर नीचे छोटा सा उभड़ा भाग है, जिसे 'उप-

* यहाँ श्रीतारापूरवाला के अनुसार पूर्वोक्त प्रकारों का निर्देश किया गया है।

† उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्।—साहित्यदर्पण।

वाकरण
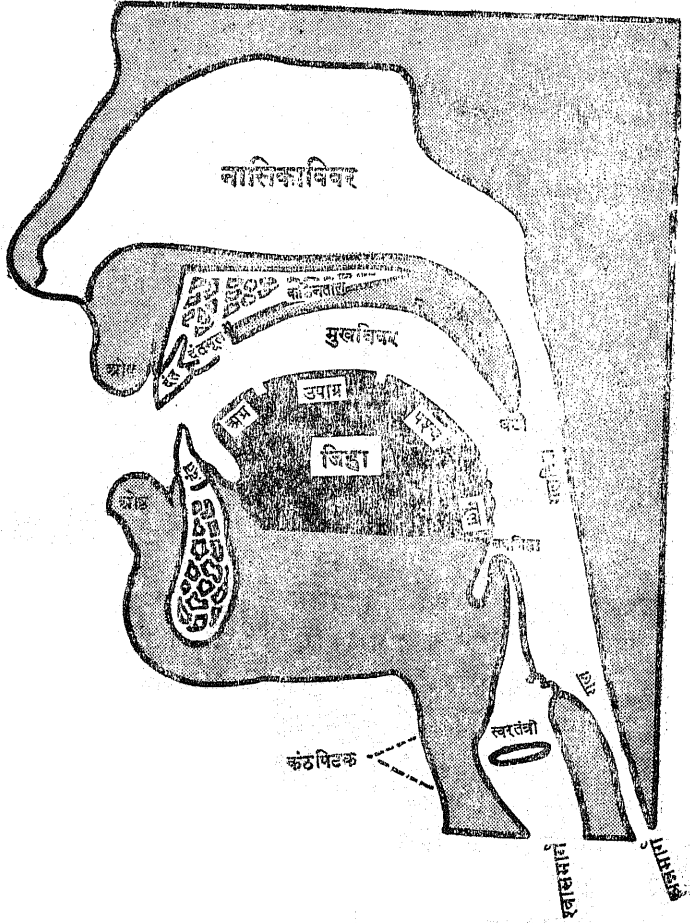
जिह्वा' या 'अभिकाकल' कहते हैँ। अन्न निगलते समय वह नीचे गिरकर 'कंठपिटक' का द्वार ढक देता है, जिससे निगली जाती वस्तु उसके भीतर न जा सके। 'श्वासमार्ग' मेँ यदि कोई वस्तु या पानी पहुँचे तो खाँसी आने लगती है (यदि प्रविष्ट वस्तु न निकले तो प्राणांत तक हो सकता है। अतः भोजन करते समय मौन धारण करना धर्मबुद्धि से ही नहीँ, स्वास्थ्यबुद्धि से भी ग्राह्य है)। 'श्वासमार्ग' और 'गल' दोनोँ ही ऊपर 'गलबिल' मेँ खुलते हैँ। 'गलबिल' एक ओर 'मुखविवर' से मिला है और दूसरी ओर 'नासिकाविवर' से। मुखविवर मेँ दंतोँ,

ओष्ठों और जिह्वा की अवस्थिति है। जिह्वा ऐसे स्नायुओं से बनी है कि उसे इच्छानुसार मुखविवर में हिला-डुला सकते हैं और जबड़े के ऊपरी भाग से छुला सकते हैं। जिह्वा 'करण' है, उसके चार खंड हैं—अग्र (ब्लेड), उपाग्र (फ्रंट), पश्च (बैक) और मूल (रूट)। कोई कोई इसके तीन ही खंड करते हैं—अग्र, मध्य (फ्रंट), पृष्ठ या मूल (बैक)। जिह्वा के ऊपर मुख का जो भाग अवस्थित है उसे भी चार भागों में बाँटा गया है—दंत, दंतमूल, कठिनतालु और कोमलतालु। कोमलतालु का अंतिम भाग गले में लोलक की भाँति लटका है। इसे घंटी (कौआ, अलिजिह्वा या शुंडिका) कहते हैं।

बाहर आनेवाली साँस की रुकावट दो स्थानों पर होती है; या तो काकल में या मुख में। पहले वह 'काकल' में रुकती है; यदि उसके खुले रहने पर वहाँ नहीं रुकती तो मुख में। उसे कहीं न कहीं अवश्य रुकना या टकराना पड़ता है। 'काकल' में साँस के न रुकने से 'श्वास' तथा रुकने से और रगड़ खाने से 'नाद' ध्वनि होती है। प्रत्येक श्वास की 'नाद' ध्वनि भी होती है। 'क्' श्वास है तो 'ग्' नाद। 'ख्' श्वास है तो 'घ' नाद। ऐसे ही अन्य वर्गों में भी समझिए। (सभी स्वर 'नाद' होते हैं)। काकल में न रुकने पर मुख में उसका अवरोध या तो अंशतः होता है या पूर्णतः। काकल में बिना रुके निकली हुई साँस जब मुख में अंशतः अवरुद्ध होती है तो शीत्कार होता है। इस प्रकार की ध्वनि में साँस का मार्ग किसी एक स्थान पर बहुत सँकरा हो जाता है और साँस घर्षित होती हुई निकलती है, इसी से इसको 'घर्ष' या 'संघर्षी' (फ्रिकेटिव) कहते हैं। श्, ष्, स् ऐसी ही ध्वनियाँ हैं। इनकी 'नाद' ध्वनियाँ भी होती हैं, पर हिंदी में ऐसी ध्वनि नहीं है। फारसी में 'ज़्' (ज़े) और ज़् (झ़े) क्रमशः 'स्' और 'श्' की नाद ध्वनियाँ हैं। अँगरेजी में भी ऐसी ध्वनियाँ होती हैं। संस्कृत में 'संघर्षी' ध्वनि का नाम 'ऊष्म' है, जिसका अर्थ ही है 'श्वास'। इन तीनों ऊष्म वर्णों के अतिरिक्त संस्कृत में दो ध्वनियाँ और हैं, जिन्हें इसी वर्ग में रखते हैं। इनका नाम 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय' है। 'क्' (एवम् 'ख्') के पूर्व विसर्ग (ः) की ध्वनि 'जिह्वामूलीय' और 'प्' (एवम् 'फ') के पूर्व 'उपध्मानीय'* होती है। इन्हें इस '⌣' चिह्न द्वारा प्रकट करते हैं। सुभीते के लिए प्रायः इन्हें विसर्ग 'ः' ही लिखते हैं।

* उश्च पश्च ध्मायतेऽनेन तत्र भव इति योगेनोपध्मानीयस्योष्ठ्यमित्याह। उपूपेति रूढत्वाच्च न व्यवहारातिप्रसंगः।—शब्देंदुशेखर।

मुख में जब साँस का पूर्णतः अवरोध होता है तो दूसरे प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं। अवरोध का कारण जिह्वा उत्पन्न करती है, जो ऊपरी भाग को अपने किसी अंश से छुला देती है। साँस के क्षण भर रुकने के बाद ध्वनि सहसा निकल पड़ती है, अतः इसे 'स्फोट' (एक्सप्लोसिव) कहते हैं। संस्कृत में इसका नाम 'स्पर्श' है' क्योंकि जिह्वा किसी विशेष स्थान को भली भाँति छूती है। 'क्' से लेकर 'म्' तक पाँचों वर्ग के २५ व्यंजन 'स्पर्श' कहे जाते हैं। हिंदी में च्, छ्, ज्, झ्, ञ् के उच्चारण में साँस का मार्ग बहुत सँकरा हो जाने से ध्वनि रगड़ती सी निकलती है. इससे इन्हें 'स्पर्श-संघर्षी' मानते हैं। 'कठिनतालु' और घंटी' के मध्य में स्पर्श होने से कंठ्य उच्चारण होता है। क्, ख्, ग्, घ्, ङ् कंठ्य हैं। संस्कृत में 'कोमलतालु' का नाम 'कंठ' ही है। संस्कृत-व्याकरणों में कठिनतालु के दो भाग करके आगे के भाग को 'तालु' और पीछे के भाग को 'मूर्धा कहते हैं। 'तालु' से स्पर्श होने पर तालव्य उच्चारण होता है। च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, तालव्य हैं। मूर्धा से स्पर्श होने से 'मूर्धन्य' उच्चारण होता है। ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् मूर्धन्य हैं। 'दंत' से स्पर्श होने से 'दंत्य' उच्चारण होता है। त्, थ्, द्, ध्, न् 'दंत्य' कहे जाते हैं। हिंदी में 'न्' का उच्चारण दंतमूल से स्पर्श होने पर होता है। दंतमूल का प्राचीन नाम 'वर्स्व' या 'वर्त्स' है।* अतः लोग 'न्' को 'वर्त्स्य' मानते हैं। दोनों ओष्ठों के स्पर्श से ओष्ठ्य उच्चारण होता है। प्, फ्, ब्, भ्, म् ओष्ठ्य या द्वयोष्ठ्य हैं।

'श्वास' (अघोष) और 'नाद' (घोष) तथा मुख में अंशतः या ईषत् और पूर्ण स्पर्श के विचार से चार भेद हो जाते हैं—(१) अघोष ऊष्म, (२) घोष ऊष्म, (३) अघोष स्पर्श और (४) घोष स्पर्श। संस्कृत में घोष ऊष्म नहीं होते। पर हिंदी में फारसी की कृपा से ऊष्म ध्वनि मिलती है, जिसे 'ज्' के नीचे बिंदु लगाकर (ज़्) व्यक्त करते हैं; जैसे, चीज़ में। यह 'स्' की नाद ध्वनि है। 'श्' की नाद ध्वनि भी फारसी में होती है, पर हिंदी में उसे भी 'ज़्' सा ही उच्चरित करते हैं। हिंदी से यह ध्वनि और बिंदी लगाने की रीति भी उठ रही है। उर्दू पढ़े-लिखे ही इसकी ठीक ठीक नकल कर पाते हैं। हिंदी के एक अच्छे साहित्यिक, जो उर्दू नहीं जानते थे, 'जनाब' को भी 'ज़नाब' बोला करते थे। साँस के प्रदान से 'प्राण' ध्वनि भी उत्पन्न होती है। इससे दो भेद और होते हैं—'अप्राण' और 'सप्राण'। संस्कृत में इन्हें क्रमशः 'अल्पप्राण' और

* वर्त्सशब्देन दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छूनः प्रदेशः उच्यते।—ऋक्प्रातिशाख्य।

'महाप्राण' कहते हैं। 'अप्राण' (इनैस्पिरेट) और 'सप्राण' (ऐस्पिरेट) के बदले 'अल्पप्राण' और 'महाप्राण' शब्द ही ठीक जान पड़ते हैं, क्योंकि जिन्हें 'अप्राण' कहा जाता है उनमें भी साँस का प्रदान थोड़ा रहता अवश्य है। वर्ग का पहला, तीसरा और पाँचवाँ वर्ण 'अल्पप्राण' होता है; दूसरा और चौथा महाप्राण। ऊष्म वर्ण महाप्राण होते हैं (स्वर और अर्धस्वर अल्पप्राण होते हैं)। 'घंटी' पीछे मुड़कर नासिका-विवर बंद कर दिया करती है। इससे 'साँस' 'मुखविवर' से निकलती है। यदि घंटी नासिकाविवर का द्वार बंद न करे तो साँस नासिका से निकलेगी, इसलिए 'अनुनासिक' उच्चारण होगा। इस प्रकार दो भेद और होते हैं—अनुनासिक और निरनुनासिक। वर्ग का पंचम वर्ण अनुनासिक होता है। नासिकाविवर में न तो जिह्वा जा सकती है और न उसमें कोई दूसरी जिह्वा ही है, अतः कहीं अवरोध नहीं होता। इसलिए अनुनासिकों की ध्वनि तभी सुन पड़ेगी जब 'नाद' हो। इन सबकी सारणी यों होगी—

वर्ग	अवरुद्ध					अनवरुद्ध
	पूर्णस्पर्श					ईषत्स्पर्श
	आस्य				नासिका	ऊष्म
	अघोष		घोष		घोष	अघोष
	अल्पप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण	महाप्राण
कंठस्थ—कवर्ग	* क्	ख्	ग्	घ्	ङ्	
तालव्य—चवर्ग	च्	छ्	ज्	झ्	[ञ्]	श्
मूर्धन्य—टवर्ग	ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्	[ष्]
दंत्य—तवर्ग	त्	थ्	द्	ध्	न्	स्
ओष्ठ्य—पवर्ग	प्	फ्	ब्	भ्	म्	

जिन वर्णों का अभी तक विचार हुआ है उन्हें संस्कृत में 'व्यंजन' कहते हैं। 'व्यंजन' का अर्थ है 'प्रकट होनेवाला'। ('स्फोट' शब्द से इसे

* 'पाणिनीय शिक्षा' में कवर्ग 'जिह्वामूलीय' है—'जिह्वामूले तु कु ≍ प्रोक्तः'।

मिला देखिए)। ये सभी 'स्पर्श' होते हैं—ईषत् या पूर्ण। पर स्पर्श नहीं भी हो सकता। स्पर्श न होने पर 'स्वर' उच्चरित होते हैं। मुख में 'स्पर्श' न हो, अवरोध न हो; पर 'वर्ण' के सुने जाने के लिए कहीं न कहीं अवरोध तो होना ही चाहिए। कंठपिटक या काकलक * में 'स्वर' का अवरोध होता है। मुख को खुला (विवृत) रखकर और जिह्वा को यथास्थित छोड़कर स्वर का जो सामान्य उच्चारण किया जाता है वह 'आ' है। इन स्वरों की ध्वनि का विभाजन दो प्रकार से हो सकता है— 'परिमाण' के विचार से और 'गुण' के विचार से। 'परिमाण' उस 'काल' पर आश्रित है जो किसी वर्ण के उच्चारण में लगता है। 'काल' का विचार 'मात्रा' द्वारा किया जाता है। 'ह्रस्व' स्वर के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है। इस प्रकार दो प्रकार के स्वर हो जाते हैं; एक तो वे जिनके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है (अर्थात् ह्रस्व) और दूसरे वे जिनके उच्चारण में दो मात्रा का समय लगता है (अर्थात् दीर्घ)। संस्कृत में 'प्लुत' स्वर भी माना गया है, जिसके उच्चारण में तीन मात्रा का समय लगता है। तीन मात्रा को '३' लिखकर बतलाते हैं। प्रायः किसी को दूर से संबोधित करने में इसकी आवश्यकता होती है; जैसे, हे राम ३। आधुनिक भाषाशास्त्र में 'ह्रस्वतर' स्वर भी माना गया है जिसकी आवश्यकता अनेक संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण करने में होती है। यह अर्धमात्रिक होता है; जैसे, भारतीय अँगरेजी का 'गोल्डस्मिथ' शब्द बहुधा 'गोल्डिस्मिथ' बोलते हैं। 'ल्डि' में 'इ' की हलकी सी ध्वनि होती है।† गुणसंबंधी विविधता मुख के खुले रहने के आकार-प्रकार पर अवलंबित है। आरंभिक स्वर 'आ' को मानिए। अब उसकी अपेक्षा मुख को कम विवृत कीजिए और जिह्वा के 'उपाग्र' (फ्रंट) को ऊँचे उठाते जाइए। इस प्रकार 'अग्र स्वरों' की ध्वनियाँ होंगी। यदि धीरे धीरे मुख संवृत किया जाने लगे, जिह्वा का 'पश्च भाग' क्रम से ऊपर उठाया जाय और ओष्ठों को गोल बनाया जाय तो 'पश्च स्वरों' का उच्चारण होगा। अग्र और पश्च के मध्य में भी इसी प्रकार ध्वनियाँ हो सकती हैं जिन्हें 'मिश्र स्वर' कह सकते हैं। इस तरह प्रत्येक श्रेणी में असंख्य ध्वनियाँ हो सकती हैं। पर विभिन्न भाषाओं में उनमें से प्रत्येक की कुछ ही

* काकलकं हि नाम ग्रीवायामुन्नतप्रदेशः।—कैयटकृत प्रदीप।

† चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम्॥—पाणिनीय शिक्षा।
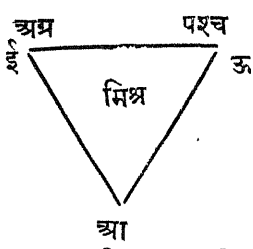
ध्वनियाँ स्वीकृत हुई हैं—किसी में कुछ, किसी में कुछ। अग्र स्वरों में सबसे ऊपर 'ई' है और पश्च स्वरों में सबसे ऊपर 'ऊ'। 'आ' को भी ले लेने से तीनों को मिलाकर मुख में 'त्रिकोण' बन जाता है।

आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने इसी के आधार पर आठ 'मानस्वर' (कार्डिनल वावेल) मान रखे हैं, जिन्हें यों व्यक्त करेंगे—
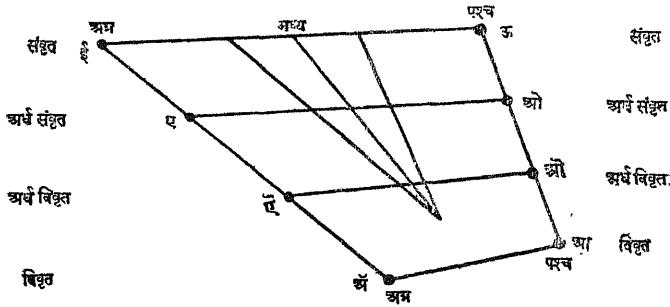
इसमें स्वीकृत आठ मानस्वर ये हैं—अॅ (ह्रस्व), आ, ऍ (ह्रस्व), ऑ (ह्रस्व), ए, ओ, ई, ऊ। इनका भेद रूप (प्रयत्न) की दृष्टि से भी होता है अर्थात् मुखविवर के संकोच-प्रसार से। जब मुखविवर अत्यधिक खुला रहता है तब इन्हें 'विवृत' कहते हैं और जब अत्यधिक मुँदा होता है तो इन्हें 'संवृत' कहते हैं। इनकी मध्यवर्ती स्थितियाँ भी होती हैं जिन्हें 'अर्धविवृत' और 'अर्धसंवृत' कहते हैं। ह्रस्व ऍ और ह्रस्व ऑ से मिलती ध्वनियाँ संस्कृत में तो नहीं मिलतीं, पर हिंदी (पूर्वी अवधी) में इससे मिलती ध्वनियाँ होती हैं। पश्चिमी (व्रजी और खड़ी) में ऐसी ध्वनियाँ काव्यभाषा में कवियों की कृपा से दिखाई देती हैं। पश्चिम में ह्रस्व 'ऍ' के स्थान पर 'इ' और ह्रस्व 'ऑ' के स्थान पर 'उ' का प्रयोग होता है। खड़ी बोली में भी आज दिन ऐसी ध्वनियों का प्रवेश पूरबी की कृपा से हुआ है। इन दोनों ध्वनियों को 'ऍ' और 'ऑ' लिखा जा सकता है। पश्चिमी और पूर्वी के भेद के लिए उदाहरण लीजिए—ऍक्का–इक्का, घॊड़िया–घुड़िया, आदि। बँगला में भी ये दोनों ध्वनियाँ मिलती हैं—ऍक, (बंगाली) और ऍक (अवधी) में कोई विशेष अंतर नहीं। बंगभाषा में 'अ' का उच्चारण 'ऑ' होता है; जैसे 'जल' को 'जॊल' कहना। बँगला में 'घड़ी' को 'घॊड़ी' कहेंगे, इसमें जो 'ऑ' है वह अवधी 'घॊड़िया' के 'ऑ' के निकट है।

पुराकाल में वैदिक प्रातिशाख्यों में ध्वनि-संबंधी क्या क्या विचार हुआ होगा इसका पता चलना अब कठिन है। क्योंकि बहुत सी शाखाओं के प्रातिशाख्यों का पता अब नहीं चलता। पर स्थान स्थान पर जो शंका-समाधान और उच्चारण-संबंधी विचार किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन विचारकों के ध्यान में बहुत सी वे कल्पनाएँ आ चुकी थीं जिनकी ओर आज स्वच्छंद रूप से विचार करने पर दृष्टि जाती है। 'ए' और 'ओ' के अर्धक के लिए विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। महाभाष्यकार पतंजलि ने बहुत पहले ही इसका संकेत कर दिया था।* हिंदी की प्राचीन कविता में तो इसका प्रयोग भरा पड़ा है। 'आ'कार का अर्धक विलक्षण सा अवश्य प्रतीत होता है पर हिंदी के सवैयों में, क्या व्रजभाषा क्या खड़ी बोली दोनों में, इसका यह रूप आता ही है। यदि वर्ण-वृत्त के छंदानुरोध को आवश्यक प्रमाण न माना जाय तो सूरदास के 'सूरसागर' में गोता लगाते ही ऐसे अनेक प्रयोग मात्रा-वृत्त में भी मिल जायँगे। जैसे,

कहा कमी जाके राम धनी।

—सूरसागर (सभावाला संस्करण) प्रथम स्कंध, संख्या ३९, पृष्ठ २२।

रहा 'अ' का अर्धक। यह भी 'सूरसागर' में ही मिल जाता है। देखिए—

ज्यौं त्यौं कोउ हरि नाम उच्चरै। निश्चय करि सो तरै पै तरै।

—'सभा' संस्करण, संख्या ४१५, पृ० २५४।

अब विचारणीय यह है कि क्या प्राचीन ग्रंथों में ऐसे स्वरूपों की ओर विचारकों की दृष्टि गई है। ग्रंथों का आलोड़न करने पर पता चलता है कि अर्धस्वर या अंतस्थ 'व' के तीन रूप—गुरु, लघु तथा लघूतर—उच्चारण-भेद से प्राचीन शिक्षा-ग्रंथों में भी उल्लिखित हैं।†

---

* ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धमोकारं चाधीयते।

† वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः।
आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः॥
पदान्ते पदमध्ये च वकारो दृश्यते यदा।
लघुरेव स मन्तव्यो ह्यन्यत्रापि लघूतरः॥
ओकारे च पदे पूर्वे अकारे परतः स्थिते।
लघूतरं विजानीयादग्नावग्निनिदर्शनम्॥

—पाराशरी एवम् अमोघानंदिनी शिक्षा।

'महाभाष्य'कार ने 'ए' और 'ओ' में 'अ' की आधी और 'इ' और 'उ' की डेढ़ डेढ़ मात्रा मानी है। इससे 'अ' के अधंक रूप का कुछ संकेत मिलता है। सबसे बढ़कर बात तो 'मंजूषा' में शंका के रूप में उपस्थित की गई है; जहाँ द्रुत, मध्य और विलंबित रूपों का उल्लेख करके 'स्फोट' के नाम पर उनका खंडन किया गया है।*

'ए', 'ऐ' और 'ओ', 'औ' संयुक्त वर्ण कहे जाते हैं। 'अ', 'इ' के संयोग से 'ए' तथा 'अ', 'उ' के संयोग से 'ओ' बनता है। 'ऐ', 'औ' में क्रमशः 'आ + इ', और 'आ + उ' का योग है।† संस्कृत में संधि के नियमों के अनुसार 'अ+ए' से 'ऐ' और 'अ+ ओ' से 'औ' होता है। इसी प्रकार इनके आगे स्वर आने से इनका रूप क्रमशः अय् (अइ), आय् (आइ), अव् (अउ) और आव् (आउ) होता है। ‡ पर आज 'ऐ' और 'औ' का ही उच्चारण 'अइ' और 'अउ' का सा होता है; पश्चिमी हिंदी में 'अय्' और 'अव्' का सा। बैसवाड़ी में 'ए' का उच्चारण 'या' और 'ओ' का 'वा' होता है; एक=याक, देखो=द्याखौ; ओस=वास, चोट=च्वाट। स्वरविपर्यय से 'अय' (अइ) का 'या' और 'अव' (अउ) का 'वा' हो गया है। 'ए' और 'ओ' को संयुक्त स्वर या संध्यक्षर मानने का यह पक्का प्रमाण है। 'अवेस्ता' में भी ऐसी ध्वनियाँ मिलती हैं। 'ए' और 'ओ' समान स्वर (सिंपुल वावेल) ही माने जाते हैं। संस्कृत के अनुसार 'आ' और 'ई' क्रमशः 'अ' (ह्रस्व) और 'इ' (ह्रस्व) के दीर्घ करने से बनते हैं अर्थात् अ+अ=आ, इ + इ=ई। इनके उच्चारण का भेद 'मात्रा' के आधार पर किया जाता है। पर आधुनिक भाषाविज्ञानी ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार 'अग्र' और 'पश्च' स्वरों में इनकी स्थिति सबसे ऊँची है और ये स्वतंत्र स्वर हैं। यों तो हिंदी की बोलियों

---

* किं चैवं द्रुमध्यविलम्बितासु प्रयत्नभेदेन चिराचिरकालोच्चारणजन्यत्वाद्भिन्नकालत्वभेदयोरापत्तौ ह्रस्वाकारस्यापि भेदे भिन्नकालत्वे चान्यतमवृत्तौ तपरकरणेऽन्यतमवृत्तावतो भिस ऐसोऽनापत्तेः। स्फोटांगीकारे तु न दोषः। जायमानेन चिरकालेन वैकृतध्वनिना तस्य चिरकालमुपलब्धावपि स्फोटे कालभेदाभावात्। तमेवायं द्रुतमुच्चारितवानन्यो विलम्बितमिति प्रत्यभिज्ञासत्त्वात्। ह्रस्वदीर्घादौ तु नैवमभेदप्रत्यभिज्ञा।
—श्रीनागेशभट्ट विरचित 'वैयाकरणसिद्धांतलघुमंजूषा', प्रथम भाग, स्फोटनिरूपण, पृष्ठ २३३।

† वृद्धिरादैच, अष्टाध्यायी १।१।१ और वृद्धिरेचि, ६।१।८८॥

‡ एचोऽयवायावः, अष्टाध्यायी, ६।१।७८।

में भाषाविज्ञानियों ने 'इ' और 'उ' का ह्रस्वतर रूप भी ढूँढ़ निकाला है और अँगरेजी से 'ओ' का भी 'ह्रस्वतर' रूप लेकर, जिसे 'ॉ' से व्यक्त करते हैं, हिंदी के बहुत से स्वर माने हैं* पर खड़ी बोली (साहित्यिक के व्यवहार में जो 'समान स्वर' आधुनिक दृष्टि से दिखाई पड़ते हैं वे नीचे कोण में दिए जाते हैं—
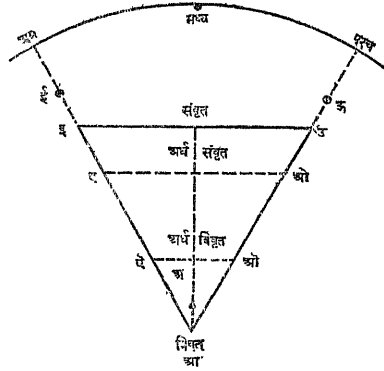
स्वर में नाद की आवश्यकता होती है, अन्यथा वे सुने ही नहीं जा सकते (यह कहा जा चुका है)। इसी 'स्वन्' के कारण ये 'स्वर' कहलाते हैं। स्वरों में से 'इ' और 'उ' ध्वनियाँ क्रमशः 'अग्र' और 'पश्च' श्रेणी की हैं। इनके उच्चारण में 'जिह्वा' ऊपरी भाग के इतना संनिकट हो जाती है कि थोड़े में ही ईषत् स्पर्श हो जाता है और 'य्' और 'व्' ध्वनियाँ होने लगती हैं। इन्हें पश्चिमी वैयाकरण 'अर्धस्वर' कहते हैं। संधि में ये 'संवृत' स्वरों से ही बनते हैं और उन स्वरों के योग से बनते हैं जिनमें 'स्वन्' इनकी अपेक्षा अधिक होता है अर्थात् अपने से भिन्न स्वरों से।+ इनके अतिरिक्त दो वर्ण और

---

* बोलियों में ये स्वर माने गए हैं—अ॑ (ह्रस्वार्ध), ऑ (ओ का ह्रस्व), उ (उ का जपित या फुसफुसाहटवाला रूप), इ (इ का जपित रूप), ऐ॑ (ऐ का अर्धविवृत नीचा रूप, जिसे 'ऍ' लिखा गया है), ए का जपित रूप, जिसे 'ए' लिखा है और ऐ॑ (ऐ॑ का नीचा रूप, जिसे 'ऍ' लिखा है)—हिंदी-भाषा का इतिहास (श्री धीरेंद्र वर्मा कृत)।

+ इको यणचि, अष्टाध्यायी, ६।१।७७

हैं—'र्' और 'ल्'। इन्हें पश्चिमी वैयाकरण 'द्रव' (लिक्विड) कहते हैं। क्योंकि ये भी स्वर का रूप धारण कर लेते हैं। 'र्' संस्कृत में मूर्धन्य कहा गया है, पर अब (हिंदी में) इसका उच्चारण 'वर्त्स' से होता है। 'साँस' मुख से निकल जाती है और जिह्वा को थोड़ा लपेटना पड़ता है। इसी से इसे 'लुंठित' कहते हैं। 'ल्' में 'दाँत' से जिह्वा का संयोग होता है और साँस जिह्वा की अगल-बगल से निकल जाती है, अतः इसे 'पार्श्विक' कहा जाता है। इन दोनों ध्वनियों का परिवर्तन बहुत प्रसिद्ध है। * 'ऋ' और 'लृ' स्वर माने गए हैं। 'ऋ' का दीर्घ रूप भी संस्कृत के शब्दरूपों में, विशेषतः द्वितीया और षष्ठी के बहुवचन में, और कुछ धातुओं 'ज़ृ' 'पृ' में मिलता है। भाषाविज्ञानी इसे परंपरा का पालन मात्र समझते हैं। 'लृ' के दीर्घ रूप क्या, स्वयम् 'लृ' का ही संस्कृत में कम प्रयोग होता है, केवल एक ही धातु (क्लृप्) मिलता है। 'ऋ' और 'लृ' का उच्चारण भी 'र्' और 'ल्' के स्थान से ही होता है। संस्कृत वैयाकरणों ने भी इनका उच्चारण व्यंजन (र् , ल्) के संयोग से माना है। 'ऋ' का शुद्ध प्राचीन उच्चारण अब अवश्य लुप्त हो गया है। इसके तीन प्रकार के उच्चारण दिखाई देते हैं—र, रि, रु अर्थात् 'र्' में अ, इ, उ स्वर के संयोग से। ये तीनों उच्चारण पुराने हैं, क्योंकि प्राकृत में 'ऋ' के स्थान पर अ, इ, उ तीनों स्वर होते हैं।† इसका पुराना शुद्ध उच्चारण कदाचित् कुछ कुछ वैसा ही रहा होगा जैसा गड़ेरिया भेड़ों को बुलाने या वर्जित करने में करता है। यह उच्चारण 'जिह्वोत्कंपी' (ट्रिल्ड) था, ऐसा जान पड़ता है। 'य् र् ल् व्' का नाम संस्कृत में 'अंतःस्था' या 'अंतःस्थ' है। इसका अर्थ है 'स्वर' और 'व्यंजन' दोनों के बीच की ध्वनि। वर्णमाला में दो शुद्ध प्राणध्वनियाँ भी हैं; विसर्ग (ः) और 'ह्'। इनमें से विसर्ग 'श्वास' है और 'ह्' 'नाद'। हिंदी में विसर्ग संस्कृत के बने-बनाए शब्दों में ही मिलता है, पर 'ह्' स्वच्छंद और 'न म् र् ल् व्' से मिला भी आता है। 'य् व् ह्' किसी अक्षर से मिलकर संयुक्त ध्वनियों से भिन्न संमिश्र या स्वच्छंद ध्वनियाँ भी उत्पन्न किया करते हैं। इनके

---

* रलयोरभेदः। रलयोर्डलयोश्चैव शसयोर्बवयोस्तथा।
वदन्त्येषां च सावर्ण्यमलंकारविदो जनाः॥

† ऋतोऽत् १।२७ (वृषभः = वसहो), इदृष्यादिषु १।२८ (हृदयं = हिअअं = हिय), उदृत्वादिषु १।२९ (प्रावृष् = पाउसो = पावस)।
—प्राकृतप्रकाश

व्यंजनों का स्थान-प्रयत्न-विवेक

	प्रयत्न		स्थान													
			ओष्ठ से		जिह्वा से											
			द्व्योष्ठ्य		दंत्य		वर्त्स्य		तालव्य		मूर्धन्य		कंठ्य		उरस्य	
	आभ्यंतर	बाह्य	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष	अघोष	घोष
स्पर्श	शुद्ध स्पर्श	अल्पप्राण	प्	ब्	त्	द्					ट्	ड्	क्	ग्		
		महाप्राण	फ्	भ्	थ्	ध्					ठ्	ढ्	ख्	घ्		
	स्पर्श संघर्षी	अल्पप्राण							च्	ज्						
		महाप्राण							छ्	झ्						
	अनुनासिक	अल्पप्राण		म्				न्		[ञ्]		ण्		ङ्		
		महाप्राण		म्ह्				न्ह्								
	उत्क्षिप्त	अल्पप्राण										ड़्				
		महाप्राण										ढ़्				
अंतःस्थ	लुंठित	अल्पप्राण						र्								
		महाप्राण														
	पार्श्विक	अल्पप्राण						ल्								
		महाप्राण						ल्ह्								
	अर्धस्वर	अल्पप्राण		व्						य्						
ऊष्म	संघर्षी	महाप्राण					स्		श्						:	ह्

अतिरिक्त हिंदी में अनुस्वार (ं) और ड़, ढ़ ये तीन ध्वनियाँ और रह गईं। इनमें से अनुस्वार का उच्चारण संस्कृत में 'म्' होता था, पर हिंदी में 'न्' होता है। यह बात 'हंस' शब्द के उच्चारण से स्पष्ट हो जायगी। संस्कृत में इसका उच्चारण 'हम्स' होगा और हिंदी में 'हन्स'। हिंदी में 'परसवर्ण' के अनुसार अनुस्वार पंचम वर्ण में सर्वत्र परिवर्तित नहीं हो सकता। 'कवर्ग' में इसका 'ङ्' उच्चारण कुछ कुछ सुन पड़ता है, पर 'चवर्ग' तथा 'टवर्ग' में केवल 'न्' ही उच्चरित होता है। 'तवर्ग' का पंचम वर्ण 'न्' है ही। 'म्' रूप में ठीक ठीक यह 'पवर्ग' में ही सुनाई पड़ता है। अनुस्वार के 'म्' और 'न्' दोनों ही उच्चारण प्राचीन हैं। * 'ड़, ढ़' का उच्चारण करने में जिह्वा को मूर्धा में छुलाकर शीघ्र हटाना पड़ता है, अतः इन्हें 'उत्क्षिप्त' कहते हैं। 'ड़' अल्पप्राण और 'ढ़' महाप्राण है। ये ध्वनियाँ हिंदी में 'ड' और 'ढ' के दो स्वरों के बीच में आने से होती हैं। इसी से 'डर' में 'ड' ध्वनि है और 'पड़' में 'ड़'। 'निडर' आदि में 'ड' ध्वनि व्याकरण की कृपा है। 'ढकना' में 'ढ' और 'बूढ़ा' में 'ढ़' है। 'मेढक' कहना पंजाबी का प्रभाव है। वैदिक 'ळ' और 'ळ्ह' की भी ऐसी ही स्थिति थी।

क़्, ख़्, ग़्, ज़्, फ़् उर्दू से होकर आई जिह्वामूलीय विदेशी ध्वनियाँ हैं। ये केवल पढ़े-लिखों की बोलचाल में ही मिलती हैं, सो भी सर्वत्र नहीं। हिंदी में सामान्य रूप से इनका उच्चारण क्रमशः क्, ख्, ग्, ज्, फ् हो गया है। 'व्' तीन माने गए हैं—द्वयोष्ठ्य, दंत्योष्ठ्य और कंठ्योष्ठ्य। पहले और तीसरे का रूप 'व्' कैथी माना गया है। बीच में आनेवाला (जैसे 'स्वाद' में) 'व्' कंठ्योष्ठ्य कहा गया है। हिंदी में 'व्' द्वयोष्ठ्य ही रह गया है; † क्या आदि में, क्या मध्य में और क्या अंत में। 'ब्' से इसका अंतर यह है कि 'ब' में ओष्ठों का पूर्ण स्पर्श होता है, वे बंद होकर खुलते हैं; पर 'व्' में ओष्ठ पूरे बंद ही नहीं होते, इसमें स्पर्श अपूर्ण ही रह जाता है। अनुस्वार का

---

* 'मोऽनुस्वारः' और 'न श्चापदान्तस्य झलि' के अनुसार 'म्' और 'न्' दोनों अनुस्वार में परिवर्तित हो जाते हैं। और भी मिलाइए—नपरे नः ८।३।२७, मो नो धातोः ८।२।६४ आदि।

† अनुस्वारे विवृत्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयाद्यत्रौकारवकारयोः ॥—पाणिनीय शिक्षा।

स्थान वही है जो 'न्' का। 'र्' का महाप्राण रूप 'र्ह्' बोलियों में ही मिलता है, अतः छोड़ दिया गया। पर 'ल्' का महाप्राण रूप 'ल्ह' मिलता है; जैसे, कुल्हाड़ी, कुल्हड़ आदि में। 'व्' का महाप्राण उच्चारण 'व्ह् ' होता तो है, पर लिखा नहीं जाता। उच्चारण के अनुसार 'आह्वान' का रूप 'आव्हान' ही होना चाहिए, पर पढ़े-लिखे 'ह्व' का ठीक उच्चारण कुछ कुछ बनाए हुए हैं, अतः 'व्ह् ' भी छोड़ दिया गया है। 'म्ह् ' 'तुम्हारा' में है ही और 'न्ह्' 'उन्होंने' आदि में। 'ञ्' संस्कृत के शब्दों में 'परसवर्ण' ही मिलता है और बोलियों में चलता है, अतः उसे कोष्ठक में दिखा दिया गया है। पर 'ङ्' परसवर्ण ही नहीं 'वाङ्मय' में भी है। मूर्धन्य 'ष्' (ऊष्म) की बात कही जा चुकी है। विसर्ग (ः) संस्कृत के शब्दों में ही दिखाई देता है। यह अक्षरों के पूर्व बैठकर उनकी ध्वनि ग्रहण कर लेता है।* काकल या उर से उच्चरित होने के कारण 'ह्' को उरस्य (औरस्य)† का काकल्य कहा जाता है।

उच्चारण

संस्कृत में उच्चारण का बहुत ही सूक्ष्म विचार किया गया है। व्याकरण के साथ शिक्षा भी जुड़ी रहती है। आत्मा बुद्धि की मध्यस्थता से अर्थों का मन से संयोग कराती है। मन जठराग्नि को उद्दीप्त करता है और वह अग्नि वायु को प्रेरित करती है। वायु प्रेरित होकर 'शिर' में टकराती है और टकराकर मुख में पहुँचती है, जहाँ वर्णों की उत्पत्ति होती है।‡ वर्णों का विभाग पाँच प्रकार से हो सकता है—स्वर से, काल से, स्थान से, प्रयत्न से और अनुप्रदान से। स्वर के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। स्थान आठ

---

* अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।—पाणिनीय शिक्षा।

† हकारं पञ्चभिर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्यं तं विजानीयात् कंठ्यमाहुरसंयुतम्॥—वही।

‡ आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः॥—वही।

माने जाते हैं—उर, कंठ, शिर (मूर्धा), जिह्वामूल, दंत, नासिका, ओष्ठ और तालु।* जिह्वा के भी चार भाग किए गए हैं—अग्र, उपाग्र, मध्य और मूल।† प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं—आभ्यंतर और बाह्य। ओष्ठ से लेकर काकलक तक आस्य कहलाता है।‡ वर्णोच्चारण में जो प्रयत्न आस्य में होता है उसे आभ्यंतर कहते हैं। 'काकलक' गले में टेंटुए की सीध का उभरा भाग है। काकलक के नीचे जो प्रयत्न होता है उसे बाह्य कहते हैं।+ आभ्यंतर प्रयत्न के चार प्रकार हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, संवृत और विवृत। इस प्रकार आस्य में अवयवों का स्पर्श, संकोच और विस्तार आभ्यंतर प्रयत्न से होता है। बाह्य प्रयत्न आठ प्रकार के होते हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण।× विवार और संवार गले का विकास और संकोच है।÷ काकलक में श्वास का या नाद का अनुप्रदान⊙ होने से क्रमशः अघोष और घोष ध्वनियाँ होती हैं। जिनमें 'प्राण' (वायु) का प्रदान कम (अल्प) होता है वे अल्पप्राण कहलाती हैं और जिनमें अधिक वे महाप्राण। प्रयत्न-विवेक की सारणी यहाँ दी जाती है—

---

* अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कंठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥—पाणिनीय शिक्षा।

† स्पृष्टतादि, जिह्वाया अग्रोपाग्रमध्यमूलानि।—प्रदीप।

‡ आस्यम्। ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलात्।—महाभाष्य।

+ काकलकाधस्ताद्गलविवरविकाससंकोचश्वासोत्पत्तिध्वनिविशेषरूपनादतद्विशेषरूपघोषाल्पघोषप्राणाल्पत्वमहत्त्वरूपकार्यकारित्वमेषाम्। वायुः, उक्तयत्नसहायेन तत्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादिस्पर्शपूर्वकं तत्तत्स्थानाभिघातका यत्नास्ते अस्यान्तर्गततत्तत्कार्यकारित्वादाभ्यन्तरा इत्युच्यन्ते। गलविवरविकासादिकराश्चास्यबहिर्भूतदेशे कार्यकरत्वाद् बाह्या इति।—शब्देंदुशेखर।

× महाभाष्य में आठ ही बाह्य प्रयत्न कहे गए हैं। कैयट ने उदात्त, अनुदात्त और स्वरित मिलाकर ग्यारह माने हैं।

÷ विवारसंवारौ कण्ठविलस्य विकाससंकोचौ।—नागेशकृत उद्योत।

⊙ अनुप्रदानं बाह्यप्रयत्नः।—शब्देंदुशेखर।

प्रयत्न-विवेक

बाह्य प्रयत्न	विवार श्वास अघोष			संवार नाद घोष*								
	अल्पप्राण	महाप्राण		अल्पप्राण							महाप्राण	
						उदात्त अनुदात्त स्वरित						
वर्ण †	च प क ट त	छ फ ख ठ थ	श ष स	ज ब ग ड द	ञ म ङ ण न	अ	इ उ ऋ ऌ	ए ओ	ऐ औ	य व र ल	झ भ घ ढ ध	ह
आभ्यंतर प्रयत्न	स्पृष्ट		ईषद्विवृत	स्पृष्ट		ह्रस्व संवृत विवृत				ईषत्स्पृष्ट	स्पृष्ट	ईषद्विवृत

अ और आ में मात्रा का ही भेद है, अतः उनके स्थान-प्रयत्न एक ही हैं। यही बात इ, ई और उ, ऊ की भी समझनी चाहिए। अ और ह का उच्चारण कंठ से होता है;‡ इ, य का तालु से; उ का ओष्ठ से; व का दंत और ओष्ठ दोनों से; र का मूर्धा से; ल का दंत से; ए, ऐ का कंठ-तालु से और ओ, औ का कंठ-ओष्ठ से। ह्रस्व 'अ' का प्रयत्न

---

* बाह्यप्रयत्नों में तीन दृष्टियाँ स्पष्ट हैं—साँस का वेग, ध्वनि और गले की स्थिति। श्वास और नाद भेद साँस के वेग के कारण हैं, अघोष और घोष ध्वनि के कारण तथा विवार और संवार गले की स्थिति के कारण। अघोष और विवार का उपलक्षण श्वास है तथा घोष और संवार का नाद—नादेति संवारघोषयोरुपलक्षणम्। श्वासेति विवाराघोषयोः।—शब्देंदुशेखर।

† प्रत्याहारों से मिलान कीजिए तो उनकी वैज्ञानिकता का भेद खुले—अइउण् १। ऋऌक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। ञमङणनम् ७। झभञ् ८। घढधष् ९। जबगडदश् १०। खफछठथचटतव् ११। कपय् १२। शषसर् १३। हल् १४।

‡ कण्ठ्यावहौ—पाणिनीय शिक्षा।

संवृत है। पर प्रक्रिया में वह भी विवृत ही माना गया है।* विसर्ग जिस वर्ण के साथ आता है उसी के ऐसा उसका उच्चारण हो जाता है। पाणिनि ने कवर्ग का उच्चारण जिह्वामूल से माना है। क, ख के पहले विसर्ग का उच्चारण जिह्वामूल से ही होता है; प, फ के पहले ओष्ठ से।

ऊपर जितना विवरण दिया गया है उससे बहुत अधिक विचार स्थान-प्रयत्न के संबंध में हुआ है। स्वरों का प्रयत्न यहाँ विवृत माना गया है। पर पश्चिम में 'संवृत' ई और ऊ का उल्लेख है। ध्यान देने से पता चलेगा कि संवृत (क्लोज) का वहाँ जो विचार है उससे यहाँ के विचार में भिन्नता है। यहाँ 'आस्य' के बहुत कुछ बंद हो जाने को ही 'संवृत' कहेंगे। इसी से स्वर यहाँ 'विवृत' ही हैं।

व्यक्ति की दृष्टि से भी उच्चारण का विचार किया गया है। पाणिनि कहते हैं कि जैसे बाघिन बच्चे को दाढ़ों में भरपूर दाबकर ले जाती है, न बच्चा छूट ही पड़ता है और न उसे दाँतों की चोट-चपेट ही लगती है वैसे ही उच्चारण में भी सावधानी रखनी चाहिए। न तो वर्ण मुँह से चू ही पड़े और न उसे चबाना ही पड़े।† (पाणिनि के अहोभाग्य कि उन्होंने बाघिन देखी और उसका दृष्टांत दिया, अन्य जन बाघ की मौसी बिल्ली से ही कुछ सीखें)। शंकित या भीत होकर, खींच-खींचकर, अव्यक्त या नकियाकर नहीं बोलना चहिए। 'काँव-काँव' करना, वर्णस्थान का ध्यान न रखकर बकना भी ठीक नहीं। फुस्सफुस्स, चबाकर, शीघ्र, टंकार देकर या गाकर बोलना बुरा है।‡ मधुर, सुस्पष्ट, सुस्वर और सधैर्य बोलना उत्तम है। कहाँ तक कहें, पढ़ने के गुण या अवगुण का बड़ा भारी लेखा-जोखा दिया गया है।×

---

* ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।
—सिद्धांतकौमुदी।

† व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥—पाणिनीय शिक्षा।

‡ शंकितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम्॥—वही।

× माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥—वही।

ध्वनिपरिवर्तन

भाषा में नित्य परिवर्तन होता रहता है, अर्थ में भी और ध्वनि में भी। यह परिवर्तन प्रत्येक व्यक्ति किया करता है। किंतु भाषा का उद्देश्य है पारस्परिक भाव-विनिमय, इसलिए यदि उसमें ऐसा परिवर्तन हो जाय कि बोधव्य वक्ता का कहा न समझ सके तो भाषा का प्रयोजन ही खतरे में पड़ जाय। इसलिए परिवर्तन चाहे जान में हो चाहे अनजान में, चाहे कर्ण के सदोष होने से हो चाहे जिह्वा के, किंतु मूलरूप को रक्षित रखने का प्रयत्न जानबूझ कर शक्तिभर किया जाता है। समृद्ध भाषा में व्याकरण आदि की व्यवस्था इसी का परिणाम है। यही कारण है कि साहित्यिक भाषा में उतनी शीघ्रता से परिवर्तन नहीं होता जितनी शीघ्रता से असाहित्यिक बोली में, जहाँ व्याकरण आदि की व्यवस्था ही नहीं होती। व्यक्ति के द्वारा जो परिवर्तन होता है वह तो होता ही है, देशांतर या भाषांतर से भी परिवर्तन उपस्थित होता है। इस प्रकार परिवर्तन वैयक्तिक और भौगोलिक दोनों ही कारणों से होता है। इन्हीं परिवर्तनों में से जब कोई परिवर्तन स्वीकृत होकर चल पड़ता है तो रक्षित रखने की प्रवृत्ति के कारण लोग उसे जिलाने या पालने लगते हैं। यही कारण है कि परिवर्तन बहुत कुछ नियमित होता है। इसलिए इसके नियमों का निर्देश किया जा सकता है। प्राकृत में संस्कृत-शब्दों का परिवर्तन किन किन नियमों के अनुसार हुआ है इसका विचार वैयाकरणों ने पर्याप्त किया है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। एक बार परिवर्तन हो चुकने के अनंतर कालान्तर में उन परिवर्तित रूपों में भी फिर परिवर्तन होता है। यदि कोई भाषा साहित्यिक हो जाती है तो उसमें पुराने रूपों के लाने की प्रवृत्ति भी जगती है। इस प्रकार ध्वनि-नियमों के अपवाद खड़े होने लगते हैं। भारत में जब जब प्र कृतों ने साहित्यिक रूप ग्रहण किया तब तब उनमें संस्कृत के शब्दों का फिर से नियोजन हुआ। केवल परंपरा को ढोनेवालों ने तो संस्कृत के नए आए शब्दों का भी अंग-भंग कर डाला, पर जिन्होंने ऐसा नहीं किया उनकी रचना में संस्कृत के नए आए शब्द बहुत कुछ तत्सम रूप लिए भी दिखाई पड़ते हैं। भारत की आधुनिक देशी भाषाओं में संस्कृत की सर्वत्र योजना इसी कारण हुई है। कोई लाख सिर पटके, राजनीतिक धमकी दे, इस प्रवृत्ति को रोक नहीं सकता। जनता में स्वयम् प्रतिवर्तन की वृत्ति भी जगती है। जब कोई योजना चरम सीमा को लाँघने लगती है तो

जनता फिर लौटती है। इधर लोग जो तद्भव या ठेठ शब्दों की ओर झुक रहे हैं उसका कारण संस्कृत की छौंक का अधिक हो जाना है।

इस प्रकार ध्वनि के नियमों के जो अपवाद हुआ करते हैं उनमें सबसे मुख्य है 'साम्य'। हिंदी में समस्तता को प्रकट करने के लिए संख्यावाचक शब्दों में 'ओ' प्रत्यय लगाते हैं। तीन से तीनो, चार से चारो, पाँच से पाँचो और छ से छओ आदि। इसी नियम से 'दो' से 'दोओ' होना चाहिए, बोलियों में 'दुऔ' चलता भी है, पर खड़ी में इसका रूप है 'दोनो'। यह 'तीनो' के साम्य पर बन गया है। 'नाना' की नकल 'मामा' ने की, जो स्वयम् संस्कृत का 'मातुल' था। काका, चाचा, ताता, दादा, बाबा, लाला सबकी वही दशा है। 'रक्तिमा' के साँचे में 'लालिमा' और 'हरीतिमा' के ढलने की कथा कही जा चुकी हैं। संस्कृत की सी ध्वनि लाने के लिए हिंदी के बहुत से शब्द संस्कृत हो गए हैं अर्थात् वेश बदल चुके हैं। 'सींचना' 'सिंचन' बन गया, फिर 'अभिसिंचन' हुआ। 'कृति' का स्वाँग 'जागृति' ने भी भरा (संस्कृत में तो जागर, जागरण, जागरा, जागर्ति, जागर्या ही हैं)। पूरबी बोली में 'रंचिक' (रक्तिका-घुँघची) 'थोड़े' के अर्थ में चलता है, इसी का भाई 'रंच' है। इसमें 'रत्तीभर' संदेह नहीं कि 'रंच' 'रक्तिका' का सपूत है, 'न्यंच' का बेटा नहीं।

इन ध्वनियों के नियम बाँधने के लिए पश्चिमी देशों में ग्रिम, ग्रास-मान, वर्नर आदि ने एकदेशीय प्रयत्न किए हैं। ग्रिम ने नई-पुरानी कई आर्यभाषाओं की ध्वनियों को सामने रखकर वर्ण-परिवृत्ति के नियम बनाए—संस्कृत, लातीनी, यवनानी, गाथी, जर्मनी और अँगरेजी की। नियम यों बना—

संस्कृत या यवनानी	गाथी	उच्च-जर्मनी
प् (अघोष अल्पप्राण)	फ् (अघोष महाप्राण)	ब् (घोष अल्पप्राण)
फ् (अघोष महाप्राण)	ब् (घोष अल्पप्राण)	प् (अघोष अल्पप्राण)
ब् (घोष अल्पप्राण)	प् (अघोष अल्पप्राण)	फ् (अघोष महाप्राण)
क् (प्रथम)	ह् (ख्)* (द्वितीय)	ग् (तृतीय)
ख् (द्वितीय)	ग् (तृतीय)	क् (प्रथम)
ग् (तृतीय)	क् (प्रथम)	ख् (द्वितीय)

* गाथी में 'ह्' का उच्चारण जिह्वामूलीय होता है; जैसे फारसी ख़् का।

संस्कृत या यवनानी	गाथी	उच्च-जर्मनी
त् (१)	थ् (२)	द् (३)
थ् (२)	द् (३)	त् (१)
द् (३)	त् (१)	त्स् (२)

ग्रिम के नियमों पर बहुत अधिक विचार हुआ और उसके अनुसार उसकी सदोषता भी हटाई गई। उसका निर्दोष नियम यह ठहराया जाता है—

	अल्पप्राण			घोष			महाप्राण		
संस्कृत आदि में—	क्	त्	प्	ग्	द्	ब्	घ्	ध्	भ्
अँगरेजी आदि में—	ह्	थ्	फ्	क्	त्	प्	ग्	द्	ब्
	महाप्राण			अघोष			अल्पप्राण		

दो-चार उदाहरण लीजिए—

संस्कृत	यवनानी	लातीनी	गाथी	अँगरेजी	उच्च-जर्मनी
कः	को	×	ख्वो	हू	ह्वेर
त्रयः	त्रेइस	त्रेस	थ्रेइस	थ्री	×
पिता	पेतर	पापा	फादर	फादर	वेतर
गो	×	×	×	काउ	कू

ग्रिम के इन नियमों से भी काम न चला। संस्कृत 'दुहिता' का अँगरेजी में 'दातर' (डाटर) ही होता है, होना चाहिए 'तातर'। अतः ग्रासमान ने भाष्य किया कि दो महाप्राण ध्वनियाँ एक साथ (एक अक्षर = सिलेबुल में) नहीं रह सकतीं। 'दुहिता' के 'दुह्' को मूलभाषा का 'धुह्' माना गया। संस्कृत में भी यह नियम चलता है।*

ग्रासमान के नियम के अनंतर भी अपवाद मिलने लगे। इसका परिष्कार वर्नर साहब ने किया। 'शतम्' का अँगरेजी में 'हंड्रेद' (हंड्रेड) होता है, नियम से 'हंथ्रेद' होना चाहिए; 'त्' का 'थ्', 'द्', नहीं। वर्नर ने बताया कि यदि क्, त्, प् के ऊपर उदात्त स्वर होगा तो ग्रिम का नियम न लगेगा और उनके स्थान पर ग्, द्, ब् हो जायँगे। 'शतम्' में 'त' पर उदात्त स्वर है। इसी प्रकार ज्यों ज्यों अपवाद मिलते गए, नई नई खोज से उनका परिष्कार किया गया।† हिंदी की दृष्टि से इन सबका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, केवल जानकारी के लिए इतना उल्लेख प्रर्याप्त है।

---

* झला जश् झशि—अष्टाध्यायी, ८।४।५३

† देखिए 'भाषारहस्य' (प्रथम भाग)।

ध्वनिविकार

ध्वनिविकार का मुख्य कारण है उच्चारण का सुभीता। भाषाओं के परिवर्तन में 'मुखसुख' का बड़ा महत्त्व है। आज तक जितने परिवर्तन हुए या हो रहे हैं उनमें यही मुखसुख या प्रयत्न-लाघव प्रधान दिखाई देता है। इस प्रयत्न-लाघव के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। इनमें से कुछ मुख्य प्रकारों का निर्देश किया जाता है। वे हैं—(१) वर्ण-विपर्यय (मेटाथिसिस), (२) आद्यागम या पुरोहिति (प्रोथिसिस), (३) अपिनिहिति (एपेंथिसिस), (४) स्वरभक्ति (अनप्टिक्सिस), (५) अक्षरलोप (हैप्लोलॉजी), (६) सवर्णता (एस्सिमिलेशन) और (७) असवर्णता (डिस्सिमिलेशन)। उदाहरण लीजिए—

(१) वर्णविपर्यय बोलचाल में बहुत होता है। पटने में 'आदमी' नहीं 'आमदी' रहते हैं। पंजाबी को 'मतलब' से क्या मतलब, वह आपको 'मतबल' समझाता है। बनारस में बाबुओं का नौकर कहीं 'पहुँचता' नहीं 'चहुँपता' है। कनौजिया 'लखनऊ' नहीं 'नलखऊ' जाते हैं। अंतर्वेदी (द्वाबा) के निवासी का 'नुकसान' नहीं 'नुसकान' होता है। पूरब में लोग नदी में 'बूड़ते' हैं, पश्चिम में 'डूबते' हैं। संस्कृत में भी विपर्यय के उदाहरण मिलते हैं। उत्तर में प्रायः 'नारिकेल' ही सुनते हैं, दक्षिण में 'नालिकेर' भी होता है। 'मिहिका' तो थी ही 'हिमिका' (सफेद बर्फ) भी होती है। (२) आद्यागम वहाँ होता है जहाँ किसी ध्वनि के ठीक ठीक उच्चरित होने में कठिनाई होती है, प्रायः संयुक्त व्यंजनों से आरंभ होनेवाले शब्दों में ऐसा होता है। कोई लघु स्वर यदि आरंभ में जोड़ दिया जाय तो सुभीते से उच्चारण होने लगता है। अ, इ स्वर प्रायः आदि में आ बैठते हैं। बोलचाल में 'स्थायी' को 'अस्थाई' कहते हैं, इसी से 'अस्थाई' बन गई जिसका अर्थ होता है 'बैठक' या 'गोष्ठी'। 'स्फार' से 'अप्फार' हुआ, इसी से 'अफरा' होने लगा, जो पेट फूलने का रोग है। 'स्तरी' (स्तर या तह करनेवाली) से 'इस्तरी' हुई, जिससे धोबियों की 'इस्तिरी' बनी, जो कपड़ों की शिकन मिटानेवाले लोहे या पीतल के औजार का नाम है। 'स्ट्रिंग' (रस्सी) से 'इस्ट्रिंग' बनी, फिर 'इस्तंगी' हो गई, जो पाल के छोरों को अँटकानेवाली डोर का नाम है। संयुक्त वर्णों के आदि में ही नहीं यों भी इन स्वरों का आगम होता है। तुर्की 'याल' से 'अयाल' हुआ जो घोड़े या सिंह की गर्दन पर के बालों के लिए चलता है। 'लोप' के लिए 'अलोप', 'कलंक' के लिए 'अकलंक', 'चक' (भरपूर) के लिए

—भूषण), 'भक्त' से 'भत्त' (भात), 'धर्म' से 'धम्म' (धम्मपद), 'कर्म' से 'कम्म' (काम)। (७) असवर्णता में सवर्णता का उलटा होता है। एक ही ध्वनि बार बार आकर कानों को खटकती या बोलने में अँटकती है। ऐसी स्थिति में पुनरुक्ति बचाने के प्रयत्न में एक ध्वनि किसी दूसरी ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है; जैसे, 'नवनीत' से 'नोनी' और फिर 'लोनी' निकली, 'पिपासा' से 'प्यास' (पूर्वा पिआस या पियास) हो गई।

विदेशी शब्द जब किसी भाषा में गृहीत होते हैं तो जनता मन-माना अर्थ बैठाकर मिलती-जुलती ध्वनि में उन्हें बोलती है, वहाँ ये नियम नहीं लग सकते। 'आर्ट्‌स कालिज' को बनारस के इक्केवाले 'आठ कालिज' कहते हैं। फल यह हुआ कि आगे के कालिजों का नाम 'नौ कालिज, दस कालिज, ग्यारह कालिज' पड़ गया। 'डिपाजिट' को मारवाड़ी 'डब्बाजीत' बोलते हैं। 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' तक को 'अँधेरी मजिट्टर' बनना पड़ा। कैसा अँधेर है! संतरी का 'हू कम्स देयर' (कौन आता है) 'हुकुम सदर' हो गया।

स्वराघात

बोलते समय वाक्य के शब्दों पर या शब्द के किसी अंश पर जोर देना पड़ता है। यदि 'वह चलेगा' सामान्यतः कहा जाय तो जिस अर्थ का बोध होता है उससे भिन्न अर्थ का बोध होगा यदि 'चलेगा' पर जोर दिया जाय; इससे 'निश्चय' प्रकट होगा। 'वह' पर जोर देने से कभी 'निर्देश' और कभी 'आश्चर्य' प्रकट होगा। शब्द के किसी अंश पर स्वराघात होने से अर्थ बदल जाता है, इसका उदाहरण पहले दिया जा चुका है। स्वराघात दो प्रकार का होता है—गीतात्मक (पिच या म्यूजिकल) और बलात्मक (स्ट्रेस)। गीतात्मक स्वराघात में ध्वनि अक्षर के स्वराघात के अनुसार कभी ऊँची और कभी नीची करनी पड़ती है।* बलात्मक स्वराघात में किसी अक्षर पर अत्यधिक जोर देना पड़ता है। इसलिए उसकी ध्वनि तीखी सुन पड़ती है। किसी भाषा के गीतात्मक स्वराघात की ध्वनि किसी अजनवी के लिए संगीत-मधुर और बलात्मक की ध्वनि हथौड़े की 'ठक् ठक्' सी जान पड़ेगी। संस्कृत, यवनानी आदि में गीतात्मक और अँगरेजी, फारसी आदि में बलात्मक स्वराघात की प्रधानता है। हिंदी में गीतात्मक

---

* संस्कृत में स्पष्ट कहा गया है—उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। समाहारः स्वरितः।—सिद्धांतकौमुदी।

स्वराघात वाक्यों में पाया जाता है। बलात्मक स्वराघात भी मिलता अवश्य है, पर दीर्घ या गुरु वर्ण के साथ उसके भेद में कठिनाई पड़ती है। हिंदी में अपूर्णोच्चरित 'अ' * जिस अक्षर में हो उसके पूर्व के अक्षर पर जोर पड़ता है; जैसे, 'धंन' 'नंटखंट'। संयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्ती अक्षर पर जोर पड़ता है; जैसे, सत्य। अनुस्वार और विसर्गयुक्त अक्षर का उच्चारण भी झटके से होता है; जैसे, वंश, दुःख।

हिंदी के छंदों में बलात्मक स्वराघात मिलता है; विशेषतः सवैयों और कबित्तों में। इसके उदाहरण 'पिंगल' के प्रकरण में पहले दिए जा चुके हैं (देखिए पृष्ठ १२३)। गणों का स्वरूप नियत होने पर भी ब्रजी और अवधी की तो बात ही क्या, खड़ी में भी सवैयों में दीर्घ वर्ण ह्रस्ववत् इसी स्वराघात के कारण हो जाते हैं। गाथी भाषा में बलात्मक स्वराघात के कारण संस्कृत के 'पिता' केवल 'ता' रह गए। इसमें अंतिम 'आ' पर 'बल' था।

अक्षरावस्थान

गीतात्मक स्वराघात में स्वर की प्रकृति में ही परिवर्तन हो जाता है; जैसे, 'इ' का 'ए' या 'उ' का 'ओ' हो जाना। प्रकृति और प्रत्यय के योग से जो 'सुबंत' या 'तिङंत' पद बनते हैं उनमें कहीं तो स्वराघात प्रकृति पर होता है और कहीं प्रत्यय पर, अतः परिवर्तन उपस्थित होने लगता है। इस प्रकार जो परिवर्तन होते हैं उन्हें 'अक्षरावस्थान' (वावेल-ग्रेडेशन) कहते हैं। पहले दिखाया गया है कि पश्चिमी भाषाविद् 'अग्रस्वर' और पश्चस्वर' नाम से दो कोटियाँ मानते हैं। प्रत्येक कोटि में मानस्वरों के अतिरिक्त एक अर्धस्वर भी होता है। इस प्रकार 'अक्षरावस्थान' की भी दो कोटियाँ या श्रेणियाँ अथवा मालाएँ हो जाती हैं। प्रत्येक श्रेणी के आरंभ में अर्धस्वर और अंत में दीर्घ संध्यक्षर होता है—

ऍ-माला—य, इ, ए (अइ), ऐ (आइ)।
ऑ-माला—व, उ, ओ (अउ), औ (आउ)।

---

* हिंदी में 'अ' का उच्चारण विशेष ध्यान देने योग्य है। शब्द के अंत्य 'अ' का उच्चारण नहीं होता या वह अपूर्ण उच्चरित होता है; जैसे, मन=मन्, चाल=चाल्। पर उसके संयुक्त अक्षर होने से उच्चारण होता है; जैसे, चंद्र, तथ्य, अन्न आदि। विशेष ज्ञान के लिए देखिए 'हिंदी-व्याकरण' (श्रीकामताप्रसाद गुरु)।

संस्कृत में इनके नाम संप्रसारण (य, व), गुण (अ, ए) और वृद्धि (आ, ऐ, औ) हैं।* इनका चक्र यों होगा—

अक्षरावस्थान
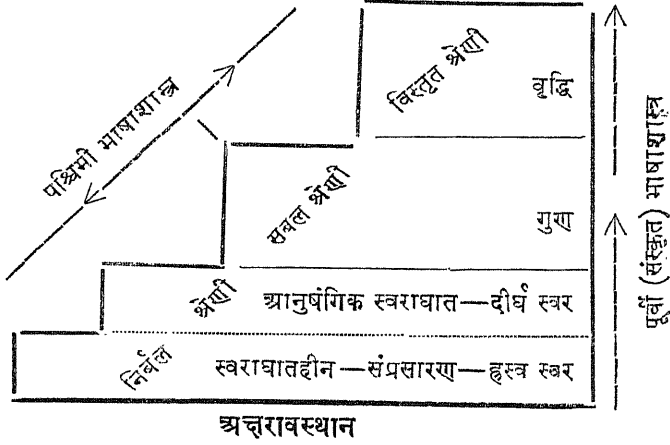
पश्चिम के आधुनिक भाषाविज्ञानी 'सबल श्रेणी' (स्ट्रांग ग्रेड) को मूल मानकर चलते हैं और एक सीढ़ी ऊपर 'विस्तृत श्रेणी' (लेंग्थेंड ग्रेड) मानते हैं तथा एक सीढ़ी नीचे 'निर्बल श्रेणी' (वीक ग्रेड)। पर संस्कृत के प्राचीन वैयाकरण 'निर्बल श्रेणी' को ही मूलाधार मानकर चले हैं और उन्होंने दो सीढ़ियाँ क्रमशः ऊपर की ओर मानी हैं। निर्बल श्रेणी के दो विभाग हैं—एक तो लगभग स्वराघातहीन स्थिति और दूसरे आनुषंगिक (सेकेंडरी) स्वराघातयुक्त स्थिति।

अपश्रुति

ध्वनि (स्वर) का परिवर्तन दो प्रकार का होता है—स्वरूप-संबंधी (क्वालिटेटिव) और मात्रा-संबंधी (क्वांटिटेटिव)। 'अक्षरावस्थान' में तो मात्रा-संबंधी परिवर्तन होता है और 'अपश्रुति' (अब्लाउत) में स्वरूप-संबंधी। किसी एक कोटि का स्वर जब दूसरी कोटि के समानांतर स्वर में बदले तो उसे 'अपश्रुति' कहेंगे। ह्रस्व और दीर्घ तथा अग्र, पश्च और मिश्र स्वर के भेद से छह प्रकार की मालाएँ हो जाती हैं; ह्रस्व स्वर में ऍ-माला, अ-माला और ऑ-माला एवम् दीर्घ स्वर में ए-माला, आ-माला और ओ-माला। प्रस्तार के अनुसार इनमें से प्रत्येक के साथ दूसरी ध्वनि लगी रह सकती है, अतः इनके अन्य उपभेद हो जाते

* इग्यणः संप्रसारणम् १।१।४५, अदेङ्गुणः १।१।२, वृद्धिरादैच् १।१।१—अष्टाध्यायी।

इनमें लगनेवाली ध्वनियाँ अर्धस्वर (य्, व्), द्रव्य (र्, ल्) और अनुनासिक (न्, म्) होती हैं। प्रत्येक उपभेद में पहला तो केवल वह स्वर होता है और शेष उपभेद उस स्वर से इन छह में से प्रत्येक के मिलने से बनते हैं। अतः कुल सात उपभेद हो जाते हैं। दीर्घ स्वरों में द्रव और अनुनासिक के साथ योग के उदाहरण नहीं मिलते, यद्यपि वे हो सकते हैं। इनमें पूर्वकथित निर्बल, सबल और विस्तृत तीनों श्रेणियाँ भी होती हैं। निर्बल श्रेणी में भी स्वराघातहीन और आनुषंगिक स्वराघात दो भेद होते हैं। सबल और विस्तृत दोनों श्रेणियों में एक तो माला का मूल स्वर हुआ और दूसरे अपश्रुतिज स्वर का मेल, अतः उनमें भी दो दो प्रभेद हो जाते हैं। जब माला का मूल स्वर दीर्घ रहेगा तो सबल तथा विस्तृत श्रेणी का पहला भेद नहीं बन सकता और जब मूल स्वर 'ऑ' होगा तो 'अपश्रुति' वाली श्रेणियाँ नहीं होंगी।* संस्कृत में केवल अ-माला और आ-माला मिलती हैं; अ-माला—अ, अय्, ए (इ या ई), अव्, ओ (उ या ऊ), अर् (ऋ), अल् (लृ), अन्, अम्। आ-माला—आ, आय्, ऐ (ई), आव्, औ (ऊ)।

वाक्यविचार

वाक्य का विन्यास शब्दों से होता है। प्रत्येक 'शब्द' किसी न किसी 'भाव' या 'प्रमा' (कंसेप्ट) का द्योतन करता है। प्रत्येक वाक्य में वस्तुतः दो भावों का योग रहता है; एक को 'उद्देश्य' और दूसरे को 'विधेय' कहते हैं। इन्हीं उद्देश्य और विधेय के विभिन्न संबंधों से वाक्यों के प्रकारों का निर्देश हो सकता है। इस संबंध की दृष्टि से वाक्य के तीन प्रकार माने गए हैं—निर्योगमूलक (आइसोलेटिंग), संयोगमूलक (एग्लूटिनेटिंग) और विकृतिमूलक (इन्फ्लेक्टिंग)। भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण में इनका उल्लेख हो चुका है। निर्योगमूलक ही निरवयव या व्यासप्रधान है। संयोगमूलक वही है जिसे प्रत्यय-प्रधान कहा गया है और विकृतिमूलक का ही नाम विभक्तिप्रधान है। वहाँ भाषाओं की 'आकृति' के आधार पर भेद किया गया है अतः निरवयव और सावयव भेद करके सावयव के समासप्रधान (इंकारपोरेटिंग), प्रत्ययप्रधान और विभक्तिप्रधान तीन भेद माने गए हैं। यहाँ भाषा के विकास की दृष्टि से वाक्यमूलक वर्गीकरण बताया गया है, अतः तीन

* देखिए श्रीतारापूरवाला प्रणीत 'एलिमेंटस आव् दि साइंस आव् दि लैंग्वेज'।

ही भेद किए गए हैँ। उधर समासप्रधान भाषाओँ मेँ शब्द की पृथक् स्थिति स्पष्ट नहीँ रहती, जैसा अमेरिका की कुछ भाषाओँ मेँ है, इधर वाक्य का विन्यास शब्द की पृथक् स्थिति पर आश्रित है। पहले माना जाता था कि प्रत्येक भाषा मेँ उक्त प्रकारोँ की तीनोँ स्थितियाँ एक के बाद एक आया करती हैँ, पर अब ऐसा नहीँ मानते। भाषा मेँ विभक्ति प्रत्ययोँ के अनंतर विभक्ति-चिह्नोँ का उद्भव होता है। हिंदी के 'ने, को, से' आदि चिह्न मात्र हैँ। यह विचार तो 'नाम' (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण) का हुआ। अब 'आख्यात' (क्रिया) पर आइए। आरंभ मेँ क्रियाओँ मेँ अर्थभेद 'उपसर्ग' के प्रयोग से होता था, संयुक्त क्रियाओँ या सहायक क्रियाओँ का उपयोग नहीँ सा था। संस्कृत मेँ संयुक्त क्रियाओँ का प्रयोग बहुत कम है। पर देशी भाषाओँ मेँ संयुक्त क्रियाओँ का प्रयोग बहुत होता है। खड़ी मेँ दो ही नहीँ तीन तीन, चार चार क्रियाएँ जुड़कर आती हैँ। संस्कृत के दसो लकारोँ का सूक्ष्मभेद और कारकोँ की विभक्तियोँ की दुर्गम प्रक्रिया संयुक्त या सहायक क्रियाओँ और विभक्ति-चिह्नोँ के प्रयोग से सुगम की गई है। संस्कृतवाली पहली स्थिति संहिति या संयोग (सिंथिसिस) और देशभाषावाली दूसरी स्थिति व्यवहिति या वियोग (एनलिसिस) कहलाती है। प्रत्येक भाषा मेँ ऐसा परिवर्तन हुआ करता है। हिंदी इस समय वियोगावस्था मेँ है। कारक-चिह्न शब्दोँ से सटाकर लिखे जायँ या हटाकर इस प्रश्न पर आधुनिक काल के मध्य मेँ हिंदी मेँ भारी विवाद खड़ा हुआ था, 'सटाऊ पक्षवाले' चिह्नोँ को पृथक् लिखना विलायती शैली मानते और उपेक्षणीय समझते थे। चाहे जो हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि हिंदी के ये कारक-चिह्न संस्कृत के विभक्ति-प्रत्ययोँ की भाँति अविभक्त नहीँ रह गए हैँ। विलायती मत कहकर इस सत्य की अवहेलना नहीँ की जा सकती। 'राम ही ने कहा है' मेँ 'राम' (प्रकृति) और 'ने' (प्रत्यय या चिह्न) के बीच निश्चयार्थक अव्यय 'ही' का लगना ही 'व्यवहिति' को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

रूपविचार

किसी अर्थ का बोध करानेवाले शब्द का व्याकरणिक रूप उसके मूल रूप से पृथक् होता है। इसी कारण पाणिनि ने 'शब्द' और 'पद' मेँ भेद किया है। प्रत्यय लगने के पूर्व जो 'शब्द' है वही प्रत्यययुक्त होकर 'पद' कहलाता है।* प्रत्यय के पूर्व 'शब्द' 'प्रातिपदिक' या 'धातु'

---

* सुप्तिङन्तं पदम्।—अष्टाध्यायी, १।१।१४

रूप में रहता है। एक ही 'शब्द' वाक्य के भीतर बैठकर कभी उसका कोई अवयव रहता है और कभी कोई दूसरा ही। 'नामधातु' पहले नाम रहते हैं पर धातु के रूप में भी उनका प्रयोग होता है। 'लज्जा' भाव है अर्थात् नाम है, पर 'लजाना' क्रिया है। अतः व्याकरणगत भेद एक ही शब्द या शब्दरूप में होता रहता है। जितने शब्द बनते हैं वे सब सीधे धातु से ही नहीं बनते। धातु से शब्द के बन जाने पर फिर उससे भी अन्य शब्द बनने लगते हैं। धातु से सीधे बननेवाले शब्दों में कुछ प्रत्यय लगते हैं और उनके बन जाने पर फिर उनमें दूसरे ही प्रत्यय लगाकर अन्य शब्द बनाए जाते हैं। सीधे धातु में जो प्रत्यय लगते हैं उन्हें 'कृत्' कहते हैं और जो प्रत्यय धातु से बने-बनाए शब्दों में लगते हैं उन्हें 'तद्धित' कहते हैं। यह तो हुआ भाषा में शब्दनिर्माण का तत्त्व। अब इन दोनों प्रकारों से बने शब्दों में व्याकरणगत प्रत्यय लगाकर उनका वाक्यगत संबंध व्यक्त किया जाता है। यही है रूपनिर्माण का तत्त्व। इस प्रकार शब्दों में कौन कौन से प्रत्यय लगते हैं इन सबका विचार विभक्तिप्रधान आर्यभाषाओं में इस प्रकार होगा—
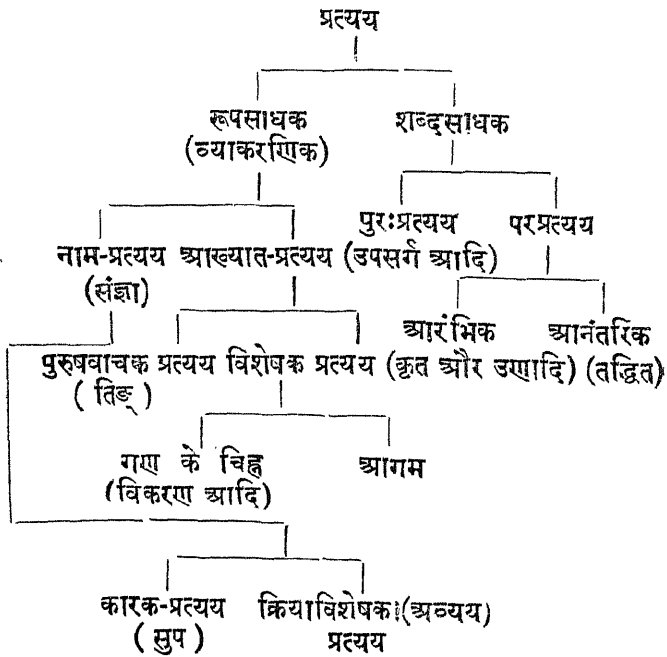
प्रत्येक 'पद' के दो टुकड़े होते हैं—प्रकृति और प्रत्यय। 'प्रकृति' साध्य होती है और प्रत्यय साधक। 'शिवः' शब्द में 'शिव' प्रकृति है और 'सु' (ः) प्रत्यय है। यह कारक-प्रत्यय है। क्रियाविशेषक या अव्यय के प्रत्यय (अथवा चिह्न) वैसे ही होते हैं जैसे कारक के। वस्तुतः इनमें इस दृष्टि से कोई भेद नहीं है। उदाहरण चाहे संस्कृत से लीजिए चाहे हिंदी से; संस्कृत में—अग्रे, अचरिम् , अचिरेण, अचिराय, अचिरात् आदि; हिंदी में—सबेरे, रात को, भूले से, कब का, वहाँ पर आदि। 'विकरण' धातु और प्रत्यय के बीच आनेवाला गण का चिह्न होता है। संस्कृत में 'पठ्' धातु से 'पठति' रूप बनता है जिसका विश्लेषण यों होगा—पठ् (धातु)+अ (विकरण) + ति तिङ् प्रत्यय=पठति (वह पढ़ता है)। 'आगम' पहले होता है; जैसे, अपठत्=अ (आगम) +पठ् (धातु)+अ (विकरण)+त् (तिङ् प्रत्यय)= अपठत् (उसने पढ़ा)। शब्दों के आरंभ में लगनेवाले प्रत्यय (उपसर्ग) धातु में भी लगते हैं और धातु से बने शब्द में भी। कहीं तो ये उसके अर्थ को भिन्न कर देते हैं, कहीं वही अर्थ बनाए रखते हैं और कहीं बढ़ा देते हैं।* शब्द के अंत में जो प्रत्यय लगते हैं वे 'परप्रत्यय' हैं। कुछ तो सीधे धातु में भी लगते हैं और कुछ धातु से बने शब्द में। पहले प्रकार के प्रत्यय 'कृत्', ('उणादि' भी) हैं और दूसरे प्रकार के 'तद्धित'।† 'गम्' (जाना) धातु में 'ति' कृत्-प्रत्यय लगने से 'गति' शब्द बना। यही 'मय' (मयट्) तद्धित-प्रत्यय लगने से 'गतिमय' हो गया।

शब्दों के निर्माण में द्विरुक्त या पुनरुक्त विधि का भी विशेष महत्त्व है। संस्कृत में तो 'जुहोत्यादि' गण के धातु में अक्षरों की ही

---

* धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्त्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा॥
मिलाइए सिद्धांतकौमुदी से—
उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥

† संस्कृत में वस्तुतः वृत्तियाँ पाँच हैं—कृत् , तद्धित, धातु, समास और एकशेष। धातु से भी धातु बनते हैं। 'एकशेष' में दो शब्दों में से एक ही रह जाता है; जैसे, 'माता च पिता च पितरौ', अतः यह द्वंद समास में गृहीत है।

द्विरुक्ति या द्वित्व होता है। 'पृ' (रक्षा करना) से बना 'पिपर्ति' (रक्षा करता है)। 'परोक्षभूत' में सभी का द्वित्व होता है; 'पत्' (गिरना) से 'पपात' (गिरा)। शब्दों की भी द्विरुक्ति होती है; जैसे, मुष्टीमुष्टि, हस्ताहस्ति, दंडादंडि, मुसलामुसलि, केशाकेशि आदि। हिंदी में भी बदाबदी, मारामारी, लट्ठमलट्ठा, धक्कमधक्का आदि शब्द चलते हैं। हिंदी में यौगिक पुनरुक्त शब्दों की खासी भीड़ है; जैसे हाथोंहाथ, रातोंरात, बीचोंबीच आदि। द्विरुक्ति के अतिरिक्त समास की विलक्षण प्रक्रिया आर्यभाषाओं में मिलती है। अन्य भाषा-परिवारों में वास्तविक समास प्रायः नहीं मिलते। जहाँ मिलते भी हैं वहाँ अधिकतर षष्ठी तत्पुरुष के ही उदाहरण। दो या दो से अधिक शब्द मिलकर जहाँ एक पद हो जाते हैं वहाँ समास होता है।* आर्य भाषाओं में आरंभ में तो अधिकतर दो शब्दों के ही समास मिलते हैं पर आगे चलकर समासों की लड़ी बँधने लगी। हिंदी की प्रवृत्ति समासबहुला नहीं है। वर्णनात्मक या वंदनात्मक प्रसंगों में तो कुछ लंबे समास जँचते भी हैं पर अन्यत्र उतने रुचिकर नहीं प्रतीत होते। यह प्रयत्न भी भाषा में सरलता ही लाने के लिए था। हिंदी के अपने समास अधिकतर दो ही शब्दों के बने होते हैं। 'अंजनीगर्भअंबोधि-संभूतविधु' या 'रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका' को लोग जो संस्कृत कहते और इनसे भड़कते हैं उसका कारण यही है।

पुराकालीन शोध

भाषाविज्ञानी पुराकालीन शोध में सबसे अधिक महत्त्व प्राचीन आर्यावास के निर्णय को देते हैं। आरंभ में ही यह कहा जा चुका है कि प्राचीन आर्यावास को यूरोप में कहीं ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न पश्चिमी विद्वान् बराबर करते आए हैं। अविनाशचंद्रदास ने बड़ी ही छानबीन के साथ सप्तसिंधु देश को ही प्राचीन आर्यावास प्रमाणित किया है। भारत को आर्यों का उपनिवेश मानने में राजनीतिक भाव-भंगिमा भी अवश्य रही है, अब इसे भी लोग कहने लगे हैं।† भारतीय आर्यों की परंपरा में बाहर से भारत में आ बसने का न तो कोई प्रवाद है और न उनके इतने विस्तृत वाङ्मय में उसका कहीं स्पष्ट उल्लेख ही। इतनी बड़ी बात की अवहेलना नहीं की जा सकती।

---

* पदयोः पदानां वैकत्र समसनं समासः।

† देखिए श्रीसंपूर्णानंद कृत 'आर्यों का आदिदेश'।

भले ही इस परंपरा को पुष्ट प्रमाण मानकर कोई न चले, पर इसका कोई विचार न करना और इसके विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण न देना सच्ची शोध नहीं हो सकती। अतः संस्कृत के अभिमानी कहने लग गए हैं कि हम कहीं बाहर से नहीं आए थे।*

भाषा के आधार पर आर्यों की प्राचीन सभ्यता का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया जाता है। उनके गार्हस्थ्य, सामाजिक, राजनीतिक, व्यावसायिक तथा मानसिक जीवन का विस्तृत विचार किया जाता है। भाषा की जैसी उन्नतावस्था वेदों में प्राप्त होती है और भाषा-विचार के जैसे ग्रंथ वैदिक युग में ही मिल जाते हैं उसके अनुसार यह तो मानना ही पड़ता है कि आर्यों की मानसिक स्थिति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। रमेशचंद्रदत्त आदि के स्वर में स्वर मिलानेवालों के मुख बंद हो गए हैं और वैसी ही सड़ी-गली बातें लिख मारने का समय भी लद चुका है। यह स्वीकृत करना पड़ा है कि उनकी सामाजिक, राजनीतिक और व्यावसायिक स्थिति सुदृढ़ और समृद्ध थी। गव्याशी, सोमपायी, अग्नियाजी, शतंजीवी, विशांपतिसेवी दंपती क्या वन्य जीव मात्र थे? 'मधुवाता ऋताय ते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वौषधीः' का पाठ करनेवालों के जीवनगत अभिलाष क्या सामान्य थे? कैसे आदर्शवादी रहे होंगे वे जिनकी वाणी यह कहते नहीं थकती थी—

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

---

* देखिए जयशंकर 'प्रसाद' कृत 'स्कंदगुप्त' नाटक।

नागरी लिपि

आर्यलिपियों का इतिहास

भारत में अत्यंत प्राचीन काल से लिपि का प्रचार है। 'श्रुति' और 'स्मृति' नामों से धोखा खाकर यह कहना ठीक नहीं कि भारत में लिपि विदेश से आई। जैसे वेद की वाणी ब्रह्मा के मुख से निकली मानी जाती है वैसे ही लिपि उनके पाणि से।* 'वेद' का नाम 'ब्रह्म' है, आदिलिपि का नाम भी ब्रह्म द्वारा निर्मित होते के कारण 'ब्राह्मी' है। ऋग्वेद में जुआड़ियों के पासे पर अंक बने होने का उल्लेख है।† अथर्ववेद में जुए की जीत के धन के लिखे होने की चर्चा है।‡ ऐतरेय ब्राह्मण में 'ॐ' 'अ', 'उ' और 'म्' वर्णों के योग से बना कहा गया है। + छांदोग्य उपनिषद् में वर्ण के अर्थ में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग है। × पाणिनि ने तो 'लिपि' शब्द का ही व्यवहार किया है। ÷ कामसूत्र में जिन चौंसठ कलाओं का वर्णन है उनमें एक कला पुस्तक-वाचन भी है।

बौद्धों के वाङ्मय में अक्षरों की बुझौवल के खेल 'अक्खरिका' (अक्षरिका) ⊙ का नाम आया है, भिक्षु के लिए यह खेल वर्जित था।

---

* ना करिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शभा गतिः॥—नारदस्मृति।

† अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्।—१०।३४।२।

‡ अजैषं त्वा संलिखितमाजैषमुत संरुधम्।—७।५०।५।

\+ तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति ताने-कधा समभरत्तदोमिति।—५।३२।

× हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम्। आदिरिति द्व्य-क्षरम्।—२।१०।

÷ दिवाविभानिशाप्रभा····लिपिलिबिबलिभक्ति·····।

—अष्टाध्यायी, ३।२।२१।

लिपिलिबिशब्दौ पर्यायौ—सिद्धांतकौमुदी।

⊙ देखिए 'सुत्तंत' में 'शील'-संबंधी बुद्ध के वचन।

'ललितविस्तर' में तो चौंसठ प्रकार की लिपियों के नाम दिए गए हैं।* जैन वाङ्मय में भी अठारह प्रकार की लिपियों का उल्लेख है।† इस प्रकार प्रमाणित है कि ईसा से पूर्व भारत में लिपिविद्या बहुत उन्नत थी। अशोक के धर्माभिलेखों से तो भली भाँति प्रमाणित है कि दो लिपियों का प्रचार उस समय निश्चित था।‡ एक थी ब्राह्मी, जो बाईं ओर से दाईं ओर को लिखी जाती थी और दूसरी 'खरोष्ठी' + जो दाईं ओर से बाईं ओर को। बहुत प्राचीन काल की लिपियों का प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने का कारण यह है कि जिन वस्तुओं पर वे लिखी

*ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारी, अंग, वंग, मगध, मांगल्य, मनुष्य, अंगलीय, शकारि, ब्रह्मवल्ली, द्राविड़, कनारि, दक्षिण, उग्र, संख्या, अनुलोम, ऊर्ध्वधनु, दरद, खास्य, चीन, हूण, मध्याक्षरविस्तर, पुष्प, देव, नाग, यक्ष, गंधर्व, किंनर, महोरग, असुर, गरुड़, मृगचक्र, चक्र, वायुमरु, भौमदेव, अंतरिक्षदेव, उत्तरकुरुद्वीप, अपरगौड़ादि, पूर्वविदेह, उत्क्षेप, निक्षेप, विक्षेप, प्रक्षेप, सागर, वज्र, लेखप्रतिलेख, अनुद्रुत, शास्त्रावर्त, गणावर्त, उत्क्षेपावर्त, विक्षेपावर्त, पादलिखित, द्विरुत्तरपदसंधिलिखित, दशोत्तरपदसंधिलिखित, अध्याहारिणी, सर्वरुत्संग्रहणी, विद्यानुलोम, विमिश्रित, ऋषितपस्तप्त, धरणीप्रेक्षण, सर्वौषधनिष्यंद, सर्वसारसंग्रहणी और सर्वभूतरुद्ग्रहणी नामक लिपियाँ।

† बंभी, जवणालि, दोसापुरिया, खरोट्ठी, पुक्खरसारिया, भोगवइया, पहाराइया, उयंतरकिरिया, अक्खरपिट्ठिया, वेणइया, णिण्हत्तिया, अंक, गणित, गंधव्व, आदंस, माहेसरी, दामिली और पोलिंदी लिपियाँ।

—पन्नवणासूत्र।

‡ अशोक के धर्मलेख इन स्थानों पर मिले हैं—शहबाजगढ़ी (यूसुफजई, पंजाब), मानसेरा (हजारा, पंजाब), दिल्ली, खालसी (देहरादून, उत्तर-प्रदेश), सारनाथ (वाराणसी, उत्तरप्रदेश), रधिया, मथिया, रामपुरवा (तीनों चंपारन, बिहार में), सहसराम (शाहाबाद, बिहार), निगलिवा, रुम्मिंदेई (दोनों नैपाल की तराई में), धौली (कटक, उड़ीसा), जौगड़ (गंजाम, मदरास), बैराट (जयपुर), गिरनार (काठियावाड़), सोपारा (थाना, बंबई), साँची। भोपाल राज्य), रूपनाथ (मध्यप्रदेश), मसकी (हैदराबाद राज्य) और सिद्धापुर (मैसूर राज्य)। शहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेखों में खरोष्ठी और शेष में ब्राह्मी का व्यवहार हुआ है।

+ चीनी भाषा में 'किअ-लु-से-टो' (खरोष्ठी) का अर्थ 'गधे का होंठ' होता है।

जाती थीं वे नष्ट हो गईं। पाषाणों पर उत्कीर्ण लेख ही बचे रहे। बूलर ने ब्राह्मी वर्णों की उत्पत्ति फिनिशियाई वर्णों से बताई है और कहा है कि उन वर्णों को उलट-पलट कर इसके वर्ण बैठा लिए गए हैं। जिस विधि से यह व्युत्पत्ति बतलाई गई है उसके अनुसार तो किसी देश की किसी भी लिपि से किसी देश की कोई भी दूसरी लिपि व्युत्पन्न की जा सकती है। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने विस्तार के साथ 'प्राचीन लिपिमाला' में इसका विद्वत्तापूर्ण ढंग से खंडन किया है।

ब्राह्मी में प्राप्त शिलालेखों आदि के आधार पर ऐतिहासिक दृष्टि से इसका समय ईसापूर्व ५०० से ईसाई संवत् ३५० तक माना जाता है। ब्राह्मी में चौथी शती में स्पष्ट दो शैलियाँ दिखाई पड़ने लगी थीं जिन्हें उत्तरी और दक्षिणी नाम दिया गया है। उत्तरी शैली की ब्राह्मी से जिन लिपियों का देश-काल के अनुसार विकास हुआ वे गुप्त, कुटिल, नागरी, शारदा और बँगला हैं। दक्षिणी शैली के अंतर्गत विकसित लिपियाँ पश्चिमी, मध्यप्रदेशी, तेलुगुकंनड़, ग्रंथ, कलिंग और तमिल हैं।

गुप्तवंशी नरेशों के समय जो लिपि समस्त उत्तरी भारत में चलती थी उसका नाम **गुप्तलिपि** रख दिया गया है। इसमें कई वर्ण वर्तमान नागरी वर्ण के से दिखाई पड़ने लगे थे। माथे पर के चिह्न कुछ लंबे हुए और मात्राएँ नए साँचे में ढलने लगीं। इसका समय ईसा की चौथी और पाँचवीं शती है। गुप्तलिपि का विकसित रूप जो उत्तरी भारत में ईसा की छठी से नवीं शती के बीच दिखाई पड़ा वह 'कुटिल' कहलाता है, * इस लिपि में वर्णों के माथे पर 'त्रिकोण' (▼) सा बना होता था। वर्णों तथा मात्राओं की वक्र या टेढ़ी आकृति के कारण इसे **'कुटिल'** कहना ठीक ही है। दसवीं शती से उत्तर भारत में **'नागरी'** दिखाई देने लगती है। दक्षिण में तो आठवीं शती से ही इसके दर्शन होने लगे थे, जहाँ इसका नाम 'नंदनागरी' था। नागरी से ही बँगला, कैथी, गुजराती, मराठी आदि लिपियाँ निकली हैं। 'कुटिल लिपि' का जो विकास कश्मीर में हुआ वह 'नागरी' से भिन्न था, उसका नाम **'शारदा'** पड़ा। 'शारदा' 'नागरी' की बहन है। 'शारदा' से ही टक्करी और गुरुमुखी का भी विकास हुआ। 'नागरी' की पूर्वी

---

* विष्णुहरेस्तनयेन च लिखिता गौडेन करणिकेणैषा।
कुटिलाक्षराणि विदुषा तक्षादित्याभिधानेन ॥—एपिग्रैफिका इंडिका।
नो कायस्थैः कुटिललिपिभिर्नो विटैश्चाटुदक्षैः।—विक्रमांकदेवचरित।

शाखा से आरंभ में जो बँगला लिपि निकली उसी से वर्तमान बँगला, मैथिल और उड़िया लिपियों का विकास हुआ है।

दक्षिणी शैली के अंतर्गत **पश्चिमी** लिपि नाम पुराने समय में काठियावाड़, गुजरात, नासिक, खानदेश, सतारा आदि में मिलनेवाली लिपि का रखा गया है। **मध्यप्रदेशी** लिपि मध्यप्रदेश, हैदराबाद के उत्तर भाग और बुँदेलखंड में पिछले समय में मिलनेवाली लिपि का नाम है। **तेलुगु-कंनड़** लिपि नाम से ही स्पष्ट है कि वह वर्तमान तेलुगु और कंनड़ लिपियों की पूर्वजा थी। संस्कृत-ग्रंथों के लिखने में **ग्रंथ** नाम की भिन्न ही लिपि चलती थी। उसी से मलयालम और तुलु लिपियों का विकास हुआ है। **कलिंग** लिपि कलिंग देश की थी। **तमिल** लिपि के ही अंतर्गत उसकी घसीट लिपि भी है जिसे **'वट्टेलुत्तु'** कहते हैं।*

'नागरी' नाम

'नागरी' शब्द लिपि के लिए कैसे चल पड़ा, इस पर भिन्न भिन्न मत हैं। एक मत तो यह है कि 'नगरों' में जो लिपि चलती थी वह 'नागरी' कहलाई। कुछ लोग 'नागरी' का संबंध 'नागर' ब्राह्मणों से जोड़ते हैं। नागर ब्राह्मणों का मूलस्थान गुजरात में है। पर नागरी लिपि का क्षेत्र उत्तरापथ है और गुजरात के पुराने दानपत्र आदि पश्चिमी लिपि में मिलते हैं। कुछ लोग 'नागरी' के लिये चलनेवाले 'देवनागरी' शब्द को पकड़ते हैं और कहते हैं कि प्राचीन काल में देवमूर्तियों की पूजा चलने के पूर्व देवी-देवताओं की पूजा 'यंत्रों' में सांकेतिक प्रतीकों (चिह्नों) द्वारा होती थी। ये यंत्र त्रिकोण, चक्र आदि के रूप में होते थे, जिन्हें 'देवनगर' कहते थे। इनमें वे प्रतीक मध्य में लिखे जाते थे। कालांतर से 'देवनगर' में लिखे हुए प्रतीक उनके नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे। इस प्रकार 'देवनागरी' नाम चल पड़ा। फिर 'देवनागरी' से 'देव' के हट जाने पर केवल 'नागरी' नाम रह गया।†

---

* विस्तार के लिए देखिए श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा की 'प्राचीन लिपिमाला'।

† नागरी लिपि की उत्पत्ति जैसे 'देवनगर' से कही जाती है वैसे ही श्रीजगन्मोहन वर्मा ने सरस्वती में लंबा-चौड़ा लेख लिखकर इसे 'चित्रलिपि' से विकसित उद्घोषित किया था। उनके अनुसार 'नागरी' में टवर्ग विदेशियों के प्रभाव से आया है। आधुनिक भाषाशास्त्री टवर्ग को बाहरी प्रभाव ही मानते हैं।

'नागरी' का उल्लेख जैन ग्रंथ नंदिसूत्र में सबसे पहले मिलता है जो जैनों के अनुसार ईसापूर्व ४५३ का लिखा माना जाता है। तांत्रिक काल में तो यह नाम अवश्य प्रसिद्ध था। 'नित्याषोडशिकार्णव' की 'सेतुबंध' टीका के कर्ता भास्करानंद ने 'नागर लिपि' पद का व्यवहार किया है।* इसी प्रकार 'वातुलागम' की टीका में भी 'नागर लिपि' शब्द व्यवहृत हुआ है।† बहुत प्राचीन काल में नागरी 'ब्राह्मी' कहलाती थी।‡

'नागरी' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है। इसमें वर्णों का विभाग ऐसे ढंग से किया गया है कि उनके नाम और उच्चरित ध्वनि दोनों में अंतर नहीं है। एक वर्ण से एक ही ध्वनि निकलती है। जैसे अँगरेजी में किसी रोमी स्वरवर्ण द्वारा कभी एक ध्वनि निकाली जाती है और कभी दूसरी, ऐसा नागरी में नहीं। फारसी लिपि में रोमी वर्णों की भाँति ही वर्ण के नाम और ध्वनि में एकता नहीं है। वर्ण का नाम 'बी' या 'बे' है पर ध्वनि उससे 'ब' होती है। लिखें कुछ और पढ़ें कुछ ऐसा नागरी में नहीं, अन्यत्र चाहे जहाँ हो। यही क्यों, मात्राओं की योजना के कारण थोड़े में ही बहुत कुछ लिखा जा सकत है। यह योजना भी ध्यान देने योग्य है। व्यंजन के चारों ओर मात्राएँ लगती हैं। इनमें केवल ह्रस्व 'इ' की मात्रा (ि) ही व्यंजन के पहले लगती है, शेष मात्राएँ ऊपर, नीचे या आगे ही लगाई जाती हैं।

लिपि-सुधार

'नागरी' में परिवर्तन करने का घोर आन्दोलन चल रहा है। व्यंजनों की भाँति स्वर की भी 'बारहखड़ी' चलाने का प्रयास हो रहा है; इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ के स्थान पर भी अि, अी, अु, अू, अे, अै बालबुद्धि-वालों के लिए चाहे यह सुगम हो, पर है यह अत्यंत अवैज्ञानिक विधान। अ, इ, उ तीनों स्वर भिन्न भिन्न हैं, अतः उनका स्वरूप भी भिन्न भिन्न रहना ही ठीक है। मात्रा वस्तुतः स्वर का प्रतीक या प्रति-

---

* कोणत्रयवदुद्भवो लेखो यस्य तत्। नागरलिप्या सांप्रदायिकैरेकारस्य त्रिकोणाकारतयैव लेखनात्।

† शिवमन्त्रान्मूर्त्युद्धारकृतिः, नागरलिपिभिरुद्धारयितं यज्यते। व्यतिरिक्तलिपिभिर्नोद्धारयितं यज्यते।

‡ देखिए हिंदी-शब्दसागर।

निधि होती है; क + इ = क् + ि = कि। स्पष्ट है कि 'ि' वस्तुतः 'इ' है। अतः अि = अ + ि = अ + इ = अइ या ए। यदि कहिए कि 'ओ' में 'ो' की मात्रा क्यों लगी है, तो कहा जायगा कि 'ओ' संयुक्त स्वर या संध्यक्षर है, वह 'अ + उ' से मिलकर बना है। अच्छा तो यही होता कि 'ओ' को व्यक्त करने के लिए कोई पृथक् चिह्न होता, जैसा ब्राह्मी के आरंभिक काल में था, पर ऐसा न करके संध्यक्षर के दोनों स्वरों (अ, उ) में से किसी एक का रूप लेकर 'ो' मात्रा उसके साथ लगाई गई। जैसे अब 'अ' में 'ो' लगाकर 'ओ' लिखते हैं वैसे ही पुराने हस्तलेखों में 'उ' में 'ो' लगाकर 'उो' भी लिखते थे। 'ए' के भी दो रूप पाए जाते हैं; 'अ' में 'े' लगाकर 'अे' या 'इ' में 'े' लगाकर 'इे'। 'ए' में 'अ' और 'इ' का मेल है। 'ए' का वर्तमान रूप ब्राह्मी के उस प्राचीन रूप से विकसित हुआ है जो त्रिकोण (△) था।* 'ए' का प्रतिनिधि 'े' है और 'ऐ' का प्रतिनिधि 'ै'। कुछ सुभीता हो सकता था यदि ए लिखा जाता 'ऐ' और ऐ 'ॎै'। क्योंकि जैसे 'ओ' में की मात्रा 'ो' निकालकर व्यंजन में लगाते हैं उसी प्रकार 'ऐ' से 'े' और 'ॎै' से 'ै' मान लेते। ऐसा न होने पर 'ओ' और 'औ' की पद्धति पर 'अे' और 'अै' लिखा जा सकता है, जैसा हस्तलेखों में हुआ है। 'ए' का वर्तमान रूप जिलाए रखने की आवश्यकता है, नहीं तो तंत्र आदि के ग्रंथों के त्रिकोण रूप से उसकी एकता न रहेगी।

व्यंजनों पर आइए। सुधारकों का कहना है कि 'नागरी' में बहुत से वर्ण हो गए हैं इसलिए मुद्रायंत्र (प्रेस) और छापयंत्र (टाइप-राइटर) के सुभीते के लिए इन्हें कम करना चाहिए। उनकी दृष्टि में कुछ वर्ण भ्रामक भी हैं और कई संयुक्ताक्षरों के व्यर्थ ही स्वच्छंद रूप हो गए हैं। रोमी या अरबी-फारसी लिपि की भद्दी नकल पर जो 'ख' को 'क्ह', 'घ' को 'ग्ह' लिखना चाहते हैं उनकी बुद्धि तो अवश्य विलायती हो गई है। किसी परिवर्तन में परंपरा का विचार रखना ही बुद्धिमानी या वैज्ञानिकता हो सकती है, मनमानी नहीं। एक ही आँख से किसी का काम चल जाय तो क्या दो आँखवाले अपनी एक एक आँख फोड़ लें। अतः ऐसों की बात पर विचार करना भी अविचार है। भ्रामक वर्णों में 'ख' और 'र' का नाम आता है। 'ख' का रूप 'र' और 'व' का मिला रूप सा हो गया है। हिंदी में तद्भव या संस्कृत के

---

* एकारस्य त्रिकोणाकारतयैव लेखनात्।

शब्दों में 'ख' के 'र व' समझे जाने या 'र व' के 'ख' समझे जाने की गुंजाइश नहीं है, अरबी-फारसी के शब्दों में ऐसा अवश्य हो सकता है, 'रवाना' को 'खाना' पढ़ा जा सकता है। पर प्रत्येक शब्द वाक्य में प्रयुक्त होकर कोई अर्थ भी व्यक्त करता है। आज तक हिंदी मे 'ख' और 'र व' की भ्रांति से कहाँ कठिनाई हुई। 'र' का रूप 'ण' में भी दिखाई पड़ता है, अतः 'ण' को परिवर्तित करने की भी राय दी जा रही है। वस्तुतः सारे झगड़े की जड़ 'र' है। 'र' का व्यंजन रूप 'र्' रेफ (र्) होकर वर्णों के मस्तक पर बैठता है। इसे भी भ्रामक कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि 'र' के रूप हिंदी में दो हैं। उसका एक रूप 'कोणवत्' होता है जो प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में मिलता है और कैथी, महाजनी आदि में चलता है। नागरी में वह रेफ और नीचे लगनेवाले 'र्' के रूप में बना है। संयुक्ताक्षरों में 'र' ऊपर रहकर रेफ होता है, जो पहले कोणवत् था पर अब गोल हो गया है। वर्णों के नीचे लगने पर उसकी दो रेखाओं में से एक व्यक्त रहती है और दूसरी वर्ण की खड़ी पाई में मिल जाती है। जहाँ मिलने का अवसर नहीं होता वहाँ वह अपने पूरे रूप में व्यक्त होता है। 'क्' में 'र' मिलकर 'क्र' होता है। इसमें वस्तुतः 'क्' के नीचे 'र' का रूप कोणवत् (∧) है, केवल एक रेखा '-' मात्र नहीं। 'क' की खड़ी मध्यग रेखा में 'र' की दूसरी रेखा मिल गई है। 'ट' में किसी खड़ी रेखा के न होने से 'र' अपने पूरे रूप में आता है—ट्र। अब यदि 'र' के स्थान पर उसका कोणवत् रूप '∧' हो जाय तो अन्यत्र 'र' रूप भ्रामक न माना जा सकेगा। नागरी में संयुक्त वर्णों में पहला वर्ण ऊपर और दूसरा नीचे लगता रहा है। छपाई के कारण उन्हें आगे-पीछे छापने लगे हैं। संयुक्त व्यंजनों में क्ष, त्र, ज्ञ ही विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहले वर्णमाला में ये अन्य व्यंजनों की भाँति पढ़ाए भी जाते थे। 'क्ष' 'क् + ष' से बना है। इसे 'क्ष' लिखा तो जा सकता है पर 'क्ष' और 'क्ष' के उच्चारण में भेद है। 'क्ष' से 'छ' इसी उच्चारण के कारण होता रहा है। तंत्रों में इसके इस रूप का विशेष महत्त्व है, इसे भी ध्यान में रखना चाहिए। 'त्र' को 'त्र' भी लिख सकते हैं। मिलते समय 'त्' का रूप बेंड़ी रेखा मात्र रह जाता है, जैसा दुहरे 'त्' (त्त) में। 'ज्ञ' में 'ज' और 'ञ्' का योग है। पर हिंदी के उच्चारण के अनुसार उसे 'ग्य' लिखना ठीक न होगा। समष्टि में लिपि में बड़े बड़े सुधार करना अवैज्ञानिक और अविचारित है। यह तो यंत्रविद्याविशा-

रदों का काम है कि वे इस लिपि के छापने का सरल मार्ग निकालने का प्रयत्न करें। बंबई में 'खंड' और अखंड' अक्षर-पद्धति द्वारा काम लिया जाता है। 'खंड' में बहुत थोड़े खानों से ही काम निकल जाता है। उनके जोड़ने में अपेक्षाकृत समय अवश्य अधिक लगता है। स्मरण रखना चाहिए कि नागरी में थोड़े में ही बहुत लिखा भी जा सकता है। जहाँ किसी विदेशी शब्द को लिखने में कई वर्णों का प्रयोग करना पड़ता है वहाँ नागरी में, मात्राओं की योजना के कारण, थोड़े में ही काम हो जाता है। अँगरेजी 'थ्रू' में सात वर्ण लिखने पड़ते हैं, नागरी में दो वर्ण और एक मात्रा ही। यह कहना ठीक नहीं कि नागरी में लिखने में देर होती है और अन्य लिपियों में बिना लेखनी उठाए लिखने से शीघ्रता होती है। नागरी में थोड़े में ही बहुत लिखा भी तो जा सकता है ? जो लिखा जायगा वही पढ़ा भी तो जाएगा। फारसी लिपि की भाँति अटकलबाजी तो नहीं करनी होगी।

लिपि में सुधार हो जाने से पुराने छपे ग्रंथों के लिए अलग लिपि जाननी पड़ेगी और नए ग्रंथों के लिए अलग। 'नागरी' का व्यवहार संस्कृत के ग्रंथों में भी होता है, उन ग्रंथों को पढ़ने में कठिनाई होने लगेगी। छात्रों के सिर पर बोझ बढ़ेगा। इस प्रकार अनेक गौण उपद्रव भी खड़े होंगे, जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। छापे के लिए नागरी वर्णों का जो माथा काटना चाहते हैं उन्हें गुजराती की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए, जिसमें वर्णों में शिरोरेखा नहीं लगती। वहाँ इससे कौन बहुत बड़ा अंतर पड़ गया है ?

यह सभी जानते हैं कि नागरी का व्यवहार हिंदी और संस्कृत के अतिरिक्त मराठी में भी होता है। पर मराठी के कई वर्णों का स्वच्छंद विकास हुआ है। उत्तर में जो नागरी चलती है उसके कई वर्णों से मराठी के उन्हीं वर्णों के रूप में भिन्नता है। उत्तर भारत में भी मराठी के संसर्ग और छापेखानों में बंबई से अक्षर (टाइप) मँगाने से नागरी के कई अक्षरों के स्थान पर मराठी के अक्षर व्यवहृत होने लगे हैं। कलकत्ता बंबई से दूर पड़ता है, अतः वहाँ नागरी के अक्षर ज्यों के त्यों हैं। पर उत्तरप्रदेश और बिहार के छापेखानों में अब हिंदी-नागरी और मराठी-नागरी के अक्षरों में विलक्षण मेल हो गया है। आरंभ में यह बात नहीं थी। मराठी-नागरी या दक्षिणी नागरी के कुछ अक्षर ऐसे अवश्य हैं जिनके लिखने में हिंदी-नागरी या उत्तरी नागरी के अक्षरों की अपेक्षा लाघव होता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं

कि उत्तरी नागरी में जिस रूप का विकास हुआ है वह मार ही डाला जाय। छपाई में और बच्चों को बारहखड़ी सिखाने में तो कोई बाधा नहीं है? जब एक ही पंक्ति में उत्तरी और दक्षिणी नागरी दोनों के अक्षर छपाई में दिखाई पड़ते हैं तो एकरूपता न होने से आलस्य और अनवधानता का डंका पिटने लगता है। वैकल्पिक रूप में चाहे दक्षिणी नागरी (मराठी) के कुछ अक्षर भी हिंदी में स्वीकृत कर लिए जायँ, पर कम से कम छापने में तो उनका व्यवहार न हो। जिन अक्षरों में स्पष्ट भिन्नता है वे ये हैं—

नागरी—अ ऋ छ झ ण ल श क्ष
मराठी—अ ऋ छ झ ण ळ श क्ष

इनमें से अधिक व्यवहार अ, ण, ल और क्ष का होता है। कुछ लोग यह भूल ही गए हैं कि नागरी (हिंदी) का 'क्ष' मराठी के 'क्ष' से भिन्न होता है। वे मराठीवाले रूप को नागरी का और नागरीवाले रूप को मराठी का समझने लगे हैं। मिलावट में भी 'श्' का जैसा रूप मराठी में होता है, हिंदी में 'श्र' को छोड़कर, अन्यत्र नहीं होता। हिंदी के 'विश्व, प्रश्न' आदि मराठी में 'विश्व, प्रश्न' आदि लिखे जाते हैं। अंकों में भी भेद है; विशेषतः ५,८,९ के अंकों में। मराठी में इनके रूप ५, ८, ९ होते हैं।

वर्णविन्यास

हिंदी में वर्णविन्यास (स्पेलिंग या हिज्जे) का विचार द्विवेदीजी के समय में तो कुछ होता भी था, पर अब तो उन संस्थाओं के कर्ता-धर्ता भी इसका विचार नहीं रखते जिन्होंने किसी समय इस संबंध में कोई व्यवस्था बाँधी थी। हिंदी में अनुस्वार और पंचम वर्ण दोनों से काम लिया जाता है। छापे की कठिनाई के कारण और लिखने में भी झंझट होने से कवर्ग, चवर्ग और टवर्ग के वर्णों के पूर्व अधिकतर अनुस्वार का ही व्यवहार होता है। केवल तवर्ग और पवर्ग के वर्णों के पूर्व ही पंचम वर्ण लगते हैं। पहले कहा जा चुका है कि हिंदी में अनुस्वार का उच्चारण 'न्' है। केवल कवर्ग के साथ अंशतः और पवर्ग के साथ पूर्णतः पंचम वर्ण सुनाई पड़ता है। इसलिए यदि हिंदी में अनुस्वार का व्यवहार सर्वत्र किया जाय तो कोई अड़चन नहीं है। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा ने बहुत दिन हुए वर्णविन्यास के कुछ नियम निर्धारित किए थे। उनमें अनुस्वार से ही लिखने की योजना

थी। ऐसा हिंदी की परंपरा के अनुकूल भी है। हिंदी के पुराने हस्तलेखों में अनुस्वार का ही व्यवहार मिलता है। अनुस्वार की बिंदी का प्रयोग सानुनासिक उच्चारण के लिए भी इधर होने लगा है, विशेषतः दीर्घ स्वरों के साथ। पहले ऐसे स्थानों पर चंद्रबिंदु (ँ) का ही व्यवहार होता था; क्या लिखने में और क्या छापने में। इधर छपाई में केवल बिंदु ही चलने लगा तो लिखाई-पढ़ाई से भी चंद्रबिंदु उठता जा रहा है। हस्तलेखों में चंद्रबिंदु का प्रयोग बराबर मिलता है। छपाई की कठिनाई के कारण समाचार-पत्रों में यदि ऐसा होता है तो हो, लिखाई-पढ़ाई में ऐसा क्यों? कहीं तो शुद्ध रूप बना रहे! 'हैं' और 'हैँ' में ठीक उच्चारण करने से अंतर पड़ता है, पहले का उच्चारण 'हैम्' या 'हैन्' सा होगा। अनुस्वार के लघु उच्चारण के लिए ही उसके बिंदुवाले रूप (ं) में चंद्राकार (˘) लगाया गया है। क्योंकि चंद्राकार लघुप्रयत्न या ह्रस्वत्व का बोधक है। कुछ लोगों ने अब यह कहना भी आरंभ किया है कि ण, न और म में बिंदु या चंद्रबिंदु नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि ये वर्ण स्वयम् अनुनासिक हैं। उनके अनुसार 'प्राणों, दोनों, कामों' के स्थान पर 'प्राणो, दोनो, कामो' ही लिखे जायँ। विचार करने से ज्ञात होता है कि हिंदी में अनुस्वार का प्रयोग इनके साथ भी होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो 'माँस' और 'मास' में भेद न रहेगा। 'दोनों' और 'दोनो' में भी वैयाकरणों ने भेद किया है।* हिंदी में संबोधन के बहुवचन में सानुनासिकता हटा दी जाती है। इसलिए 'ब्राह्मणों' और 'ब्राह्मणो' में भेद होता है। 'सज्जनों' और 'सज्जनो', 'गुणधामों' और 'गुणधामो' में भी ऐसा ही भेद है।

हिंदी में क्रियाओं के दो दो रूप चलते हैं—आई-आयी, गए-गये। इसी प्रकार कुछ विशेषण शब्दों में भी दुहरे रूप चलते हैं—नई-नयी, नए-नये। इनमें से पहले रूप तो उच्चारण के अनुगामी हैं और दूसरे रूप व्याकरण की विधि के। 'आया' पुंलिंग का रूप है, अतः व्याकरण के अनुसार स्त्रीलिंग का 'ई' प्रत्यय लगने से 'आयी' रूप बना; इसी प्रकार बहुवचन का 'ए' प्रत्यय लगने से 'आये'। पर 'नागरी' में उच्चारण के अनुसार लिखना ही ठीक है। संस्कृत के 'गतः' से 'गअ' या 'गय' होता है। इसी से खड़ी में गया, व्रजी में गयो या गो और अवधी में 'गवा' या 'गा' रूप होते हैं। व्रजी और अवधी के स्त्रीलिंग और

* देखिए पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी कृत 'हिंदीकौमुदी'।

बहुवचन में स्वरवाले रूप ही चलते हैं, 'य व' वाले रूप नहीं; फिर खड़ी बोली में ही 'य' वाले रूप क्यों? 'ई' लगाकर यदि व्याकरण का अनुधावन करें तो 'किया' का स्त्रीलिंग रूप 'कियी' होना चाहिए, पर होता है 'की'। यह 'की' वस्तुतः 'किई' है, पर दीर्घसंधि हो जाने से 'की' रूप हो गया है; ऐसे ही 'पिया' से पी', 'दिया' से 'दी'। इससे स्पष्ट है कि पूर्व में सवर्ण स्वर होने से 'ई' की संधि हो जाती है। य और व में जब स्वर-प्रत्यय मिलता है तो उसका उड़ जाना भी देखा जाता है; जैसे, 'पाया' (पलंग का) और 'चारपाई', 'तिपाई'; 'ताया' (बाप का बड़ा भाई, ताता या ताऊ = चाचा) और 'ताई' (बड़ी चाची); 'तवा' और 'तई' (थाली के ढंग की छिछली कड़ाही, जिसमें जलेबी या मालपुआ बनाते हैं), 'लावा' और 'लाई'। इसलिए आई, गई और आए, गए रूप ही ठीक हैं। 'हुआ' में 'आ' है ही, अतः 'हुई' और 'हुए' लिखना ही ठीक है, 'हुयी' या हुये' तो व्याकरण से भी विहित नहीं। 'चाहिए' को 'चाहिये' लिखने में पुंलिंग, स्त्रीलिंग या बहुवचन की दुहाई नहीं दी जा सकती, अतः उसका स्वरवाला ही रूप होना चाहिए। संप्रदान के 'लिए' और क्रिया के 'लिए' में भेद करते हैं। स्वर से क्रिया लिखनेवाले पहले को 'लिये' लिखते हैं। पर इसकी भी आवश्यकता नहीं, दोनों के उच्चारण में कोई भेद नहीं है। यहीं यह कह देना उचित होगा कि संस्कृत के तत्सम शब्दों में 'य' का ही व्यवहार हो। 'स्थायी' या 'उत्तरदायी' को 'स्थाई' या 'उत्तरदाई' नहीं लिखना चाहिए। ऐसे शब्दों के भी तद्भव रूपों में 'ई' का ही व्यवहार करना ठीक होगा जैसे, 'वाजपेयी' का तद्भव 'बाचपेई' (बैसवाड़ी)। क्रियाओं के कुछ दुहरे रूप विधि और भविष्यत्काल में और मिलते हैं; जैसे, आएगा (आयेगा) और आवेगा, लाए (लाये) और लावे। इनमें खड़ी के रूप पहलेवाले ही हैं, 'व' श्रुतिवाले रूप पूर्वी के प्रभाव से चल पड़े हैं।

हिंदी में संस्कृत से आए कुछ हलंत शब्दों के रूप दुहरे चलते हैं; जैसे, भगवान्-भगवान, जगत्-जगत, पृथक्-पृथक आदि। हिंदी में इन शब्दों के अंतिम व्यंजन का उच्चारण एक सा ही होगा, चाहे 'भगवान्' लिखें चाहे 'भगवान'। इस पर पहले 'स्वराघात' के प्रकरण में विचार हो चुका है। सच पूछिए तो हिंदी में इन शब्दों को अकारांत ही लिखना चाहिए। हिंदी में बने नामों या शब्दों से इनका हिंदी-रूप स्पष्ट हो जाता है; जैसे, भगवानदीन, भगवानदास, भगवानी, जगत-

सेठ, पृथकता आदि। 'भगवानदीन' का संस्कृत रूप या तो 'भगवद्दीन' होगा (यदि 'दीन' का अर्थ 'दरिद्र' लें) या भगवद्दत्त (यदि 'दीन' का अर्थ 'दिया हुआ' लें)। इस नाम को 'भगवान्दीन' लिखना तो आधी संस्कृत और आधी हिंदी लिखना होगा। 'भगवती' नाम संस्कृत है तो 'भगवानी' हिंदी। 'जगतसेठ' को संस्कृत विधि से 'जगच्छ्रेष्ठ' होना चाहिए, हिंदी में 'जगत्सेठ' तो 'आधा पंडित आधा साव' होगा। यदि जगन्नाथ, जगदीश आदि शब्दों की दुहाई दी जाय तो यही कहना पड़ेगा कि ये शब्द संस्कृत से बने-बनाए लिए गए हैं, हिंदी में नहीं बने। बोली में तो बेचारे 'जगन्नाथ' 'जगरनाथ' हो जाते हैं। 'जगद्देव' (जगदेव) को 'जगरदेव' होना पड़ता है। 'जगदंबा' जी 'जगतंबा' हो जाती हैं। 'पृथकता' के स्थान पर संस्कृत के अनुसार हिंदी में 'पृथक्ता' ही रहे तो रह सकती है, पर 'महानता' का क्या होगा ? 'महानता' भले ही विद्वानों में अशुद्ध समझी जाय, 'महत्ता' ही शुद्ध रहे, पर यह कहनेवालों को कौन रोक सकेगा कि 'महत्ता' संस्कृत है तो 'महानता' हिंदी। पंडितों की नकल कर चलने से हिंदी-वालों को धोखा भी खाना पड़ा है। संस्कृत के कुछ स्वरांत शब्द भी हलंत लिखे जा रहे हैं; जैसे, श्रीयुत का श्रीयुत्, प्रत्युत का प्रत्युत्, शाश्वत का शाश्वत्, अद्भुत का अद्भुत् आदि। अतः संस्कृत रूपों का भी आग्रह हो तो 'भगवान्' आदि पूर्वोक्त हलंत शब्दों के रूप कम से कम वैकल्पिक अवश्य स्वीकृत किए जायँ।

ऊर्ध्वग रेफ से युक्त व्यंजन विकल्प से दुहरा हो जाता है *; जैसे, कार्य-कार्य्य, कर्ता-कर्त्ता आदि। हिंदी में सरलता के विचार से केवल एक व्यंजन वाले रूपों का ही चलना ठीक है। जहाँ महाप्राण वर्ण होता है वहाँ विकल्प से उसी का अल्पप्राण जुड़ता है; जैसे, अर्द्ध-अर्ध, ऊर्द्ध्व-ऊर्ध्व, वर्द्धन-वर्धन। हिंदी में एक ही वर्णवाला रूप लिखने में क्या हानि है ?

ब और व का विवेक प्राचीन समय में सबसे अच्छा नारदशिक्षा में मिलता है। उसके अनुसार जहाँ 'व' का परिवर्तन 'उ' या 'ऊ' में हो जाय अथवा जहाँ प्रत्यय की संधि से 'व' की प्राप्ति हो वहीं अंतस्था वर्ण आता है, अन्यत्र वर्ग का 'ब' ही होता है। † इसके

* अचो रहाभ्यां द्वे।—अष्टाध्यायी, ८।४।४६।

† उदूठौ यस्य विद्येते यो वः प्रत्ययसंधिजः।
अन्तस्थां तं बिजानीयात्तदन्यो बर्ग्य इष्यते ॥

अनुसार तो संस्कृत में चलनेवाले वे शब्द अधिकांश 'ब' वाले ही जान पड़ते हैं जो वहाँ भी 'व' से लिखे जाते हैं और हिंदी में भी। इसके अनुसार 'वेद' को 'बेद' ही लिखना चाहिए। संस्कृत में 'व' की विशेष प्रवृत्ति को कुछ लोग दक्षिणी मानते हैं। नारदशिक्षा के इस नियम का भरपूर पालन स्वर्गीय पं० नकछेद तिवारी कृत 'सनातनधर्मोद्धार' में दिखाई पड़ा। 'व' की प्रवृत्ति हिंदी में इतनी बढ़ने लगी है कि जहाँ 'ब' ही होना चाहिए वहाँ भी 'व' की स्थापना हो गई है। 'बृहस्पति' जी 'वृहस्पति' हो गए, तो 'बृहन्' को भी 'वृहत्' होना पड़ा। 'वाण' शुद्ध समझा जाने लगा और 'बाण' अशुद्ध। 'बिंदु' की क्या चिंता, वह 'विंदु' हो गया। 'बाह्य' (बाहरी) भी 'वाह्य' गाड़ी, बैल, (घोड़ा) हुआ। जिस प्रकार हिंदी के प्रभाव से वक्तृता देते हुए संस्कृत के कुछ पंडित 'सेचन' के बदले 'सिंचन' बिना झिझक के कह जाते हैं, 'वातावरण' या 'वायुमंडल' से भी नहीं घबराते उसी प्रकार इस प्रवृत्ति के कारण एक वैयाकरणजी को एक बार यह भ्रम हुआ कि 'पिबति' (पीता है) के स्थान पर 'पिवति' ही ठीक है। उन्होंने अपनी पुस्तक में इसका शुद्धि-पत्र तक लगाया है। इससे बढ़कर 'व' का प्रसार-प्रभाव और क्या होगा।

'श' का प्रभाव भी 'व' से कम नहीं है। 'कैलास' संस्कृत में ही 'कैलाश' हो गया। बहुत दिनों से 'वसिष्ठ' का तालव्य भाव (वशिष्ठ) हो चुका है। जब गुरुजी की यह दशा हो गई तो 'कोसल' की 'कौसल्या' भी 'कोशल' देश की 'कौशल्या' हो गई और हिंदीवालों की कृपा से 'कौशिल्या' जी बनकर प्रसिद्ध हुईं। घुड़कनेवाले 'केसरी' जी 'केशरी' हुए सो हुए, पर गरजनेवाले 'केसरी' भी डरकर 'केशरी' बन बैठे। गौड़ देश की कृपा से संस्कृत में भी 'श' की शंखध्वनि हो गई तो हो गई। पर जब खिलनेवाले 'विकास' 'प्रकाश' के भाई 'विकाश' बनकर ज्योति जगमगाने लगे तो वे चमकें चाहे जितना पर खिलते नहीं। हिंदी में पढ़े-लिखे लोग तालव्य उच्चारण बनाए हुए हैं। नहीं तो 'श' का बोलचाल में यह उच्चारण नहीं है। ब्रजी और अवधी भाषा में भी 'श' और 'ष' दंत्य हो जाते हैं, क्योंकि शौरसेनी में यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से है।* अतः हिंदी से अनुकूल तो पूर्वोक्त शब्दों के दंत्य 'स' वाले रूप ही दिखाई पड़ते हैं।

---

* शषोः सः।—प्राकृतप्रकाश, २।४३।

'तालु' और 'मूर्धा' में भी झगड़ा है, 'दंत' और 'तालु' में ही नहीं, क्योंकि दोनों पड़ोसी हैं, रहन-सहन में भी और बोली-बानी में भी। 'शश' चाहे 'षष' न हुआ हो * पर 'कोश' का तालु चटक गया, पेट भी फट गया, फिर तो इनके विशुद्ध भाई 'कोष' बन गए। 'वेश' ने 'वेष' बदला, विमर्श' का भी 'विमर्ष' होने लगा। हिंदीवाले संस्कृत के इन दुहरे रूपों में से मूर्धन्यों को ही अधिक अपनाते हैं, भले ही उनकी वाणी तालव्यों से ही मिलती हो।

मूर्धन्यों में से महाप्राण तक निकाले जाने लगे, अल्पप्राणों से ही काम चल रहा है। 'धोखा-धड़ी' के प्राण आधे हैं, 'धोका' खाने का यही फल है। 'ठंढ' को भी 'ठंड' आ लगी तो कोई बात नहीं, पछाहीं हवा ठहरी, उसमें 'ठंडक' विशेष हुआ करती है। पर 'पृष्ठ' की पीठ क्यों टूट गई? भला 'पृष्ट' से कैसे काम चलेगा? 'कनिष्ठ' भी छोटे होकर 'कनिष्ट' हुए। 'कर्मनिष्ठ' की निष्ठा अनिष्ट से जा मिली, वह हुआ 'कर्म-निष्ट'। 'कुष्ठ' गलकर 'कुष्ट' रह गया। बद्ध 'कोष्ठ' खुलकर 'कोष्ट' हुआ। 'स्वादिष्ट' भी 'स्वादिष्ठ' नहीं रहा। 'घनिष्ट' से भी 'घनिष्ठता' जाती रही।

शब्दों के कुछ रूप हिंदी में पश्चिम और पूरब के उच्चारणगत भेद के कारण भी दुहरे हो गए हैं। पश्चिम में 'उँगली' दिखाते हैं, पूरब में 'अँगुली' या 'अँगुरी'। 'र ल' के अभेद से कई शब्दों में पूरब-पछाहँ के कारण रूपभेद हो गया है। पछाहँ का 'फुटकल' पूरब में 'फुटकर' हो जाता है। इसी प्रकार आँचल-आँचर, अटकल-अटकर आदि। 'ल' का 'न' भी होता है; जैसे, 'अड़चल' (पश्चिमी) का 'अड़चन' (पूर्वी)। 'र' का 'ड़' भी होता है, 'घबराना' का 'घबड़ाना'। पश्चिमी 'भलेमानस', जिनकी पत्नी 'भलीमानस' है, पूर्व में 'भले-मानुस' बने बैठे हैं।

भ्रम से दुहरे रूप कैसे चलते हैं इसके तो बहुत से प्रमाण मिल जायँगे। 'एकत्र' इकट्ठे के अर्थ में है ही, इसमें 'इत' के लगने से 'एकत्रित' पैदा हुआ, जो खूब चलता है। 'सशंक' को 'सशंकित' करते भी लोग 'शंकित' नहीं होते।। 'प्रफुल्ल' फूलकर 'प्रफुल्लित' हो गया। 'आवश्यक' से 'आवश्यकीय' निकल पड़ा। कहीं कहीं संज्ञाशब्दों में हिंदी के ढंग से 'इत' प्रत्यय लगाकर विशेषण बनाने लगे हैं; जैसे, 'क्रोध' से 'क्रोधित', 'क्षोभ' से 'क्षोभित'। संस्कृत के पंडित इससे बहुत ही 'क्रुद्ध' और 'क्षुब्ध' हैं। 'सिद्ध' की चेली 'सिद्धि' की बहन

* शशः षष इति मा भूत्। पलाशः पलाष इति मा भूत्।—महाभाष्य।

'सिद्धता', 'कांत' की कन्या 'कांति' फिर 'कांतता', 'प्रसिद्ध' की पुत्री 'प्रसिद्धि' फिर 'प्रसिद्धता' तथा 'ख्यात' की बेटी 'ख्याति' फिर 'ख्यातता' किसी को कष्ट नहीं देतीं। पर 'सुजन' की बड़ी बेटी 'सुजनता' के बाद 'सौजन्यता' बहुतों को चिढ़ाती है, वह सगे भाई 'सौजन्य' का भी अधिकार छीन रही है। इनके अधिकारों पर हिंदी में जो 'वादविवाद' ('वादाविवाद' नहीं) हुआ था उसे बहुत से लोग भूले न होंगे। झुकाव सरलता की ओर ही होता है, 'सौजन्यता' में वह भी नहीं। भला 'लावण्यता' में कौन सा 'लावण्य' है! सरलता की ओर झुकाव अन्यत्र अवश्य मिलता है। 'महत्' में 'त्व' लगने से 'महत्त्व' होता है, पर उसे हिंदी के बहुत से लेखक 'महत्व' लिखते हैं। यही दशा 'तत्त्व और 'सत्त्व की भी है। 'उज्ज्वल' अब प्रायः 'उज्वल' लिखा जाता है। 'संन्यास' के बिंदु को 'सन्यास' लेना पड़ा। 'सन्यासी' नाम का पत्र निकलता था और 'सन्यासी' एक नाटक भी है। कहीं से बिंदु हटा तो कहीं लगा भी। 'दुनिया' की 'दुनियाँ' को बदले थोड़े ही दिन हुए हैं। 'आटा' अभी कल से 'आँटा' हुआ है।

'उद्देश्य' और 'उद्देश' का झगड़ा तो अब पुराना पड़ गया। 'उद्देश्य' संस्कृत में ही सिद्ध बना बैठा है, हिंदी की कौन चलाए। 'उद्देश्य' और 'उद्देश' की लड़ाई बंद हो गई, 'उद्देश्य' सिद्ध हो गया, जम गया। इधर झगड़ा लगा है 'अनुगृहीत' और 'अनुग्रहीत' में। 'संगृहीत' और 'संग्रहीत' भी लड़ पड़े हैं। 'गृहीत' भले ही तुलसीदास के समय में 'ग्रह-ग्रहीत' रहा हो, पर अब तो वह 'गृहस्थ' है। 'संगृहीत' के 'गृह' पर 'ग्रह' की क्रूर दृष्टि है।

कुछ शब्दों के, ह्रस्व-दीर्घ स्वर के भेद से, दो दो रूप होते हैं, हिंदी में ही नहीं संस्कृत में भी; जैसे, अवलि-अवली, उषा-ऊषा, उष्मा-ऊष्मा, प्रतिकार-प्रतीकार, प्रतिहार-प्रतीहार आदि। हिंदी के भी कुछ शब्दों के दुहरे रूप हो गए हैं। पहले 'ऊँचाई' ही थी, अब 'उँचाई' भी है। 'तबीयत' को 'तबियत', 'दूकान' को 'दुकान', 'कानपूर, फतेहपूर, गोरखपूर' आदि को 'कानपुर, फतहपुर, गोरखपुर' आदि हुए बहुत दिन नहीं बीते हैं। 'दूधिया' पूरब में 'दुधिया' होना चाहता है। कुछ वैयाकरण 'राजपूताना' को 'राजपुताना' बनाने पर तुले हैं। पश्चिम में खिंचा अर्थात् दीर्घ उच्चारण होता है, अतः उर्दू में उक्त शब्दों का रूप वैसा ही चलता है। हिंदी में बोलचाल की निकटता के कारण दूसरे प्रकार के रूप चल पड़े हैं।

विदेशी शब्द हिंदी में कैसे लिखे जायँ, इसका झगड़ा बहुत दिनों से चल रहा है। अरबी-फारसी के शब्दों का उच्चारण हिंदी में ज्यों का त्यों नहीं होता। फिर भी उनके विदेशी उच्चारण को जो हिंदी में सुरक्षित रखने के पक्षपाती हैं वे लोगों को मौलाना बनाना चाहते हैं क्या? याद रखिए कि अनावश्यक लदाव बढ़ने से हिंदीवाले 'जनाब' को भी 'ज़नाब' बोलने लगेंगे और 'कागज़' को भी 'क़ागज़' लिखने लगेंगे। अतः 'क़ ग़ ज़' आदि में नीचे बिंदी का लगना न तो हिंदी की जीभ के अनुकूल है और न कान के, हाथ के अनुकूल चाहे हो। इस पर एक घटना याद आई। कोई मौलाना साहब मिर्जापूर स्टेशन पर डिब्बे मे से खड़े खड़े बड़े जोर से 'क़ुली क़ुली' की आवाज लगा रहे थे। 'कुली' बेचारों की आँखें तो दूर से कुछ देख रही थीं, पर उनके कान साथ नहीं दे रहे थे। हिंदी के एक दिवंगत साहित्यज्ञ भी उसी डिब्बे में बैठे थे। मौलाना साहब की परेशानी देखकर उन्होंने उनसे कहा कि बड़ा काफ निकालकर पुकारिए तो मतलब हल हो। किसी प्रकार जब उन्होंने बड़ा काफ छोटा किया तब कहीं जाकर सामान डिब्बे से बाहर निकलने की नौबत आई। तात्पर्य यह कि कोई भाषा अपनी परिचित ध्वनियों के ही शासन में विदेशी ध्वनियाँ रखती है। 'आहिस्तः', 'हमेशः' आदि में इसी से बहुत दिनों तक नकल नहीं चल सकी, इन्हें हिंदी का 'आकार' ग्रहण करके 'आहिस्ता' और 'हमेशा' होना ही पड़ा। कई शब्दों के दुहरे रूपों का कारण है शुद्ध व्यंजन और अकारयुक्त व्यंजन का ग्रहण। पहले कहा जा चुका है कि हिंदी में 'अ' का विशिष्ट उच्चारण होता है। स्वराघात के कारण केवल व्यंजन या अकारांत व्यंजन में कोई भेद नहीं रह जाता। ऐसे शब्दों के दोनों ही रूप चल तो सकते हैं, पर हिंदी की प्रवृत्ति अकार की ओर ही अधिक है। पुराने 'सर्दार' फैलकर 'सरदार' हो गए, 'दर्बार' भी बढ़कर 'दरबार' हुआ। पर अभी इनकी दशा पर 'बिल्कुल' ने 'बिलकुल' विचार नहीं किया है।

अँगरेजी से आए शब्दों में पहले 'स्' 'ट' की संधि संस्कृत के मन से हुई; जैसे, 'रजिष्ट्री, रजिष्टर, रजिष्ट्रार, मजिष्ट्रेट, माष्टर आदि में। पर हिंदी में मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण ही नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। इन अँगरेजी शब्दों में भी मूलतः मूर्धन्य उच्चारण नहीं था, अतः ये सब अब दंत्य 'स' से लिखे जाते हैं। अँगरेजी 'ओ' की लघु ध्वनि को हिंदी में 'ॉ' से व्यक्त करने का विधान किया गया है, यद्यपि बोलचाल में वह भी 'आ' ही रह जाती है। पश्चिम में 'कालिज' बोला

जाता है, पर अधिकतर लेखक 'कॉलेज' या कोई कोई तो दो सींग लगाकर 'कौलेज' लिखते हैं। यदि ऐसे शब्द हिंदी के हो गए हैं तो इन्हें हिंदी का आकार ही ग्रहण करना चाहिए। 'फॉर्म' बहुत दिनों से 'फार्म' हो गया है, छापेखानों में तो वह 'फर्मा' तक जा पहुँचा। पर 'अँगरेजीदाँ' या 'अँगरेजिहा' लोगों की बदौलत बहुत से चलते शब्दों को 'सुर्खाब का पर' लगा ही हुआ है। 'कॉलेज' या 'कॉलिज' तक तो कोई बात नहीं, पढ़े-लिखों की बोल-चाल को वह प्रकट करता है, पर 'कौलेज' तो किसी काम का नहीं।

विदेशी शब्दों के लिखने में 'ऋ' (ृ) का व्यवहार व्यर्थ है, क्योंकि हिंदी में इसका उच्चारण 'रि' है। लिखा तो जाता है 'अमृत' किंतु प्रायः बोला या पढ़ा जाता है 'अंमृत', लिखेंगे 'पितृ' पर उच्चारण करेंगे 'पित्त'। कारण यही है कि 'ऋ' से 'रि' हो जाती है अर्थात् ये शब्द 'अम्रित' और 'पित्रि' समझे जाते हैं। संस्कृत से आए शब्दों में तो एकता और परंपरा के विचार से उक्त रूपों का बना रहना ठीक है, पर विदेशी शब्दों में वैसा क्यों हो? 'ब्रिटेन' न लिखकर 'बृटेन' लिखने की क्या आवश्यकता है?

'न्' भी हिंदी के चलन के अनुसार नहीं लिखा जाता। 'सुपरिंटेंडेंट' न लिखकर 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' लिखना भद्दा है, 'सुपरिण्टेण्डेण्ट' को पंडिताऊ ढंग समझिए। जब 'पन्डित' लिखने का चलन नहीं तो निष्कारण 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' क्यों लिखें? हर्ष है कि धीरे धीरे यह पद्धति आप से आप उठती जाती है। अरबी-फारसी के शब्दों से तो यह शैली बहुत कुछ हट गई है। 'मुन्शी' या 'मन्शा' लिखनेवाला अब कदाचित् ही कोई मिले, पहले कई थे। 'म्' को 'न्' के ढर्रे से बिंदी द्वारा सर्वत्र नहीं लिख सकते। 'य' के पूर्व 'म्' के बदले अनुस्वार लगाने से ध्वनि में भेद हो जायगा। 'ण्' 'न्' 'म्' के पीछे उसकी जैसी ध्वनि होती है पूर्वस्थित अनुस्वार के साथ उससे एकदम पृथक्। 'पुण्य' को 'पुंय', 'कन्या' को 'कंया' और 'रम्य' को 'रंय' लिख दें तो इन्हें 'पुञ्य' या 'पुञ्य', 'कञ्या' या 'कञ्या' और 'रञ्य' या 'रञ्य' सा पढ़ना पड़ेगा। अतः विदेशी 'कम्युनिक' को 'कंयुनिक' नहीं लिख सकते। जहाँ शुद्ध 'म्' उच्चारण हो वहाँ अनुस्वार की बिंदी नहीं लग सकती, क्योंकि हिंदी में उसका उच्चारण 'न्' होगा। 'मम्स' (गलसुआ का रोग) को 'मंस' लिखने से 'मन्स' पढ़ना पड़ेगा। अरबी 'शम्स' (सूर्य) को 'शंस' लिखकर 'शन्स' बोलना होगा। जहाँ दुहरा

'म' आता है वहाँ बिंदी लगाकर भी लिख सकते हैं—हम्मीर या हंमीर, पर प्रचलन दुहरे 'म्' का ही है; जैसे संमति, संमान आदि लिख सकते हैं, पर लिखते नहीं। अतः 'मुहम्मद' को 'मुहंमद' तो लिख सकते हैं, पर लिखते नहीं।

कुछ विदेशी नामों के उच्चारण-भेद के कारण कई रूप चलते हैं। सबसे अधिक दुर्दशा 'यूरोप' की हुई है। हिंदी-लेखकों के चक्कर में पड़कर योरप, यूरप, युरोप, योरोप, यूरुप, योरुप, योरूप आदि उसको अनेक रूप धारण करने पड़े। अमेरिका और अमरीका दो ही रूप हुए तो अफ्रिका, अफ्रीका, अफरीका ये तीन। इनमें से ग्राह्य रूप के लिए विदेशी ध्वनि की निकटता का ही विचार सब कुछ नहीं हो सकता। जिस रूप के लेने से अन्य रूप चलाए जा सकें वही अनुकूल होगा। हिंदी में पहले 'अमरीका' चलता था, उर्दू में अब भी चलता है, पर इधर बहुत दिनों से वही 'अमेरिका' हो गया। विदेशी उच्चारण की निकटता ही इसका कारण नहीं, इस नाम से बने विदेशी विशेषण की निकटता भी इसका हेतु है। 'अमेरिकन' शब्द लाने के सुभीते ने भी ऐसा कराया है। उर्दूवाले 'अमरीकी' लिखते हैं, पर हिंदीवालों के लिए 'अमेरिकी' चौंकानेवाला होगा। विदेशी 'अन्' प्रत्यय की दासता खटकने योग्य है। लोग 'इटली' से 'इटाली' 'इट लवी' लिखना छोड़ बैठे, 'इटैलियन' चल पड़ा। भाषासंबंधी यह दासता दूसरी किसी भी दासता से भयंकर है। कोई विदेशी नाम लेकर और उसमें अपने प्रत्यय लगाकर विशेषण आदि बनाने की जब तक स्वतंत्रता न स्वीकृत होगी तब तक भाषा विदेशी प्रत्ययों की अनावश्यक बेड़ी से जकड़ती ही जायगी। हिंदी को दासता की यह बेड़ी पहनानेवाले समाचार-पत्र और मासिक-पत्र हैं, जो शीघ्र से शीघ्र अँगरेजी का अनुवाद करके काम चलता कर देते हैं। इन्हीं के बुलाने से विदेशी प्रत्यययुक्त विशेषण एक पर एक चले आ रहे हैं, ब्रिटिश के बाद फिनिश, पोलिश, स्वीडिश, स्काचिश आदि चुपचाप चले आए। 'अन' और 'इश' के साथ 'इक' तो आया ही, 'टिक' भी 'टिकटिक' करता आ पहुँचा। गाथिक, बोलशेविक, एशियाटिक यहाँ तक कि बलियाटिक भी लिखने लगे। 'फिनिश' के बदले 'फिनी' क्यों न लिखा जाय? 'एशियाटिक' को 'एशियाई' बनाए रखने में क्या हानि है? विदेशी प्रत्ययों को तो एक ओर जिला रहे हैं, दूसरी ओर देशी प्रत्ययों को मार रहे हैं। इधर 'वाला' का ऐसा बोलबाला

हुआ कि न जाने उसके कितने भाई मारे गए। स्थानवाचक 'इया' कहाँ दिखाई देता है? कनपुरिया, कलकतिया, मथुरिया कौन लिखता है? कानपुरवाले, कलकत्तेवाले, मथुरावाले ही सामने आते हैं, पंडिताऊ ढंग से 'वासी' को चिपकाकर बने कानपुरवासी, कलकत्तावासी, मथुरावासी भी दिखाई दे जाते हैं। 'वाला' और 'वासी' के बड़ेपन से घबराकर कदाचित् कुछ छोटे सीधे-सादे विदेशी प्रत्यययुक्त विशेषण रख दिए जाते हैं। अगर और कोई रास्ता नहीं है तो 'छुटाई' को छोड़कर 'बड़ाई' की ओर जाने में क्या बुराई है? अतिप्रसंग हो गया! 'लिपि' की सीमा पार करके 'व्याकरण' के घर में घुसना पड़ा!

'हिंदी में कारक-चिह्न शब्द से मिलकर लिखे जायँ या अलग' इस प्रश्न को लेकर बहुत अधिक शास्त्रार्थ हो चुका है। जो लोग इन्हें मिलाकर लिखने के पक्ष में थे उनका कहना था कि ये चिह्न विभक्तियों से विकसित हुए हैं, अतः इन्हें पद का अविभक्त अंग मानना चाहिए। कर्ता के साथ लगनेवाला 'ने' संस्कृत की तृतीया विभक्ति के 'ना' या 'एन' से निकला है। कर्म और संप्रदान का 'को' 'अम्हाकं, तुम्हाकं' के 'कं' से 'को' होकर चला है, 'कक्ष' से इसका कोई संबंध नहीं। करण और अपादान का 'से' प्राकृत 'सुंतो' का पुत्र है, 'सम' या 'सह' का भाई-भतीजा नहीं। संबंध के चिह्न का, की, के प्राकृत की 'ह' विभक्ति से निकले हैं, * 'कृत' से नहीं। अधिकरण का 'में' संस्कृत के 'स्मिन्' (सर्वनाम का) से प्राकृत में 'म्मि' होकर बना है, 'मध्य' से नहीं। उक्त मत का प्रभाव कलकत्ते पर पूर्णतः और हिंदी के समाचार-पत्रों पर अंशतः अब भी वर्तमान है। चिह्नों को पृथक् लिखनेवाले अपने मत के आग्रह से सर्वत्र इन्हें पृथक् ही लिखने के पक्षपाती हों सो नहीं। क्योंकि अधिकतर सर्वनामों में वे चिह्नों को मिलाकर ही लिखते हैं; जैसे 'इसने' 'उसने' में। पर 'ही' अव्यय का घिसा 'ई' रूप

* देखिए पंडित गोविंदनारायण मिश्र कृत 'विभक्ति-विचार'। वस्तुतः षष्ठी के संबंध में मिश्रजी का मत ग्राह्य नहीं है। 'का, की, के' का विकास प्राकृत की 'केरओ' विभक्ति से ही हुआ है। यह संस्कृत 'कृत' से ही निकली जान पड़ती है। शब्द के साथ तो इसका प्रयोग होता ही है, स्वतंत्र पद के रूप में भी इसका व्यवहार होता है। तस्स केरओ (चारुदत्त), अज्जस्स केरओ (मृच्छकटिक)। कुछ लोग संस्कृत के संबंधबोधक 'क' प्रत्यय से उक्त चिह्नों का संबंध जोड़ते हैं।

जब प्रकृति और प्रत्यय के बीच में आ जाता है तो चिह्न को पृथक् कर देते हैं; जैसे, 'इसी ने', 'उसी ने', 'किसी ने' आदि में।

अव्ययों में जहाँ दो शब्द आते हैं वहाँ भी प्रश्न होता है कि इन्हें सटाकर लिखा जाय या हटाकर। हिंदी में दोनों पद्धतियों से लिखनेवाले हैं। कोई 'इसलिए' लिखता है तो कोई 'इस लिए', कोई 'इसीलिए' लिखता है तो कोई 'इसी लिए'। हिंदी में पहले संस्कृत का 'अतः+एव' अलग अलग 'अत एव' लिखा जाता था, पर अब 'अतएव' मिलाकर ही लिखा जाता है। वस्तुतः अव्यय में शब्दों को पृथक् लिखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अव्यय तो बना-बनाया एक ही शब्द होता है। संस्कृत में 'न हि' को 'नहि' रूप में भी मिलाकर लिखते ही हैं, जिसका बेटा 'नही' हिंदी में न जाने कब से भेद-भाव छोड़ बैठा है।

वाक्य में कुछ प्रत्यय ऐसे भी होते हैं जो संबंध तो कई शब्दों से रखते हैं, पर आते हैं एक ही बार। ये जब एक ही शब्द के साथ आते हैं तब इन्हें मिलाकर लिखने की परिपाटी है, पर वाक्य में कई के साथ जुड़नेवाले होकर भी प्रायः अंतिम शब्द के साथ जोड़कर लिखे जाते हैं, पृथक् नहीं; जैसे, 'वाला' प्रत्यय को लीजिए। 'गाड़ीवाला', 'बैलवाला' आदि मिले हैं।'' 'ईंट, पत्थर, लकड़ी और चूनेवालों को बुलाइए' में 'वालों' का संबंध सभी से है। 'चूनेवालों' में इसका जुड़ा होना ठीक नहीं, पर यह बहुधा जुड़ा रहता है। ऐसे अवसरों पर पृथक् लिखना ही अच्छा और ठीक जान पड़ता है। हिंदी की प्रवृत्ति व्यवहिति की ओर है इसका यह भी प्रमाण है।

यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि हिंदी लिखने-पढ़नेवालों को इसे लिखने-पढ़ने की भाषा समझकर ही लिखना-पढ़ना चाहिए। साथ ही लिखते-पढ़ते समय सदा यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिंदी 'हिंदी' है; न संस्कृत, न अरबी, न फारसी और न अँगरेजी। उर्दूवालों की नकल भी इसके लिए ठीक नहीं, जो धर्मशाला, दुविधा आदि को हिंदी की प्रवृत्ति के विरुद्ध पुंलिंग में ही लिखते हैं। फिर भी अंत में इतना कह देना आवश्यक है कि हिंदी का संस्कृत की ओर झुकना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है। प्रांतीय भाषाएँ जब संस्कृत की ओर जा रही हैं तो 'हिंदी' को उसकी ओर बढ़ना ही चाहिए, भले ही संबंध का अतिरेक वांछनीय न हो, पर उससे 'संबंध' ही नहीं 'सुसंबंध' बनाए रखना अनिवार्य है।

विराम-चिह्न

हिंदी में विराम-चिह्नों का प्रयोग अँगरेजी से आया है। इनके व्यवहार से सुबोधता अवश्य आती है, पर इनका अतिरेक नहीं होना चाहिए। इधर कहानियों और नई रंगत की कविताओं में इनका अनावश्यक प्रयोग खटकने योग्य है। अँगरेजी के उद्गारबोधक चिह्न (एक्सक्लेमेशन '!') की बड़ी दुर्दशा है। विज्ञापनबाजों की नकल पर एक के स्थान पर दो दो, तीन तीन चिह्न व्यर्थ ही लगाए जाते हैं। 'चिह्न' तो केवल रचना से संबंध रखते हैं, भाषा से नहीं, अतः उनकी भरमार बुरी है। पूर्वोक्त चिह्न का प्रयोग हिंदी में 'संबोधन' में भी होने लगा है। अँगरेजी में ऐसी स्थिति में 'अल्पविराम' (कामा ' , ') का ही प्रयोग होता है। पुरानी कविता में इस चिह्न का व्यवहार करने से अल्पविराम की अपेक्षा कुछ सुभीता अवश्य है। अल्पविराम से किसी स्थल पर काम न चले तो उद्गारबोधक चिह्न को व्यवहार-बहुलता के कारण केवल 'संबोधन' में स्वीकृत कर लेना, यदि वैयाकरणों को कोई विशेष आपत्ति न हो तो, बुरा नहीं है।

प्रश्नवाचक चिह्न ('?') का प्रयोग सर्वत्र आवश्यक नहीं है। यदि जिज्ञासाबोधक शब्दों का प्रयोग वाक्य में हो तो खड़ी पाई (पूर्णविराम ' । ') से ही काम चल सकता है। 'क्या, क्यों, कैसे' आदि शब्द प्रश्नवाचक होते ही हैं, प्रश्न का चिह्न लगाएँ चाहे न लगाएँ, इनके कारण प्रश्न का बोध होने मे कठिनाई नहीं होती। फिर भी यदि प्रचलन के विचार से चिह्न लगे तो लगे किंतु आज्ञा के रूप में प्रश्न होने पर भी जब यह चिह्न लगता है तो बहुत खटकता है; जैसे, 'सुमित्रानंदन पंत की काव्यगत विशेषताएँ बताइए ?' में। जब कोई प्रश्नवाचक उपवाक्य किसी अप्रश्नवाचक प्रधान वाक्य का अंग होकर आता है तब तो इसका प्रयोग और भी भद्दा होता है; जैसे 'भरत ने कहा कि लोग क्या मुझे निर्दोष समझेंगे ?' में।

हिंदी में पूर्णविराम का चिह्न खड़ी पाई ही है। इसके बदले 'वाक्यविराम' (फुलस्टाप ' . ') का प्रयोग नहीं करना चाहिए। 'वाक्यविराम' के चिह्न का प्रयोग जो प्रतीकों के बाद होता है वह भी ठीक नहीं। इसके लिए हिंदी का 'शून्य' (०) ही ठीक है। 'पंडित' के स्थान पर 'पं०' ही लिखना चाहिए, 'पं.' नहीं। 'एम० ए०' के बदले 'एम. ए.' बहुत लिखा जाता है। एक तो 'एम० ए०' आदि प्रतीकों का चलना ही गड़बड़झाले का है, क्योंकि हिंदी में इनके पूर्ण रूप का व्यवहार ही नहीं होता और

यदि हो भी तो 'मास्टर आव् आर्ट्स' का संक्षिप्त रूप या प्रतीक 'मा० आ०' होगा। इतने पर भी तुर्रा यह कि पहले से प्रचलित चिह्न को छोड़कर दूसरा फालतू चिह्न लगाते हैं। उपाधियों का ऐसा संक्षिप्त रूप व्यवहार की अधिकता से लोगों को चाहे न खटके, पर नामों को भी अँगरेजी ढँड़े से संक्षिप्त बनाकर लिखना बहुत खटकता है। ऐसे नामों के लिखने के कुछ हेतु भी हैं। कुछ लोग शान-शौकत जतलाने के लिए ऐसा करते हैं तो कुछ लोग, जैसे दक्षिणी, लंबे नामों के कारण। उत्तर में बहुत से लोग इस रीति से अपना भद्दा नाम छिपाते हैं। किन्हीं सज्जन का नाम 'घुरहूराम' था। पढ़-लिख लेने पर उन्हें अपना नाम अपरिष्कृत दिखाई पड़ा। वे अपने को 'जी० आर०' की ढाल में छिपाने लगे। जब इस ढाल से भी रक्षा न हो सकी तो उन्होंने नाम की ही परिशुद्धि की, वे 'गुरुराम' बन गए। अतिप्रसंग हो जाने से इसे यहीं छोड़कर 'खड़ी पाई' पर आना चाहिए। शीर्षकों में खड़ी पाई का व्यवहार व्यर्थ है; 'उद्गारबोधक' या 'प्रश्नवाचक' का व्यवहार हो सकता है। नई शैली से अब तो कोई प्रसंगोपयोगी नाम न मिलने पर उद्गार या प्रश्न अथवा अभाव व्यक्त करने के लिए बिना किसी शब्द के भी शीर्षक में कभी कभी ये चिह्नमात्र रख दिए जाते हैं।

अर्धविराम का चिह्न (सेमीकोलन ';') तो ठीक है, पर अंगतासूचक चिह्न (कोलन ' ; ') का व्यवहार हिंदी में भ्रामक है। विसर्ग से मिलता होने से इसका प्रयोग वांछनीय नहीं। अल्पविराम (कामा ',') का व्यवहार हिंदी में बहुत अधिक होने लगा है। संबंधवाचक सर्वनाम के पूर्व इसका प्रयोग व्यर्थ ही होता है; जैसे, 'उस रचना से हमारा क्या लाभ, जो हमारी संस्कृति का ह्रास करनेवाली हो' में 'जो' के पूर्व। उद्धरण-चिह्न (इन्वर्टेड कामाज) में कहीं तो इकहरे (' ') और कहीं दुहरे (" ") चिह्नों का व्यवहार होता है। इकहरे चिह्नों के प्रयोग से स्थान और श्रम की बचत के अतिरिक्त 'कला की दृष्टि' से सुंदरता भी है। अतः अल्पांशों के उद्धरण या किसी शब्द की विशेषता का बोध कराने के लिए इकहरे चिह्नों का प्रयोग बुरा नहीं है। बड़े उद्धरणों में दुहरे चिह्न लगें। लोप की सूचना के लिए अल्पविराम का सा चिह्न ('एपोस्ट्रॉफी') ऊपर लगने लगा है; जैसे, औ' (और), य' (यह), '९९ (१९९९) आदि।

निर्देशक (डैश '—') का प्रयोग भी बहुत अधिक होने लगा है। मध्यग उपवाक्य के आगे-पीछे अल्पविराम के बदले निर्देशक का

व्यवहार करते हैं, जो ठीक नहीं प्रतीत होता। सबसे ध्यान देने योग्य योजिका या समास-चिह्न (हाइफन '-') है। समस्त पदों में से इसका व्यवहार द्वंद्व और तत्पुरुष समासों में यथास्थान ठीक ही है, पर प्रत्ययों या प्रत्ययवत् प्रयुक्त शब्दों के पूर्व योजिका का लगना व्यर्थ ही नहीं, अशुद्ध भी समझा जाना चाहिए; जैसे, मही-धर, विचार-शील, प्रेम-भाव, विद्या-रहित, कर्म-हीन, इंद्रिय-गण, अर्थ-बोधक, प्रश्न-वाचक, गति-सूचक आदि में। वस्तुतः चिह्न का प्रयोग तभी हो जब कोई विशेष प्रयोजन हो; जैसे, भ्रांतिनिवारण के लिए, विशेष स्थिति का भाव व्यक्त करने के लिए और सुबोधता लाने के लिए। 'ऐसा' के लघुरूप 'सा' के पूर्व भी योजिका लगने लगी है; जैसे, 'राम-सा पुत्र, सीता-सी पुत्री और भरत-लक्ष्मण शत्रुघ्न-से भाई सबके हों' में। विशेषणों और कृदंतों में भी 'सा, सी, से' के पूर्व योजिका लगती है; जैसे, 'कोई छोटी-सी कविता भेजिए, काम चलता-सा कर दिया, गला-सा आम क्यों लाए' आदि में। प्रश्न होता है कि क्या-बिना योजिका के ऐसे स्थलों पर काम नहीं चल सकता। द्विरुक्त शब्दों अर्थात् 'दो-दो, तीन-तीन, और-और, अच्छा-अच्छा' में जो योजिका लगती है सो तो लगती ही है, इसी की नकल पर क्रियाओं ('उठ-उठ, बैठ-बैठ' आदि) में भी लगने लगी और अब अव्ययों तक में जा घुसी; जैसे, 'दिन-दिन', 'रात-रात' आदि में। विस्मयादिबोधक पदों में भी कुछ लोग इसे जोड़ने लगे हैं; जैसे, 'राम-राम, धन्य-धन्य!' आदि में। 'शिव शिव' यहाँ इसकी क्या आवश्यकता थी!

विचार करने के लिए यों तो और भी बहुतेरे 'चिह्न' हैं और जिन पर विचार किया गया है उन्हीं पर और भी बहुत सा विचार हो सकता है, पर स्थालीपुलाक-न्याय से पूर्वोक्त थोड़ा सा ही विचार करके निवेदन यही करना है कि भाषा की प्रवृत्ति, प्रयोजनीयता और आवश्यकता के आग्रह से ही 'विराम-चिह्नों' का प्रयोग करना चाहिए। चिह्नों का पर्याप्त व्यवहार किया जाय, पर उनकी प्रदर्शनी न हो। रचना में 'विराम-चिह्नों' का 'कुछ' ही नहीं 'बहुत कुछ' तक महत्त्व तो स्वीकृत हो सकता है, पर उन्हें ही 'सब कुछ' नहीं माना जा सकता।

उपसंहार

इस प्रकार हिंदी-वाङ्मय के एक सहस्त्र वर्षों की दीर्घकालीन परंपरा का थोड़े में सिंहावलोकन, उसके काव्य और शास्त्र दोनों पक्षों का अतिसंक्षिप्त दिग्दर्शन, उसकी शाखा-प्रशाखाओं का सुबोध विवेचन, उसमें दृष्टिगोचर होनेवाली देशी-विदेशी प्रवृत्तियों का निरूपण और उसमें सुरक्षित भारतीय संस्कृति का निदर्शन करते-कराते इस निष्कर्ष पर सुगमतापूर्वक पहुँचा जा सकता है कि हिंदी का विकास बहुत ही स्वाभाविक रूप में होता आ रहा है, इसका संवर्धन करनेवाले कवि और मनीषी इसे बहुत ही विस्तृत और सर्वजनसुलभ राजमार्ग से लेकर बढ़ते चले आ रहे हैं, इसकी समृद्धि इसे परिपूर्ण, संपन्न और स्वच्छंद प्रमाणित कर रही है। इसमें संग्रह और त्याग का उचित विवेक है और इसमें भारत की संस्कृति अपने सच्चे रूप में सुरक्षित है। ऐसा वाङ्मय और ऐसी भाषा, जो सर्वभारतीय प्रवृत्ति, रुचि और संस्कृति का वहन करनेवाली हो, प्रत्येक भारतीय के लिए गर्व करने योग्य है। इसका जिसे अभिमान न हो, इसके संमान का जो ध्यान न रखे, इसके ज्ञान से जान-बूझकर जो पराङ्मुख रहे और इसका विवर्धन करने से जो विमुख हो वह सचमुच 'भारतीय' कहाने योग्य नहीं, उसकी बुद्धि अवश्य विकारग्रस्त है, उसका हृदय निश्चय ही मर गया है और वह वस्तुतः अभागा है। उसे 'भारती' के मंदिर में आने का अधिकार नहीं। संतोष यही है कि भारती के सच्चे पुजारी, नीरक्षीर-विवेकी हंस, हिंदी के हित को ही कल्याण का मार्ग समझते हैं।

नामानुक्रमणिका

(ग्रंथ और ग्रंथकार)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ।पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४।१०	ओर	और
१५।२७	वहें	उन्हें
२१।१८	परिमिन	परिमित
२६।४	यथतथ्यवाद	यथातथ्यवाद
२६।६	कभीकभी	कभी-कभी
३७।८	कव	कवि
३८।१४	चो	चोर
४०।३३	शद्ध	शुद्ध
५१।२०	कने	करने
५३।२	हें	हैं
५३।१४	संबंध	संबद्ध
५७।२१	हीज्ञात	ही ज्ञात
६२।१९	चके	चुके
७५।	नवा खाना	
	अ र	और
७७।२३	ऐतिहासिकन ाटकों	ऐतिहासिक नाटकों
११६।१७	जोस हृदयों	जो सहृदयों
१२७।२	अशभ	अशुभ
१४३।१४	प्रश्चिमी	पश्चिमी
१७४।१३	प्रकणवक्रता	प्रकरणवक्रता
१९७।५	काव्यत्मक	काव्यात्मक
१९८।३	वक्तत्वकला	वक्तृत्वकला
२०२।३०	(आर्ट)	आर्ट
२०८।१६	रासानुभूति	रसानुभूति
१८१।२०	तीत	प्रतीत
१९२।१२	गीत	संगीत
२२२।९	व्यक्ति बहुत	व्यक्ति में बहुत
११४।३३	अंतिम शब्द, प्रेमी	
२३२।१२	व्यक्तिवदिनी	व्यक्तिवादिनी
१३२।२४	आव्यात्मिक	आध्यात्मिक
२३३।२१	ाचीन	प्राचीन
२३९।१९	ाजज्ञासा	जिज्ञासा
२४९।९	१० ०	१०००
२५०।११	अम सिंह	अमरसिंह
२५७।१३	निंदहिं	निंदहिं
२७०।३२	शक्ल	शुक्ल
३२५।२०	रंग	रंक
३४०।३३	प-पालन	पशु-पालन
३४२।३०	एथास्थान	यथास्थान
३५०।९	पणिनि	पाणिनि
३५३।१३	दक्षिणा	दक्षिणी
३५९।३	सं*	सं०
३५९।७	= ं०	=सं०
३५९।१०	(बनाता दूँ)	(बनाता हूँ)
३६२।११	स्वपनम्	स्वफनेम्
३६८।३०	कंबाज	कंबोज
३८९।१७	आर्यभषा	आर्यभाषा
४०१।३२	व-श्रति	व-श्रुति
४०४।३१	क।	का।
४०६।३३	गाय	गया
४११।२१	परशराम	परशुराम
४१६।१७	वक्त	वक्तृ
४२४।१	पूणतः	पूर्णतः
४३८।२५	प्रकृतों	प्राकृतों

पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४०।२२	भा	भी।
४४३।२४	कभा	कभी
४४६।१०	तिङ्	(तिङ्
४४६।११	प्रत्यय	प्रत्यय)
४६८।६	( )	( )
४६६।१८	इट लवी	इटालवी
४०१।१	जाता	जाता है

पुस्तक में यत्र-तत्र अक्षरों की मात्राएँ, बिंदु, चंद्रबिंदु अस्पष्ट हैं, कृपया इन्हें ठीक कर लीजिए। संशोधक की असावधानी के कारण भी यत्र-तत्र कुछ अशुद्धियाँ हों तो पाठक इन्हें सुधार लेने की कृपा करें।